ओ३म्

वैदिक प्राणैषणा

अर्थात

पवित्र, स्वस्थ और दीर्घजीवन बनाने के सर्वोत्तम साधनों का दृढ़ता पूर्वक समर्थन तथा सात्विक फलाहार का सम्पोषण करने वाली पुस्तक।

VEDIC PRANAISHNA

Being

a treatise on the best method of living a pure, healthy and prolonged life, strongly advocating a pure rational vegetarian diet

By

hrimad Vaidyacharya

PT. HO.. ..DHI SHARMA UPADHYAYA

BULANDSHAHR

रचयिता

श्रीमद्वैद्याचार्य

पण्डित होमानिधि शर्म्मा उपाध्याय

बुलन्दशहर *U. P.*

Publisher

SUDHA NIDHI SHARMA UPADHYAYA

1914

1st Edition 200 copies.

Price unbound copy Rs 2.

Do. Bound Copy R 2,5/

॥ ओ३म ॥



श्रीमदुपाध्याय वैद्याचार्य पं० होमनिधि शर्मा
कार्याध्यक्ष सुधानिधि ओपधालय
वुलन्दशहर

ओ३म्

अथ वैदिक प्राणैषणा

भूमिका

ओ३म् नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवोभव॥

यजु० अ० ३६ मं० २०

अर्थ – हे भगवान् परमेश्वर! (हरसे) पापों को हरने वाले (शोचिषे) ज्ञान प्रकाश करने वाले (ते) तुम्हारे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) प्राप्त होवै, तथा (अर्चिषे) स्तुति के योग्य (ते) तुम्हारे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) प्राप्त होवै, (ते) तुम्हारी (हेतयः) वज्र के समान अगिट व्यवस्था (अस्मत्) हमसे भिन्न अन्याय करने वाले शत्रुओं को (तपन्तु) दुःख देवें, आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (पावकः) पवित्र कर्ता (शिवः) कल्याण कर्ता (भव) हूजिये॥

यह वैदिक प्राणैषणा नामक ग्रन्थ मैंने मनुष्य मात्र और मनुष्योपकारी जीवों की रक्षा के उद्देश्य से निर्म्माण किया है, स्वस्थ [१०२] की वृति [१०३] का अधिकार मुख्य मानकर यही [स्वस्थ वृत्ति] अधिकार लिखा है। दूसरा प्राण रक्षार्थ रोग वृत्ति अधिकार है उसको इस ग्रन्थ में नहीं लिखा प्रसङ्ग वश जो कहीं उचित वक्तव्य समझा वह अवश्य लिखा गया है क्योंकि रोगी होने पर रोग से छुटने के लिये तो कुछ न कुछ उपाय सब को: स्वतःही करते कराते हैं परन्तु स्वस्थ वृत्ति की ओर प्रायः दत्त चित्त नहीं होते। इसी से उन स्वस्थ वृत्ति के प्रज्ञापराधियों को रोगी होना पड़ता है। उस समय रोग वृत्ति की आवश्यकता होती है: यदि अवसर मिलातो अपने अनुभवी विचार से उसे भी लिखूंगा। रोगी होने आदि की भविष्यद् विपत्ति से बचने बचाने के निमित्त इस ग्रन्थ के लिखने में अत्यन्त प्रयास किया है॥

इस ग्रन्थ में कुल ६५ विवेक हैं, एक एक विवेक में अनेक अनेक विषय प्रश्नोत्तर पूर्वक दिखाये हैं। और अत्रस्थ अपने साध्य विषयों को सिद्ध करने के लिये वेदादि अनेक सद् ग्रन्थों के वचन प्रमाण में दिये हैं। उन वचनों का अर्थ वेदोपदेशानुसार सर्व सिद्धान्तानुकूल अपने विचार से सप्रमाण और युक्ति पूर्वक लिखा है।।जिस मन्त्र

वा श्लोक का अर्थ कठिनता से समझने में आने वाला देखा वहां उसके मूल के पदों को ऐसे (   ) कोष्ठक में रखके आगे उसका अर्थ रक्खा है और कहीं कहीं अर्थ का स्पष्टाभिप्राय दिखाने के लिये ऐसे [   ] कोष्ठक में भाषान्तर का पर्य्याय शब्द लिखा है।

इस ग्रन्थ में आये हुए विषय को इसी ग्रन्थ के कहीं स्थानान्तर में दिखाने की आवश्यकता के लिये ऐसे (   ) ही कोष्ठक में विषयाङ्क लिखे गये हैं और निर्दिष्ट विषयों की सूचना के लिये अङ्क संख्या ऐसे [   ] चतुष्कोण कोष्ठ में लिखी गई है। यद्यपि इसमें ऐसा विषय भी कोई २ आया है कि जो अन्य पुस्तकों वा समाचार पत्रों में छप चुका है तथापि उक्त ग्रन्थ का उपयोगी जान कर उसका सन्निवेश भी इस ग्रन्थ में किया गया है।

विस्तार भय से प्रयोगसिद्धि और वेद मन्त्रों पर स्वरचिन्ह नहीं दिये गये क्योंकिये बातें विद्वज्जन तो समझ ही लेंगे, रहे इतरजन उनके लिये लिखने की कोई आवश्यकता नहीं।

इस ग्रन्थ में अनेक विषय हैं जो कि विषय सूची से विदित हैं।

अब आगे वक्तव्य यह है कि किसी समय [४३१] यही देश याज्ञिक और सुशिक्षित था जैसे अत्युत्तम आहाराचार इस देश के थे वैसे कहीं के न थे, परन्तु काल चक्र वश अनेक क्षुद्र राष्ट्र विप्लवों के बहुत काल तक रहे आने के कारण यह देश अविद्या अन्धकार ग्रसित सा होगया। महौषधियों के स्थल, एतद्देशीय बन, उपवन, कृत्रिमोद्यान और उन महौषधियों के आरोपक, पोषक, पालक, तथा उनके रूपज्ञ, गुणज्ञ, योगज्ञ, और सर्वथा ज्ञाता, ज्ञापयिता, नष्ट प्राय होगये। इसके अतिरिक्त अन्य भी एतद्देश की उन्नति के कारक, रक्षक, और वर्द्धक, कतिपय कारण थे वे भी न रहे। एक वह समय था कि अश्वत्थादि क्षीरवृक्ष जगदुपकारी प्राण वायुप्रद. वृष्टि के कारण और आरोग्यकारक समझ कर लगाये और रखाये जातेथे इनका एक पत्ता तोड़ने में भी बड़ा पाप समझते थे परन्तु जबसे यह [आर्यावर्त] देश अविवेक ने घेरा है तबसे इन उक्त वृक्षों का और जगदुपकारी गवादि अहिंस्य पशुओं को निकम्मा समझ कर इन परही कुहाड़ा बजाया जाता है। किसी समय सब प्रकार की तुलसियों का ब्रजमें बन था जो कि अब भी वृन्दा [तुलसी] बन नाम से नगर प्रसिद्ध है यद्यपि अन्यत्र की अपेक्षा वहां तुलसी की महिमा विशेष है परन्तु वह यथार्थ ज्ञान से नहीं, कोई कोई [तुलसी] के मणिका भी धारण करते हैं जैसा कि शतवार का बांधना कहा है परन्तु परीक्षानुभवी कोई भी नहीं होता। तथा गौओं के पालन पोषण का भी ब्रज प्रधान स्थल था जहां कि गोकुल नामक ग्राम अभी तक विद्यमान है जहां गोपाल

नाम धारी श्रीकृष्ण अवतारित हुए और जहां गोप गोपी दूध दही के अद्भुत चरित्रों से प्रेम पूर्वक कीर्तन किये जाते हैं। परन्तु हा शोक ! अब न कोई गोपा है न अजपा है न अविपा है और न इन का भूपा [गौओं के चरने की और भेषजोत्पत्ति की पृथिवी का रक्षक] है, और न इस समय वनतापस वानप्रस्थी जन हैं कि जो वन में विशेष निवास के कारण भेषजज्ञ हों अपना अनुभव दूसरों को बतादें, वरन कोई कहीं किसी प्रकार किसी जड़ी बूंटी के रूपादि को जान भी जाता है तो वह दूसरों को बताता नहीं। यदि कोई बतानेका सङ्कोच न करने वाला भी हो तो कितने ही अल्पज्ञ ऐसे घमण्डी भी हैं कि वे किसी जानकार के पास जाने में भी अपना अपमान समझते हैं, ऐसी अवस्था में भला यथार्थ ज्ञानोन्नति वा कार्योन्नति आदि उन्नति कैसे हो सकती हैं देखो सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० २८ में लिखा है कि—

सतताध्ययनं वादः परतन्त्रा वलोकनम् ।
तद्विद्याचार्य सेवाच बुद्धि मेधा करो गणः ॥

अर्थ— चार बातें बुद्धि और मेधा को करने वाली होती हैं। एक तो निरन्तर पढ़ते पढ़ाते रहना, दूसरी—आपस में प्रश्नोत्तर पूर्वक यथार्थ निर्णय करने की इच्छासे आर्थीवाद [बहस--मुबाहसा] करना, तीसरी जिस विद्या को सीखना चाहे उस के आचार्य [शिक्षक] की परिचर्य्या करना। तथा चरक सूत्र स्थान अ० २५ में भी लिखा है कि

तद्विद्या सम्भाषा बुद्धि वर्द्धनानाम् ।
आचार्यः शास्त्राधिगम हेतूनाम् ॥

अर्थ— बुद्धि को बढ़ाने वाले जितने काम हैं उन सब के मध्य सर्वोत्तम बुद्धि वर्द्धक तद्विद्या सम्भाषा है अर्थात जिस विद्या को सीखना चाहै तो उसी विद्या वाले से परस्पर नियम पूर्वक शास्त्रार्थ वा सम्भाषण करै। शास्त्र के समझने समझाने और पार पहुंचाने वाले कारणों के बीच सर्वोत्तम कारण उत्तम आचार्य का होना है।
इसी प्रकार [१६३०] वें विषय में लिखे हुए सम्पत्ति के कारणों का पालन करना उन्नति करने वाला है, अन्यथा कदापि कुछ नहीं होता।

वर्त्तमान समय में उपरोक्त सब बातें एतद्देशीय जनों के अभ्यास में प्रायः नहीं रहीं इसी से यह देश अधोगति को पहुंचा। तथा महर्षि नारद जी के ग्रामधारी

भी कोई नहीं होते कि जो योगबल से या पैरों के बल चलकर स्वर्ग, मर्त्य, पाताल इन तीनों लोकों की भेषजों के रूप गुण, प्रभावादि, सब से कहदें। चरक सूत्र स्था० अ० २५ में कहा है कि–

हिमवानौषध भूमीनाम् ॥

अर्थ– औषधों की जितनी भूमि हैं उन सब के मध्य सर्वोत्तम भेषजों की उर्वरा भूमि हिमालय है। परन्तु अब भूमि की ओर औषधियों के अन्वेषणार्थ कोई एक डग भी नहीं रखता। पञ्च मकार [३८१ । ४०१] इत्यादि का प्रभाव फैल गया। व्रात्य [४४४] हो गये। ग्रन्थों में इन [४६५ । ४६८] का सा प्रक्षिप्त व्यवहार प्रचालित होगया। वेद विरुद्ध [४७९] रचना का आरम्भ तथा विषयों से न बचने का ढंग [३९६ । ३९७] प्रवृत्त होगया। इतने पर भी हमारे भाई वैद्यराज, वैद्य-भूषण वैद्य मार्त्तण्ड आदि उपाधियां, येन केन प्रकार नाम मात्र प्राप्त करने के लिये चाहैं दूर २ तक गये आये हों रेल में बैठे हुए अनेक देशों का [illegible] परन्तु औषधपथ के देखने दिखाने वाले और ढूंढने वाले को [illegible] से बनौषधि तो अपना नाम आदि [illegible] हूं मैं अमुक गुण रूप प्रभाव वाली हूं, [illegible] तब जानी पहचानी जावैं कि जब चरक [illegible] प्रकार समझैं। वहां कहा है कि--

वन विचार मनुविचरन् शिष्य [illegible] गब्रवीत। इत्यादि

अर्थ– भगवान् पुनर्वसु आत्रेय बन की ओषधियों का गुण ग्रहण करने की इच्छा से बन में विचरने के विचार को अग्निवेश शिष्य के प्रति कहते हुए। यदि उक्त अध्याय स्थित महर्षियों की इस चेष्टा वा वृत्ति का यथावत् अनुसरण एतद्देशीय वैद्य, हकीम, डाक्टर, आदि चिकित्सक, पसारी अत्तार आदि भेषजों के क्रेता विक्रेता करें, एवं अन्यभी बनौषधिस्थलों के निवासी राजा प्रजागण, ऋषियां विद्वान् पंडित क्षेत्रमापक [पटवारी] लोग उक्त विचार पर दृढदृष्टि हों तो इस समय सुकाल, आरोग्य दायक समय और महौषधियों से रसायन कल्प, यज्ञ, अहिंस्य जगदुपकारी जीवों की रक्षा, तथा महौषधियों का यथार्थ विवेक होना सम्भव है, अन्यथा नहीं।

इस ग्रन्थ के ३८ वें विवेक में अजा महौषधि विषयक [८५६] आथर्वणिक मन्त्रों का अर्थ आयुर्वेदिक रासायनिक सिद्धान्त [८२४] के अनुसार अहिंसा में स्पष्ट है कि जो जङ्गम मांसाहार के पक्षपाती भाष्यकारों ने बकरे काट काट कर खाने के

अर्थ में घसीटा है । जैसाकि जोधपुर में चण्डीदत्त नामक शास्त्री ने मांस भोजन नामका पुस्तक तीन भागों में अनुमान बीस वर्ष हुए तब बनाया था, वह मुझे इस वैदिक प्राणैषणा के रसायन विवेक लिखते समय मिला इसे देखकर मनमें बड़ा खेद हुआकि ऐसे शास्त्री उपाधिधारी ने भी बकरे काट कर खाने के पक्ष से अनर्थ की कैसी पोट बांधी कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं । मैंने इनके बकरे काटने के अनर्थ की समालोचना पूर्वक खण्डन और अजा महौषधि के अर्थका यथावत् घटित होना दिखाकर जीव हिंसार्थ नितान्त नष्ट कर दिया । यद्यपि पं० भीमसेन जी ने उक्त पुस्तक के तीनों भागों का उत्तर अपने आर्य समाजस्थ समय सं० १९५३ में छपवाया था कि जो सर्वथा अकाट्य है और यह सुना गया है कि जोधपुर के सभ्यजनों ने भी मांस भोजन वि०पु० अग्राह्य [रद्दी] कर दिया है, परन्तु " दुष्ट मरा तब जानिये जब तीजा होजाय ,, अर्थात् मांसाहार करना छुटजावै तब रद्दी करना ठीक समझा जाय क्योंकि अभी तक इसका सर्वथा त्याग नहीं हुआ ।

अब यदि मेरे बनाये हुए इस वैदिक प्राणैषणा नामक पुस्तक को जो आद्योपान्त विचार पूर्वक पढेंगे, पढावेंगे, वा सुनैंगे. सुनावेंगे, वे निःसन्देह जगद्धितैषी जनों की गणना के योग्य पुण्यात्मा शरीर समझे जावेंगे । और आशा है कि वे अवश्य ही निन्द्य खान पान और दुर्व्यसनों को छोड छुडाकर मेरे इस ग्रन्थ के निर्माण करने के अति परिश्रम को सफल करेंगे ।

यह ग्रन्थ किसी विशेष [खास] वर्ण; विशेष आश्रम, विशेष जाति. विशेष मत. वा विशेष व्यक्ति, के लिये ही नहीं बना किन्तु मनुष्य मात्र के लिये यह वेदोक्त प्राणैषणा सर्वदा सर्वथा इष्टतम होगी, ऐसा मेरा विश्वास है ।

इस के पाठकों से मेरा सविनय निवेदन है कि जिस विषय को जो पढ़ना चाहैं उस का शुद्धाशुद्ध सूची प्रथम देख कर पढ़ें । यदि उक्त सूची से भी कोई भूल रही दृष्टिगत हो तो मूल के देखने से अर्थ की और अर्थ के देखने से मूल के वर्ण अथवा मात्राओं की भूल को यथा युक्ति से ठीक करके ग्रन्थ कर्त्ता के यथार्थाभिप्राय को ग्रहण करलैं ॥

यदि राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, पंडित, मौलवी, वैद्य, हकीम, डाक्टर, उपदेशक, आदि सब भद्र पुरुष तथा अन्य भी स्वदेशीय विदेशीय प्रजा गण पक्षपात को छोड़ इस पुस्तक के विचार प्रचार में उद्योग करैं तो शीघ्र ही समन्दय निन्दित खान पान और अनाचारतम का नाश तथा शुद्धाहार विहार सदाचार के सूर्य का प्रकाश हो सब प्राणधारियों का सुख का परम लाभ हो जावै ॥

हे सर्वात्मन् हे दयालो विभोऽर- ।
ङ्कुर्याः न्याःयं मर्त्यमात्रस्य हन्तु ॥
मद्ग्रन्थस्यास्य प्रकाशं यथावत् ।
लोको यस्मात्स्यात्सुसम्पत्ति युक्तः ॥१॥

॥ इत्यलम् ॥

जगद्धितैषी
होमनिधि शर्मा

विषय सूची

षष्ठ विवेक समाप्त

क्रमाङ्क	विषय	पृष्ठसे	पृष्ठतक
१०१	आयु-आयुर्वेद और आयुर्वेद विद् के लक्षणों के कथन का कारण	६५	६६
	अष्टम विवेकसमाप्त		
	स्वस्थ वृत्ति का अधिकार	६६	७१
१०२	स्वस्थ के लक्षण	६६	६६
१०३	स्वस्थ वृत्ति का लक्षण		
१०४	स्वस्थ रहने के उपाय	६७	६७
१०५	उक्त उपायों को स्वस्थ वृत्ति में ही करने के हेतु	६७	६८
१०६-१०७	स्वस्थ रहने के लिये धर्माचरण की आवश्यकता	६८	,,
१०८-१०९	मनुष्य मात्र के लिये धर्म के साधन प्राण विवर्द्धक प्रयोगों का कथन	,,	६९
११०-११५	प्राणवर्द्धकों में अहिंसा की उत्कृष्टता	६९	७१
	नवम विवेक समाप्त		
	भोजनादि विषय विचार	७१	७५
११६	भोजन शब्द के पर्याय	,,	७१
११७-११८-११९	आहार के गुण	,,	७२
१२०	आहार की उत्पत्ति के दो स्थान	७२	,,
१२१	आहार का मुख्य प्रभाव	,,	७३
१२२	चार प्रकार का आहार	७३	,,
१२३	आहार के छः रस	,,	,,
१२४	आहार के बीस गुण	,,	७४
१२५-१२६	आहार के अनेक विकल्प और हिताहित भाव	७४	,,
१२७-१२८	हिताहार की बड़ाई	७५	७५
१२९	हित और अहित आहारों के लक्षण	,,	,,
	दशम विवेक समाप्त		

तेरवां विवेक समाप्त

आहार के निमित्त प्रशस्त द्रव्योंका निर्द्धारण

पन्द्रहवां विवेक समास

वामि प्रत्तिप्त मकारविषय

३३ वां विवेक समाप्त ।

३९ वां विवेक समाप्त ।

५८ वां विवेक समाप्त

५९ वां विवेक समाप्त

११ वां विवेक समाप्त

ग्रन्थ समाप्त हुआ,



॥ ॐ ॥

वैदिक प्राणौषणा

(स्वस्थ वृत्त्याधिकारात्मिका)

श्रीमदुपाध्याय पण्डित होमानिधि शर्म वैद्याचार्येण

संकलिता

तत्पुत्रेण सुधानिध्युपाध्यायेन प्रकाशिता

पण्डित प्रेमानिधि वैद्योपाध्यायेन संशोधिता

पण्डित होतीलाल मिश्रेण

खुर्जास्थ इन्दिरा नाम्नि स्वीये मुद्रणालये मुद्रिता

विक्रमाब्दाः १९७१ ख्रिस्ताब्दाः १९१४

प्रथमावृत्तौ २०००

मूल्यं रूप्यकद्वयम् २)

वैदिक प्राणैषणा

ओ३म्

प्राणाय नमो यस्य सर्वं मिदंवशे। योभूतः सर्वस्येश्वरो य-स्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१॥ अथर्व कां०११ अ०२ सू०६।

प्राणाय। नमः। यस्य। सर्वं। इदम्। वशे। यः। भूतः। सर्वस्य। ईश्वरः। यस्मिन्। सर्वम्। प्रतिष्ठितम् ॥

प्राणाय अनिति सर्वं प्राणिशरीरं व्याप्य चेष्टत इति प्राणः समष्टि शरीराभिमानी प्रथम सृष्टो हिरण्यगर्भः। "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" इति (प्र०उ०१-८) "स प्राणम् असृजत" इति (प्र०उ० ६-४) "कस्मिन्नह मुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि" (प्र० उ० ६-३) इत्यादि श्रुतिभ्यः। तस्मै प्राणाय नमः नमस्कारोस्तु। तस्य सगुण ब्रह्मात्मकत्वं दर्शयति। यस्य प्राणस्य वशे सर्वम् इदम् चराचरात्मकं जगद् वर्त्तते। एतेन तस्य सकलजगन्नियन्तृत्वमुक्तम्। यः प्राणो भूतः भूतकाला वाच्छिन्नः नतु भविष्यन्। सर्वदालब्ध सत्ताक इत्यर्थः सर्वस्य प्राणिजातस्य ईश्वरः ईशिता कर्त्तु मकर्त्तु मन्यथा कर्त्तु वा शक्तः। यास्मिन् उदीरित लक्षणे प्राणे परब्रह्मात्मके सर्वं समस्तं जगत् प्रतिष्ठितम्। कारणभूते यस्मिन् समवाय वृत्यावर्त्तत इत्यर्थः। तस्मै प्राणाय नम इति सम्बन्धः ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ-(यस्य) जिस प्राणके (वशे) अधिकार में (सर्वम्) सब (इदम्) यह चराचर जगत् है (यः) जो प्राण (भूतः) सदैव पूर्वकालीन है, भविष्यत् नहीं (सर्वस्य) सब प्राणिमात्र का (ईश्वरः) ईशिता अर्थात् करनेको न करनेको वा अन्यथा करनेको समर्थ है। (यास्मिन्) जिस उक्त लक्षणोक्त परब्रह्मात्मक कारण भूत प्राण में (सर्वम्) समस्तजगत् समवायसंबंधसे (प्रतिष्ठितम्) ठहरा हुआ है (प्राणाय) उस प्राणके लिये (नमः) हमारा नमस्कार है ॥ १ ॥

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्तेस्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥२॥

नमः । ते । प्राण । क्रन्दाय । नमः । ते । स्तनयित्नवे । नमः । ते । प्राण । विद्युते । नमः । ते । प्राण । वर्षते ॥ २ ॥

हे प्राण क्रन्दाय क्रन्दन शीलाय ध्वनते (ते) तुभ्यं नमः । तथा स्तनयित्नवे मेघजालम्प्रविश्य स्तनितं गर्जितं कुर्वते । एवम्भूताय ते तुभ्यं नमः । हे प्राण विद्युते विद्युदात्मना विद्योतमानाय ते तुभ्यं नमः । तदनन्तरं वर्षते वृष्टिं कुर्वते ते तुभ्यम् हे प्राण नमोस्तु ॥ २ ॥

सान्वय भाषार्थ—हे (प्राण) प्राणनशील (क्रन्दाय) शब्द करने वाले (ते) तेरे अर्थ (नमः) नमस्कार है, तथा (स्तनयित्नवे) मेघजाल में प्रविष्ट हो गर्जना करते हुए (ते) तेरेलिये (नमः) नमस्कार है, हे (प्राण) प्राण (विद्युते) अपने विशुद्ध आत्मा से विद्योतमान होते हुए (ते) तेरेलिये (नमः) नमस्कार है । तदनन्तर हे (प्राण) प्राण (वर्षते) वर्षा करते हुए (ते) तेरेलिये (नमः) नमस्कार है ॥२॥

यत्प्राण स्तनयित्नुना भिक्रन्दत्योषधीः ।
प्रवीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्विजायन्ते ॥३॥

यत् । प्राणः । स्तनयित्नुना । अभिक्रन्दति । ओषधीः । प्रवीयन्ते । गर्भान् । दधते । अथो इति । बह्वीः । वि । जायन्ते ॥ ३ ॥

यत् यदा प्राणः जगत्प्राणभूतःसूर्यात्मको देवः स्तनयित्नुना मेघध्वनिना ओषधीः व्रीहियवाद्या ग्राम्या आरण्याश्चवीरुधः अभिक्रन्दति अभिलक्ष्य शब्दायते । यथा गोयूथमध्ये दृप्तोवृषभः गर्भम् आधित्सुरुता अभिलक्ष्य शब्दं करोति तथेत्यर्थः। तदा ता ओषधयः प्रवीयन्ते प्राणाभिक्रन्दन मात्रादेव गर्भं गृह्णन्ति । वर्षर्तुः सर्वासाम् ओषधीनां गर्भग्रहणकाल इत्यर्थः । तदानीमेव गर्भान् दधते धारयन्ति । अथो अनन्तर मेव बह्वी बह्व्यो बहुप्रकारा विजायन्ते विविधम् उत्पद्यन्ते ॥ ३ ॥

सान्वय भाषार्थ—(यत्) जब (प्राणः) जगत् प्राण भूत सूर्यदेव (स्तनयित्नुना) मेघध्वनि से (ओषधीः) व्रीहि यवादि अन्न संज्ञक ग्राम्य औषधि और वनके वीरुध इन को (अभि) लखकर (क्रन्दति) शब्द करने लगता है जैसे गौओंके यूथको देखकर गर्भ कराने वाला बैल दूंकने लगता है ऐसे ही शब्द करता है उस समय वे (प्रवीयन्ते) बोई

जाती हैं (गर्भान्) गर्भोंको (दधते) धारण करती हैं (अथ) इसके अनन्तर (वह्वीः) बहुतसी "बहुत प्रकार की" (विजायन्ते) उत्पन्न होती हैं ॥ ३ ॥

यत्प्राण ऋता वागते ऽभिक्रन्दत्योषधीः ।
सर्वं तदा प्रमोदते यत् किंच भूम्यामधि ॥ ४ ॥

यत् । प्राणः । ऋतौ । आगते । अभिक्रन्दति । ओषधीः । सर्वं । तदा । प्र । मोदते । यत् । किं । च । भूम्याम् । अधि ॥ ४ ॥

प्राणोदेवः ऋतावागते ऋतुकाले समागते वर्षर्त्तौ आगते वा यत् यदा ओषधीः अभिक्रन्दति तदा सर्वं प्रमोदते प्रहृष्यति । भूम्याम् अधि उपरि यत् किंच यत् किमपि प्राणिजातं वर्त्तते । तत्सर्वं इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

सान्वय भाषार्थः—(प्राणः) देव (ऋतौ) ऋतुकाल के (आगते) आने पर (यत्) जब (ओषधीः) व्रीहि यवादि अन्न संज्ञक औषधियों को और सोमादि महौषधियों को (अभि) देखकर (क्रन्दति) ध्वनि करता है (तदा) तब (सर्वम्) सब (प्रमोदते) हर्षित होते हैं । यहां तक है कि (भूम्याम्) भूमिके (अधि) ऊपर (यत्) जो (किञ्च) कुछभी प्राणि मात्र हैं, वे सब ही प्रसन्न होते हैं ॥ ४ ॥

यदाप्राण अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत्प्रमोदन्ते महोवै नो भविष्यति ॥५॥

यदा । प्राणः अभि॰अवर्षीत् । वर्षेण । पृथिवीम् । महीम् तत् । प्र । मोदन्ते । महः । वै । नः । भविष्यति । ॥ ५ ॥

यदायस्मिन्काले प्राणोदेवः महीं महतीं पृथिवींविस्तीर्णां भूमिं वर्षेण वृष्टिकर्मणा अभ्यवर्षीत् अभित सिक्तां करोति तत् तदानीं पशवः गवाद्याः प्रमोदन्ते प्रहृष्यन्ति । केनाभिप्रायेणेत्याह । महोवै उत्सवः खलु नः अस्माकं भाविष्यति । वृष्टेरनन्तरं पृथिव्यां भूयांसि सस्यानि उत्पद्यन्ते तद्भक्षणेन अस्माकं पुष्टिर्भाविष्याति इति प्रनृत्यन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सान्वय भाषार्थ—(यदा) जिस समय (प्राणः) देव (महीम्) महती (पृथिवीं) विस्तीर्ण भूमि को (वर्षेण) वृष्टि करने से (अभ्यवर्षीत्) सब ओरसे सींचता है, (तत्) उस समय (पशवः) गवादि पशु (प्रमोदन्ते) बड़े प्रसन्न होते हैं, किस अभिप्राय से (महो) बड़ा उत्सव (नः) हमको (वै) निःसन्देह (भविष्यति) होगा क्योंकि वृष्टि हुए पीछे पृथिवी पर बहुत से अन्न उपजेंगे उनके भोजन से हमारी पुष्टि होगी इससे नृत्य करते हैं ॥ ५ ॥

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन सम वादिरन् ॥
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

अभिऽवृष्टाः । ओषधयः । प्राणेन । सम् । अवादिरन् । आयुः । वै । नः । प्र । अतीतरः । सर्वाः । नः । सुरभीः । अकः ॥ ६ ॥

प्राणेन देवेन अभिवृष्टाः अभिषिक्ता ओषधयो ग्राम्या आरण्याश्च तेनैव प्राणेन समवादिरन् समवदन्तः सम्भाषणं कृतवत्यः। संवदन प्रकारमेव दर्शयति आयुरिति । हे प्राण नः अस्माकम् आयुः जीवनंत्वम् प्रातीतरः प्रावर्धय । तथा नः अस्मान् सर्वाः सुरभीः शोभन गन्ध युक्ता अकः अकार्षीः ॥६॥

सान्वय भाषार्थ—(प्राणेन) प्राण देव से (अभिवृष्टाः) अच्छी सेचन हुई (ओषधयः) ग्रामकी और बन की औषधियां (प्राणेन) प्राण के साथ (समवादिरन्) सम्भाषण करती हैं। आगे वह सम्भाषण दिखाते हैं। हे (प्राण) जीवनदाता (नः) हमारे (आयुः) जीवन को तू (वै) अवश्य (प्रातीतरः) बढ़ावो, तथा (नः) हमको (सर्वाः) सब (सुरभीः) शोभन गन्ध युक्त [अकः] करौ ॥६॥

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसी नायोत ते नमः॥७॥

नमः । ते । अस्तु । आयते । नमः । अस्तु । परायते । नमः । ते । प्राण । तिष्ठते । आसीनाय । उत । ते । नमः ॥ ७ ॥

हे प्राण आयते आगच्छते ते तुभ्यं नमोऽस्तु । तथा परायते पराङ्मुखं गच्छते तुभ्यं नमोऽस्तु । हे प्राण तिष्ठते यत्र क्वापि अवस्थिताय (ते) तुभ्यं नमोऽस्तु । आसी नाय उपविष्टाय ते तुभ्यं नमोऽस्तु । उत शब्दः अप्यर्थे। आगमनादि क्रियाः सर्वाः प्राण व्यापार निर्वर्त्त्या इति तत्तदवस्थापन्नस्य नमस्कार्यत्वम्॥७॥

सान्वय भाषार्थ— हे (प्राण) जीवन शक्तिमन् (आयते) आते हुए (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवै। तथा (परायते) जाते हुए (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवै। हे (प्राण) चेतन शक्तेः (तिष्ठते) खड़े रहते हुए (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (उत) और (आसीनाय) बैठे हुए (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते ।
पराचीनायते नमःप्रतीचीनायते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥

नमः। ते । प्राण । प्राणते । नमः । अस्तु । अपानते । पराचीनाय । ते । नमः प्रतीचीनाय । ते । नमः । सर्वस्मै । ते । इदम् । नमः ॥ ८ ॥

हे प्राणदेव प्राणते प्राणन व्यापारं कुर्वते ते तुभ्यं नमोऽस्तु । तथा अपानते अपानन व्यापारं कुर्वते अपान वृत्यात्मकाय तुभ्यं नमोऽस्तु । तथा पराचीनाय पराञ्चनाय परागमन स्वभावाय देहाद् बहि रवस्थिताय ते तुभ्यं नमोऽस्तु । तथा प्रतीचीनाय प्रतिमुखं अञ्चते देहमध्ये वर्त्तमानाय ते तुभ्यं नमोऽस्तु । किं बहुना सर्वस्मै सर्व व्यापारकर्त्रे सर्व प्राणि शरीरान्तर्वर्त्तिने ते तुभ्यं इदं नमः अयं नमस्कारो भवतु ॥ ८ ॥

सान्वय भाषार्थ—हे (प्राण) प्राण देव (प्राणते) जीवधारण व्यापार करने वाले (ते) तेरेलिये (नमः) नमस्कार । तथा(अपानते) अपानका व्यापार करनेवाले (ते) तेरेलिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो । (पराचीनाय) देहसे बाहर जाने वाले (ते) तेरेलिये (नमः) नमस्कार । (प्रतीचीनाय) मुखके प्रति जाते हुए-देहके बीच ठहरने वाले (ते) तेरेलिये (नमः) नमस्कार । वहुत कहनेसे क्या शरीरके भीतर वर्त्तमान होकर (सर्वस्मै)सब व्यापार करने वाले (ते) तेरेलिये (इदम्) यह (नमः) नमस्कार होवै॥८॥

याते प्राण प्रिया तनूर्योते प्राण प्रेयसी ।
अथोयद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥

या । ते । प्राण । प्रियाः । तनूः। यो इति । ते । प्राण । प्रेयसी। अथोइति। यत् । भेषजम् । तव । तस्य । नः । धेहि । जीवसे ॥९॥

हे प्राण ते तव या प्रिया प्रीतिविषया तनूः शरीरम् अस्ति तथा प्राण ते तव यौ×ये प्रेयसी प्रियतमरूपे प्राणापान वृत्तिद्वयात्मके अग्नीषोमरूपे वा। अथो अपि-च तव सम्बन्धि यत् भेषजम् अमृतत्व प्रापकम् औषधम् अस्ति तस्य सर्वस्य प्रिय तनु प्रभृतिकस्य सकाशात् नः अस्माकं जीवसे जीवनाय धेहि अमृतत्व साधन मौषधम् प्रयच्छ ॥ ९ ॥

सान्वय भाषार्थ—हे (प्राण) जीवधारक (ते) तेरी (या) जो (प्रिया) प्यारी (तनूः)देह है । तथा हे (प्राण) जीवन (ते) तेरी(यः)जो दो (प्रेयसी) बड़ी प्यारी प्राण वायुः

रूप और अपान वायु रूप दोनों दृष्टियां, अथवा अग्नि और सोम रूप (उभौ) और भी (तव) तेरा (यत्) जो (भेषजम्) रोगदूर करने वाला उपाय है (तस्य) उस सब प्रियतनु इत्यादिका (नः) हमारे (जीवसे) जीवनके लिये (धेहि) अमृत प्रापनरूप औषधको दे ॥ ९ ॥

प्राणः प्रजा अनुवस्ते पिता पुत्र मिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥१०॥

प्राणः । प्रजा । अनु । वस्ते । पिता । पुत्रम्ऽइव । प्रियम् । प्राणः । ह । सर्वस्य । ईश्वरः । यत् । च प्राणति । यत् । च । न ॥ १० ॥

प्राणोदेवः प्रजाः प्रजायमाना देवतिर्यङ्मनुष्याद्याः । अनुवस्ते अनुक्रमेणा-च्छादयति । तच्छरीराणि नाडीद्वारा व्याप्य वर्त्तत इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । पिता पुत्र मिव । यथा पिता प्रियम् स्निग्धं पुत्रं वस्त्रेण स्वकीयेन आच्छादयति तथेत्यर्थः यच्चजंगमात्मकं वस्तु प्राणति प्राणन व्यापारं करोति यच्चस्थावरात्म-कं न प्राणति प्राणन व्यापारं न करोति । किंतु आत्माविना भूतःप्राणः स्थावरेषु-निरुद्ध गतिरेव अन्तर्वर्त्तते । तस्य सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मनो जगतः प्राणः खलु ईश्वरः ईशिता स्वामी ॥ १० ॥

अन्वय भाषार्थ—(प्राणः) जीवनदाता यह प्राण अपनी (प्रजाः) सन्तानों [देव, मनुष्य, पशु आदि के जन्मे शरीरों] को (अनुवस्ते) क्रम से आच्छादन करता है, अर्थात् उनके शरीरोंको नाड़ी द्वारा व्याप्त हो वर्त्तता है । यहां दृष्टान्त (पिता) पिता अपने (प्रियम्) प्यारे (पुत्रम्) पुत्र को (इव) जैसे वस्त्रसे ढकता है तैसे । (च) और (यत्) जो वस्तु चेतन है वह (प्राणति) प्राणन व्यापार को करता है (च) और (यत्) जो जड़ है वह प्राणन व्यापार (न) नहीं करता । और यह (प्राणः) जीवधारक शक्ति वाला (ह) स्फुट [खुलासा] (सर्वस्य) सब का अर्थात् स्थावर और जंगम दोनों का (ईश्वरः ईश्वर है अर्थात् चेष्टा कराने में प्रेरक है ॥१०॥

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिन मुत्तमे लोक आदधत् ॥११॥

प्राणः । मृत्युः । प्राणः । तक्मा । प्राणम् । देवाः । उप । आसते । प्राणः । ह । सत्यऽवादिनम् । उत्ऽतमे । लोके । आ । दधत् ॥११॥

प्राण एव देवो मृत्युः स्वनिर्गमनेन सर्व प्राणिनां मरणस्य कर्त्ता। स एव प्राणस्तक्मा कृच्छ्र जीवन करो ज्वरादि योगः। तथा तं प्राणं देह मध्य वर्तिनं देवाः इन्द्रियाणि उपासते। स्व स्व विषयोप भोगाय सेवन्त इत्यर्थः। यद्वा प्राणम् हिरण्यगर्भं समष्ट्यात्मकम् अग्न्यादयो देवा उपासते। स एव प्राणः सत्य वादिनम्। सत्यं यथार्थं वदितुं शीलं अस्य स तथोक्तम्। सत्यवदनशीलम् महानुभावम् उत्तमे उत्कृष्टतमे लोके आ दधत् आदधाति स्थापयति ॥११॥

सान्वय भाषार्थ—यहबात सबको(ह)स्फुट है अर्थात् व्यक्त है कि(प्राणः)प्राणदेवही (मृत्युः) अपने निकल जाने से सब प्राणियों को मरण करने वाला है (प्राणः) प्राण ही (तक्मा) कृच्छ्र जीवनकर्त्ता ज्वरादि योगकारक है। तथा उस (प्राणम्) प्राणको (देवाः) इन्द्रिय गण (सेवन्ते) अपने अपने विषयोंके भोगोंके लिये सेवन करतेहैं। यद्वा समष्टिरूप हिरण्य गर्भ रूप प्राण को अग्नि आदि देव सेवन करते हैं। वही (प्राणः) प्राण संज्ञक देव (सत्यवादिनम्) यथार्थ कहने वाले मनुष्य को (उत्तम) अत्युत्तम (लोके) सुख स्थान में (आ-दधत्) पहुंचा देता है ॥ ११ ॥

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥१२॥

प्राणः। विऽराट्। प्राणः। देष्ट्री। प्राणम्। सर्वे। उप। आसते। प्राणः। ह। सूर्यः। चन्द्रमाः। प्राणम्। आहुः। प्रजापतिम् ॥१२॥

प्राण एव देवो विराट् स्थूल प्रपञ्चाभिमानी ईश्वरः। तथा प्राणो देष्ट्री स्व स्व व्यापारेषु सर्वेषां प्रेरयित्री परदेवता। तथा विधं प्राणं सर्वेजना उपासते स्वाभिलषितफल सिद्ध्यर्थं सेवन्ते। प्राण एव सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः। तथाचन्द्रमाः अमृतमयःसोमोऽपि स एव। एतेन प्राणस्य अग्नीषोमात्मकत्वमुक्तम्। तथा विधमेव प्राणं प्रजापतिम् प्रजानां स्रष्टारं देवम् आहुः अभिज्ञाः कथयन्ति ॥ १२ ॥

सान्वय भाषार्थ—(प्राणः) प्राणही (विराट्) स्थूल प्रपंचाभिमानी ईश्वर है। तथा (प्राणः) प्राण ही (देष्ट्री) अपने २ व्यापार में सबका प्रेरक है। (प्राणम्) ऐसे प्राणदेव को (सर्वे) सब (उपासते) उपासते हैं, अर्थात् अपने मन चाहे फल के लिये सेवते हैं। (प्राणः) प्राण ही (सूर्यः) सबका प्रेरक आदित्य (च) और (चंद्रमाः) अमृतमय सोम है। इसी कारण प्राणको अग्नीषोमात्मक कहा गया। इस प्रकार (प्राणम्) प्राणको (प्रजापतिम्) प्रजा स्रष्टा अभिज्ञजन (आहुः) कहते हैं ॥ १२ ॥

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान्प्राण उच्यते ।
यवेह प्राण आहितोऽपानो व्रीहि रुच्यते ॥ १३ ॥

प्राणापानौ । व्रीहिऽयवौ । अनड्वान् । प्राणः । उच्यते । यवे । ह । प्राणः । आहितः । अपानः व्रीहिः । उच्यते ॥ १३ ॥

प्राणश्च अपानश्च प्राणापानौ मुख्यस्य प्राणस्य प्रधानभूतौ वृत्तिविशेषौ । तावेव व्रीहिश्च यवश्चव्रीहियवौ । प्राणापानात्मकौ तावित्यर्थः । योवृत्तिमान् मुख्यः प्राणः सः अनड्वान् उच्यते । व्रीहियवयोः कर्षणेन उत्पादयिता बलीवर्दो वृत्तिमत्प्राणात्मनाज्ञातव्य इत्यर्थः। उक्तमेवार्थं विवृणोति। यवेह यवेखलु प्राणः प्राणवृत्यात्मकोवायुः आहितः स्रष्ट्रास्थापितः । अपानवृत्यात्मकस्तु वायुः व्रीहिरुच्यते । व्रीहिषु अवस्थानेन तदात्मकः कथ्यत इत्यर्थः। अत एव तौ व्रीहियवौ ओषधीषुमध्येपुष्टिकरत्वेन सर्व प्राणिभिरुपजीव्यौ । अतो लोक रक्षणाय प्राण एव व्रीहि यवानड्वद्रूपेण कथ्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सान्वय भाषार्थ—(प्राणापानौ) प्राण और अपान ये दोनों मुख्य प्राण के प्रधानरूप वृत्ति विशेष हैं, वेही दोनों (व्रीहियवौ) व्रीहिसंज्ञक और यव संज्ञक अन्नविशेष प्राण और अपानकी वृत्ति वाले हैं । और वृत्ति वाला मुख्य (प्राणः) प्र[illegible]नशील (अनड्वान्) बैल (उच्यते) है क्योंकि व्रीहि और यव दोनोंके लिये भूमिकर्षण करने से उत्पन्न करने वाला बलीवर्द वृत्तिमान् प्राणात्माजानना। इस कहे अर्थको स्पष्ट किया है (यवे ह) यवमें ही (प्राणः) प्राणवृत्ति का वायुः (आहितः) धराहै । और (अपानः) अपानवृत्यात्मक वायु (व्रीहिः) व्रीहि (उच्यते) कहागया है । अर्थात् व्रीहियों में रहता है, इससे यव और व्रीहि औषधियों को पुष्टिकर होनेसे सब प्राणियों के उपजीवन हैं । और बैल उक्त दोनों अन्नों के उत्पन्न करने का मुख्य साधन होने से जगत्प्राण है ॥ १३ ॥

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भेअन्तरा ।
यदा त्वं प्राणजिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥

अप । अनति । प्र । अनति । पुरुषः । गर्भे । अन्तरा । यदा । त्वम् । प्राण । जिन्वसि । अथ । सः । जायते । पुनः ॥१४ ॥

अन्नात्मकत्वं प्राणस्य । उक्तम तद्रस परिणाम रूप शरीरधारी पुरुषो गर्भे स्त्रिया

गर्भाशये अन्तरा मध्ये अपानति हे प्राण त्वत्प्रवेशेन अपान व्यापारं करोति प्राणति प्राणन व्यापारं करोति च। हे प्राण शुक्र शोणितावस्थायामेव पुरुष शरीरंप्रविश्य तत्परिणामाय प्राणापान वृत्ती अनयसीत्यर्थः। हे प्राण त्वं यदा यस्मिन् काले जिन्वसि गर्भी भूतं पुरुषं मातृ भुक्ताहार परिणतान्न रसेन प्रीणयसि पुष्यसीत्यर्थः अथो अनन्तरमेव सपुरुषः पुनर्जायते। स्वार्जित परिपक्व पुण्य पाप फलोप भोगाय पुनर्भूम्याम् उत्पद्यते। प्राण एव सर्वस्योत्पादक इत्यर्थः॥

सान्वय भाषार्थ—स्त्री के (गर्भे) गर्भाशय के (अन्तरा) बीच में प्रवेश होनेसे (अपानति) अपान की चेष्टा करता है (प्राणति) प्राणन व्यापार करता है। हे (प्राण) जीवधारिन् (यदा) जिस समय (त्वं) तू (जिन्वसि) गर्भ में गये पुरुष को माता के भुक्ताहार परिणत अन्न रस से पुष्ट करता है (अथ) इस के अनन्तर ही (सः) वह पुरुष (पुनः) फिर (जायते) अपने संचित परिपक्व पुण्य पापोंके फल भोगने के लिये भूमि पर जन्मता है॥

भावार्थ—यह है कि प्राण ही सबका उत्पादक है ॥१४॥

प्राण माहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतम्भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५॥

प्राणम्। आहुः। मातरिश्वानम्। वातः। ह। प्राणः। उच्यते। प्राणे। ह। भूतं। भव्यम्। च। प्राणे। सर्वम्। प्रतिऽस्थितम्॥१५॥

मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति वर्त्तत इति मातरिश्वा अन्तरिक्षाधिपतिर्वायुः। तं वायुं प्राणं प्राणात्मकम् आहुः। "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति श्रुतेः [ऐ०आ०२.४.२.] उक्त एवार्थो व्यति हारेण दृढी क्रियते वातो ह प्राण उच्यते इति "सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः" [बृ०आ०१-३-२२] इति सर्व जगदाधार भूतः सूत्रात्मा यो वातः सदा गमन शीलो वायुः स एव प्राण उच्यते अतो नानयोर्भेद इत्यर्थः तस्मिन् प्राणे जगदाधार भूते सूत्रात्मनि भूतम् भूतकालावच्छिन्नम् उत्पन्नं जगत् भव्यम् भविष्यत्कालावच्छिन्नम् उत्पत्स्यमानं जगत्। तदु उभयम् आश्रित्य वर्त्तते किं बहुना तस्मिन् प्राणे सर्वम् इदम् जगत् प्रतिष्ठितम् आश्रितम्॥१५॥

सान्वय भाषार्थ--(मातरिश्वानम्) अन्तरिक्ष के अधिपति वायु को (प्राणम्) प्राण (आहुः) कहते हैं। (वातः) वायु (ह) स्फुट (प्राणः) प्राण (उच्यते) कहा जाता है॥ (प्राणे) उस जगदाधार रूप प्राण में (भूतम्) बीता हुआ (च) और

(भव्यम्) आगे को होने वाला है। अधिक क्या कहें (प्राणे) उस प्राण में (सर्वम्) यह सब जगत् (प्रतिष्ठितम्) आश्रित है ॥ १५॥

आथर्वणी राङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ॥
ओषधयः प्रजायन्ते यदात्वंप्राण जिन्वसि ॥१६॥

आथर्वणीः । आङ्गिरसीः । दैवीः । मनुष्यजाः । उत । ओषधयः । प्र । जायन्ते यदा । त्वम् । प्राण । जिन्वसि ॥१६॥

आथर्वणीः अथर्वणा महर्षिणा सृष्टा आङ्गिरसी आङ्गिरोभिः सृष्टाः दैवीः देवैः सृष्टाः । मनुष्यजा मनुष्येभ्य उत्पन्नाः । उत शब्दः अप्यर्थे एवं नाना विधा ओषधयः प्र जायन्ते प्रकर्षेण उत्पद्यंते हे प्राण त्वं यदा यस्मिन् काले जिन्वसि वृष्टि प्रदानेन प्रीणयसि ॥१६॥

सान्वय भाषार्थ (आथर्वणीः) अथर्व महर्षि की बताई (आङ्गिरसीः) आङ्गिरा ऋषि की सूचित की गई (दैवीः) देवोंकी नियत की हुई ओषधियां (उत) और (मनुष्यजाः) मनुष्यों की जताई हुई (ओषधयः) व्रीहि यवादि (प्रजायन्ते) प्रकर्षतासे पैदा होते हैं (यदा) जब हे (प्राण) जीवनाधार (त्वं) तू (जिन्वसि) वृष्टि करने से तृप्त करता है ॥१६॥

यदा प्राणोऽभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्
ओषधयः प्रजायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥१७॥

यदा । प्राणः । अभिअवर्षीत् । वर्षेण । पृथिवीम् । महीम् । ओषधयः । प्रजायन्ते । अथोइति । याः । काः । च । वीरुधः ॥ १७ ॥

पूर्वोर्धर्चो व्याख्यातः । ओषधयो व्रीहि यवाद्याः वृष्टयनन्तरमेव प्रजायन्ते । अथो अपिच याः काश्च वीरुधः विरोहण शीला लतारूपा आरण्याताः अपि सर्वाः प्रजायन्ते ॥१७॥

सान्वय भाषार्थ-(यदा) जब (प्राणः) सूर्य (वर्षेण) वर्षणशील मेघद्वारा (पृथिवीम्) विस्तृत (महीम्) भूमि को (अभ्यवर्षीत्) सींचता है तब (अथो) व्रीहि यवादिकही नहीं किन्तु इनके अनन्तर (याः) जो (काश्च) कुछ भी (वीरुधः) विरोहण शीलमतान वाली वनकी (ओषधयः) औषधियां हैं वेभी (प्रजायन्ते) अधिक उपजती हैं

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः॥
सर्वे तस्मै बलिं हरान मुष्मिंल्लोक उत्तमे ॥१८॥

यः। ते। प्राण। इदम्। वेद। यस्मिन्। च। असि। प्रतिऽस्थितः। सर्वे। तस्मै। बलिम्। हरान्। अमुष्मिन्। लोके। उत्तमे ॥१८॥

हे प्राण ते त्वदीयम् इदम् उदितं माहात्म्यं यो वेद जानाति यस्मिंश्च विदुषि त्वं प्रतिष्ठितोऽसि उदीरित महिमाधेयत्वेन आश्रयमाणो भवसि तस्मै विदुषे सर्वे देवा अमुष्मिन् स्वर्गे उत्तम उत्कृष्टतमे लोके बलिम् अमृतमयं भागं हरान् हरन्ति॥१८॥

सान्वय भावार्थ—हे (प्राण) प्राण (ते) तेरे (इदम्) इस कथन किये माहात्म्य को (यः) जो (वेद) जानता है (च) और (यस्मिन्) जिस विद्वान् में तू (प्रतिष्ठितः) कही महिमा युक्त ठहर रहा (असि) है (तस्मै) उस विद्वान् के लिये (अमुष्मिन्) इस (उत्तमे) उत्कृष्टतम (लोके) लोक में (सर्वे) सब देव (बलिम्) अमृत मय भाग को (हरान्) भेट करते हैं ॥१८॥

यथा प्राण बलि हृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः ॥१६॥

यथा। प्राण। बलिहृतः। तुभ्यम्। सर्वाः। प्रजाः। इमाः। एव। तस्मै। बलिम्। हरान्। यः। त्वा। शृणवत्। सुऽश्रवः ॥१६॥

हे प्राण सर्वा इमाः प्रजाः देवतिर्यङ्मनुष्याद्याः यथा येनप्रकारेण तुभ्यं त्वदर्थं बलिहृतः बलेर्भोक्तव्यस्य अन्नस्यहर्त्तारः उपहर्त्तारो भवन्ति एव एवं तस्मै विदुषे बलिं हरान् हरन्तु प्रयच्छन्तु। हे सुश्रवः शृण्वन् प्राण त्वा त्वां यःशृणवत् शृणुयात् तव महात्म्य प्रतिपादकं मन्त्रजातं श्रवणेन्द्रियेण जानीयात्। तस्मै इति सम्बन्धः ॥१६॥

सान्वय भावार्थः — हे (प्राण) प्राण (सर्वाः) सब (इमाः) ये (प्रजाः) देव तिर्य्यक् मनुष्य आदि (यथा) जिसप्रकार (तुभ्यम्) तेरे अर्थ (बलिहृतः) भोक्तव्य अन्न के उपहर्त्ता होते हैं (एव) एवम् (तस्मै) उस विद्वान् के लिये (बलिं) भेट को (हरान्) देवो। हे (सुश्रवः) पुराय श्रवण प्राण (त्वा) तुझे (यः) जो (शृणवत्) श्रवण करे (तस्मै) उसके लिये प्रत्युपकार कर ॥१६॥

इसमें संपादकोक्तिः

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकमित्यादि तथा तमेव भान्त मनुभाति सर्व मित्यादि वेदोपनिषदों का सारांश यही है कि प्राणादि वायु और सूर्यादि लोकों में जो कुछ चमत्कार है वह सब परमात्मा की अलौकिक ज्योतिका है— यदि इन में परमात्मा

विराजमान न हो तो ये सब बिना जीव के सब शरीर के समान निस्सार हैं. इस लिये वेदनें इन मन्त्रों से भी प्राण में परमात्मा के चमत्कार और सामर्थ्य का वर्णन किया है, इसी आशय को लेकर " मनुमेकेऽपरेप्राणम् " इत्यादि स्थलों में मन्वादि शास्त्रकारों नें परमात्मा का नाम " प्राण " माना है ॥ इति प्राणस्तुति ॥

इति वैदिक प्राणैषणायां निरूपणे प्राणस्तुत्यात्मनीयः प्रथमोविवेकः ॥१॥

अथ ग्रन्थोत्थानिका

नत्वा श्री सच्चिदानन्दं परेशं विश्व कृद्विभुम् ।
सन्मानैर्वैदिकप्राणै, षणाङ्कुर्वे जगद्धिताम्॥१॥

अर्थ–सर्व व्यापक श्री सच्चिदानन्द स्वरूप विश्व के कर्त्ता परमेश्वर को नमस्कार करके संसार का कल्याण करने वाली वेद सम्मत प्राणैषणा [अर्थात् वेदोपदिष्ट प्राण रक्षण उपाय विशेष] को आप्तादि सत्प्रमाणों से मै होमनिधि शर्मा नामक करता हू ।

एतन्निरूपणेप्सोत्पन्ना दृष्ट्वा हितायुषामजनिम् ।
मद्धद्यकृषि यतोऽहं तद्विषयान्वेषणे यत्नम् ॥२॥

अर्थ–वर्त्तमान समय प्रायः हितायु [हितायु मनुष्यों के जन्म के न होने को देख कर मेरे हृदय में इस प्राणैषणा के निरूपण करने की इच्छा हुई इससे उक्त एषणा के उपयोगि विषयों के ढूढने में यत्न किया ॥

विषयश्चान्विष्याऽथो तर्कात्संशोध्य भूरितन्त्रेभ्यः ।
आयुर्वेदा धारात् क्रियते सङ्कलनमेतस्याः ॥३॥

अर्थ–इसके अनन्तर बहुत से ग्रन्थों से इसके विषयों [प्राणैषणा के उपयोगि भावों] को ढूंढकर और तर्क से अच्छी तरह शोधकर इसका गुंफन आयुर्वेद के सहारे किया जाता है ॥

अस्यामशनम्मुख्यं रक्षा हेतौ विनिश्चितं शिष्टैः ।
तस्मादस्यैव प्राक् व्याख्यानन्तन्यते शुद्धम् ॥४॥

अर्थ–क्योंकि प्राणोंके सुरक्षित बने रहने की कामना में रक्षा के कारणों के मध्य आप्तों ने भोजन मुख्य निश्चय किया है, इस से प्रथम इस [भोजन] का ही शुद्ध [पवित्र] विशेष कथन का विस्तार किया जाता है, ॥

यद्यत्प्राकृत मदनं ख्यातम्प्राणावलम्बनं नृणाम् ।
तत्रैवाखिल विपदः पतिता हा प्राण घातिन्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो, जो प्राकृत [कुदरती] आहार मनुष्यों के प्राणोंकी रक्षा का सहारा कहा था, उसमें ही हाय जीवनीय भावों के नाश करने वाली कुल्ल बिपत्तियां पड़ गईं ॥ ५ ॥

या विपदः पतिता स्ताः पण्डितवृन्द समक्षम् ।
संप्रति वच्मि यथावत् सत्यविवेक भवाय ॥ ६ ॥

जो बिपत्तियां पड़ी हैं उनको विद्वानों के समुदाय के सन्मुख सत्य की ज्ञान बीन होंने के लिये अब यथार्थ वर्णन करता हूं ॥

ग्रन्थाः प्रायः प्राच्या नष्टा दग्धाः कुराष्ट्रदावाग्नौ ।
शेषाः कलुषीभूता भारत विद्यार्कभामान्द्यात् ॥ ७ ॥

अर्थ—वैदिक ग्रंथ बहुधा नष्टप्रयाय होगये, कुत्सित राज्यों की दावानलों में भस्म होगये, और जो कुछ बचे कुचे रहे वे भारत वर्ष में विद्या रूपी सूर्य की किरण मन्दी पड़ जाने से मैले हो गये, कुछके कुछ दीखने लगे, अर्थात् किसीका पाठ बदल गया किसी में क्षेपक भर दिया, और किसी मैं से पाठ ही निकल गया, अथवा किसी का भाष्य द्वारा अर्थ ही अन्यथा किया गया इत्यादि अनेक विपात्तियाँ हुई हैं ॥

वेदामुधाऽपार्थ करप्रदूषणात्,
प्रख्यापिता धूर्त निशाचरैः कृताः ।
सन्मार्ग मुल्लङ्घ्ययतः कुवर्त्मगा,
जाता नरा निर्घृणवृत्तयस्ततः ॥ ८ ॥

अर्थ – इसी कारण चारों वेद योग्यता, आसत्ति, आकांक्षा आदि युक्तियों के विचार शून्य अर्थों के करने के अति दोष से भांड धूर्त निशाचर छली, कपटी राक्षस [६५ पिशाचों [६६] केरचेवृथा कहा दिये गये, तभी से श्रेष्ठ मार्ग को उलंघन कर के मनुष्य खोटे मार्गों को चलने लगे और हिंसादि पाप कर्म करने वाले विधर्मी हो गये ॥

१त्रयोवेदस्य कर्त्तारो भण्ड धूर्त्त निशाचराः ॥ जर्फरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचःस्मृतम् ॥
अश्वस्यात्रहि शिश्नन्तु पत्नी ग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।भण्डैस्तद्वत् परञ्चैव ग्राह्यं जातं प्रकीर्तितम् ॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचर समीरितम् । इत्यादिचार्वाकादि नास्तिक वचनानि ॥

गोजाव्यश्व नरादीनां याज्ञ पाठे वधार्थता।
प्रवर्त्तिता परै धूर्तै र्नसा वेदादिषु क्वचित्॥ ९॥

अर्थ– यज्ञ सम्बंधी पाठ में जहां २ गौ, अज, अवि, [भेड़] अश्व, मनुष्य आदि के मारने का अर्थ है, वह वेद विरोधी धूर्तों ने चला दिया है, वास्तव में वेदादि कों में कहीं नहीं था॥

अन्घ्याँस्म निघ्नन्ति यथेच्छयाऽध्वरे।
हिंसापरामेध मिषात्पशो र्वधम्॥
प्रख्याप्य वेदोदितमेव तैः पुनः।
शुद्धः परोवेदपथो विदूषितः॥ १०॥

अर्थ– उक्त हिंसा रत मनुष्य अध्वर [हिंसा न करने के योग्य यज्ञ] कर्म में यथेच्छा से गवादि अहिंस्य पशुओं को हनन करने लगे, और उन्होंने उक्त पशु बध को वेदोक्त ही बताकर यज्ञ के बहाने से अत्यन्त शुद्ध वेद मार्ग को कलङ्कित कर दिया॥

आप्ताःसमाधि निरता निगमागमेषु।
हिंसेतरांपरम धर्म मुदाहरन्ति॥
हंहोपरानिव पशूनुपकारि कर्तॄन्।
हत्वाप्यघं न भवतीतिविचित्रमेव॥ ११॥

अर्थ– समाधि लगाने में निरन्तर प्रीति रखने वाले आप्त महर्षि जन वेदादि सद्ग्रन्थों में अहिंसा कोही बड़ा धर्म कहते हैं इसके बिरुद्ध हिंसक यजमान जगदुपकारि गवादि पशुओं को जैसे कोई वश में हुए अपने शत्रुओं को निर्दय होकर समूल नाश करने की इच्छा से मारता है, ऐसे मारकर भी हा पाप नहीं. यह अद्भुन ही दम्भ है॥

येऽन्नंहसोन्यूनभृतेऽपि मातृवत्।
प्रत्यर्पयन्ति स्वगुणान् स्वपेमुदा॥
तान्घ्नंत्यति क्रूरतयात्मपालितान्।
हेदृक्क्वातिर्वेद विधिर्हि चद्यते॥ १२॥

अर्थ—जो निरपराधी पशु थोड़ा पालन पोषण होनेपर भी अपने पालक रक्षक स्वामी के लिये दूध देनें भार ढोंने आदि अपने गुणों को माता की नाई जैसे माता अपने पुत्र को दूध पिलाती है, अपनी गोद में लिये २ फिरती है, प्यार करती है, रक्षा करती है, ऐसै ही हर्ष से बदले में वे अर्पण करते हैं, उन अपने पालन किये पशुओं को अत्यन्त निर्दय कठोर होकर मारते हैं, यह बड़े खेद का विषय है, कि ऐसा क्रूर कर्म भी बेद की विधि [आज्ञा] कही जावे ॥ १२ ॥

किम्वात्र देहो न पशोर्विनश्यति ।
पीडाऽथवा शस्त्र कृता न जायते ॥
बोभूयते सर्वमिदं समक्षतः ।
हिंसान्वहिंसैव तथापि गण्यते ॥ १३ ॥

अर्थ— क्या इस हिंसकों की यज्ञ में पशु का शरीर नाश नहीं होता ? अथवा हथियार से काटने की पीड़ा क्या पशु को नहीं होती ? ये तो प्रत्यक्ष में सभी अत्यन्त होती हैं, तोभी हिंसा [जीव मारे की हत्या] अहिंसा [हत्या न होना] ही गिना जावे, यह क्यों ? ॥ १३ ॥

छित्वा यथाङ्ग मांसप्रसभं ह्रियते वराकजीवस्य ।
तद्वद्धिंसकवपुरपि हूयेत चेत्तत्र तन्न्यायः॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे इस [अपने मन माने यज्ञ] में जीव के शरीर के मांस को काटकर डकैती से हिंसक छीनता है, मेरे बिचार से उसी तरह हिंसा करने वाले का शरीर भी स्वर्ग पहुंचाने को कह कर उस यज्ञ में हवन किया जाय, वह, वा उस समय न्याय [इंसाफ] होवै ॥

वन्ध्यापुत्रवदित्थं हिंसनवार्ताह्यहिंस्यजन्तूनाम् ।
वेदेनैषाविहिता विध्याभासात्मिका विपद्धेतुः ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार हिंसा के अयोग्य जो गवादि जीव उनके वध करने की बात, बांझ स्री की सन्तान के तुल्य ही है, अर्थात् जो बांझ है, उस के तो सन्तान नहीं,

और जिसके सन्तान हुई वह बांझ नहीं कहाती, उसी प्रकार जिनकी हिंसा करनी उचित है वे अहिंस्य [न मारने योग्य] कैसे कहाये जासक्ते हैं, और जो अहिंस्य माने जावें उन की हिंसा करना कैसे बन सक्ता है, वेद में यह नहीं विधान किया है, यह तो विधि का आभास (बनौआ) है, जोकि मांसाशियों नें बिपत्तियों का कारण वेद विधि कह कर चला दिया ॥

अस्य सुशोधन यत्नो विज्ञाविज्ञै रनेकधा ऽकारि।
अहिंसनम्पशूनां कैश्चि त्प्रोक्तं कलौ निन्द्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ– इस वेद विरोधि जीव हिंसन कर्म संशोधन करने में उपाय ज्ञानी और अज्ञानी दोंनों ने ही किया है, जैसा किन्हीं ने यज्ञों में पशु हिंसन कर्म वेद विरुद्ध समझ किसी स्मृति में धर दिया कि अश्वादि पशुओं का यज्ञार्थ मारना कलियुग में निन्द्य है !

केचित् स्पष्ट मिति प्रोचुः प्रक्षिप्तं हिंसकैरिदम् ।
कैश्चिदर्थान्तराल्लुप्तं कैश्चिदन्यं मतं कृतम् ॥ १७ ॥
केशिचत्तु नास्तिकीभुतैः कृतं शास्त्रंस्वकल्पतम् ।
वाम मार्गः कृतः कैशिचद् वदद्भिर्वेदजं वत ॥ १८॥
पौराण तान्त्रिक खैष्ट्र यावनाद्यान्यनेकधा ।
मतानीत्थं मिथो द्वेष भिन्नाचार प्रचारतः ॥ १६

अर्थ–कोई २ स्पष्ट [खुलासा] यह कह चुके हैं कि प्रक्षिप्त है, मांसाहारी जीव हत्यारोंने यह धरा हे, बहुते रोंने दूसरा अर्थ कर के हिंसा कर्म का लोप किया, कितनों ने वेद से भिन्न और ही मत बना लिया ॥ और कितने ही तो नास्तिक नहीं थे उन्होंने नास्तिक हो अपना नया ही शास्त्र कर लिया, अपना नया शास्त्र मन माना कर के, वे नास्तिक हो गये(वत) बड़ा दुःख होता है कि बहुतों नें तो वाम मार्ग यह कहते हुओ नें कर लिया कि यह वेद जन्य है ॥ वैष्णव, शैव, शाक्त, आदि अनन्त पुराणों के मत, कौल,अघोरी, वज्री आदि अनेक तान्त्रिक मत, यहूदी, ईसाई आदि खैष्ट्र मत, शीया सुन्नी आदि यवनों के अनेक मत, इत्यादि अनन्त परस्पर बैर और भिन्न २ आचार के प्रचार से होगये ॥

एवं वैदिक धर्मस्य प्रत्यक्षे दुर्दशाऽभवत् ।
अपार्थस्यैव सम्प्राप्त्या विनष्टं वेद गौरवम् ॥ २० ॥

अर्थ--इस प्रकार वेद के अर्थ को अनर्थ की प्राप्ति होने से ही सनातन धर्म कर्म की सब के समक्ष दुर्दशा [बुरी हालत] होगई, और वेद का गौरव [बड़प्पन] बहुत कुछ छिप गया ।

इत्यापत्तिगतौ कुतः श्रुतिविधिः संस्थाप्यते दुर्घटः ।
भक्ष्याभक्ष्य विनिर्णयोऽतिकठिनो जातः सुधीवञ्चकः ।
ईदृग्धर्मदशां निरीक्ष्य भगवन् दुर्वर्त्मगांनिर्घृणाम् ।
कुर्याः सम्प्रति बोधनं हृदिनृणां हिंसापरामर्षिणाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—ऐसी आफत में वेदार्थ के आनेपर दुश्चेष्ट हुई वेदकी आज्ञा कैसे ठहराई जावे, और भक्ष्य [खाने योग्य] और अभक्ष्य [न खाने योग्य] वस्तु का निश्चय करना अति कठिन तथा अच्छे बुद्धिमानों को भी बहक में डाल देने वाला होगया, ऐसी कुमार्ग में पहुंची निर्दय हुई यज्ञ धर्म [१००४] की दशा [हालत] को देखकर, हेपरमेश्वर जीवों की हत्या का परामर्श [विवेचन] करने वाले मनुष्यों के हृदय में इस समय ऐसे ज्ञान को प्रकट कर कि जिससे वे उक्त धर्म कर्म में शुद्धमार्गी होजाँय ॥

सद्राष्ट्रपत्रेरणमुद्रणालयैर्वृत्तप्रचारैर्विविधैश्च पत्रकैः ॥
बुद्धेःपरंलब्ध बलोहरीच्छया,पुरोयथावत्प्रवदामितद्गतिम्॥२२॥

अर्थ—सुराज्य, डांक,छापेखाने,और अनेक बिषयों के अनेक भाषाओं के समाचार पत्रों से अच्छे बुरे के निश्चय करने वाली आत्मिक शक्ति (बुद्धि) का इश्वरेच्छा से अधिक मिले बल वाला मैं, यथोचित (तद्गतिं) उस (आहार) की गति[1] ज्ञान, गमन, और प्राप्ति को आगे वर्णन करता हूं ॥

प्राप्स्यन्ति मोद मतुलं सुहृदो दयालवो ।

---

१ गति के तीन अर्थ होते हैं १ ज्ञान २ गमन ३ प्राप्ति यहां ज्ञान मनुष्य मात्र के लिये आहार की उत्पत्ति स्थानादि की जानकारी, गमन से किस को देना, कैसे से लेना, कहां रखना, कहां ले जाना इत्यादि, प्राप्ति से किस प्रकार से लब्ध करना कहां क्या कैसे परोसना इत्यादि सब इसी गति शब्दार्थ के अवान्तर मनुष्य के आहारिक विषय आसक्ते हैं ।

दृष्ट्वा मदीय रचना मुभयोपकारिकाम् ।
दुःखञ्च पापनिरताः खलुदुर्विवेकिनः ।
स्वीय प्रकृत्यनुगता अखिला नराभुवि ॥ २३ ॥

अर्थ—यह निश्चित है कि मेरी ग्रन्थ रचना हिंसक और अहिंसक इन दोनों का ही अत्यन्त हितोपकार करने वाली होगी, तथापि जो दयावन्त संसार के मित्र निर्वैर महाशय हैं, वे तो इस को देख कर अद्भुत हर्षानन्द को, और जो दुर्विवेकी हिंसादि पापों में निरन्तर प्रीति करने वाले हैं वे अतिशय दुःख को प्राप्त होंगे, क्यों कि पृथ्वी पर सब मनुष्य अपनी प्रकृति के पीछे ही चलने वाले होते हैं ॥

मांसाहारे लोलुपा निर्घृणा ये, दुष्टात्तर्कान्निन्दयिष्यन्ति मां वै ।
तेभ्योमेभीः सत्यवक्तुर्न काचित्, नैष्पत्तीयां कञ्चुकांसंविभर्तुः॥२४॥

अर्थ—जो मनुष्य जीवों के मांसाहार के लालची हैं, तथा हिंसादि पाप करने से जिनका हृदय निर्दय हो गया है, वे कुत्सित तर्क [भद्दी दलील] से मुझे अवश्य निन्दा को प्राप्त करेंगे अर्थात् बुरा कहेंगे, परन्तु उन वितण्डावादियों से निष्पक्ष का कवच धारण करने वाले और सत्य कहने वाले मुझ को कुछ भी भय नहीं है ॥

मानवं मात्रं लोके जनकैकस्यैव शुद्ध सन्ततयः ।
सर्वेतुल्य प्रसवा भिन्नाहारास्तथाप्यधुना ॥२५॥
अस्याः कालिप्रसूते वींजं जीवामिषादनं प्रबलम् ।
यावन्नास्य त्याग स्तावत् स्यात्कुतो भ्रात्रैक्यम्॥
नो केवल मनैक्यंहि अनन्तक्लेशसर्पणम् ।
स्वस्थ रोगद्विवृत्योश्च सम्भूतो विप्लवो महान् ॥
कलिकाल प्रवृत्तत्वान्नाभूत्संशोधनंयतः ।
वक्ष्यमाणैषणायान्तद्दर्शयिष्ये यथा तथम् ॥

अर्थ—संसार में मनुष्य मात्र एक पिता की ही समान उत्पत्ति (प्रसव) वाली शुद्ध सन्तान हैं तौ भी अब सब पृथक २ आहारचारी हैं, अर्थात् एक ही वर्ण हैं, वा एक ही आश्रम हैं, तब भी एक भाई घास पारटी का बताया जाता है, दूसरा अपने को मास पारटी का कहता है, इसी कारण एक दूसरे के हाथ से ग्रहण करने योग्य खान

पान करने में भी छूतछात करने का हृदय में अभ्यास दृढ़ होगया । इसके प्रतिकूल करने में एक दूसरे से दूर भागता है, इस प्रकार क्लेश की उत्पत्ति का जाङ्गम मांस का भक्षण करना ही बड़ा कारण है, जब तक इसके भक्षण का त्याग नहीं किया जायगा, तब तक उक्त जगत्पिता की संतान की एकता कैसे होसक्ती है ? इसके अतिरिक्त परस्पर भाईयों में एक वेमेल ही का दुःख नहीं हुआ, किन्तु मनुष्य मात्र सब भाईयों में अपार दुःख फैलगेये, और स्वस्थ बृत्ति की और रोग बृत्ति की चर्या में बड़ा भारी इसी जांगममांसाहार से विप्लव [ग़द्दर] मचगया, क्योंकि उक्त प्रकार के अनन्तर क्लेशोंका समय वर्त्तमान रहे आने से इसका उचित शोधन नहीं हुआ, वह आगे जो एषणा कही जायगी उस में ज्यों का त्यों में दिखाऊंगा ॥

इति वैदिक प्राणैषणा विषये ग्रन्थोत्थानीयो द्वितीयो विवेकः ॥

प्रमाण विषय

" येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्, " जिससे अथा [शब्दादि ज्ञानेन्द्रियों के विषयों] का यथावत् मान " इयत्तापरिच्छेद " [इतना वा ऐसा] है, यह प्रतोलन किया जाय उसको प्रमाण कहते हैं, "प्रमाणुयोग्यः प्रमेयः" जो प्रकर्षता से मान करने के योग्य हो वह प्रमेय कहिये, (**द्विविधं खलु सर्वं सच्चा सच्च**) । (खलु) निश्चय हुआ है कि, वह प्रमेय ज्ञान (**द्विविधम्**) दो प्रकार का है, १ (सत्)अपने ज्ञातव्य गुणादि से यथावत्, २ (असत्) अपने ज्ञातव्य गुणों से अन्यथा हो, [**तस्य चतुर्विधा परीक्षा**] अर्थ—उस की चार प्रकार से परीक्षा [जांच] होती है ॥

(आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति)

अर्थ—१ [आप्तों का कथन अर्थात् शब्द प्रमाण, २ प्रत्यक्ष प्रमाण, ३ अनुमान प्रमाण, और ४ युक्ति प्रमाण, चरक के मत से ये चार प्रमाण [तराजू] है "**आप्तास्तावत्**" प्रथम आप्तजनों के लक्षण।

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता स्तपो ज्ञान बलेनये ।
येषां [illegible]लममलं ज्ञान मव्याहतं सदा ॥
आप्[illegible]शिष्टाविबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यंवक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥

अर्थ–जो तप के और ज्ञान के बल से रजोगुण और तमोगुण जो मन के दूषक दोष हैं, उन से रहित हैं, और जिनका निर्मलज्ञान भूत, भविष्यत्, और वर्तमान इन तीनों कालों में अव्याहत [किसी से न रुकने वाला] है, अर्थात् तीनों कालों के यथावत् ज्ञाता हैं, वे आप्त, वे शिष्ट, वे विबुद्ध [विज्ञानी] हैं, उनका वचन संदेह रहित है, वे सदा सत्य बोलते हैं, रजोगुण तमोगुण से निर्मुक्त हुए क्यों कर असत्य बोलें गे ॥

॥ प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण ॥

आत्मेन्द्रिय मनोर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं तन्निरुच्यते ॥

अर्थ–(आत्मेन्द्रिय मनोार्थनाम्) जीवात्मा [रूह] इन्द्रिय–[श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां] मन [सर्वेन्द्रिय प्रेरक] और अर्थों [ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि विषयों] का (सन्निकर्षात्) [यथावत् समीप सम्बन्ध] होने से (तदात्वे) उस काल में (या) जो (बुद्धि) ज्ञान(व्यक्ता)स्पष्ट (जाहिर) (प्रवर्त्तते) होता है (तत्) वह ज्ञान (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (निरुच्यते) कहाता है ॥

॥ अनुमान लक्षण ॥

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानु मीयते ।
वन्हिर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भ दर्शनात् ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फल मनागतम् ।
दृष्ट्वा वीजात्फलज्ञात मिहैव सदृशं बुधाः ॥

अर्थ–(प्रत्यक्ष पूर्वम्) जो प्रत्यक्ष पूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण, किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसके कुछ व्यवधान से वा कुछ अन्तर से सहचारी अदृष्ट अवयवी के ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं । यह (त्रिविधम्) तीन प्रकार का है । १ पूर्ववत्, २ शेषवत् ३ सामान्यतोदृष्ट, पूर्ववत् जैसे वर्षा के कारण रूप बद्दलों के देखने से कार्यरूप वर्षा, विवाह को देखने से सन्तानोत्पत्ति, पठन से विद्या होना, निश्चय होता है, इत्यादि जहां २ कारण को देख कार्य का ज्ञान हो वह पूर्ववत् । जैसा कि (निगूढः) गुप्त (वन्हि) अग्नि (धूमेन) कारण रूप धूयें से जाना जाता है ॥

२ दूसरा "शेषवत्" जहां कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो, जैसे नदी के प्रवाह रूप कार्य की बढती देख कर भूत काल में ऊपर हुई कारण रूप बर्षा का, पुत्र को देख पिता के होने का, सृष्टि को देख अनादि कारण का, तथा कर्ता ईश्वर का, पाप पुण्य के आचरण को देख के भविष्यत् में सुख दुःख के होने का, इसी प्रकार (गर्भ दर्शनात्) कार्य रूप गर्भ [हमल] के देखने से उसका कारण (मैथुनम्) विषय होना अनुमान किया जाता है,

३ तीसरा "सामान्यतो दृष्ट" जहां कोई किसी का कार्य वा कारण तो नहो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे– कोई भी विना गमन क्रिया के एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जा सक्ता, वैसे ही अपना वा अन्यों का स्थानान्तर में जाना विना गमन के कदापि नहीं हो सक्ता। यहां साधर्म्य, गमन क्रिया है, इसी प्रकार (इह) इस देश में (अनागतम्) भविष्यद् में आने वाले (फलम्) फल को (वीजात्) वीज से (जातम्) उत्पन्न हुआ (दृष्ट्वा) देख कर (सदृशम्) इसी के समान (वीजात्) वीज से (एवम्) ऐसा (एव) ही [फलम्] फल हुआ था, [बुधाः] बुधजन [व्यवस्यन्ति] निश्चय करते हैं ॥

युक्ति लक्षण

(५) आयुज्यमानस्य मिथः शब्दस्यार्थस्य वापुनः।
योजना क्रियते यासौ युक्ति रित्युच्यते बुधैः ॥

इति सरस्वती कण्ठा भरणे

अर्थ–आपस में मेल न खाते हुये शब्द का अथवा अर्थ का जो यथावत् मिलान बिठाना उस को पण्डित जन युक्ति कहते हैं,

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहु कारण योगजान्।
युक्ति स्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥

अर्थ–जो बुद्धि बहुत से कारणों के संयोग से उत्पन्न हुए भावों [कार्यों] को अनुभव करती है, उस बुद्धि [ज्ञान] को युक्ति कहते हैं, वह त्रिकाल व्यापिनी [तीनों कालों का बोध कराने वाली] है, इसी के द्वारा त्रिवर्ग [धर्म, अर्थ, काम,] का साधन होता है, जैसे कि।

(६) जल कर्षण वीजर्तु संयोगा च्छस्य संभवः ।
युक्तिः षड् धातु संयोगा द्गर्भाणां संभवस्तथा ॥
मध्य मन्थन मन्थान संयोगा दग्नि संभवः ।
युक्ति युक्ता श्चतुष्पाद सम्पद्व्याधि निवर्हिणी ॥

अर्थ—जल, जोत, वीज, और ऋतु इन चारों के संयोग [उत्तमयोग] से अन्न उत्पन्न होता है, इसी प्रकार मध्य [घिसी जाने वाली लकड़ी] मन्थन [मथना] मन्थान [घिसने वाला पुरुष] इन तीनों के सुयोग से अग्नि पैदा होता है, इसी प्रकार युक्तियों से युक्त की गई चतुष्पाद [वैद्य, रोगी, परिचारक, और भेषज] वाली सम्पत् व्याधियों को दूर करने वाली होती हैं ॥

भावार्थ यह है कि, जो वस्तु जिन २ कारणों के सुयोग होने से उत्पन्न होती है, उन कारणों के यथोचित योग हुए विना उत्पन्न होना उसका असम्भव है ॥

युक्ति प्रशंसा

(७) एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं म्परीक्ष्यते
परीक्ष्यं सदसच्चैवं तयाचास्ति पुनर्भवः ॥

अर्थ—(एषा) यह (परीक्षा) परख है, कि (यया) जिससे (सर्वम्) प्रत्यक्ष और परोक्ष सब (परीक्ष्यते) परखाजाय (अन्या) इसके अतिरिक्त दूसरी (एवम्) इसके समान परीक्षा (न) नहीं (अस्ति) है, कि (तया) उससे (पुनर्भवः) पुनर्जन्म (च) और [सदसत्] सच्च और झूँठ (परीक्ष्यम्) परखना योग्य हो।

यद्यपि युक्ति अनन्त हैं तथापि यहां पर आयुर्वेदोक्त तन्त्र युक्तियों के ही भेद दिये जाते हैं ॥

(८) द्वात्रिंशत् तन्त्र युक्तयो भवन्ति तद्यथा
(९) अधिकरणम् योगः पदार्थो हेत्वर्थ उद्देशो
निर्देश उपदेशोऽपदेशः प्रदेशोऽतिदेशोऽपवर्गो
वाक्य शेषोऽर्थापत्ति र्विपर्ययः प्रसंग एकान्तो

ऽनेकान्तःपूर्व पक्षो निर्णयोऽनुमतम् विधान
मनागताऽवेक्षण मतिक्रान्ताऽवेक्षणं
संशयो व्याख्यानम् स्वसंज्ञा निर्वचन
न्निदर्शनम् नियोगो। विकल्पः समुच्चय ऊह्यमिति १ ।।

अर्थ — "त्रायते शरीर मनेनेति तन्त्रम् शास्त्रम्" रक्षा किया जाय शरीर जिस से उसका नाम तन्त्र [चिकित्सा शास्त्र] है, उसकी जो युक्तियां [योजना] उनको तन्त्र युक्ति कहते हैं। वे ३२ हैं, जैसे – १ अधिकरण, २ योग, ३ पदार्थ, ४ हेत्वर्थ, ५ उद्देश, ६ निर्देश, ७ उपदेश, ८ अपदेश, ९ प्रदेश, १० आतिदेश, ११ अपवर्ग, १२ वाक्य शेष, १३ अर्थापत्ति, १४ विपर्यय, १५ प्रसङ्ग, १६ एकान्त, १७ अनेकान्त, १८ पूर्वपक्ष, १९ निर्णय, २० अनुमत, २१ विधान, २२ अनागतावेक्षण, २३ अतिक्रान्तावेक्षण, २४ संशय, २५ व्याख्यान, २६ स्वसंज्ञा, २७ निर्वचन, २८ निदर्शन, २९ नियोग, ३० विकल्प, ३१ समुच्चय, ३२ ऊह्य, । बस

(१०) अत्रासां तन्त्र युक्तीनां किं प्रयोजन मित्युच्यते।
वाक्य योजन मर्थ योजनञ्च ।। २ ।।

अर्थ – इस प्रकार तन्त्र युक्तियों को उद्देश से कह कर उनका प्रयोजन पूछने की इच्छा वाला कहता है, कि यहां तन्त्र [शास्त्र] की युक्तियों का क्या प्रयोजन है। इसका उत्तर। असम्बद्ध वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना मिलाना "वाक्य योजन" और अर्थाभास असंगत अर्थ की सङ्गती करण करना, "अर्थ योजन" कहाता है, इनमें किन्हीं तन्त्र युक्तियों से जैसी कि योग, उद्देश, निर्देश, आदि हैं, उन से वाक्य योजन करना, और किन्हीं से अर्थ योजन करना, जैसी- कि अधिकरण, हेत्वर्थ, आदि हैं।

तन्त्र युक्ति स्तुति

(११) असद्वादि प्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम् ।
स्ववाक्य सिद्धि रपिच क्रियते तन्त्र युक्तितः ।।

व्यक्ता नोक्ताश्च येह्यर्था लीना ये चाप्य निर्मलाः ।
लेशोक्ता ये क्वचि त्तन्त्रे तेषा ञ्चापि प्रसाधनम् ॥
यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ।
प्रबोधस्य प्रकाशार्था स्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ॥

अर्थ—असद्वादि [अनर्थ कहने वाले जैसे कि प्रतिपक्ष वादि, एकाश्रय वादि, अथवा गुण कर्तृ वादि, इत्यादि] के प्रयुक्त [पेश] किये वाक्यों का अपदेश आदि तन्त्र युक्तियों से प्रतिषेधन [पर पक्ष दूषित] करना, और निर्णय नामक तन्त्र युक्ति से अपने वाक्य को स्थापन [क़ायम] करना, जैसे किसी ने कहा- कि पाक [विपाक] रस रस के प्रति है, अर्थात् जितने रस हैं, उतने ही पाक हैं, ऐसा असद्वादि दर्शन अपदेश नामक तन्त्र युक्ति के विज्ञान से मिटाया, और वहीं "द्विविधः पाकः" ऐसा अपने मत का साधन निर्णय नामक तन्त्र युक्ति से किया, और जो अर्थ स्पष्ट [साफ २] नहीं किये हों, वा जो अर्थ "लीन" [अच्छे प्रकार नहीं दीखते दिखाते] हों, अनिर्मल [लेशमात्र कहे] हों उनका प्रसाधन [यथावत् कहना] योग प्रभृतिक तन्त्र युक्तियों से ही किया जाता है। उस वाक्ययोजन और अर्थयोजन तन्त्र युक्तियों से यथावत् सिद्ध होने के कारण कोई आचार्य तन्त्र युक्तियों की एक श्लोक से स्तुति पढ़ते हैं, जिसका अर्थ आगे किया जाता है, यथेत्यादि उक्त श्लोकार्थ–जैसे–कमलों के वन को सूर्य प्रकाशित कर देता है, जैसे–घर को दीपक वैसे ही विशेषता से जानने योग्य को प्रकाशित कर देने वाली तन्त्र युक्तियां हैं ॥

अब इसके आगे उद्दिष्ट [उद्देश] से कही तन्त्र युक्तियों का विवरण [खुलासा] कहते हैं।

१ अधिकरण तन्त्र युक्ति लक्षण

(१२) यमर्थ मधि कृत्योच्यते तदधिकरणम् यथारसंदोषंवा । ६ ।

अर्थ--इनके मध्य जिस अर्थ को लेकर अन्य अर्थ कहे जावें उसको अधिकरण कहते हैं. उदाहरण–जैसे रस व दोष को अधिकार करके कहा जाता है, लिखे विना भी जो अर्थ मिला, वह कहा गया ही समझना होगा, क्योंकि वह उसके अधिकार में प्रतीत होता है।

२ योगत० यु० ल०

(१३) येन वाक्यं युज्यते स योगः ॥
यथा—तैल म्पिबेच्चा मृत वल्लि निम्ब-
हिंस्राऽभया वृक्षक पिप्पलीभिः
सिद्धं बलाभ्याञ्च सदेवदारु
हिताय नित्यं गलगण्ड रोगी ॥
सिद्धं पिबेदिति प्रथमं वक्तव्ये तृतीय पादेसिद्धं प्रयुक्त-
मवं दूरस्थाना मपि पदाना मेकी करणं योगः ॥

अर्थ—विस्तार से कहे समीप के और दूर के पदों को उचित प्रकार एकत्र करके अर्थ की युक्ति बैठाना योग कहता है ॥ जैसे—सिद्धहुए को (पिबेत्) पीवे यह प्रथम कहने योग्य था, वह तीसरे पाद में लिखा है । उसको सिद्ध शब्द के साथ जोड़ा इस प्रकार दूरस्थ पदोंका एक करना योग कहाता है ॥

३ पदार्थ त० यु० ल०

(१४)योऽर्थोऽभिहितो सूत्रे पदे वा स पदार्थः । अपरिमिताश्च पदार्थाः यथा स्नेह स्वेदाञ्जनेषु निर्दिष्टेषु द्वयो स्त्रयाणा मर्थाना मुपपत्ति र्दृश्यते तत्र योर्थः पूर्वापर योग सिद्धो भवति संग्रहीतव्यो यथा – वेदोत्पत्तिं व्याख्यास्यामः इत्युक्ते सन्दिह्यते बुद्धिः । कतमस्य वेदस्यायमुत्पत्तिं विवक्षु रिति । ऋग्वेदादय स्तु वेदा स्तत्र पूर्वापर योग मुपलभ्य विद् विचारणे विदज्ञाने विद्लृ लाभेइत्यनेकार्थक विदधातोः प्रयोगः पश्चात्प्रतिपत्तिर्भवति । आयुर्वेदोत्पत्तिमयं विवक्षु रित्येवं पदार्थः ॥

अर्थ—"पद्यते निगद्यते येन अर्थः इति पदार्थः" पद से जो जाना जाय अर्थ इससे वह पदार्थ नामक तन्त्र युक्ति है। यहां सूत्र को भी पदत्व है। इससे सूत्र में अर्थ कहा वह भी पदार्थ है। पदार्थ नामक तन्त्र युक्ति को ग्रन्थकार कहता है कि, पदों के अर्थ अनेक होते हैं, जैसे कि एक स्नेह शब्द है, वह गुर्वादि बीस गुणों के मध्य एक स्निग्ध गुण का, प्रेम का और घृतादि स्थावर जङ्गमात्मक चारो स्नेहों [रोगनों] का बोधक है, तथा स्वेद शब्द से भी अग्नि सहित ऊष्मा, विना अग्नि ऊष्मा इन दोनों ऊष्माओं का अर्थ मिलता है, इन पदों के अर्थों के उपदेश से जैसा पदार्थ ग्रहण किया जाय वह कहते हैं, कि पूर्वोक्त परोक्त वाक्यों के सम्बन्ध से जो अर्थ लब्ध हो वह ग्रहण करना, यहां सुश्रुत अ० १ का उदाहरणकहेत हैं, जैसे—कि, "वेदोत्पत्तिं व्याख्यास्यामः" अब हम वेद की उत्पत्ति का व्याख्यान करेंगे, यहां संदेह होता है, कि कौन से वेद की उत्पत्ति को कहने की इच्छा वक्ता को हुई, ऋग् यजुः साम और अथर्व ये तो वेद विवक्षित हैं, इन के कहने की इच्छा तो घट नहीं सक्ती. फिर वह कौनसा वे . जिसकी विवक्षा हुई, इस संशयोत्पत्ति में आगे पीछे का प्रयोजन आयु का ज्ञान, आयु का विचार, आयु का लाभ, हो जिससे ऐसे आयुर्वेद की उत्पत्ति का विवक्षु है, यह पदार्थ तन्त्र युक्ति हुई ॥

४ हेत्वर्थ तन्त्र युक्ति का लक्षण

(१५) यदन्यदुक्त मन्यार्थसाधकम्भवति स हेत्वर्थः।

यथामृत् पिण्डोद्भिः प्रक्लिद्यते तथा माष

दुग्ध प्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्लिद्यत इति ॥

अर्थ—जो अन्य के लिये कहा अन्य अर्थ का साधक हो वह हेत्वर्थ कहता है, जैसे—मिट्टी का डला जल से आर्द्र [तर] हो जाता है, वैसेही उड़द दूध सदृशों से व्रण [फोडा] सार्द्र हो जाता है अर्थात् उक्ति माषादि से व्रण ऐसा आर्द्र हा जाता है, जैसा—सूखा मिट्टी का डला पानी से, यहां हेतु [माषादि] से जल के तुल्य प्रक्लेदनत्व अर्थ सिद्ध हुआ ॥

५ उद्देश त० युक्ति

(१६) समास कथन मुद्देशः। यथा– शल्य मिति ॥

अर्थ–संक्षेप से कहना उद्देश कहाता है, उदाहरण–जैसे शल्य इतने ही कहने से शारीरिक [शरीर के] वा आगन्तुक [बाहिर के] जो पीड़ा देने वाले शरीरगत पदार्थ हैं, वे सब ही संक्षेप कथन में शल्य कहाते हैं, ऐसे कहने को उद्देश कहते हैं ॥

६ निर्देश त० यु० ल०

(१७) विस्तर वचनंनिर्देशः। यथा– शारीर मागन्तु चेति ॥

अर्थ–विस्तार से कहना निर्देश कहता है, उदाहरण–जैसे–शारीरिक [शरीर में पैदा हुआ मल मूत्रादि तथा मन में घुसा भय शोकादि] और आगन्तुक [कण्टक शरादि] ये शल्य दो प्रकार के होते हैं, उद्देश को विस्तार से कहना ही निर्देश समझना ॥

७ उपदेश त० यु० ल०

(१८)एवमित्युपदेशः।यथा-तथानजागृयाद्रात्रौदिवास्वप्नञ्चवर्जयेत्

अर्थ–जहां एवं [इस प्रकार] कुर्यात् [करै] एवं [इस प्रकार [न कुर्यात्] न करै] इस प्रकार कहा जाता है, वह उपदेश नामक त० यु० है यह उपदेश दो प्रकार का होता है एक प्रायिक [जो विशेषता से करने योग्य भी कभी किसी कारण न किया जाय] दूसरा अप्रायिक [अवश्य ही कर्तव्याज्ञा] उदाहरण–जैसे–प्रायिक उपदेश रात्रि में न जागे यहां कफादि से अभिभूत [भरपूर] होंने पर रात्रि में जागना भी कभी अच्छा होताहै, "रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा" क्योंकि रात में जागना रूखा है, और दिन का सोना चिकना है। तथा दिन में न सोवे यह भी प्रायिक उपदेश है, क्योंकि ग्रीष्म काल में तृष्णादिक की पित्त की विशेषता से दिन का शयन उचित है, इस प्रायिक उपदेश से कभी २ रात्रि का जागना और दिन का सोना भी उचित होता है, परन्तु अप्रायिक उपदेश सब काल के लिये एक सा होता है, चाहे विधि हो वा निषेध हो, यह अप्रायिक आगे कहा जायगा जिसका नाम नियोग तन्त्र युक्ति कहा है।

८ अपदेश त० यु० ल०

(१६) अनेन कारणेने त्यपदेशः यथोपदिश्यते मधुरेण श्लेष्माभि वर्द्धत इति ॥

अर्थ— कारण से कार्य का हेतु कहना अपदेश त० यु० होती है, उदाहरण— जैसे, मधुरस कफ को कैसे बढ़ाता है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जायगा कि अपनी निज मधुरता से बढाता है, क्योंकि कफ मधुर है, इस से कफ का मधुरत्व भाग मधुर से बढ़ा, यहां कारण रूप मधुर रस की मधुरता, और कार्य रूप श्लेष्मा उसका हेतु मधुर बताया गया।

९ प्रदेश तन्त्र युक्ति लक्षण

(२०) प्रकृतस्याति क्रान्तेन साधनं प्रदेशो यथा— देवदत्तस्याऽनेन शल्य मुद्धृतं तस्माद्यज्ञदत्तस्या— प्ययमेवोद्धरिष्यतीति ॥

अर्थ— (प्रकृतस्य) प्रकर्षता से किये कर्म का (अति क्रान्तेन) अधिक प्रशस्त होने के कारण अन्य के कर्तृत्व को दबा देने से (साधनम्) सिद्ध होना प्रदेश नामक त० यु० होती है, उदाहरण— जैसे देवदत्त का इस सोमदत्त ने शल्य निकाल दिया है, इस से यज्ञदत्त का भी यही निकाल देगा, यहां देवदत्त के शल्योद्धरण की कुशलता के अति क्रमण ने यज्ञदत्त का शल्य निकाल देना रूप साधन तीसरे अंगुलि निर्दिष्ट सोमदत्त में सुझा दिया ॥

१० अतिदेश त० यु० ल०

(२१) प्रकृतस्या नागतेन साधन मतिदेशः । यथा— ऽनेनास्यवायु रूर्द्ध मुपतिष्ठते तेनो दावर्त्तः स्यादिति ॥

अर्थ— प्रकृत [विकृत] का अनागत [भविष्यत्] से साधन (सिद्ध करना) अति देश तन्त्र युक्ति होती है, उदाहरण जैसे— इस आहार वा विहार विशेष से वायु ऊपर को जाता है, इस से उदावर्त्त राग होगा, यहां वायु का ऊपर को प्रतिलोम

जाना प्रकृत [विकृत] है; इसके प्रस्तुत होने से अनागत (भविष्यत्) में उदावर्त रोग होना सम्भव सिद्ध हुआ ॥

११ अपवर्ग त० यु० ल०

(२२) अभि व्याप्याप कर्षण मपवर्गः। यथाऽस्वेद्या विषोपसृष्टा अन्यत्र कीटविषा दिति ।

अर्थ— (अभि व्याप्याप कर्षणम्) गुण से, क्रिया आदि से, वा सब से सब अवयवों में प्रविष्ट हुए का अपकर्षण [निकालना] अपवर्ग नामक तन्त्र युक्ति कहाती है । जैसे "कीटविषात्" क्रिमि से बड़े कठोर त्वचा वाले विषैले कीडों के विष से [अन्यत्र] अन्य विष व्याप्ति में [विषोपमृष्टाः] विष से व्याप्त हुए मनुष्य (अस्वेद्याः) स्वेद कराने के योग्य नहीं । यहां कीट विष से अभिव्याप्य अन्य सब प्रकार के विष व्याप्तों का अस्वेदन रूप क्रिया से निषेध किया है ॥

१२ वाक्य शेष त० यु० ल०

(२३) येन पदेना नुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्य शेषः । यथा शिरः पाणि पाद पार्श्व पृष्ठो दरो रसामित्युक्ते पुरुष ग्रहण मपि गम्यते पुरुष एवोक्त इति ॥

अर्थ— जिस अनुक्त पद से वाक्य पूर्ण किया जाय वह पद वाक्य शेष (सुबन्त तिङन्त पदों में शेष) है उदाहरण—जैसे—शिर हाथ पैर पसली पीठ पेट इनके चिकित्सा शास्त्र में कहीं कहे जाने पर चिकित्साधिकृत पुरुष का ग्रहण होना। अर्थात् ये अवयव पुरुष के ही माने जायंगे इस से वाक्य में अनुक्त पुरुष शब्द की शेषता की सूचक वाक्य शेष नामक त० यु० होगी ॥

१३ अर्थापत्ति त० यु० ल०

(२४) यद कीर्त्तित मर्था दापद्यते सार्थापत्तिः । यथोदनं भक्ष्य इत्युक्तेऽर्थो पन्नं भवति नायं पिपासु र्यवागू मिति॥

अर्थ— जो अर्थ कहा नहीं गया हो और वह किसी अन्य पद के अर्थ से प्राप्त होता है वह अर्थापत्ति नामक त० यु० है, उदाहरण जैसे— किसी ने कहा कि मैं ओदन [चावल] खाऊंगा ऐसा कहने पर यह अर्थ मिला कि यह यवागू का पीने वाला नहीं हैं ॥

१४ विपर्य्यय त० यु० ल०

(२५) यद्यत्रा भिहितं तस्य प्रातिलोम्यं विपर्य्ययः। यथा कृषाल्प प्राण भीरवो दुश्चिकित्स्या- इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सु च्चिकित्स्या इति।

अर्थ— जो जहां कहा हो उसका प्रातिलोम्य (उलटा) विपर्य्यय नामक त० यु० है। उदाहरण जैसे— कृष, अल्पप्राण, और भीरु. ये दुश्चिकित्स्य हैं इस कहने पर इस के विपरीत यह लिया जायगा कि दृढ, महाप्राण, और निडर, ये सुचिकित्स्य होते हैं ॥

१५ प्रसङ्ग त० यु० ल०

(२६) प्रकरणान्तरेण समापनम् प्रसङ्गः। यथा प्रकरणान्तर- तो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्गः। यथा— महाभूत शरीरि समवायः पुरुष स्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठान मिति वेदो त्पत्ता व भिधाय भूत- विद्यायां पुनरुक्तं यतो भिहित म्पञ्च महाभूत- शरीरि समवायः पुरुष इति स खल्वेवं कर्म- पुरुष श्चिकित्साया मधिकृतः ॥

अर्थ— (अन्यत् प्रकरणम् प्रकरणान्तरम्) अन्य जो एक अर्थ के कहने वाला ग्रन्थ का अंश उसको प्रकरणान्तर कहते हैं इस (प्रकरणान्तरेण) अन्य प्रकरण से जो (समापनम्) समाप्ति को पहुंचाया जाय उसको प्रसंग नामक तन्त्र युक्ति कहते हैं। उदाहरण जैसे अन्य प्रकरणों में बार २ कहा समाप्त किया जाय और वही फिर कहा जाय वह प्रसंग [सिल सिला] कहाता है। उदाहरण जैसे-पृथिव्यादि पञ्च महा भूतों के बने शरीर से सम्बन्ध रखने वाला जो पुरुष है, उसमें क्रिया [चिकित्सोपयोग]

है वह इस क्रिया का अधिष्ठान [आधार] है, वेदोत्पत्ति नाम के अध्याय में कह कर उत्तर तन्त्रोक्त भूतविद्याऽधिकार में फिर कहा, वही कर्म पुरुष चिकित्सा में स्वीकृत है। दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि अन्य के अधिकार में जो अर्थ वार २ कहा गया वह प्रसंग कहिये। उदाहरण जैसे– स्नेह और विरेचनाधिकार में नवीनज्वर वाला निषेध किया गया, फिर तरुणज्वराधिकार के स्नेह और स्वेदन में निषेध किया गया-यहां अन्य अधिकरण का पुनः २ कथन प्रसंग नामक तन्त्र युक्ति कहिये।

१६ एकान्त तन्त्र युक्ति लक्षण ॥

(२७) सर्वत्र यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः ॥ यथा– त्रिवृद्विरेचयति मदनफलं वामयतीति ॥

अर्थ–जो कथन निश्चय करके कहा जाय, वह एकान्त नाम त० यु० है, उदाहरण जैसे– त्रिवृत [निसोथ] विरेचन करता है, मैनफल वमन लाता है, यही सब का निर्णय किया हुआ है।

१७ अनेकान्त तन्त्र युक्ति के लक्षण

(२८) क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। यथा– केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्य म्प्रधानं केचिद्रसं केचिद्वीर्य्यं केचिद्विपाक मिति ॥

अर्थ–जो कहीं तो कैसे ही हो, और कहीं अन्य प्रकार से हो, वह अनेकान्त त० यु० है। उदाहरण जैसे कोई आचार्य द्रव्य को, कोई रस को, कोई वीर्य को, और कोई विपाक को, प्रधान कहते हैं॥

१८ "पूर्वपक्ष तन्त्र युक्ति लक्षण,,

(२९) आक्षेप पूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। यथा– कथं वातनिमित्ता श्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्तीति ॥

अर्थ—आक्षेप [भर्त्सन वा अपवाद] पूर्वक जो प्रश्न वह पूर्वपक्ष नाम त० यु० कहाती है। उदाहरण जैसे वायु है कारण जिनका वे चार ४ प्रमेह कैसे असाध्य होते हैं ॥

१६ निर्णय तन्त्र युक्ति लक्षण

(३०) तस्योत्तरं निर्णयः। यथा- शरीर मप्रपीडय पश्चादधो गत्वा वसा मज्जानुविद्धं मूत्रं प्रसृजति वात एवम-साध्या वातजा इति ॥

अर्थ—पूर्व पक्ष के उत्तर को निर्णय नामक त० यु० कहते हैं उदाहरण जैसे—वायु सम्पूर्ण शरीर को पीडित कर नीचे के मूत्रवाही स्रोतों में पहुंच वसा [मास स्नेह] मेद [चर्वी] मज्जा [अस्थि के भीतर की मींग] इनके मिले हुए मूत्र को निकालता है, इस कारण वात के प्रमेह असाध्य हैं ॥

यथा चोक्तम्—कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदो मज्ज वसा युतः।
अधः प्रक्रमते वायु स्तेना साध्यास्तु वातजाः ॥

अर्थ—वायु सब शरीर को निरन्तर पीडित कर अथवा निचोड कर मेद मज्जा और वसा इन से मिल कर नीचे मूत्र मार्ग से जाता है, इससे वात से पैदा हुए प्रमेह असाध्य हैं ॥

२० अनुमत तन्त्रयुक्ति लक्षण

(३१) परमत मप्रतिषिद्ध मनुमतम्। यथाऽन्यो ब्रूयात् सप्तरसाइति

अर्थ—(परमतम्) दूसरे के विचार को (अप्रतिषिद्धम्) नहटाना अनुमत नाम तन्त्र युक्ति है ॥ उदाहरण जैसे- अन्य कहता है कि रस सात हैं, बस यही अपने मत में मान लेना ॥

२१ विधान तन्त्र युक्ति के लक्षण

(३२) प्रकरणानु पूर्वाऽभिहितं विधानम्। यथा— सक्थि-

मर्माण्येकादश प्रकरणानुपूर्वाऽभिहिता नीति ॥

अर्थ – प्रकरणानुपूर्व कथन और उससे प्रति पादन किंये अर्थ का कहना विधान तन्त्र युक्ति कहाता है। उदाहरण – जैसे क्षिप्र आदि ११ ग्यारह सक्थि मर्म प्रकरणानु पूर्व [सिलसिले वार] कहे हैं ॥

२२ अनागता वेक्षण तन्त्र युक्ति के लक्षण

(३३) एवं वक्ष्यती त्यनागता वेक्षणम्। यथाश्लोक स्थाने ब्रूया चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति ॥

अर्थ – (एवं) ऐसे (वक्ष्यति) कहैगा उदाहरण– जैसे – (श्लोक स्थाने) सूत्र स्थान में कोई (ब्रूयात्) कहै कि (चिकित्सितेषु) चिकित्साओं में (वक्ष्यामि) कहूंगा, यहां अनागत नाम भविष्यत् किसी कार्य के लिये देखना अनागत नामक तन्त्र युक्ति कहाती है ॥

२३ अति क्रान्ता वेक्षण त० यु० के लक्षण

(३४) यत्पूर्व मुक्तं तदति क्रान्ता वेक्षणम्। यथा चिकित्सितेषु ब्रूयात् श्लोक स्थाने यदीरित मिति ॥

अर्थ – पूर्व के कहे को किसी कार्यार्थ भविष्यत् में कहै उसे अति क्रान्ता वेक्षण तन्त्र युक्ति कहना। उदाहरण – जैसे – चिकित्सा स्थान में कहै कि जो सूत्र स्थान में कहा गया है ॥

२४ संशय तन्त्र युक्ति के लक्षण

(३५) उभय हेतु दर्शनं संशयः। यथा तल हृदयाभि घातः प्राणहरः, पाणि पाद च्छेदन मप्राण हरमिति ॥

अर्थ–अतुल्य दो अर्थोंमें एक हेतुका दर्शन संशयनाम तन्त्र युक्ति है। उदाहरण–जैसे–हस्तके वा पादके तलुआ का अभि घातित होना प्राणका हरनेवालाहै, औरहाथका पादका अभिघातित होना प्राण हारक नहीं, यहां उभयत्र तल भागके हृदय में और हस्त पादों में एक अभिघात ही प्राणहर और अप्राणहर इन दो कार्यों का कारण है, यह एकही हेतुसे एक कार्य के विपरीत दूसरे कार्यका होना संशय नामक

तन्त्र युक्ति कहाती है ।

२५ व्याख्यान तन्त्र युक्तिके लक्षण

**(३७)तत्राति शयोपवर्णनं व्याख्यानम् । यथेह पंच विंशा-
तिकः पुरुषोऽत्र व्याख्यायते। अन्येष्वा युर्वेदेषु
भूतादि प्रकृत्यारब्ध चिंता ॥**

अर्थ—(तत्र) निर्द्धारणमें अधिक वर्णन करना व्याख्यान नामक तन्त्र युक्ति कहाती है । उदाहरण—जैसे एक पुरुष को २५ पच्चीस तत्त्वोंसे उत्पन्न हुआ व्याख्यान किया गया ।

२६ स्वसंज्ञा नामक तन्त्र युक्तिके लक्षण

**(३७) अन्य शास्त्रा सामान्या स्वसंज्ञा । यथा मिथुन मिति
मधुसर्पिषो र्ग्रहणम् लोके प्रथित मुदाहरणम् ॥**

अर्थ—आयुर्वेद से भिन्न अन्य व्याकरण आदि शास्त्रोंमें जोसंज्ञा " असामान्या " असाधारण हो, अर्थात् उनके अर्थको न कहने वाली और अपने शास्त्र में ही जो काम आतीहो वह स्वसंज्ञा नाम तन्त्र युक्ति है । उदाहरण—
जैसे – मिथुन नाम अन्यत्र स्त्री पुरुष के जोड़े का है, और आयुर्वेद में मिथुन इस नाम से मधु घृत इन दोनों का भी ग्रहण किया है ।

२७ निर्वचन तन्त्र युक्ति के लक्षण

**[३८] निश्चितं वचनन् निर्वचनम् । यथा युर्विद्यतेऽस्मि-
न्ननेन वा युर्विन्दती त्यायुर्वेदः ॥**

अर्थ—निश्चय किया वचन निर्वचन नाम तन्त्र युक्ति है ॥ उदाहरण-जैसे आयु विद्यमान हो जिसमें, वा जिससे आयु को जानैं, अथवा लब्ध हो जिस से, वह आयुर्वेद है ।

२८ निदर्शन तन्त्र युक्ति के लक्षण

(३६) दृष्टान्तेनार्थः प्रसाध्यते यत्र तन्निदर्शनम् । यथा-ऽग्निर्वायुना सहितः कोष्ठे वृद्धिं गच्छति तथा वात-पित्त कफ दुष्टो व्रण इति ॥

अर्थ-दृष्टान्त से जहां अर्थ साधन किया जाय वह निदर्शन नाम तन्त्र युक्ति है उदाहरण-जैसे अग्नि वायु के साथ कोष्ठ में बढ़ता है, तथा-वात पित्त और कफ से दूषित व्रण बढ़ता है ॥

२९ नियोग तन्त्र युक्ति के लक्षण

(४०) इदमेवकर्त्तव्य मिति नियोगः।यथापथ्य मेव भोक्तव्य मिति॥

अर्थ- यही करना योग्य है, ऐसा अप्रायिक उपदेश नियोग तन्त्र युक्ति कहाती है । उदाहरण-जैसे पथ्य ही भोजन करना उचित है ॥

३० समुच्चय तन्त्र युक्ति के लक्षण

[४१] इद ञ्चेद ञ्चेति समुच्चयः । यथा मांस वर्गे एण हरिण लाव तित्तिर सारंगाः प्रधान मिति ॥

अर्थ--यह और यह ऐसे कहने को समुच्चय नाम तन्त्र युक्ति कहते हैं, उदाहरण--जैसे-मांस वर्ग में एणादिक और लावादिक प्रधान हैं ।

३१ विकल्प तन्त्र युक्ति के लक्षण

[४२] इदञ्चेति विकल्पः । यथा रसौदनः सघृता यवागूर्वा ॥

अर्थ--और, ऐसाभी, यह कहना विकल्प नाम तन्त्र युक्ति है । उदाहरण- जैसे-रसौदन वा घी सहित यवागू ।

३२ ऊह्य तन्त्र युक्ति के लक्षण

(४३) यद निर्दिष्टम् बुद्धिमता तदूह्यम् । यथा भिहित-
मन्न पान विधौ चतुर्विधं चान्न मुपदिश्यते । भक्ष्यं,
भोज्यं, लेह्यं, पेय मेवं चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविध मभिहित-
मत्रोह्य मिति । अन्न पाने विशिष्टे द्वयो ग्रहणे कृते
चतुर्णा मपि ग्रहणं भवति, किञ्चान्यत् । अन्नेन
भक्ष्य मवरुद्धं त्वन्न साधर्म्यात् । पेयेन लेह्यं, द्रव साधर्म्यात् ।
चतुर्विधश्चाहारः प्रायेण द्विविधः प्रसिद्धइति ॥

अर्थ—जो (अनिर्दिष्टम्) नादिखाया गयाहो अर्थात्— स्पष्ट नहीं कियाहो वह बुद्धिमान् को ऊह्य तन्त्र युक्तिसे ऊहनीय है । उदाहरण—जैसे—अन्नपान विधिमें कहा है कि सिद्ध किया अन्न ४ चार प्रकारका उपदेश कियाजाता है,
भक्ष्य, भोज्य, पेय, और लेह्य, इस प्रकार ४ चार प्रकार के कहने योग्य में जहां २ दो प्रकार का कहा गया हो वह ऊह्य है, अन्न और पान इन दो प्रकारों के ही कहने पर चारों प्रकार के अन्न का ग्रहण होता है। अन्न इस कथन से भक्ष्य कहा गया, अन्न के समान धर्म होने से, पेय इस कथन से लेह्य उक्त हो गया, द्रव के समान धर्म होने से, इस प्रकार चार प्रकार का आहार प्रायः दो प्रकार का ही प्रसिद्धि में आता है॥ यह बात ऊह्य तन्त्र युक्ति से मिली । इस प्रकार तन्त्र युक्तियों को कह कर उपसंहार में प्रतिपादित तन्त्रयुक्तियों की विशेष प्रतिपत्ति के लिये श्लोक कहते हैं ॥

[४४] द्वात्रिंश द्युक्तयो ह्येता स्तन्त्र सार गवेषणे ।
मया सम्यग्विनिहिताः शब्द न्यायार्थ संयुताः ॥

अर्थ—धन्वन्तरि और सुश्रुत के संवाद के संस्करण करने वाले मुझ कार्तिकाचार्य ने तन्त्र के सार ढूंढ़ने के लिये शब्दों में तर्क से अर्थों का संयोजन करने वाली ये ३२ बत्तीस तन्त्र युक्तियां सम्यक् प्रकार रक्खी हैं ॥

इत्याप्तादि प्रमाण विषय विचारणीय स्तृतीयो विवेकः ॥

अथ शास्त्र परीक्षा

[४५] बुद्धि माना त्मनः कार्य गुरु लाघवे कर्म फल मनु बन्ध देश कालौ च विदित्वा युक्ति दर्शनात् भिषग् बुभूषुः शास्त्र मादितः परीक्षेत, विविधानि हि शास्त्राणि भि-षजांप्रचरन्ति लोके। तत्र यन्मन्येत मह द्यशस्वि धीर पुरुषासेवित मर्थबहुल माप्तजनस्यपूजितं त्रिविध शिष्यबुद्धिहित मपगतपुनरुक्तदोष मार्ष सुप्रणीत-सूत्र-भाष्य-संग्रह-क्रमं स्वाधार मनवपतितशब्द-मकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थं तत्व-निश्चयप्रधानं सङ्गतार्थं मसङ्कुलप्रकरण माशु-प्रबोधकं लक्षणव च्चोदाहरणव च्चैतदभि प्र-पद्येत शास्त्रं, शास्त्र मूह्येवं विध ममल इवादित्य स्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम् ॥ चरक

अर्थ–उस बुद्धिमान् मनुष्य को कि जो भिषक् स्वस्थ वृत्ति और रोग वृत्ति दोनों का चिकित्सक होना चाहता है, उसे उचित है कि अपने कार्य की गुरुता, और लघुता को अर्थात् मेरा यह काम भारी है, वा हलका है, इसे कर सकूंगा वा नहीं इत्यादि कर्मफल (सुख दुःख) के अनुबन्ध [जो किया हुआ करने वालेको अवश्य भोक्तव्य होउस] को और देश और काल [इस मुल्क और इस समय में शल्य आदि कौनसे चिकित्सा का शास्त्र उचित होगा, इत्यादि सब] को युक्ति दर्शन [युक्तिप्रमाण] से जान कर प्रथम शास्त्र की परीक्षा करे क्योंकि संसार में चिकित्सा के अनेक शास्त्र [ग्रन्थ] प्रचलित हैं, उनमें से उसको माने अर्थात् ग्रहण करै, कि जो बड़े यशस्वी तथा धीर [पण्डित] जनों से आसेवित [वर्ता गया] हो, और अर्थ बहुल [गूढ़ार्थ अधिक] हो, जो आप्त [सत्यवक्ता] द्वारा पूजित [आदर किया गया] हो, जो उत्तम मध्यम निकृष्ट इन तीनों श्रेणी के शिष्यों के ज्ञान में आसक्ता हो, जो पुनरुक्त दोष रहित हो, जो ऋषि कृत हो, जिसका सूत्र, भाष्य, और संग्रहक्रम, सुप्रणीत [उत्तम प्रकार से बना] हो, जिसका सुष्ठु [जिसके विषयों का वेदादि उत्तम] आधार

[निवास स्थान अर्थात् उत्पत्ति जनक] हो, जिसमें नवीन शब्द न पड़े हों, कठिन शब्द न हों, अर्थात् सरल हो; जिसका पुष्कलाभिधान [पर्य्याप्त कथन अर्थात् कहना काफ़ी] हो, जिसके विषय क्रम से चले आते हों, अर्थात् बीच में कोई प्रसंग अन्य का अन्य न हो गया हो, जिसमें अर्थ तत्व का यथावत् निश्चय किया हो, जो सङ्गतार्थ [अर्थ का मेल रखने वाला] हो, जो असंकुल प्रकरण [पृथक् २ प्रकरण वाला] हो, जो शीघ्र विशेष बोध कारक हो, और जो लक्षण भी व्याख्यान करता हो, और उदाहरण भी देता हो, उस सत् शास्त्र को ग्रहण करै, ऐसाही निर्मल शास्त्र सूर्य की नाईं अज्ञानान्धकार को दूर करके सम्पूर्ण अर्थों को प्रकाशित कर देता है ॥

इति शास्त्र परीक्षा विषयात्मक श्चतुर्थो विवेकः ॥

अथ प्रकृति विषय विचार

(४६) (प्रश्न) प्रकृति किसको कहते हैं, (उत्तर) यहां प्रकृति शब्द से उस वस्तु का ग्रहण है कि, जिससे प्राणी के आहार, विहार, आचार, आकृति, वर्ण, भाषा, निर्बलता, सबलता, आवस्थिकावस्था, शारीरिक स्वभाव, और मानसिक स्वभाव के भावों की भिन्नता, आदि भाव पैदा होते हैं। प्रकृति दो प्रकार की होती है, एक नैसर्गिकी दूसरी अजन्य, जैसा कि उज्वल दत्त में लिखा है कि—

४७) बहिर्हेत्वन पेक्षीतु स्वभावोऽथ[1] प्रकीर्त्तितः।
निसर्गश्च स्वभावश्च इत्येष भवति द्विधा॥
निसर्गःसुदृढाभ्यासजन्यः संस्कार उच्यते।
अजन्यस्तु स्वतः सिद्धः स्वरूपो भाव उच्यते॥

अर्थ—इसके अनन्तर बाहिर के कारणों की अपने बनने में परवाह न करने वाला जो भाव होता है, वह स्वभाव कहाता है॥

(प्रश्न) वह कै प्रकार का होता है?

(उत्तर) वह दो प्रकार का है, १ एक निसर्ग, २ दूसरा अजन्य, निसर्ग वह है जो विशेष अभ्यास से पैदा हुआ संस्कार हो, जिसे कुल प्रसक्ता प्रकृति भी कह सक्ते हैं और अजन्य वह कहाता है जो बिना अभ्यास के स्वतः सिद्ध हो जैसा अपने माता पिता के शुक्र

---

१ यहां अथ शब्द प्रश्नार्थक है ॥

शोणित के सम्बन्ध समय शारीरिक और मानसिक दोषों की अधिकता से बना भाव, जोकि प्रत्यात्म नियता प्रकृति के. अन्तर्गत आ जाता है।

प्रकृति के अन्य प्रकारविशेष

(४८) तत्र प्रकृति र्जातिप्रसक्ता च कुलप्रसक्ता च देशा नुपातिनीच कालानुपातिनी च वयोऽनुपाति नीच प्रत्यात्मनियताच। जाति कुल देश काल वयः प्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति॥ च० इन्द्रि० अ० १।

अर्थ—प्रकृति जात्यादि विचार से अनेक प्रकार की है जैसे जाति प्रसक्ता कुल-प्रसक्ता देशानुपातिनी कालानुपातिनी वयोनुपातिनी और प्रत्यात्मनियता, क्योंकि जाति, कुल, देश, अवस्था, और प्रत्यात्मनियता [प्रत्येक मनुष्य में भिन्न २ रूप से स्थिर शारीरिक और मानसिक दोषजन्य भावों की विशेषता] ही उन २ प्रकृति के मनुष्यों के वैसे २ और वे वे ही भाव शारीरिक और मानसिक होते हैं। इनमें प्रथमा जातिप्रसक्ता [समान उत्पत्ति के प्रकार वालों के स्वाभाविक धर्म से विशेष सम्बन्ध रखने वाली] प्रकृति जैसे, कि इस मनुष्य जाति के भाव मनुष्य में, गौ जाति के गौ में, अश्व जाति के अश्व में, जो २ जिस २ प्रकार इन्द्रयकर्म, विषयग्रहण, आदि स्वभाव विशेष हैं, वे उसी २ जाति में अर्थात् पशुजाति के पशुओं में और मनुष्य जाति के मनुष्य जातियों में उसी उसी प्रकार से होते हैं। इसी प्रकृति [माद्दे] ने जीवों के जाति विभेदक आहार विहारादि आयु संस्कारादि भाव भिन्न २ किये हैं। द्वितीया कुलप्रसक्ता [माता पिता आचार्यादिक के कुलके देश के व्यवहारादि से विशेष सम्बन्ध वाली प्रकृति] अर्थात् सहचारी सांसर्गिक माद्दा जोकि उससे भिन्न कुल के देश के मनुष्यों में न दीख पडे, जैसा ब्राह्मण कुलोत्पन्न को तपः प्रियतादि शुद्धाचरण रुचता है, क्षत्रिय को युद्ध प्रियता आदि धर्म विशेष प्रिय होते हैं, वैश्य को क्रय विक्रयादि व्यवहार तथा बंगवासी को बंगाचार सलज्ज दैशिक को सलज्जाचारादि भाव रुचते हैं भावार्थ यह है कि जो भाव [बातें] इन्द्रिय विषयों के विशेष अभ्यास से शरीर कुल वा देशादि से शरीर और मन में आदान [ग्रहण] हो जाय उस को आदत्त [आदत] कहते हैं कि यही

दृढ़ हुई कुल प्रसक्ता प्रकृति अर्थात् नैसर्गिकी प्रकृति बन जाती है। तृतीया देशानुपातिनी प्रकृति अर्थात् देशसे ही जो भाव शरीर में पैदा हुआ हो। देश दो होते हैं, एक गर्भाशय, कि जहां गर्भाधान से पीछे और जन्म से पहले, इस देह धारी का निवास होता है दूसरा वह कि जहां जिस जनपद [मुल्क] में जन्म लेकर पोषित होता है, इन दोनों प्रकार के देशों के कारण जो २ भाव इस जीव को मिलते हैं और वे किसी अन्य प्रकार न मिल सकें, वह देशानुसार मनुष्य में आया भाव देशानुपातिनी प्रकृति [मुल्की माद्दा] है, जैसे कि नेत्रों की पुतली की रंगत, [कृष्ण गौर कंजइआदि वर्ण,] लघु दीर्घादि शरीर, उन्नत वो चिप्पट नासादि आकृति, आदि भाव होते हैं, चतुर्थी कालानु पातिनी प्रकृति। काल दो होते हैं १ विसर्ग २ आदान। विसर्ग काल कर्ककी संक्राति से तीन ऋतुओंमें यथोत्तर बलदायक प्रत्येक प्राणी को होता है, और मकर संक्रांति से तीन ऋतुओं तक यथोत्तर न्यूनबलप्रद आदान काल होता है। इससे विसर्ग कालमें जन्म होने के कारण बलवान् और आदान काल में जन्म होने से निर्बल होता है*। यह समय से प्रकृति बनती है, जैसे कि, हमारे देश में कार्तिक मासके बोए गेहूं सर्वांग पुष्ट, और अधिक, और पौषके वोए अपुष्ट और अल्प पैदा होतेहैं। इसी प्रकार मनुष्य को बलाबलादिभावप्रद काल भी है। पञ्चमी वयोनुपातिनी प्रकृति, जो२ भाव जीव में अवस्था से आते हैं जैसे कि बाल्यावस्था के, तरुणावस्था के, और वृद्धावस्था के शरीराकार डाढ़ी, मोंछ, बली, पालित, खालित्य आदि भावों का होना, उक्त प्रकृति के लक्षण जानों। छटी (प्रत्यात्म नियता) "आत्मानं आत्मानं प्रति या नियता (स्थिता) सा प्रत्यात्म नियता प्रकृतिः,, जो भाव उपरोक्त प्रकृति वाले सभों में हों और जो माता पिता के गर्भाधान समय के आहाराचारानुसार शरीरिदोषों की न्यूनाधिकतासे और गर्भोत्तर कालमें माता के आहाराचारानुसार से सन्तान में आतेहैं, वह प्रत्यात्म नियता प्रकृतिके भाव हैं जैसाकिच० सू० अ० १ में लिखाहै।

४६ वायुःपित्तंकफश्चोक्तः शारीरोदोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥

अर्थ—वात पित्त और कफ ये तीन शरीर के दोष हैं और रजोगुण और तमोगुण ये दो मन के दोष हैं। गर्भाधान समय इन दोनों के जो जो भाव अधिक हों, उनसे उक्त प्रत्यात्म नियता प्रकृति बनती है

*आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गा दानयो र्नृणाम्। मध्येमध्य बलंत्वन्ते श्रेष्ठ मग्रेचनिर्दिशेत्॥

प्रत्यात्म नियता प्रकृति बननेका समय। सुश्रु.शा.

(५०) शुक्र शोणित सम्बन्धे यो भवे द्दोष उत्कटः।
प्रकृति र्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु॥

अर्थ—पुरुष के शुक्रके और स्त्रीके गर्भ कारक रक्त के सम्बन्ध [मिलने] के समय माता पिताके शरीर में जो दोष विशेष होतेहैं उन्हीं से प्रकृति बनती है। हे सुश्रुत उसके चिन्ह मुझसे सुन।

शारीरिक दोषजा प्रत्यात्म नियता प्रकृति के लक्षण

(५१) सप्त प्रकृतयोभवन्ति। प्रथक् द्विशः समस्तैश्च।
तत्र जागरूकः, शीतद्वेषी, दुर्भगः, स्तेनो, मत्सर्यऽनार्यो, गान्धर्व चित्तः स्फुटित कर चरणोऽतिरूक्ष श्मश्रुनखकेशः, क्रोधी, दन्त-नखखादीच भवति।

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः,
कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा,
वियदपि गच्छति संभ्रमेण सुप्तः॥

अव्यवस्थितमति श्चलदृष्टि-
र्मन्द रत्नधनसञ्चयमित्रः।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्धो,
मारुतप्रकृति रेष मनुष्यः॥

वातिका अाज गोमायु,
शशाखूष्ट्रशुनान्तथा ।
गृद्ध्र काकखरादीना-
मनूकैः कीर्त्तिता नराः ॥

अर्थ--शारीरिक दोषोंसे सात प्रकृति होतीहैं, तीन पृथक् दोषोंकी, तीन दो दो दोषोंसे और एक सब दोषों की मिलकर, अर्थात्– वातकी, पित्तकी, और कफकी, ये पृथक् तीन दोषों की तीन हुई । वातपित्तकी, वातकफकी, और कफपित्तकी, और मिश्रित सब दोषोंकी ॥ इनमें वात प्रकृतिके लक्षण--जागने वाला, ठंड का द्वेषी ऐश्वर्यहीन, चोर, पराये गुणोंका द्वेषी, अनारी, गान्धर्व चित्त, हाथपैर फटनेवाला, नख तथा डाढी मोंछ और शिरके बाल अतिरूखे, क्रोधी, दांतों से नख कुतरने वाला मनुष्य होताहै ॥ वातकी प्रकृतिवाला, धीरज रहित, दृढ मैत्री न रखने वाला, कृतघ्न, कृश, परुष [सख्त] बोलनेवाला, धमनी [रगें] उभरी, और व्यर्थवादी, शीघ्रचलने वाला, चञ्चल चित्त, सोताहुआ संभ्रम सहित आकाशको जानेका स्वप्न देखताहै, तथा अस्थिर बुद्धि, चञ्चल दृष्टि, रत्न धन का सञ्चय, और मित्र ये थोड़े, और कुछेक असम्बद्ध वाक्य कहना, यह वात प्रकृति का मनुष्य है, ऐसा समझना । वातकी प्रकृति वाले मनुष्य, अज [बकरा] गीदड़– शश [पञ्चनख सेह नामक जीव] मूषिक, ऊंट, कुत्ता, तथा गिद्ध, काक, गधा, आदि के अनूक [उनहार] होते हैं, ॥

पित्त प्रकृति के लक्षण

(५२) स्वेदनो, दुर्गन्धः, पीतशिथिलाङ्ग, स्ताम्रनख नयन तालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो, दुर्भगो, बली पलित खालित्य जुष्टो, बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्र कोप प्रसादो, मध्यमबलो, मध्यमायुश्च भवति ।

मेधावी निपुणमति र्विगृह्य वक्ता,
तेजस्वी समितिषु दुर्निवार वीर्यः ।

सुप्तः सन् कनक पलाश कर्णिकारान्.
संपश्ये दपिच हुताश विद्युदुल्काः ॥

नभयात्प्रणमे दनते ष्वमृदुः,
प्रणतेष्वपि सान्त्वन दानरुचिः ।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः,
स भवेदिह पित्त कृत प्रकृतिः ॥

भुजङ्गो लूक गन्धर्व,
यक्ष मार्जार वानरैः ।
व्याघ्रर्क्ष नकुला नूकैः,
पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥

अर्थ— पित्त प्रकृति का मनुष्य पसीना विशेष आने वाला, दुर्गन्ध (बदबू) बगल में वा शरीरमें रहने वाला, पीला ढीला अङ्ग, नख नेत्र तालु जीभ होठ और हाथ पैरोंके तलुआ लालहों, ऐश्वर्य रहित, बिनासमय शरीर में सलबट, बाल सफेद, और खालित्य [बालोंके उड़जाने] वाला होता है, अधिक भोजी, गरमी से अप्रीति, तुरन्त क्रोध और प्रसन्न होनेवाला, मध्यम आयुयुक्त होताहै । ग्रन्थकी धारणा [याद रखने] वाला, आगेको विशेष विचार करनेवाला, दूसरे के वचन को खण्डन करके कहनेवाला, प्रतापी, युद्ध में कठिनसे पराक्रम निवारण होनेवाला, सोता हुआ सुवर्ण, केसू, कन्नेर, अग्नि; विजली, उल्का. इनको स्वप्न में देखता है। भय से नम्र नहीं होता, कठोर के लिये कठोर और नम्र हुओं में शान्तिके दान की रुचि रखता है। अर्थात् कठोरों से कठोर और नम्र से नम्रता का व्यवहार बर्तने वाला होता है ॥ और सदा मुख के मार्ग में पीड़ा रहती है. ऐसे लक्षणों वाला पित्त प्रकृति होता है। पित्त प्रकृति वाले मनुष्य, सर्प, उलूक, गन्धर्व, यक्ष, बिलाव, बन्दर, बाघ, रीछ, नोला, आदि के अनूक [अनुहार] होते हैं।

कफ की प्रकृति के लक्षण

५३ दूर्वेन्दीवर निस्त्रिं शार्द्रारिष्ट शरकाण्डाना मन्य-
तम वर्णः शुभगः प्रिय दर्शनो, मधुरप्रियः कृतज्ञो
धृतिमान् सहिष्णु रलोलुपो बलवाँ श्चिर ग्राही
दृढ वैरश्च भवति ॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलातिनीलकेशो ।
लक्ष्मीवान् जलद मृदङ्ग सिंह घोषः ॥
सुप्तः सन् सकमल हंस चक्रवाकान् ।
सम्पश्येदपिच जलाशयान् मनोज्ञान् ॥

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः ।
स्निग्धच्छविः सत्व गुणोप पन्नः ॥
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ।
ज्ञेयो बलास प्रकृति र्मनुष्यः ॥

दृढ शास्त्र मतिः स्थिरामित्रधनः ।
परि गण्य चिरात् प्रददाति बहुः ॥
परि निश्चित वाक्य पदः सततं ।
गुरु मानकरश्च भवेत् स सदा ॥

ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः ।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयोनराः ॥

अर्थ—घास के नाल, इन्दीवर [नील कमल] निस्त्रिंश [खड्ग स्तद्वद्वृत्ता कार मुख वाले] आर्द्रारिष्ट [गीला रीठा] शर कांड [शर कंडा] इन में से किसी कासा आकार रंग रूप हो, वा और भी कोई सा अच्छा प्रिय दर्शन कबूल सूरत] रंग रूप हो, मीठा रस प्यारा

लगने वाला, कृतज्ञ [अहसान मानने वाला] धैर्य युक्त, सहन शील, लालच रहित, बल वान्, विलम्ब से इन्द्रिय विषय ग्रहण करने वाला, और दृढ़ वैर होता है. स्वेत नेत्र, न हिलने वाले घुंघराले अति काले केशों वाला, धनवान्, मेघ के, मृदङ्ग के, सिंह के, से गम्भीर शब्द कण्ठ से निकालने वाला, और सोता हुआ स्वप्न में कमल, हंस, चकवी, चकवा, इन सहित मनोहर जल के आशयों को देखता है। जिसके नेत्रों के लाल कोए, और पृथक् २ शरीरके सुन्दर अवयव हों. अच्छी कांति हो, और जो सत्व गुण प्रधान. क्लेशोंका सहनशील, गुरु [माता पिता आचार्यादि] का मान्य करने वाला हो वह कफ की प्रकृतिका पुरुष जान ना। यह शिक्षा के ग्रथों में दृढमति और इसके मित्र और धन स्थिर होते हैं (परिगणी) गणों वाला [गिरोह रखने वाला] और अन्य प्रकृति के मनुष्यों में यह अधिक और शीघ्र का दानी होता है, इसके वाक्य और पद अच्छे प्रकार निश्चित किये मुख से निरंतर निकलते हैं, और सदा वृद्धों के सत्कार का कर्ता होता है। कफ प्रकृति के मनुष्य ब्रह्मा रुद्र इन्द्र वरुण सिंह घोड़ा हाथी गौ बैल गरुड़ हंस इनके समान "अनूक" [अनुहार] मुखाकार होते हैं ॥

सामुद्रिकोक्त अनूक लक्षण

पूर्वभवे ह्यन वरतं सत्वस्वरूपगतिभि रभ्यस्तम् ।
पुनरिह यदनु क्रियते तदनूकं कथ्यते सद्भिः ॥

अर्थ– जैसे–सत्व, स्वरूप, और गति मनुष्योंने पहले जन्म में, अभ्यास किये थे वेही इस जन्म में भी बराबर हों तो उसी के नाम को पण्डित अनूक कहते हैं।

सिंहव्याघ्र गरुत्मद् वृषभानूका भवन्ति ये मनुजाः ।
अप्रातिहत प्रतापा जितरथास्ते नराधीशाः ॥

अर्थ–जो मनुष्य सिंहके, व्याघ्रके, गरुड़ के वा वृषभ के अनूक [पूर्वजन्मके– शरीरके सत्वके स्वरूपके और गतिके अनुकरण] करने वाले हों वे प्रताप न रुकने वाले महारथि-यों को जीतने वाले नरेश होतेहैं ॥

बृहत्संहितोक्त अनूकल ल०

साध्य मनूकं वक्त्राद, गोवृषशार्दूलसिंहगरुड़ मुखाः ।
अप्रति हत प्रतापाः, जित रिपवो मान वेन्द्राश्च ॥
वानर महिष बराहा जतुल्य वदनाः सुतार्थ सुखभाजः ।
गर्दभ करभ प्रतिमैः, शरीरैश्च निःस्व सुखाः ॥

अर्थ—अनूक को मुख समझना, गौ, बैल, शार्दूल, [जरख] सिंह और गरुड़ इनकेसी मुखाकृति वाले पुरुष न रुकने वाले प्रताप युक्त, शत्रुजित्, मनुष्यों में ऐश्वर्य वन्त होतेहैं। बन्दर, महिष, शूकर और अज इनके समान मुखाकृति वाले पुत्र धन और सुखके पात्र होते हैं। गधा और ऊंट इनके मुखकी और शरीरकी आकृति वाले निर्धन और सुख रहित होते हैं ॥

चरकोक्त प्रकृतिल०

(५४) श्लेष्मा हि स्निग्ध श्लक्ष्ण मृदु मधुर सार सान्द्र मन्द स्तिमित गुरु शीत विज्जलाच्छ, स्तस्य स्नेहात् श्लेष्मलाःस्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्त्वात्श्लक्ष्णाः, मृदुत्त्वात् दृष्टि सुकमारावदात्त शरीराः, माधुर्य्यात् प्रभूत शुक्र व्यवाया पत्त्याः, सारत्त्वात् सार संहत स्थिर शरीराः, सान्द्रत्त्वा दुपचित परिपूर्णगात्राः, मन्दत्त्वा न्मन्द चेष्टाहार विहाराः, स्तैमित्या दशीघ्रारम्भ क्षोभ विकाराः, गुरुत्वा त्साराधिष्ठिता वस्थित गतयः, शैत्या दल्प क्षुतृष्णा संताप स्वेद दोषाः, विज्जलत्त्वा त्सुश्लिष्टसार बन्ध संधानाः, तथाच्छत्त्वात् प्रसन्न दर्शनाननाः प्रसन्न वर्णस्वराश्च । तएवं गुण-योगात् श्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावंत ओजस्विन आयुष्मन्तश्च ॥

अर्थ—कफ स्वभावसे चिकना, चिलकना, मृदु, मीठा, सार [स्थिरांश] सान्द्र [गाढ़ा] मन्द [शीघ्रता रहित] स्तिमित, [आर्द्र अर्थात् तर] गुरु, [भारी] ठंडा, विज्जल, [लस्सदार] और स्वच्छहै। उस [कफ] के चिकनेपन से कफकी प्रकृति वाले चिकने शरीर, चिलकने पनसे चिलकने शरीर, मृदुभाव से दृष्टि सुकुमार [देखने में अति कोमल] उजले गात, और कफकी मधुरता से कफ प्रकृतिवाले अधिक वीर्य्य, अधिक मैथुन, और अधिक सन्तान वाले होतेहैं, कफके सारपन [स्थिरांशता] से सार संहत [अति दृढ़ गठे हुए] स्थिर [चंचलता रहित] शरीर, सान्द्रता [गाढ़ेपन] से हृष्टपुष्ट सर्व प्रकार के भरे हुए गात, और कफके मन्दपनसे अल्प चेष्टा, अल्प भोजन, अल्प बोलने वाले होते हैं। और कफके स्तैमित्य [तर] गुण होंनेके कारण बिलम्ब से कार्यका आरम्भ, क्रोध, और मनके विकृत होने वाले, होतेहैं, और कफके गुरुत्व [भारीपन] से कफ प्रकृति वाले साराधिष्ठित [मज्जासे भरेहुये] मन्दी चालवाले, कफके ठण्डेपनसे भूख, प्यास, शरीरका तप्तहोना, और पसीना इनके थोड़े होने वाले, और विज्जलता [पिच्छिलपन] से अच्छे भिड़े दृढ़ बंधे जोड़ों वाले होते हैं। और कफकी स्वच्छता [सुंदरता] से कफ प्रकृति वाले अच्छे नेत्र, अच्छा मुख, अच्छा वर्ण, अच्छे स्वर वाले होते हैं। ये कफ प्रकृति वाले इस उक्त प्रकार कफके गुणोंके योग होनेसे मनुष्य—बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी [पराक्रमी] और बड़ी आयु वाले होते हैं॥

(५५) पित्त मुष्णं तीक्ष्णं विस्र मम्लं कटुकं च। तस्यौ ष्णया दुष्णा सुखसुकुमाराऽवदात्त गात्राः, प्रभूत पिप्लु व्यंग पिडिकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्र बिलि पलित खालित्य दोषाः, प्रायो मृद्वल्प कपिल श्मश्रु लोम केशाः, तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताऽशन पानाः, क्लेशा सहिष्णवो, दन्दशूकाः, द्रवत्वात् शिथिल मृदु सन्धिमांसाः प्रभूत सृष्ट स्वेद मूत्र पुरीषाश्च, विस्रत्वात् प्रतिवक्षः कक्षास्य शिरः शरीर गन्धाः कट्वम्लत्वा दल्प शुक्र व्यवाया पत्याः। तएवं गुण योगात्

पित्तला मध्यम बलाः मध्यायुषो ज्ञान विज्ञान वित्तोप करण वन्तश्च ॥

अर्थ–पित्त स्वभाव से उष्ण [गरम] तीक्ष्ण [तेज] विस्र [बूदार] और कच्चा खट्टा और पका कडुवा होताहै । इसकी प्रकृति वाले इसके उष्ण गुणके कारण उष्ण [गरमी] से दुःखी, अतिकोमल, उजले गात, फोड़ा फुन्सी झाईके रोगी, यौवन पिड़िका [मौहासे] अधिक होनेवाले, शरीरमें वृद्धा वस्था के बिनाही खालका सुकुड़ना, स्वेत बाल, और बाल उड़नेका दोष, शीघ्रहोजाने वाले, और बहुधा मृदु [नरम] और थोड़े लोहरे रंगके डाढी मोंछ शिरके बालों वाले होतेहैं । पित्तके तीक्ष्ण गुणसे पित्त प्रकृति वाले तीक्ष्ण पराक्रमी, तीक्ष्ण जठराग्नि वाले, अधिक खान पान करने और क्लेशों [तकलीफों] को न सहने वाले, बिलों [अर्थात् जहां धूप न पहुंचे ऐसे स्थानों]में रहने की रुचि वाले होने हैं । और पसीना मूत्र पुरीष [विष्ठा] इनके बहुत निकलने वाले होने हैं । और पित्त के विस्रत्व [बूदार] गुण से वक्षः स्थल, कांख, मुख, शिर, शरीर, इनमें बास आने वाले होते हैं । पित्त के कड़वाहट और खट्टे पन से पित्त प्रकृति वाले अल्प शुक्र, अल्प मैथुन, अल्प संतान वाले होते हैं । पित्त प्रकृति वाले इस प्रकार उक्त गुणों के योग से मध्यम बल, मध्यम आयु वाले, ज्ञान, विज्ञान, और धन इन के उद्योगी होते हैं ॥

(५६) वातस्तु रूक्ष लघु चल बहु शीघ्र शीत परुष विषद, स्तस्य रौक्ष्यात् वातला रूक्षापचिताल्पशरीराः, प्रतत रूक्षक्षाम भिन्नसक्तजर्जरस्वराः जागरूकाश्च, लघुत्वाच्च लघुचलगतिचेष्टाहारविहाराः, चलत्वादन-वस्थितसन्ध्यस्थिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपा-दाः, बहुत्वा द्बहुप्रलापकण्डराशिराप्रतानाः, शीघ्रत्वात् शीघ्रारम्भ क्षोभ विकाराः, शीघ्रोत् त्रास रागविरागाः, श्रुत ग्राहिणो, स्मृतिमंतश्च, शैत्यात् शीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः. पारुष्यात् परुषकेश, श्मश्रुनखदशनवदन पाणि पादांगाः, वैशद्यात्

स्फुटितांगा वयवाः, सतत सन्धिशब्दगामिनः। त एवं गुण योगा द्वातलाः प्रायेणाल्पबला श्चाल्पा युष श्चाल्प साधना श्चाधन्याश्च। संसर्गा त्संसृष्ट लक्षणाः सर्व गुण समुदिता स्तु समधातव इति॥ च०वि०स्था अ० ८

अर्थ – वात [वायु] रूखा. हलका. चलने वाला. बहु. शीघ्र [विलम्ब रहित] ठंडा. कठोर विशद [बिखरा हुआ] है। तिस वात के रूखापन से वात की प्रकृति वाले रूखे. मांस रहित. अल्प शरीर और सदैव रूखे धीमे फटे सक्त [सकसकी लिये] झिर झिराते स्वर वाले. और जागने वाले होतेहैं। और वात की लघुता के गुण से हलकी चाल तथा शारीरिक और मानसिक व्यापार. भोजन करना. और बातें करना चपलता युक्त होते हैं। और वायु के गमन गुण से सन्धि. भोंह. होठ. ठोड़ी. होंठ. जीभ. शिर. कन्ध. हाथ. पैर हिलने चलने वाले होते हैं। और बहुत्व गुण से प्रलापी [बकवादी]. कंडरा और नसें उभरी हुई होती हैं। और वात की शीघ्रता के कारण तुरन्त आरम्भ. क्रोध और मन आदि अन्तः करणों का क्षुब्ध का क्षुब्ध तुरन्त करने वाले। और तुरन्त त्रास [भयभीत] राग [मुहब्बत] विराग [बेमुहब्बत] होने वाले, सुने हुए को ग्रहण करने वाले. और स्मृतिमान् होते हैं। वायु के शीत गुण से शीत के न सहने वाले. सदैव शीत से कांपने वाले, और ठिठरने वाले होते हैं। और इसके पारुष्य [कठोर] गुण से शिर के बाल. डाढ़ी, मोंछ, दांत मुख, हाथ, पैर, कठोरतायुक्त। और विषद [बिखरने] पन से फटे हुए शरीर के अवयवों वाले, निरन्तर सन्धियों का शब्द होने वाले होते हैं। इस प्रकृति वालों के इन उक्त गुणों के योग होने से थोड़ा धन, थोड़ी आयु और थोड़ी ही सुख की सामग्री होती है॥ और मिले हुए दोषों से मिले लक्षण होते हैं॥

इति शारीरिक प्रकृति विषय विचारणीयः पञ्चमो विवेकः॥ ५॥

अथ मानसिक तीनों गुणों की प्रकृतियां

(५७) तद्यथा-शुचिं सत्याभिसन्धं, जितात्मानं, संविभागिनं ज्ञान विज्ञान वचन प्रतिवचन सम्पन्नं, स्मृति मन्तं काम क्रोध लोभ मान मोहेर्ष्या हर्षा मर्षा पेतं, समं सर्व भूतेषु, ब्राह्मं विद्यात् ॥

अर्थ – वे जिस प्रकार हैं सुनिये . जो पवित्र सत्यप्रतिज्ञ. जितेन्द्रिय, बांटकर खाने वाला ज्ञान. और विज्ञान. वचन [वाक्य का कथन प्रति बचन [उत्तर] इनसे युक्त. स्मरण शक्ति वाला, काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, ईर्ष्या, अहर्ष [अप्रसन्नता] अमर्ष [कोप] इनसे रहित. सब प्राणियों में सम. [उदासीन वृत्ति वाला] हो उसको ब्राह्म शरीर जानें ॥

(५८) इज्याध्ययन व्रत होम ब्रह्म चर्य मतिथि व्रत, मुप शान्त मद मान राग द्वेष मोह लोभ रोषं, प्रतिवचन विज्ञानोप धारण शक्ति सम्पन्न मार्षं विद्यात् ॥

अर्थ–इज्या [देवपूजा संगतिकरना दानदेना] पढ़ना, उपवास, होम, ब्रह्मचर्य, और अतिथि–व्रत, इनके करने वालेको, दूरहुए मद, मान राग, द्वेष [अप्रीति] मोह, लोभ, क्रोध वाले को, उत्तर देना विज्ञान और उपधारण [योगाङ्ग] इनकी सामर्थ्य युक्तको, आर्ष अर्थात् ऋषि शरीर जानना ॥

(५९) ऐश्वर्य वन्त, मादेय वाक्यं, यज्वानं शूर मोज स्विनं तेजसोपेत मक्लिष्ट कर्माणं दीर्घ दर्शिनं, धर्मार्थ कामाभिरत मैन्द्रं विद्यात् ॥

अर्थ–जो ऐश्वर्य वान्, ग्रहण करने योग्य वचन वाला, यज्ञ करने वाला, ओजस्वी [दिलावर] तेजसो पेत [स्मरण होनेपर स्वप्नमें भी भयकारिणी शक्ति युक्त,] क्लेश रहित कर्म करनेवाला, होनहार का ज्ञाता, धर्म अर्थ और काममें प्रीतिरखने वाला हो उसको ऐन्द्र [इन्द्रका शरीर] जानना ॥

(६०) लेखास्थ वृत्तं प्राप्त कारिण मसंहार्य्य मुत्थान
वन्तं स्मृति मन्त मैश्वर्य्या वलम्बिनं व्यपगतराग
द्वेशमोहं याम्यं विद्यात् ॥

अर्थ–मर्यादा में स्थिर रहनेका चलन वाला, उपस्थित कर्म का कर्त्ता. निर्भय, पौरुषी स्मृतिमान्, ऐश्वर्यका आसरा करने वाला, और रागद्वेश मोहसे रहित जोहो उसको यम शरीर जानना ॥

(६१) शूरं शुचि मशुचिद्वेषिणं यज्वान मम्भोविहाररति
मक्लिष्ट कर्म्माणं स्थानकोप प्रसादं वारुणं विद्यात् ॥

अर्थ– जो शूरबीर, पवित्र, अपवित्र से अप्रीति करने वाला, यज्ञका कर्त्ता जलकी क्रीड़ा में प्रीति रखने वाला, क्लेश रहित कर्मोंको करने वाला हो, और अवसर पर जिसका कोप और प्रसाद [प्रसन्न होना] हो उसको वरुणका शरीर जानना ॥

(६२) स्थानमानोपभोग परिचार सम्पनं धर्मार्थकामनित्यं
शुचिसुखविकारं त्यक्त कोप प्रसादं कौवेरं विद्यात् ॥

अर्थः–जो निबासस्थान, सन्मान विषयानन्द, और सेवक इनसे संयुक्त, धर्म अर्थ काम इन में नित्य लगा रहनेवाला, पवित्र, सुखका विकारी, कोप और प्रसन्नता रहित हो उसको कुवेर शरीर जानना ॥

(६३) प्रिय नृत्य गीत वादित्रोल्लाप श्लोका ख्यायिकेतिहास
पुराण गन्ध माल्याप नयनं, वस्त्र स्त्री विहार मनसूयकं
गन्धर्वं विद्यात्। इत्येवं शुद्धस्य सप्त विधं भेदांशं विद्यात्

अर्थ– जिसको नृत्य, गीत, वादित्र [बाजे] उल्लाप [आलापचारी] श्लोक [यश] आख्यायिका [विख्यात कराने वाला कविता आदि कर्म] इतिहास, [पारम्पर्योपदेष] पुराण [पुराने चरित्र] सुगंधित पुष्पमाला ये प्रिय हों, और जो सुन्दर वस्त्रोंका धारण स्त्रियोंमें क्रीड़ा करनेवाला, असूया रहितहो उसको गांधर्व शरीर जानै। इस प्रकार शुद्ध

सत्त्वके ७ सात प्रकारके भेदांश जानना। उक्त सात्विक शरीर सत्वकी सम्पत्ति से जन्मते हैं और वक्ष्य माण राजस तामस सत्व के जन्मे शरीर सत्व की असम्पत्ति से होते हैं।

(६४) शूरं चण्ड मसूयक मैश्वर्यवन्त मौपधिकं रौद्र मननु क्रोशक मात्मपूजक मासुरं विद्यात्॥

अर्थ—शूरमा, क्रोध, असूयक, ऐश्वर्यवान औपधिक [उपवनादिकों में भय आदि दिखाने आदि से आजीवन करने वाला छली] रौद्र [रुलाने वाला] अननु क्रोशक [दूसरे के रोनेको देख दया न करनेवाला] आपेका सत्कार करने कराने वाला, जो हो उसे आसुर शरीर मानना॥

(६५) अमर्षण मनुबन्धकोपच्छिद्रप्रहारिणं क्रूर माहारातिमात्र-रुचि मामिषप्रियतमं स्वप्नायासंबहुल मीर्ष्यु राक्षसं विद्यात्॥

अर्थ—न सहने वाला, लगातार कोपका, दूषण का, और प्रहार का करने वाला, क्रूर [निर्दय, कठोर, हिंसक, उग्र] प्रमाण से अधिक भोजन करने में रुचि मान् मांसका खाना प्रिय लगने वाला, निद्रा, अतिश्रम, इन की बहुतायत वाला ईर्ष्यक जो हो उसको राक्षस जानना॥

(६६) महाशनं स्त्रैणं स्त्रीरहस्कामं अशुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुम्भी-षयितारं विकृति विहारं मांसाहार शीलं पैशाचं विद्यात्॥

अर्थ—बहुत खाने वाला, स्त्रैण, [स्त्रीके आधीन] स्त्रियों के रहस्य का कामी, अशुद्ध, शुद्धि का द्वेषी, डरपोक अन्य को डरने वाला, मैले निलज्ज आहार और विहार करने वाला, मांसा हार करने के स्वभाव वाला जो हो, उसको पैशाच जानना॥

(६७) क्रूरं शूरं प्रच्छन्न भीरुं तीक्ष्ण मायासबहुलं अत्रस्तगोचर माहारविहारपरं सार्पं विद्यात्॥

अर्थ—हिंसन शील, शूर, कठिनता से डरने वाला, तीक्ष्ण [तेज़] बहु परिश्रमी, भय रहित भूमि में विचरने वाला, आहार और विहार में लौलीन, जो हो उसको सार्प काय समझना ॥

(६८) आहारकाम मति दुःखशीलाचारापचार मसूयक
मसंविभागिन मति लोलुप मकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् ॥

अर्थ—भोजनाभिलाषी, अति दुःखदाई चलनचार सेवन करने वाला, असूयक, विभाग न देने वाला, अति लोभी, निकम्मे रहने का स्वभाव जिसका उसको प्रेत काय कहते हैं ॥

(६९) अनुषक्तकाम मजस्र माहारपरं अन-
वस्थितमर्षण मसंचयं शाकुनं विद्यात् ॥
इत्येवं राजसस्य सत्त्वस्य षड् विधं भेदांशं विद्यात् ॥

अर्थ--जो मैथुन में लौलीन,अत्यन्त भोजन में तत्पर, अस्थिर गमन करने वाला, संचय रहित, हो उसको शाकुन जानना ॥ इतने राजस सत्त्व के ६ छः प्रकार के भेदांश समझना ॥

(७०) निरलङ्करिष्णु ममेधस मजुगुप्सितार मा-
हारमैथुनपरं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात् ॥

अर्थ—शरीर को भूषित न करने वाला, सुनने मात्र में ही बात को भूल जाने वाला, आपे का भी अरक्षक, भोजन और मैथुन में ही लवलीन, और निद्रालु, जो हो उसको पाशव अर्थात् पशु प्रकृति शरीरी जानों ॥

(७१) भीरु मबुध माहारलुब्ध मनवस्थित मनुषक्त
कामक्रोधं मरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात् ॥

अर्थ—जो डरपोक, मूर्ख, भोजन का लोभी, अस्थिर चित्त, काम और क्रोध में आसक्त, हर काम में मरूँगा ऐसा कहने वाला, जल का अभिलाषी हो उसको मात्स्य जानना अर्थात् वह मच्छी के स्वभाव की सी प्रकृति का है ॥

(७२) अलसं केवलमभिनीविष्टमाहारे सर्व-
बुद्धि हीनं वानस्पत्यं विद्यात् ॥
इत्येवं तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यात् ॥

अर्थ—जो आलसी, केवल भोजन में ही लौलीन हो, और जो सब बुद्धियों [धी, धृति, स्मृति मेधा, मति] से रहित हो, वह वानस्पत्य [वनस्पति का शरीर जानों। बस इस प्रकार तमोगुणाधिक सत्व [मन] के तीन प्रकार के भेदों के अंशों को जानो ॥

इति मानसिक प्रकृति विषय वर्णने षष्ठो विवेकः ॥ ६ ॥

त्वचा आदि शारीरिक आठ सारों का वर्णन

(७३) साराण्यष्टौ पुरुषाणा मुप दिश्यन्ते। तद्यथा
त्वग्रक्त मांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्र सत्वानि ॥

(७४) तत्र स्निग्ध श्लक्ष्ण मृदु प्रसन्न सूक्ष्माल्प
गम्भीर सुकुमार लोमा स प्रभेव च त्वक्, त्व-
क्साराणां। सा सारता सुख सौभाग्यैश्वर्यो-
पभोग बुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणा न्यायुष्याण्याचष्टे ॥

अर्थ—मनुष्योंके शारीरिक आठ धातुओंके सारोंका वर्णन करतेहैं। वे ये हैं, त्वचा, रक्त, मांस, मेद [चरबी] अस्थि, मज्जा, शुक्र, और सत्त्व। इनमें चिकनी, चिलकनी मृदु, [मुलायम] निर्मल, पतले थोड़े गहरे सुन्दर रोमों वाली, प्रभा [कान्ति] सहित सी त्वचा, [खाल] त्वचाके सार (उत्तमगुण) वालोंकी जाननी। वह सारता

[उत्तमता] सुख, सुहाग, ऐश्वर्य्य, विषयानन्द, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, उत्तम हर्ष और आयुके करनेवाले गुणोंको कहती है ॥

(७५) कर्णाक्षि मुख जिह्वास्योष्ठ पाणिपाद तल नख ललाट मेहनञ्च, स्निग्धं रक्तं श्रिमद् भ्राजिष्णु रक्तसाराणां। सा सारता सुख मुदग्रतां मेधां मनास्वित्वं, सौकुमार्य्यं मनातिबल मक्लेश सहिष्णुत्वं चाचष्टे ॥

अर्थ–कान, नेत्र, मुख, जिह्वा, तालु, होठ, हाथ और पैरोंके तलुआ, नख, ललाट, और मूत्रस्थान, ये चिकने, लालवर्ण, शोभायमान, दीप्ति युक्त, रुधिर के सार [उत्तम गुण] वालोंके जानों। वह रुधिर के गुणोंकी उत्तमता, सुखको, उन्नतिको, मेधाको, मनस्वित्त्व [दिलावरी]को, सौकुमार्य्य [सुन्दरकोमलता] को, मध्यम बलको, और क्लेशों के न सहनेको, कहती है ॥

(७६) शंख ललाट कृकाटिका क्षि गंड हनु ग्रीवा स्कन्धोरः कक्ष वक्षः पाणिपाद सन्धि स्थिर शुभ मांसोपचितं मांससाराणां। सा सारता क्षमां धृति मलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जव मारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥

अर्थ– कनपटी, ललाट, कलाई, नेत्र, गाल, ठोड़ी, कन्धे, स्तनोंका स्थान, कांख, हृदय, हाथ, पैर, सन्धि [जोड] इन स्थानोंमें स्थिर मांसका रहना मांसके सार वालोंके होताहै। वह मांसकी सारता, क्षमाको, धृतिको, चपलताके नहोनेको, धनको, आर्जव [सीधेपन] अर्थात् दूसरों के ठग लैने के व्यापार रहित को, नीरोगता को, बल को और बड़ी आयु को कहती है ॥

(७७) वर्ण स्वर नेत्र केश लोम नख दन्तोष्ठ मूत्र पुरीषेषु विशेषतःस्नेहो मेदःसाराणां। सा सारता वित्तैश्वर्य सुखोपभोग प्रदान्या र्जव सुकुमारोपचारता माचष्टे ॥

अर्थ—वर्ण, स्वर, नेत्र, केश [सिरके बाल] रोंगटे, नख, दांत, होठ, मूत्र, पुरीष. इनमें विशेष कर चिकनाई मेद [चरबी] के सार वालों के होती है। यह सारता धन ऐश्वर्य, सुख, विषयों का आनन्द, इनके विशेषता से देने को, आर्जव [सीधापन] को, और सुकुमारपन बने रहने के यत्न को कहती है ॥

(७८) पार्ष्णि गुल्फ जान्व रत्नि जत्रु चिवुक शिरः
पर्वस्थूलाः स्थूलाऽस्थि नख दन्ताश्चा स्थिसाराः।
ते मन्दोत्साहाः क्रियावन्तश्च क्लेशसहाः सारस्थिर
शरीरा आयुष्मन्तश्च ॥

अर्थः—पार्ष्णि [एढी] गुल्फ [टकने] जानु [घुटने] अरत्नि [कोहनी] जत्रु [हंसली] चिबुक [ठोड़ी] शिर,सन्धि [जोड़] ये सब स्थूल [मोटे] जिन्होंके, और स्थूल अस्थि, नख, और दांत जिन्हों के, ऐसे अस्थि के सारवाले होते हैं। ये मन्दोत्साह, [कमउमाहे वाले] क्रियावन्त, [उद्योगी] क्लेशोंको सहनेवाले. सारस्थिर [अतिदृढ] और अचल शरीरवाले, और आयुष्मन्त होते हैं ॥

(७६) तन्वंगा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्त
सन्धयश्च मज्जासाराः। तेदीर्घायुषो बलवन्तः
श्रुति विज्ञान वित्तापत्य सन्मान भाजश्च ॥

अर्थ—पतले अंगोंवाले, बलवान्, स्निग्ध [अच्छा] वर्ण और स्वर जिनका, मोटे बडे और गोल जोड़ जिनके, ऐसे मज्जा [हड्डियोंके भीतर की मींग] के सार [उत्तमगुण] वाले होतेहैं। ये बडी आयु वाले,बलवन्त, और शास्त्रके; विशेष ज्ञानके, धनके, सन्तानके, और सन्मानके, पात्र होतेहैं ॥

(८०) सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव
प्रहर्षबहुलाः स्निग्ध वित्तसारसमसम्मतशिखिर-
दशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराः भ्राजिष्णवो महा-

स्फिचाश्च शुक्रसाराः। ते स्त्री प्रियोपभोगाः बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्तसन्मानापत्यभाजः ॥

अर्थः—सौम्य [प्रिय दर्शन] सौम्यप्रेक्षिणः [मनोहरदृष्टि वाले] नेत्रोंमें मानों दूधही भर रहा हो ऐसे नेत्रोंके श्वेत भाग प्रतीत होने वाले, शुभहर्षसे परिपूर्ण. चिकने उजले दृढ़ सम अचल और चोटीदार [नोंकदार] दांतोंवाले, प्रसन्न [निर्मल] स्निग्ध [अच्छे] वर्ण और स्वरवाले, तेजस्वी, बडे चूतड़ों वाले, शुक्र के सारसे होतेहैं। ये स्त्रियोंको प्यारे, स्त्री जिनको प्रिय, सब इन्द्रियोंके विषयानन्द के भोगिया, बलवान्, सुख, प्रभुता, आरोग्य, धन, श्रेष्ठ आदर, और सन्तान इनके पात्र होते हैं ॥

(८१) स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः (८२) समरविक्रान्त योधिनः त्यक्तविषादा स्त्ववस्थिता गम्भीर बुद्धिचेतसः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्व साराः। तेषांस्व लक्षणै रेव गुणा व्याख्याताः ॥

अर्थः—स्मृतिमान्, भक्तिमन्त, [अनुरागी] कृतज्ञ, [अहसान मन्द] बुद्धिमान्, पवित्र, महोत्साह, [बडे इरादे वाले] दक्ष, [तुरन्त जाननेको और करनेको समर्थ] धैर्य करनेवाले, रण में विशेष पराक्रम से युद्ध करनेवाले, विषाद रहित, स्थिर और गम्भीर बुद्धि और चित्त वाले, मांगलिक ही कर्म अवश्य करनेका आग्रह वाले. सत्वके सार वाले होते हैं, सत्त्वसारके गुण सत्त्वसार के लक्षणों से ही व्याख्यान किये गये हैं ॥

(८३) तत्र सर्वैः सारै रुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः परम गौरव युक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्टात्मनि जात प्रत्याशाः कल्याणाभि निवेशिनः स्थित समाहित शरीराः सुसमाहित गतयः सानुनाद स्निग्ध गम्भीर महास्वराः सुखैश्वर्य वित्तोपभोग सम्मान भाजो मन्द जरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुण विस्तीर्ण-

पत्या श्चिरजीविनश्च । अतो विपरीता स्त्वसाराः मध्यानां मध्यै स्सारविशेषै र्गुणविशेषा इति ।

च० वि० अ० ८

अर्थः—मनुष्यों में जो त्वचा आदि सब सारोंसे युक्त होतेहैं, वे बडे बलवान्, परमगौरव युक्त, [बड़ेइज्जतदार] क्लेशोंको सहलेने वाले, मनके चाहे सब कामोंके आरम्भ करनेमें पूर्ण हुई आशावाले, मांगलिक ही कर्म जी में समाने वाले, अटल सुन्दर शरीर वाले, श्रेष्ठ गतिमन्त, प्रतिध्वनि जिसमें प्रतीत हो ऐसे अच्छे गम्भीर बड़े स्वर वाले, सुख, ऐश्वर्य, धन, सब इन्द्रियोंका भोग, और सत्कार, इनके पात्र, थोड़ा बुढापा, और थोड़ा विकार [अन्तःकरणोंका विगाड़] होनेवाले, प्रायः समान गुणोंवाली विशाल सन्तति वाले, और बहुत कालतक जीनेवाले, मनुष्य होतेहैं । इसके विपरीत असार [धातुओंके उत्तमगुण रहित] जानों, और मध्यम से मध्यम ॥

इति शारीर धातुसार वर्णनीयः सप्तमो विवेकः ॥ ७ ॥

अथ प्राणैषणा प्रस्ताव

(८५) इहखलु पुरुषेणाऽनुपहत सत्व बुद्धि पौरुष पराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति ।

चरक सूत्रस्थान अध्याय ११

अर्थ-(इह) इस संसार में (अनुपहतसत्व बुद्धिपौरुषपराक्रमेण) मन बुद्धि पौरुष [पुरुषकार कर्म अर्थात् तदबीर करना] और पराक्रम [आत्मिक बल] ये जिसके नष्ट न हुएहों ऐसे (इह) यहां (च) और (अमुष्मिन्)परलोक में (च) [पाद पूरणार्थ] (हितम्) भला (समनुपश्यता) देखनेवाले (पुरुषेण) मनुष्यको (तिस्रः) तीन (एषणाः) कामना (खलु) अवश्य (पर्य्येष्टव्याः) ध्यान में लाने योग्य (भवन्ति)हैं ।

(८६) तद्यथा प्राणैषणा धनैषणा मोक्षैषणेति । आसान्तु खल्वेषणानाम् प्राणैषणान्तावत् पूर्वतरामापद्येत् । कस्मा त्प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः ॥

अर्थ-(तद्यथा) वे जैसे- १ (प्राणैषणा) अग्नि आदि प्राणोंके सुरक्षित बने रहने के उपायोंकी एषणा नाम कामना अर्थात् इच्छा। २ (धनैषणा) धन मिलनेके, बढ़नेके, और सुरक्षित बने रहनेके, उपायोंकी एषणा अर्थात् इच्छा। ३ (मोक्षैषणा) इस संसारके बन्धनोंसे छुटनेके उपायों की इच्छा कर्तव्य है। (इति) बस (आसाम्) इन तीनोंके मध्य में (तावत्) प्रथम (तु) तो (पूर्वतराम्) पहली (प्राणैषणाम्) प्राणोंके सुरक्षणादि प्रबन्ध कामना को (खलु) ही (आपद्येत्) अनेक प्रकार से जानें। (कस्मात्) क्योंकि (प्राण परित्यागे) प्राणोंके न रखानेमें (सर्वत्यागः) सब [धर्म अर्थ काम और मोक्ष] का हाथसे छुटजाना (हि) ही है ।

प्राणोंके रक्षणार्थ उद्देश्य (१६) रूपोपाय

(८७) तस्याऽनु पालनं स्वस्थस्य स्वस्थवृत्ति रातुरस्य विकार-प्रशमने ऽप्रमादस्तदुभय मेतदुक्तं वक्ष्यतेच। तद्यथोक्त मनुवर्तमानः प्राणानु पालना द्दीर्घ मायु रवाप्नोति ॥

अर्थ– (तस्य) उस [प्राण] का (अनुपालनम्) रखाना जैसे हो तैसे करना योग्यहै। वह इस प्रकार करै कि (स्वस्थस्य) अच्छे मनुष्य को (स्वस्थवृत्तिः) अपनी प्रकृति में ठहरे रहनेके लिये कर्म, अर्थात् [ऐतदाल पर क़ायम रहे आनेकी तदबीर] (च) और (आतुरस्य) रोगीको (विकार प्रशमने) प्रकृति के बिगाड़ के विशेष कर शमन [दफ़ैया] में (अप्रमादः) सावधानी करना अर्थात् रोग दूर करनेकी पूरी २ तदबीर करनी चाहिये। (एतत्) यह (तदुभयम्) उस [प्राण] के रक्षण का युग (उक्तम्) कहा (च) और (वक्ष्यते) कहा जायगा (यथोक्तम्) जैसा कहागया (तत्) उसको (अनुवर्तमानः) बर्तता हुआ मनुष्य (प्राणानु पालनात्) अग्नि आदि प्राणोंके सुरक्षित रहने से (दीर्घम्) बड़ी (आयुः) अवस्था को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥

सुश्रुत सूत्रस्थानअध्याय १७। श्लो० १३ में कहाहै कि

**(८८) प्राणोह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः ॥
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्च भौतिकम् ॥**

अर्थ–मनुष्यों के अग्नी षोमादि आभ्यन्तर प्राण, बाहिरी प्राणों [आग्नेय, सौम्य, वायवीय, द्रव्य, दिन, रात्रि, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्धों] के अविरोधि अर्थात्–अनुकूल गुणोंसे युक्त हुए पाञ्च भौतिक शरीर को धारण करते हैं। अथवा आभ्यन्तर प्राण वक्ष्यमाण अग्नी षोमादि जिनसे प्राणी जीता है, वे बाह्यप्राण अन्न जल इनकेप्रीणनादि गुणोंसे युक्तहुए पञ्चभूतों के बने शरीरको धारण करते हैं

आभ्यन्तर प्राण के लक्षण सुश्रुत शा० स्थान अ० १

(८९) अग्निः सोमो वायुः सत्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥

अर्थ– अग्नि, सोम, वायु, सत, रज, तम, पांचौ ज्ञानेन्द्रियां, और भूतात्मा, येसबप्राण कहाते हैं ॥ यहां "अग्नि" शब्द से शरीरकी अग्नि अर्थात् पित्त, जोकि पाचक, भ्राजक, आलोचक, रञ्जक, साधक इन नामोंके कर्मोंसे युक्त, पञ्चभूतात्मक सब धातुओं में अनुगत उष्ण शक्ति से स्थित, और जो वाणीका अधिदैव है, उसका ग्रहण है "सोम" नाम कफ जोकि, क्लेदन, स्नेहन, रसन, अवलंबन, श्लेष्मक, इन नामों के कर्मों से स्थित, मनक अधिदैव है उसे सोम कहिये । प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान इन पांच नामों वाला पञ्चधा प्रविभक्त, त्वगिन्द्रियाधिदैव योगवाहि कर्मशक्ति से स्थित "वायु" कहिये । सत्व रज तम ये अव्यक्त महान् अहंकार और पञ्चतन्मात्रात्मक अष्टरूप प्रकृति के गुण और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन विषयों के ग्रहण करने वाली पांच ज्ञानेन्द्रियां, भूतात्मा [शुभाऽशुभ कर्मों के करने से पकड़ा हुआ कर्मपुरुष] अग्नि सोमादिक "प्राणयन्ति" नाम जीवित रखते हैं इससे इनको प्राण कहा है, इन अग्नि आदिकों में प्रथम "अग्नि" आहार पकाने आदि कर्म से "सोम" ओज सदृश सौम्य धातुओं के पोषण करने से "वायु" दोष धातु मल आदिके चलाने,श्वासके लेने, और निकालने आदिसे,और सत्व रज और तम रूप बना मन शरीरों के भीतर भूतात्मा के ग्रहण और मोक्षण में हेतु होनेसे, चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां रूप आदि विषयों के ग्रहण कर्म से, जीवित रखती हैं । इसी प्रकार भूतात्मा, कर्म पुरुष भी कर्म राशियों से बंधा सम्पूर्ण को अपनी चेतन शक्ति से जीवित रखता है, इस कारण उक्त अग्नि आदि सब जीवित रखते हैं, इससे इन सब की प्राण संज्ञा है ॥ इस उक्त लेख से सजीव शरीर मात्र की रक्षा कर्तव्य हुई ॥ जो आहार वा विहार इन कहे प्राणों में से एक को भी विकृत करैगा वही प्राणैषणा वाले को [८६ । ८७ इसके अनुसार] त्याज्य होगा, क्योंकि—प्राणों के सुरक्षित रहने पर बड़ी आयु को प्राप्त होता है ॥

(**प्रश्न**) वह आयु क्या वस्तु है ? ।

(**उत्तर**) च० सू० स्था० अ० ३० में लिखा है कि–

(९०) आयुश्चेतना प्रवृत्ति र्जीवित मनुबन्धो धारि चेत्येकोर्थः ।

अर्थ– आयु, चेतना, प्रवृत्ति, जीवित, अनुबन्ध, और धारि ये आयु शब्द के पर्याय वाची शब्द हैं । आयु के होने में शरीर सचेत रहता है, इससे– आयु को चेतना कहते हैं । शरीर, वाणी, और मन ये प्रवर्तित रहते हैं, इस कारण आयु को

प्रभृति कहते हैं। शरीर और जीव का सम्बन्ध होने से आयु शब्द का पर्य्यायी अनु-बन्ध शब्द है। शारीरिक और मानसिक शक्तियां धारण हुई रहती हैं इससे आयु का नाम धारि है। यह उक्त आयु = सुखायु, असुखायु, हितायु, और अहितायु, इन भेदों से चार प्रकार का है ॥

(६१) तत्र शारीर मानसाभ्यां रोगाभ्या मनभिद्रुतस्य, विशेषेण यौवनवतः, समन्वागत बल वीर्य्य पौरुष-पराक्रमस्य, ज्ञान विज्ञानेन्द्रिये न्द्रियार्थ बलस-मुदाये वर्तमानस्य, परमर्द्धि रुचिरविविधोप भोगस्य, समृद्ध सर्वारम्भस्य, यथेष्ट विचारणात् सुखमायु रुच्यते। असुख मतो विपर्य्ययेण ॥

अर्थ- (तत्र) मनुष्योंमें (शारीर मानसाभ्याम्) शरीरके और मनके (रोगाभ्याम्) विकारों से (अनभि द्रुतस्य) अपीड़ित की, (विशेषेण) आसाधारण (योवनवतः) यौवन अवस्था प्राप्त किये हुए की, (समन्वागत बलवीर्य पौरुष पराक्रमस्य) अच्छा प्राप्त किये बल [शारीरिक पाटवत्त्व अर्थात् चलना. दौड़ना. कूदना. उछलना. आदि सुचेष्टा करने] वाले की, और वीर्य-सन्तानोत्पादन की उत्तम शक्ति. पौरुष-पुरुषकार कर्म [तदवीर] और पराक्रम-आत्मिक बलवाले की (ज्ञान विज्ञाने न्द्रिये न्द्रियार्थ बल समुदाये) ज्ञान-सामान्यबोध, विज्ञान-विशेषबोध, दशों इन्द्रियां और इन्द्रियों के बल के समुदाय में (वर्तमानस्य) उपस्थित की, (परमर्द्धि रुचिर विविधोपभोगस्य) परम-बड़े ऋद्धि [ऐश्वर्यों] का रुचिर-रुच्यनुकूल विविधोपभोग-अनेक प्रकारके आहार बिहारादि सुख लैंने वाले की (समृद्ध सर्वा रम्भस्य) सम्यक् सिद्ध हुए सम्पूर्ण आरम्भिक कर्म वाले की, (यथेष्ट विचारणात्) स्वेच्छानुसार चिन्तन करने से (सुखम्) सुख पूर्वक (आयुः) [उम्र] (उच्यते) कही जाती है ॥ भावार्थ- जिसको किसी प्रकार का रोग न हो, जो यौवन में भरपूर, बल वीर्य पौरुष और पराक्रम युक्त, सामान्य और विशेष का ज्ञाता, सर्वेन्द्रिय शक्तिमान्, बड़े ऐश्वर्य वाला, मन चाही कमना पूरी होंने वाला, मनचाही चिंता करने वाला हो उसके जीवन को सुखायु और

इसके विपरीत को असुखायु कहते हैं ॥

(६३) हितैषिणः पुन र्भूताना म्परस्वादुपरतस्य सत्य-
वादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य
त्रिवर्गं परस्मरणेनानुपहत मुपसेवमानस्य
पूजार्हसम्पूजकस्य ज्ञानविज्ञानोपशम-
शीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियतरागरोषे-
र्ष्यामदमानवेगस्य सततं विविधप्रदान
परस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्य अध्यात्म
विदस्तत्परस्य लोक मिमञ्चा पेक्ष्यमाणस्य
स्मृतिमतो हितमायु रुच्यते ॥

(६४) अहित मतो विपर्य्ययेण ॥

अर्थ–(पुनर्भूतानां हितैषिणः) जो सब जीवों का हित चाहता है (परस्वादु परतस्य) पर धन से अप्रीति रखता है, (सत्य वादिनः) सच बोलता है (शमपरस्य) शान्ति बर्तता है (परीक्ष्य कारिणः) परीक्षा [इम्तहान] लेकर करता है (अप्रमत्तस्य) सचेत रहता है, (त्रिवर्गम्) धर्म अर्थ और काम इन तीनों वर्गों [समुदायों] को (परस्मरणेन)परलोक का स्मरण [ख़याल] रखकर (अनुपहतम्) निर्विघ्न जिस प्रकार हो वैसे (उपसेव मानस्य) सेवन करता है (पूजार्ह सम्पूजकस्य) सत्कार के योग्यों का यथोचित सत्कार करता है (ज्ञान विज्ञान प्रशम शीलस्य) ज्ञान से विज्ञान से शान्ति बर्त्तता है (वृद्धोपसेविनः) वृद्धो का सेवन करता है (सुनियत राग रोषेर्ष्या मदमान वेगस्य) जिसने राग द्वेष ईर्ष्या मद मान के वेगों [उफानों] को अच्छी तरह जीता है (सततम्) निरन्तर (विविध प्रदान परस्य) अनेक प्रकार के दान करता है (तपो ज्ञानप्रशम नित्यस्य) जो नित्य प्रति तपश्चर्या ज्ञान और शान्ति में लवलीन है (अध्यात्म विदस्तत्परस्य जो अध्यात्म वेत्ता हैं और अध्यात्म ज्ञान में तत्पर है (स्मृतिमतः) जो स्मृतिमान् है ऐसे पुरुष का (आयुः) शरीर और जीवका संयोग समय (हितम्) अपना और दूसरे का हित [भला] ही करने वाला (उच्यते) कहाता है । यह हितायु और (अतः) इससे (विपर्य्ययेण) विपरीत लक्षण से (अहितम्) अहितायु हैं ॥

(प्रश्न) इस आयु के होने न होने का ज्ञान किससे होता है ? ॥

(उत्तर) आयुर्वेद से । जैसा कि च० सू० अ० ३० में लिखा है कि—

(६५) तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः कथ मित्युच्यते स्व लक्षणतः सुखा सुखतो हिताऽहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च, यतश्चा युष्याना युष्याणिच द्रव्य गुणक र्माणि वेदय त्यतोप्यायुर्वेदः तत्रा युष्याणि चाना युष्याणि द्रव्य गुण कर्माणि केवले नोप देक्ष्यन्ते ॥

अर्थ–[उस शरीर और जीव के संयोग काल में] जो अवस्था को जनाय दे वह आयुर्वेद कहाता है । यह कैसे जनाय देता है ? अपने में कहे लक्षणों से, सुख दुख से, हिता हित से, और आयुर्वेदोक्त अङ्ग प्रत्यङ्गादि के प्रमाण [ठीक नाप] और उचित प्रमाण न होने से शुभाऽशुभ सुझाता है, और आयुष्कर और अनायुष्कर द्रव्यों के गुणों को और कर्मों को बताता है, इसीसे यह आयुर्वेद संज्ञक है । क्योंकि इस आयुर्वेदमें आयुके करने और न करने वाले द्रव्य गुण और कर्म ही विशेप उपदेश किये गये हैं ॥

आयुर्वेद वित् के लक्षण

(६६) तत्रायुर्वेदविदस्तन्त्र स्थाना ध्याय प्रश्नाना म्प्रथक्त्वेन वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्च प्रवक्तारो मन्तव्याः ॥

अर्थ–उन आयुर्वेद के ज्ञानियोंमें वे आयुर्वेद वित् मानने योग्य होते हैं, जो तन्त्र [आयुर्वेद शास्त्र] के स्थानोंके अध्यायों के और प्रश्नों के पृथक् पृथक् भावों को वाक्योच्चारणसे, वाक्यों के अर्थ कहने से, और वाक्यार्थों के अवयवों [प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन] से विशेष कहने वाले हैं ॥

(६७) अत्राह कथं तन्त्रादीनि वाक्यशो वाक्यार्थशोऽवयव शश्चेति उक्तानि भवन्ति

(६८) अत्रोच्यते तन्त्र मार्षङ्कात्स्न्येंन यथाम्नाय मुच्यमानं

वाक्यशो भवत्युक्तम् ॥

(९९) बुद्ध्या सम्यगनु प्रविश्यार्थ तत्त्वं वाग्भिर्व्यास समास प्रतिज्ञा हेतू दाहरणो पनय निगमन युक्ताभि स्त्रिविध शिष्य बुद्धि गम्याभि रुच्यमानं वाक्यार्थशो भवत्युक्तम्

(१००) तन्त्र नियताना मर्थ दुर्गाणाम्पुन र्विभावनै रुक्त मर्थावयवशो भवत्युक्तम् ॥

अर्थ–(अत्र) इस आयुर्वेदीय व्याख्यामें (आह) कहते हैं तन्त्रादीनि शल्यादि तन्त्र आदिक (कथम्) किन प्रकारों से (उक्तानि) कहे जाने योग्य (भवन्ति) होतेहैं?(वाक्याशः) वाक्यों के उच्चारण से (वाक्यार्थशः) वाक्योंके अर्थ करने से (अवयवार्थशः) अवयवो के अर्थ करने से (इति) बस यही प्रकार है,(अत्र) इस विषय में (उच्यते) कहा जाता है, (आर्षम्) ऋषियोंका (तन्त्रम्) शास्त्र (कात्स्न्र्येन) सम्पूर्ण प्रकारसे(यथाम्नायम्) यथा युक्त (उच्यमानम्) कहाजाना (वाक्यशः) वाक्यो च्चारण से (उक्तम्)कहागया(भवति) होताहै ॥ और (बुद्ध्या) यथार्थ ज्ञानोप लब्धिसे (अर्थ तत्त्वम्) ग्रन्थके वाक्यों में विषयाभिप्राय को (सम्यक्) अच्छीतरह (अनुप्रविश्य) प्रविष्ट होकर पहुंच कर वा पाकर (व्यास समास प्रातिज्ञा हेतू दाहरणो पनय निगमन युक्ताभिः)विस्तृत–संक्षिप्त–प्रतिज्ञा[साध्यवचन हेतु [उपलब्धि होनेका कारण] उदाहरण [मिसाल] उपनय [यथाशब्द] निममन [यथाशब्दो दाहरण] इनसे युक्त (त्रिविध शिष्य बुद्धिगम्याभिः) उत्तम. मध्यम. और निकृष्ट. तीनों प्रकारके शिष्यों की बुद्धि [समझ] में आजाने योग्य (वाग्भिः) वाणियोंसे (उच्यमानम्) कहाजाना वाक्यार्थशः वाक्यके अर्थसे (उक्तम्) कहागया (भवति) होताहै ॥ (अर्थ दुर्गाणाम्) अर्थसे दुर्गम्य[कठिन] (तन्त्र नियतानाम्) तन्त्रों में नियत [सूचित] शब्दोंका स्थलोंका (पुनर्विभावनैः) वारवार के दिखाने दर्शाने सुझाने सेजो व्याख्यान (उक्तम्) कहागया वह (अर्थावयवशः) अर्थके अवयवों [अङ्ग अत्यङ्गो से] (उक्तम्) कहागया (भवति) होता है ॥

(१०१) सं० यहां आयुः, आयुर्वेद, और आयुर्वेद वेत्ताओंके लक्षणादि इस कारण लिखेगये हैं कि प्रणैषणादि के विषयोंका आधार प्रायः आयुर्वेद इस ग्रन्थमें लिखा

गया है। यह आयुर्वेद अथर्व वेदका उपाङ्ग है, यद्यपि बहुत से आयुर्वेदीय आर्ष ग्रन्थ भारतवर्ष की इस हीन दशामें भी अन्वेषण करनेसे मिलते हैं, परन्तु चरक और सुश्रुत येदोनों संहिता प्राचीन बहुत प्रमाणीक और मुख्य गिनी जाती हैं, इस कारण यहां इनसे बहुत कुछ विषय उद्धृत कियेहैं, क्योंकि स्वस्थवृत्ति आदि प्राणरक्षार्थ उपदेश इनमें पूर्णतया वर्णन किये गये हैं।

इति प्राणैषणा प्रस्तावनीयोऽष्टमोविवेकः

अथ स्वस्थ वृत्त्य धिकारः

(प्रश्न) स्वस्थ वृत्ति किसको कहते हैं ? ॥

(उत्तर) सुश्रु० सू० अ० १६ में लिखाहै कि—

(१०२) समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभि धीयते ॥

अर्थ—जिसके शारीरिक [वातपित्त और कफ] और मानसिक [रजोगुण और तमोगुण] ये दोनों दोष सम न्यूनाधिकत्व रहित हैं, जिसकी जठराग्नि सम मंदत्व वा तीक्ष्णत्व रहित है, जिसकी रस आदि शुक्र पर्य्यन्त सब धातु, पुरीषादि सब मल, और स्वप्न जागरण, आदि रूप क्रिया सम [विषमत्वा द्यवगुण रहित] हों, जिसका आत्मा, देह, दशों इन्द्रियां, और मन, ये स्वच्छ हों, ऐसा मनुष्य स्वस्थ कहाता है ॥

(१०३) सं० जिसमें स्वस्थकी रक्षाके लिये शारीरिक, वाचिक, और मानसिक कर्म, बर्ते जायँ, वा उपदेश किये जायँ, उसको स्वस्थ वृत्ति कहते हैं। भावार्थ—यह है कि स्वस्थके रक्षार्थ कर्म जो हो वह स्वस्थवृत्ति, और रोगोंसे छुटानेके लिये जो कर्म, वह रोगवृत्ति कहातीहै। वृत्ति शारीरिक वाचिक और मानसिक कर्म को कहतेहैं ॥ स्वस्थवृत्तिमें कर्त्तव्य कर्मोंका परिगणन क्रम से जोकि च० सू० अ० २९ में प्राणाभिसर प्राणोंके सुरक्षक वैद्योंकी कुशलता के लिये किया है वही यहां उपदेश करते हैं। वह निम्न प्रकार है ॥

(१०४) स्वस्थ वृत्तौ च भोजन पान नियम स्थान चङ्क्रमण शय्यासन मात्रा द्रव्याञ्जन धूम नावनाभ्यञ्जन परिमार्जन वेगविधारणा विधारण व्यायाम सात्म्येन्द्रिय परोक्षोप क्रम सद्वृत्त कुशलाः।

भवेयुरितिपूर्वादनुवर्तनीयः

अर्थ—(स्वस्थ वृत्तौ-) तन्दुरुस्ती बने रहनेके निमित्त (भोजन- , क्षुधा दूर करने के लिये खाद्य वस्तुओंका विचार (च) और (पान-) अनुपान—जल दूध आदि पीनेकी वस्तुओंका विचार, (नियम-) अवश्य कर्तव्य कर्मोंको करनेकी प्रतिज्ञा का साधन, (स्थान-) स्थिति ग्रह ग्रामादि निवास देश विचार, (चङ्क्रमण-) भ्रमण विचार (शय्या-) शयन (आसन-) बैठना (मात्रा-) तोल [1](द्रव्य-) चन्दनादि विलेपन, (अञ्जन-) सौं-वीरादि (धूम-) वायुशोधनार्थ सुगन्धित द्रव्योंसे धूप करना (नावन-)नस्यकर्म,(अभ्यञ्जन-) तैलादि मर्दन, (परिमार्जन-) अनेक प्रकार से शरीर गृह ग्रामादि की शुद्धिका विचार. (वेग विधारण-) वेगों हाजतों के रोकने का विचार, (अविधारण-) न रोकने का विचार (व्यायाम-)शारीरिक,वाचिक,आभ्यन्तरिकश्रम,[प्राणायामादि] (सात्म्येन्द्रिय-)श्रोत्रआदि इन्द्रियोंके विषयोंका यथोचित योग, (परोक्षो पक्रमः) भविष्य द्व्याधि शमनार्थ चिकित्सा, (सद्वृत्त) सदाचार,इन सबके यथावत् करने में कुशल [चतुर] जो होतेहैं, वे ही प्राणाभि सर प्राणोंके रक्षक होतेहैं ॥

(१०५) सं० (प्रश्न) उक्त भोजनादि कर्मोंका विचार स्वस्थवृति में ही क्यों कियागया? (उत्तर) यद्यपि उक्त भोजनादि कर्म रोगवृत्ति में भी किये जावें, वा रोगी करभी सकै, तथापि वह इन कर्मोंके अवश्य करनेका समय नहीं, वरन कभी किसी रोगमें भोजनादि कर्मों का करना विपरीत फलदाई वा मारक भी हो जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। इस कारण रोगों में रोगवृत्ति के ही अनुसार पृथक् २ रोगों के लिये पृथक् २ प्रकार से भोजन, पान, नियम, स्थान. चङ्क्रमण इत्यादि कर्म करने होंगे, और स्वस्थवृत्ति में स्वस्थ मात्र को तुल्य ही उपदेश तुल्य ही प्रकार से धर्मानुसार कर्तव्य होंगे। इससे श्रुतिस्मृत्युक्त धर्माचरण करता हुआ स्वस्थ वृत्ति में कहे उपदेशों को स्वास्थ्य रक्षणार्थ

१ द्रव्यन्तु पित्तले वित्ते पृथिव्यादौ विलेपने। क्लीबेच भेषजे भव्ये द्रविकारेच वाच्यवत्॥ मेदिनी को०

होना है, जितने अयन [ज्ञान साधन कर्म] हैं उन सब के मध्य ज्ञानदाता ब्रह्मचर्य है, इस प्रकार आयुर्वेद के जानने वाले मानते हैं। (११२) सं० इस चरकोक्त धार्मिक उपदेश नें यह स्पष्ट पुकार कान खोल कर कह दिया कि प्राणों [जीवन] के [उक्त अग्नि आदि साधनों] की वृद्धि करने वाले जितने संसार भर में कर्म हैं, उन सब में मुख्य प्राण वर्द्धक प्रयोग अहिंसा है। इस से यह शिक्षा वा उपदेश लब्ध हुआ कि प्राणैषणा मात्र में अर्थात् उक्त स्वस्थ वृत्ति में और रोग वृत्ति में वा दोनों में अहिंसा रूप धर्म का पालन अवश्य कर्तव्य है ॥ इसी प्रकार बल बर्द्धनार्थ वीर्यावरोध, ग्रंहणीय योग्यों के ग्रंहणार्थ विद्या, नन्दनार्थ इन्द्रियजय, हर्षणार्थ तत्वावबोध, और ज्ञान साधनार्थ ब्रह्मचर्य, ये अनेकों में से मुख्य २ पृथक् २ करके सूचित कर दिये गये। (११३) सं० जो जिसका अर्थी हो उसको उचित है कि, अपने अर्थ के उत्कृष्ट प्रयोग का ध्यान सदैव रक्खे, तथा स्वस्थ के भोजन में भक्ष्या भक्ष्य शौचा शौच का भी ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि रोग में इनको विशेष अवकाश नहीं, यदि वहां भी धैर्य रूप धर्म से इस उक्त विचार को अवकाश दिया जाय तो इससे परमोत्तम और क्या हो सक्ता है ॥

देखौ वाग्भ० सू० अ० २ में कहा है कि–

(११४) हिंसास्तेयान्यथा कामं पैशून्यं परुषानृतम्।
सम्भिन्नालापं व्याप्याद मभिध्या दृग्विपर्ययम्
पापं कर्मेति दशधा काय वाङ् मानसै स्त्यजेत्।

अर्थ–(हिंसा) प्राण वियोगानु कूल व्यापार, स्तेय–चोरी डकैती आदि से परायी बस्तु ले लेना, (अन्यथा कामम्) परस्त्री गमन वा पर पुरुष गमन करना, ये तींन शारीरिक पाप, और (पैशून्यम्) चुगली करना, परुष–कटु भाषण, (अनृतम्) देखने सुनने और अनुमान किये के विपरीत कहना, (सम्भिन्नालापम्) पूर्वापर विरुद्ध कथन करना, ये चार पाप वाणी के (व्याप्यादम्) द्रोह चिन्तन करना, (अभिध्या) छल कपटादि से पर धन हरण करने की इच्छा, (दृग्विपर्ययम्) मिथ्याभि निवेश, अर्थात् हो तौ कुछ और उसमें समझना मानना कुछ, ये तीन मन के पाप हैं इन दश प्रकार के पापों को शरीर से, वाणी से, और मन से करना छोड़दे ॥ क्योंकि–

(११५) पुण्य शब्दो विपापत्वान् मनोवाक्कायकर्मणाम् ।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोतिच ॥
च० सू० अ० ७

अर्थ—मनके—वाणीके—और शरीरके कर्मों की निष्पापता से पुरुष पुण्यात्मा सुखी हुआ, धर्म, [विहित कर्मानुष्ठान,] अर्थ [धनादिक सुख की सामग्री] और काम, [अभीष्ट फल भोग प्राप्ति] अर्थात् मनके चाहे भोग इनको भोगता है, और भविष्यत् के लिये संचय करताहै ॥

इति स्वस्थवृत्त्य धिकार वर्णनीयो नव मो विवेकः ॥ ९

अथ भोजनादि विषय विचार। भोजन शब्द के पर्य्याय

(११६) जेमन मभ्यवहारः प्रत्यवसानश्च भोजनं जग्धिः ।
बलान मशनं खदन न्निषसा हारौ च निडारणं न्यादः ॥
राज नि०

अर्थ—जेमन, अभ्यबहार, प्रत्यवसान, भोजन, जग्धि, बलान, अशन, खदन निषस, आहार, निडारण, और न्याद ये १२ नाम भोजन शब्द के पर्यायी हैं। जहां कहीं इनमें से कोईसा नाम आवै वह भोजन काही नाम समझा जायगा ॥

आहार गुण

(११७) आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृ द्देहधारकः ।
आयुस्तेजः समुत्साह स्मृत्यो जोऽग्नि विवर्धनः ॥
सुश्रु० सू० अ० २४

अर्थ भोजन प्रीणन [जठराग्नि की बुभुक्षा रूप इच्छा को पूर्ण] करता है, तुरन्त बलको करता है, शरीर का धारक [कायम रखने वाला] है, आयुका, तेज-[दीप्ति-प्रभाव-पराक्रम और वीर्य] का, उत्साह [इरादे] का, स्मरण शक्तिका ओज [शुक्र पर्यन्त सब धातुओं के सार] का, और अग्नि रूप प्राण [८९] का विशेष बढ़ाने वालाहै, ॥

(११८) आहार विधि विशेषांस्तु खलु लक्षणतश्चा वयवत आनु व्याख्या स्यामः ॥ चर०

अर्थ- अब भोजन की विधिकी विशेष बातोंका लक्षण [पहचान] से और उसके अवयवों [जुज़ों] सेभी विशेष वर्णन करेंगे ।

(११९) तद्यथा आहारत्व माहारस्यैक विधिमर्था भेदात् । च०

अर्थ-वह जैसे (आहारस्य) आहरका (आहारत्वम्) आहारपना अर्थात् आहार से तृप्ति होंना रूप फल (अर्थाभेदात्) प्रयोजनके भेद न होंने से (एक विधम्) एकही प्रकारका है ॥

जैसा कि चर० सू० अ० २५ में कहाहै कि **"तृप्ति राहार गुणाना म्"** आहार के गुणों [११७] के मध्य तृप्ति होना मुख्य गुण है, वह आहार मानमें एकही है, और जिसमें यह नहो वह अन्यसन गुणों के होंनेपर भी आहार नहीं ।

(१२०) सपुन र्द्वियोनिः स्थावर जङ्गमात्मकत्वात् ।

अर्थ- फिर उद्भिजों में और जीवोंमें उस आहार का आत्म कत्व नाम अङ्गत्व अर्थात् अवयवी भाव होंनेसे वह द्वियोनि नाम दो खानों वालाहै, भावार्थ यह है कि मनुष्यके आहारके उत्पति स्थान एक उद्भिद् दूसरा जङ्गम ये दोही हैं ॥

(१२१) द्विविधः प्रभावो हिताऽहितो दर्क विशेषात् ।

अर्थ--हित- और अहित-उदर्क-[परिणाम फल] की विशेषता [ख़सूसियत] से दो प्रकार के प्रभाव [शक्ति] अर्थात् असर करने वाला है ।

(१२२) पानाशन भक्ष्य लेह्य प्रयोगा च्चतुर्विधोपयोगः ।

अर्थ--इस आहारका एक तो पान--दूसरा अशन-तीसरा भक्ष्य--चौथा लेह्य मुख के द्वार होकर पेटमें उपयोग [पहुचने] मे चार प्रकार के (उपयोगः) प्रयोग [नुसखे] हैं, पान-- नाम पेय कि जिसमें दांतोंका वा जिह्वा का यत्न करना न पड़े केवल उदान वायुकी चेष्टाही से उदर में पहुँच जावे, जैसे कि दूध-- जल घृतादि द्रव पदार्थ, अशन-- नाम भोज्य जिसको आहरण करने में अर्थात् उदरमें पहुचानेके लिये दातों का और जिह्वा काही यत्न किया जाय कि जिसको दांतोंकी स्थली से भी कुछ पिचल कुचल कर उदर में पहुंच ने योग्य कर सके, जैसे कोई २ अजात दन्त बालक, और गतदन्त बृद्ध, करते हैं, ऐसे पदार्थ अशन वा भोज्य कहाते हैं, जैसे कि दाल, रोटी, भात, खिचड़ी आदि । भक्ष्य--दांतोंका व्यापार विशेष करना पड़े, एसारूक्ष, वा शुष्क, वा कठोर पदार्थ, भक्ष्य संज्ञक प्रयोग में गिना जाता है, जैसे कि गुणधाना मठरी, मट्ठर, पापड़ी, शकल पारे आदि, लेह्य नाम जिह्वाभोजन, अर्थात् जो केवल जीभके ही यत्न से पेटमें पहुचने योग्य हो; जैसे-- कि लपसी यवागू [हलुआ] आदि चाटने सटक लेने की वस्तु लेह्य संज्ञक प्रयोग की गणना में हैं ।

(१२३) षडास्वादो रस भेदतः षड् विधत्वात् ।

अर्थ-- मधुर अम्ल; लवण,कटु, तिक्त और कषाय, ये छः रसोंके भेद होंनेसे आहार में छः प्रकार का आस्वाद [ज़ायका] होता है ।

(१२४) विंशति गुणो गुरुलघु शीतोष्ण स्निग्ध रूक्षमन्द तीक्ष्ण स्थिर सर मृदु कठिन विषद पिच्छल श्लक्ष्ण खर सूक्ष्म स्थूल सांद्र द्रवानु गमनाद् ।

अर्थ-- आहार में गुर्वादि २० बीस गुण अनुगमन [प्रविष्ट] रहनेंसे आहार (विंशतिगुणः) वशि गुण युक्त होताहै, बीस २० गुण यथा-- गुरु, भारी इस के विपरीत लघु-- हलका शीत--ठण्डा इ० के वि० उष्ण-- गरम, स्निग्ध-- चिकना, इ० केवि० रूक्ष-- रूखा मन्द-- शीघ्रता रहित, वा सह्य इ० के वि० तीक्ष्ण-- [असह्या शुकारि] तेज़, स्थिर-- अचल [न गिगड़ने वाला] इ० केवि० सर-- चलने वाला [विगड़ ने वाला] मृदु

मुलायम, इ० के वि० कठिन- करड़ा सख़्त, विषद– विखरा इ० के वि० पिच्छल [लिव लिवा लशदार चिपकना] श्लक्ष्ण– मसृण इ० के वि० खर [खरखरा] सूक्ष्म- भीतर घुसने वाला बारीक, इ० वि० स्थूलमोटा, सान्द्र– गाढ़ा, इ० के वि० द्रव– पतला व बहने वाला, होता है, ये वीस गुण हुये, ।

(१२५) अपरि सङ्ख्येय विकल्पो द्रव्य संयोग करण बाहुल्यात् ।

अर्थ – द्रव्यों के संयोगों की और संस्कारों की बहुतायत से इस आहार के, अगणित विकल्य (कल्पना वा रचना वा किस्म) होती हैं ।

(१२६) तस्य येये विकाराऽवयवा भूयिष्टमुपयुज्यन्ते भूयिष्ठ कल्पनाश्च मनुष्याणाम् प्रकृत्यैव हिततमाश्चा- हिततमाश्च तांस्तान्यथा वदनु व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ–उस आहार के बने पदार्थों के जो २ अव यव [जुज़] जैसे नुकती के मोदकों में घी, खांड, चने का बेसन, तथा अग्नि जल आदि संस्कार बहुत से जुडते हैं, वे, सव और उस आहार की और बहुत सी कल्यना [अनेक क़िस्में] मनुष्यों को अपनी प्रकृति से ही अतिशय हित, और अतिशय अहित, करने वाली होती हैं अर्थात् जिस द्रव्य का जैसा स्वभाव हो उसी के अनुसार भला बुरा फल होता है अब उनको हम ब्योरे वार व्याख्यान करेंगे ।

च० सू० में लिखा है कि–

(१२७) आहाराचारचेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेहच । परं प्रयत्न मातिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने ॥

अर्थ–इसलोक और परलोक दोनों लोकों में सुख चाहने वाला बुद्धिमान् मनुष्य आहार, आचार, और चेष्टाओं में जो हितहों उन्हींके सेवन में बड़ा प्रयत्न करै ॥

हिताहारस्तुति— च० सू० अ० २५

(१२८) हिताहारोपयोग एक एव पुरुषस्याभि वृद्धिकरो भवति। अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधि निमित्त मिति ॥

अर्थ—केवल हितकारी आहार का बर्ताव ही मनुष्य के धातु आदि का ःबढ़ाव र करने वाला है. और अहिताहार रोगों का कारण है। बस्स अधिक कहना व्यर्थ है ॥

हित और अहित अहारों के लक्षण

(१२९) यदाहारजात मग्नि वेश समांश्चैव धातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समी करोतीत्येतद्धितं विद्धि त्वहितं विपरीत मित्येतद्धिता हितलक्षण मनपवादम्भवति

अर्थ—भगवान् आत्रेय ऋषि कहते हैं, हे अग्नि वेश जो भोजन मात्र सम हुई शरीर की रस आदि धातुओं को प्रकृति [ऐतदाल] पर ठहरता है, और न्यूनाधिक हुई धातुओं को बराबर करताहै बस्स उसको हित जाने, और इसके उलटे को अहित इस प्रकार ये हित और अहित के लक्षण अखण्डनीय निश्चयात्मक हैं ॥

इति हिताहार कल्पनीयो दशमो विवेकः ॥ १० ॥

(१३०) यदैव स्त्रियैस्तना वाप्या येतेऽऊधः पशूना मथैवयज्जायते तास्तत स्तना वेवाभि पद्य सम्भवति ॥ ५ ॥ तद्वैपय एवान्नम्। एतद्ध्यग्रे प्रजापति रन्न मजनयत तद्वाऽअन्न मेवप्रजा अन्नाद्धि संभवती दक्षं हियासां पयो भवति स्तनावे वाभि पद्यतास्ततः संभवन्त्यथ यासां पयो न भवति जात मेव ता

अथादयन्ति तदु ता अन्ना देव संभवन्ति तस्मादन्न मेवप्रजाः॥ श० ब्रा० कां० २। ५। १। ६।

भावार्थ—यह है कि जो स्त्रियों के स्तनों में और पशुओं के ऊध [ऐंन] में उत्पन्न होता है (तत्) वह (पयः) दूध (वै) निश्चय अन्न हीं है॥ (१३१) सं० अब हमको निर्धारण करना आवश्यक हुआ कि मनुष्य के लिये हित कारी प्राकृतिक आहार क्या है तो पीछे यह लिखा है कि, मनुष्य के आहार की दो योनि [उत्पत्ति स्थान] हैं, एक स्थावर [नवातात] दूसरी जङ्गम [जान्दार] स्थावरों से पत्र, पुष्प, फल, नाल कन्दादि आहार के लिये लेते हैं, मनुष्य गाय भैंस आदि जङ्गमों से दूध लिया जाता है, माता के दूध का हिता हित निर्णय करने की तो आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष देखते हैं, कि माता के स्वतः ही बच्चा के आहार के प्राप्त होने के लिये प्रथम दूध ही पैदा होता है, और बच्चा भी बिना शिक्षा ही इस अपने आहार के प्राप्त होंने के स्थान को जान लेता है। और स्वभाव से ही उसकी ओर प्रवृत्त होंने और पीने लगता है। तथा गौ आदि के दूध भी प्राकृत के तुल्य होंने से मनुष्य के बच्चा को श्रेष्ठ हैं। ये भी रूप से रसादि गुणों से माता के ही दूध का अनुकरण करते हैं। और ये गवादि दूध के पशु प्रथम मनुष्य के ही सदृश अपनी माता के दूध से पोषित हो फिर अन्न के सहोदर तृण आदि का आहार करके जीवित रहते हैं। और मांस को कभी खाते नहीं इससे वह दूधतो अनेक गुण दायक मनुष्य का जीव नीय है और ये गवादिक ही अधिक दूध देंने वाले स्वभाव से होंते है। इन्ही का दूध आयुर्वेद में सर्वोत्तम अनेक गुण कारक लिखा है, और प्रत्यक्ष वर्ताव में भी ऐसा ही है॥

दुग्ध के दुहने दुहाने आदि कर्मों में स्त्रियों को प्रधानता

(१३२) सोमस्य रूपङ्क्रीतस्य परिस्रुत् परिषिच्यते। अश्विभ्यां दुग्धं भेषज मिन्द्रायैन्द्र ँ सरस्वत्या। ०५।

अर्थ—हे स्त्रियो जैसे (क्रीतस्य) ग्रहण किये (सोमस्य) सोमनामक रसायन महोषध का (परिस्रुत्) चोवा (रूपम्) स्वरूपरस (अश्विभ्याम्) अश्विनी कुमारों से (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् राजा के लिये (भेषजम्) रोग निवारक परमौषध (परिषिच्य ते) खींचा जाता है, उसी प्रकार (ऐन्द्रम्) परमऐश्वर्य प्रदायक (दुग्धम्) गौ आदि का दूध (सरस्वत्या) बुद्धि मती विदुषी स्त्रियों से निकलवाना चाहिये॥

भाव यहां यह है कि दूध दुहना आदि गोरस साध्योपाय स्त्रियों के अधिकार में देना चाहिये। क्योंकि यह वस्तु स्त्रियों की है, इसी विचार से नन्दजी की स्त्री यशोदा का दूधबिलोमना ऐतिहासिक सिद्ध है ॥

सुश्रु० शा० अ० १ में लिखा है कि–

१३३ क्षीर सात्म्यतया क्षीर माजं गव्य मथा पिवा।
दद्या दास्तन्य पर्याप्ते बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥

अर्थ– (यतः) क्योंकि बालकों को दूध ही सात्म्य [आत्मा का सहचारी विकार न करने वाला] है इस कारण जब तक माता के वा धाय के दूध के अलाभ में बालकों के लिये मात्रा देख कर गाय अथवा बकरी का दूध देवै ॥

(१३४)तत्रोन षोडश वर्षा बाला स्तेपि त्रिविधाः क्षीरपाः
क्षीरान्नादा अन्नादा इति तेषु सम्बत्सरपराः क्षीरपाः
द्विसम्बत्सरपराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादाः इति ॥
सु० सू० अ० ३५।

अर्थ सोलह वर्ष से कम अवस्था के बाल कहाते हैं, वे भी तीन प्रकार के एक तो क्षीरपा, दूसरे क्षीरान्नाद, इस से पीछे तीसरे अन्नाद ॥

(१३५) सं०, जबतक बच्चे के दांत नहीं उपजते तब तक केवल दूधही पीकर जीवित रह सक्ता है, वे प्रायः एक वर्ष तक आवश्यकीय दांत निकल आते हैं, इससे उस अवस्था तक बच्चाकी क्षीरपा संज्ञा है, फिर दो वर्ष पर्यंत के की क्षीरान्नाद, फिर इससे परेके की अन्नाद, संज्ञा हो जाती है, अर्थात् अन्न [१६०] खाने वाला गिना जाता है, इससे मनुष्यके अतिरिक्त अन्य कोई अन्नाद नहीं. यहध्वनि निकली। (१३६) सं० जब बच्चेके दांत डाढ़ निकले तब यह विचार कर्तव्य हुआ कि ये किस लिये उपजते हैं। यहां प्राकृतिक विचार मनुष्य को यह हुआ करता है, कि ये मुखमें उपजे हैं, और मुख शरीरके पोषण के लिये आहार पहुंचने का द्वारहै, कि इसीमें होकर पेय, भोज्य, भक्ष्य, लेह्य रूप, सब प्रकार के जीवनीय आहार घुसते हैं, बच्चा जबसे जन्मा है तभीसे इसी द्वार में होकर जन्म घुट्टी से आदिले आहार बच्चेने स्वतः ही पीयेहैं, इससे यह विवेक

हुआ कि दांत, डाढ़ भी, आहार के ही सिद्ध करने के लिये मुखमें उत्पन्न हुए हैं। और बच्चाभी स्वतः ही विना किसी की शिक्षाके जैसै कि चक्की के पाटों से पीसा जाता है, वैसेही पीसनेकी चेष्टा करने लगताहै। (१३७) सं० अब फिर प्राकृतिक विचार के तर्कसे यह सिद्ध होताहै, कि पेय रूप दुग्धके अतिरिक्त और भी कोई प्रकारके आहार इस द्वारमें होकर जानेको प्रकृति कहती है, कि जो दूधसे कठोर हो, कि जिसके सिद्ध करने के लिये अर्थात् पीसने के लिये दांत डाढ़ उत्पन्न हुएहैं, वह मनुष्यकी खाद्यवस्तु क्या हैं, यह ढूंढना आवश्यक हुआ, क्योंकि मनुष्यका बच्चा बिना शिक्षाके अपनी प्राकृतिक खाद्य वस्तु को सृष्टिकी वस्तुओंमें से स्वतः ही अपने स्वभावसे पृथक् नहीं कर सक्ता, जैसा कि पशु आदिका कर लेताहै। (१३८) सं० अब मनुष्यके बच्चेके दातोंसे पीसने के योग्य आहार, स्थावर और जङ्गमों से कौन २ सी वस्तु का लेना उचित है, इसका खोज उसी मनुष्य के बच्चे की माताके दूधके देखने से लगाया, कि जैसा यह दूध है, ऐसा रूप रसादि गुणोंसे इसका अनुकरण करने वाला जङ्गमों के मध्य तो गाय बकरी आदि का दूध ही है, और कोई वस्तु ऐसी नहीं, वह [दूध] तो बता चुके, अवतो स्थावरों के मध्यमेंसे ही बच्चे की माताके दूधका अनु करण करने वाला ढूढना चाहिये (१३९) सं० [१५३] इस वेद वाक्य की चेष्टा से पता लगाया तो इन दांतोंके पीसने योग्य औषधि वनस्पतियों में उपजा माताके दूधका ही सर्वथा यथावत् अनु करण करने वाला दूसरा शालि व्रीहि यव, गोधूमादिक धान्य रूपही मिला। देखो शाली व्रीहि यव, गोधूम, मक्का, बाजरा, जुवार आदि जितने, प्रकार के धान्य हैं, उन सबमें फलने के समय प्रथम दूधही उत्पन्न होताहै, फिर वही दूध सूर्याग्नि से पककर शुष्क हो अन्नके दानेके रूप में होजाता है, वास्तव में वह स्थावरोत्पन्न अन्न का दाना दूधही शुष्क हुआ पिण्डी भूत उस अन्नाद संज्ञा धारी मनुष्य के आहारार्थ माताके प्राकृत दूधके ही तुल्य आहार है, उक्त शालि व्रीह्यादि अन्नोंके ही उत्तमोत्तम संकारों से सिद्ध किये पदार्थ अन्न प्राशन से ले आजन्म तक मनुष्य अदन करता है इसीसे यह अन्नाद संज्ञा मनुष्य की ही है, अन्य किसी जीवकी नहीं, (१४०) यद्यपि अन्यभी ऐसे जीव हैं कि जिनके बच्चा प्रथम २ जन्मते ही अपनी माताका दूध पीते हैं फिर कुछ समर्थ होनेपर अन्नाहारी के सङ्गसे अन्नभी खाने लगजाते हैं, परन्तु जाङ्गम मांसको फलाहारी के भी पास रहते बिनाकिसी के सिखाये मारने खाने लगते हैं, उनको अपने आप मांसलब्ध करने और खाने में प्रवृत्त होने के कारण उनका नाम मांसाद तो है, परन्तु अन्नाद अन्न खानेपर भो नहीं होता, इसी प्रकार तृणाद भी अन्न खानेपर अन्नाद नहीं कहलाते हैं ॥

बालकों के अन्न प्राशनार्थ व्रीहि आदि अन्नोपदेश ॥

(१४१) व्रीहिमत्त यवमत्त मथो माष मथो तिलम् । एष वां भागो निहितो रत्न धेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरञ्च ॥ अथर्व काण्ड ६ । अनु० १३ सू० १४० । मं० २ ॥

अर्थ – (व्रीहिम्) चावलों के (यवम्) यव आदि तूरके अन्नोंके (अत्तम्) खानेका (अथ) इसके अनन्तर (माषम्) उड़द आदि फलीके (अथ) और (तिलम्) तिल आदि फलीके सिवाय अन्नोंके (अत्तम्) खानेका (रत्नधेयाय) सुन्दर फल मिलने के लिये (एषः) यह [व्रीहियवादि रूप] (वाम्) तुम दोनों ओर के दांतोंका (भागः) अंश (निहितः) रक्खा है, हे (दन्तौ) ऊपर नीचे दोनों ओर के दांत हो ! (पितरम्) बालक के पिता (च) और (मातरम्) माताको (मा) मत (हिंसिष्टम्) काटना । (१४२) सं० इससे व्रीह्यादि अन्नों का ही प्रथम २ बालक को चटाने का उपदेश हुआ, इसी से इसका नाम अन्न प्राशन संस्कार है, कि इसमें व्रीह्यादि चटाया जाता है। इस वैदिक प्रमाण से अन्नप्राशन में भी जाङ्गम मांसाहार का खण्डन होगया ॥

(१४३) शिवौ तेस्तां व्रीहि यवा वबलासा वदोमधौ । एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥

अथर्व काण्ड ८ अ० १ सू० २ मं० १८ ।

अर्थ– हे अन्न प्राशन के योग्य बालक ! (व्रीहियवौ) शाली और यव दोनों अन्न (ते) तेरे (अबलासौ) शारीरिक बल के न निकालने वाले अर्थात् बल करने वाले (स्ताम्) होवें तथा (अदोमधौ) उपयोगानन्तर मीठे रस वाले (एतौ) ये व्रीहि और यव दोनों (यक्ष्मम्) शरीर में हुए रोग को (विबाधेते) विशेषता से दूर करते हैं, और कुमार को (अंहसः) पाप से अर्थात् क्षुधा के दुःख से (मुञ्चतः) छुड़ाते हैं ॥

(१४४) *यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः । यदाद्यं यदनाद्यं सर्वन्ते अन्न मविषं कृणोमि ॥१९॥

* यह मंत्र बालक को अन्नादि के खिलाने दुग्धादि पिलाने के समय पढ़ना चाहिये ।

अर्थ– हे बाल ! जिस कृषि के अर्थात् खेती के उपजे व्रीहि यवादि धान्य को जिस (आद्यम्) खाने योग्य को वा किसी कारण (अनाद्यम्) विरुद्ध हुए जिस न खाने योग्य अन्न को तू खाता है, और जिस (पयः) दूध वा जल को तू पीता है, उस तेरे सब को मैं निर्विष करता हूं ॥

(१४५) इष्ट वर्ण गन्ध रस स्पर्श विधि विहित मन्नपानं प्राणिनां प्राण संज्ञकानाम् प्राण माचक्षते कुशलाः । प्रत्यक्ष फल दर्शना त्तादिन्धना ह्यन्तराग्नेः स्थितिः स्ततः सत्व मूर्जयति । तच्छरीर धातु व्यूह बल वर्णेन्द्रिय प्रसाद करं यथोक्त मुप सेव्य मानं, विपरीत महिताय सम्पद्यते । तस्मा द्धिताव बोधनार्थ मन्नपान विधि मखिले नोपदेक्ष्यामः अग्निवेश !

अर्थ– कुशल [निपुण] पुरुष मन के अनुकूल वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श, युक्त और अच्छे प्रकार विधि से बने खान-पानों को प्राणधारियों के प्राण [अग्नि सोम आदि नामक पदार्थों] के प्राण [जीवन] कहते हैं, अर्थात् इनके सुरक्षक हैं, क्योंकि अन्न पान का फल [जीवित रखना] प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। जठराग्नि के ये अन्न पान ही इन्धन हैं। उस अग्नि की स्थिति (सत्व) मन को प्रफुल्लित करती है, वे ही अन्न पान यथोक्त रीति से सेवन किये हुए शरीर की धातुओं के समूह को, बल को, वर्ण को, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को, स्वच्छ करते हैं, और इसके विपरीत अहित करते हैं। आत्रेय ऋषि अपने शिष्य के प्रति कहते हैं, कि हे अग्निवेश इन उपरोक्त कारणों से हितों का ज्ञान कराने के अर्थ अन्न शालि, व्रीहि, यव, गोधूम, मुद्गादि धान्यों की और जल दूध आदि पेय वस्तुओं की सम्पूर्ण विधि को हम उपदेश करेंगे ॥ (१४६) सं०

(प्रश्न) दूध के अतिरिक्त जङ्गमों का मांस मनुष्य का आहार क्यों नहीं गिना, ?

(उत्तर) यह आहारिक विषय विशेषता से चर० सू० स्था० के २५ वे यज्जः पुरुषीयाध्याय से लेकर २८ में विविधाशितपीतीयाध्याय तक, और सुश्रुत के सू०

स्था० के ४६ वें अध्याय में विस्तार पूर्वक है, चर० के चारों अध्यायों की अन्नपान चतुष्क संज्ञा, और सुश्रुत के ४६ वें अध्याय का भी अन्न पान विधि नाम लिखा है, इन दोनों स्थानों में अन्न [मनुष्य की प्राकृत खाद्य वस्तु] का और पान वा अनुपान [जल दूध आदि पेय वस्तु] इन दोनों का ही अधिकार है, इस कारण शूक धान्य शमी धान्य, तृण धान्य, कोश धान्य, और कुधान्य ये ही मनुष्य के अन्न हैं। इनके अतिरिक्त जाङ्गम मांस वसा मेदा इनका विजातीय लेख अन्न पान के अधिकार में उचित नहीं, विशेष कर स्वस्थ वृत्ति में क्योंकि जाङ्गम मांस मनुष्य वा अन्न नहीं, ॥ मांसाहारी जी की शङ्का— आप तो क्षेत्रोत्पन्न धान्यादि को ही मनुष्य का अन्न बताते हैं। मनु० अ० ५ श्लो० २८ देखो—

(१४७) प्राणस्यान्न मिदं सर्वं प्रजापति रकल्पयत्।
स्थावर अङ्गम श्चैव सर्वं म्प्राणस्य भोजनम् ॥

अर्थ— (इदम्) इस (सर्वम्) सब [चराचर] को (प्रजापतिः) प्रजा के स्वामी ने (प्राणस्य) प्राण का (अन्नम्) आहार (अकल्पयत) कल्पना किया (स्थावरम्) वृक्षादि (च) और (जङ्गमम्) मनुष्यादि जीव (एव) ही (प्राणस्य) प्राण का (भोजनम्) भोजन है। इस उक्त प्रमाणसे मनुष्य का अन्न जङ्गम मांस भी होनेमें क्या संदेह है॥ (१४८) सं० (उ०) प्रथम तो यह श्लोक भी प्रक्षिप्त अनार्ष प्रतीत होता है, क्योंकि इसके पूर्वार्द्ध और उतरार्द्ध दोनों में एक ही प्रयोजन है, एक बात वार २ कहना पुनरुक्ति दोष है, यदि किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो यह तो हम भी चरक सूत्र से व्यक्त कर चुके हैं कि,स्थावर, और जङ्गम, दो ही प्राण का अन्न है, क्योंकि मनुष्य के आहार की ये ही योनि हैं, परन्तु इस सामान्य कथन से यह नहीं हो सक्ता कि स्थावर के कहने से सब के सब वृक्ष मात्र और उनका सर्वाङ्ग,और जङ्गम इस कथन से सब के सब जीव मात्र, और उनका सर्वाङ्ग अन्न हो जायँ, (१४९) इनकी तो जो वस्तु जिस प्राणी के प्राणों को जीवित रक्खै, और उस वस्तु की, और आत्मा और मन सहित इन्द्रिय खाने के लिये स्वतः ही जिसकी आकर्षित हों, उस प्राणी का वही अन्न है, देखो जीवनार्थक अन धातु से नन् प्रत्यय वा भक्षणार्थक अद् धातु से क्त प्रत्यय करने से अन्न शब्द सिद्ध होता है, इस से यह व्युत्पत्ति हुई कि (अनित्यनेनेत्यन्नम्) जीवित रहै जिससे उसका नाम अन्न है, (अद्यते वा अत्तुं योग्यं यत्तदन्नम्) जो खाया जाय वा जो खाने योग्य हो वह अन्न है, इस यथार्थ

यौगिकार्थ से यही सिद्ध होता है, कि मनुष्य का आत्मादि ग्राह्य सात्म्य अन्न शालि व्रीहि गोधूमादि और गोरस ही है, (१५०) सं० आयुर्वेदीय चरकादि ग्रन्थों में जो जाङ्गम मांस का विषय जहां २ है वह सब पीछे से मांस खाने का प्रचार बढ़ा देख आसुरी, पैशाची, प्रकृति के मनुष्यों के चिकित्सार्थ कुछ चिकित्सकों ने बढ़ाया, और कुछ पञ्चमकारोपासी मत वालों का दाव लग गया, उन्होंने भर दिया वास्तव में प्रथम से न था, इस बात के सिद्ध करने के बहुत से प्रमाण हम स्पष्ट करेंगे, (१५१) जङ्गमों से मनुष्य के आहारार्थ केवल दूध ही प्राकृताहार माता के दूध के तुल्य [१३९] होने से ग्रहण किया है, परन्तु जो पशु भी मांसाहारी हैं, उनका दूध भी तो स्वास्थ वृत्ति तो क्या रोग वृत्ति में भी कहीं कोई नहीं लेता, और न कहीं किसी चिकित्सा में लिखा है यद्यपि मांसाहारी पशुओं के दूध का रूप रसादि भी चाहै मनुष्य के दूध का कुछ अनुकरण करने वाला हो परन्तु मांसाहारी होने से हीं इनका दूध सर्वावस्था में त्याज्य है, और इसी से मांसाहारी पशुओं की प्रकृति भी विशेष दूध देने वाली नहीं होती, जो मनुष्य स्त्रीयें भी मांसा हारिणी हो जाती हैं उनके बच्चे के लिये भी दूध भर पेट नहीं उतरता, ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है ॥

तथा श० ब्रा० कां० १। ६। ४ ॥ कं० १५। में भी लिखा है कि—

(१५२) यथैव पुरा केवली रोषधी रश्नन्ति केवली रपः पिबन्ति ताः केवल मेव पयो दुहः ॥

अर्थ— जिस प्रकार प्रथम ही से निरी औषधियों [व्रीहियवादिकों] को जो खाती हैं, और अकेले पानी को ही पीती हैं अर्थात् मद्य, भांग, धूम आदि अपेय निंद्यपान नहीं करती वेही निरा दूध देने में पूर्ण होती हैं। सं० जबकि जाङ्गम मांसाहार प्रकृति से ही ऐसा है तो फिर हितकारी द्रव्यों में स्वस्थ वृत्ति के लिये लिखना कैसे उचित हो सक्ता है ॥

इति श्री प्राणैषणा निरूपणे प्राकृत हिताहारोपदेश वैषयिको नवमो विवेकः ॥९॥

अथान्नोत्पत्तिप्रकार विचार विषय

(१५३) एतस्मा द्वा एतस्मा दात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायो रग्निः अग्ने रापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम् अन्ना द्रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषो ऽन्न रसमयः। तैत्तिरीयोपनि० ॥

अर्थ– उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश, और आकाश के पीछे वायु, वायु से पीछे अग्नि, अग्नि से पश्चात् जल, जल से पीछे पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से पीछे अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष, अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है, सो यह पुरुष [शरीर] अन्न रसमय है ॥

अन्यदपि

(१५४) याभिरादित्य स्तपति रश्मिभि स्ताभिः पर्ज्जन्यो वर्षति पर्ज्जन्येनौषधि वनस्पतयः प्रजायन्त औषधि वनस्पतिभि रन्न म्भवत्यन्नेन प्राणा प्राणै र्बलम् बलेन तपः तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनः मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिः स्मृत्या स्मार स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेना त्मानं वेदयति तस्मा दन्नं ददन् सर्वाण्येतानि ददात्यन्ना त्प्राणा भवन्ति भूतानाम् ॥ तै० उपनि० प्र० १० अ० ६३।

अर्थ– जिन किरणों से सूर्य तपता है, उन्ही से मेघ वर्षता है, और मेघ के वर्षने से औषधि आदि वनस्पति उपजती हैं, औषधि बनस्पतियों से अन्न होता है, और

अन्न से प्राण, [अग्निसोमादि] प्राणों से बल, बल से तप, [प्राणायाम योगाभ्यासादि] तप से श्रद्धा, [सत्य धारण में प्रीति] श्रद्धा से मेधा, [ग्रन्थ धारण शक्ति] उससे शुद्ध मन, उससे शान्ति, [काम क्रोधादि जय] शान्ति से चित्त, चित्त से चेतना, उससे स्मृति, स्मृति से पूर्वा पर का ज्ञान, उससे विज्ञान, विज्ञान से आत्मा को जानता है, इससे अन्नदान देता हुआ इन सब पूर्वोक्तों को दान देता है, क्योंकि अन्न से प्राण बल विज्ञानादि सभी होते हैं ॥

अन्यच्च

(१५५) आदित्या ज्जायते वृष्टि वृष्टे रन्न न्ततः प्रजाः । मनु०

अर्थ–सूर्य से वर्षा, और वर्षा से अन्न, और अन्न से प्रजा होती है ॥

(१५६) अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्ज्जन्या दन्न सम्भवः ।
यज्ञा द्भवति पर्ज्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥ गीता

अर्थ–अन्न से प्राणी होते हैं, पर्ज्जन्य [मेघ] से अन्न की उत्पत्ति, यज्ञ से मेघ, और यज्ञ सत् कर्मों से होता है ॥

कृषि द्वारा अन्न पैदा करने का उपदेश और अन्न की प्रशंसा ॥

(१५७) अन्नम्प्राण बलञ्चान्न मन्नसंवार्थसाधकम् ।
देवासुर मनुष्या श्च सर्वे चान्नोपजीविनः ॥
अन्न न्तु धान्य सम्भूतं धान्यं कृष्या विना न च ।
तस्मा त्सर्व म्परित्यज्य कृषिं यत्नेन कारयेत् ॥ कृषि पाराशर

अर्थ–अन्न ही प्राण [जीवन] है, और अन्न ही बल है, अन्न ही सब सुख की सामग्रियों का सिद्ध करने वाला है, देव, असुर, मनुष्य, सब अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्न धान्य [१६०] में होता है, और धान्य बिना खेती नहीं इससे सब छोड खेती अवश्य करै करावै ॥

युग युग से अन्न की उत्पत्ति पृथिवी में होती रही है ॥

(१५८) तेषा मुदार सत्व गुण कर्मणा मचिन्त्यत्त्वात् रस वीर्य विपाक प्रभाव गुण समुदितानि प्रादु र्बभूवुः शस्यानि सर्व गुण समु दितत्वा त्पृथिव्या दीना कृत युगस्यादौ ॥ चरक वि० अ० ३ ॥

अर्थ उन उदार सत्त्व गुण कर्म वालों [अदिति पुत्रों] के अचिंत्यत्व [अतुल सत्कर्मों के फल] से पृथिवी आदि तत्वों के सब गुण युक्त होंने के कारण रस से, वीर्य से, विपाक से, प्रभाव से, और गुणों से, अच्छे फल देने वाले शस्य [क्षेत्रोत्पन्न अन्न] सत्त्य युग की आदि में उत्पन्न हुये ॥

मनुष्यान्नोपयोगि विविध धान्यों की वेदोक्तसंज्ञा सूचना—

(१५९) व्रीहय श्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिला श्च मे मुद्गा श्च मे खल्वा श्च मे प्रियंगव श्च मेऽणवश्च मे श्यामाका श्च मे नीवारा श्च मे गोधूमा श्च मे मसूरा श्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यजुः० पू० अ० १८

अर्थ— इस ऋचा में व्रीह्यादि अन्नों की संज्ञा बहु वचनान्त पदों से सूचित की है, इस से यह पाया जाता है कि, जो नाम सूचित किया उसके जितने भेद हों उन सब का बोध हो जाय, और चकार से तत्तुल्यों का वा गुण में कुछ समानता रखता हो उसका, ग्रहण करना, (व्रीहयः) सब प्रकार के शालि षष्ठिकादि चावल (च) सर्व देशोद्भव चावल (यवाः) सब प्रकार के जौ (च) यवों के तुल्य गुण वाले तूर के अन्न (मे) मेरे (माषाः) अनेक प्रकार के उड़द (च) राज माष [रमाष] सब प्रकार के (मे) मेरे (मुद्गाः) हरित पीतादि वर्ण भेद के अनेक मूंग (च) अनेक प्रकार की मोठ (मे) मेरे (अणवः) अन्य क्षुद्र धान्य मडुवा आदि (च) चैना आदि (मे) मेरे (श्यामाकाः) बोये हुए क्षेत्रोत्पन्न और स्वयं उत्पन्न हुये समा (च) अन्य स्वयमुत्पन्न हुये तृण धान्य (मे) मेरे (गोधूमाः) अनेक प्रकार के

गेहूं (च) गोधूम के तुल्य गुण वाले अन्न (मे) मेरे (मसूराः) अनेक प्रकार के मसूर (च) अनेक प्रकार के मटर (मे) मेरे (यज्ञेन) देव पूजन, सम्यक् कृषि कर्म द्वारा वर्द्धन, और सत्पात्रों के लिये दान देने से (कल्पन्ताम्) समर्थ होवें अर्थात् शुभफल प्रद हों ॥

धान्यों की पुराणोक्त अन्न संज्ञा।

(१६०) अन्नन्तु धान्यसम्भूतं गिरिजे! भुविज्ञायते।
धान्यानि विविधानीह जगत्यां शृणुतान्यथ ॥
श्यामामाष मसूरश्च धान्य कोद्रव सर्षपाः।
मकुष्ठोराजमाषाश्च तुवरो जुमरस्तथा ॥
यवगोधूममुद्गाश्च तिलकङ्कुकुलत्थिकाः।
गवेधुकाश्चनीवारा आढक्यश्चकलायकाः ॥
मांडूको वज्रको रंगःकीचको वडक स्तथा।
चीनक श्चणकाद्याश्च धान्यानि कथितानि वै ॥
एतद्धान्य समुद्भूत मन्न म्भवति शोभने! ॥

अर्थ—श्री महादेव जी कहते है कि हे हिमाचलपुत्रि भूमि में धान्यों से उत्पन्न हुआ ही अन्न होता है, वे धान्य पृथिवी में अनेक प्रकार के हैं, उनको तू सुन, समा, उड़द, मसूर, धान, कोदों, सरसों, मोठ, रमास, तोर, [कार्तिक में ही पकजाने वाली अरहर] ज्वार, जौ, गेहूं, मूग, तिल, कंगनी, कुलथी, गवेधुक [गड़गडे धान्य विशेष] पसाई, अरहर, मटर, मडुवा, बाजरा, कोरङ्ग, वांस का वीज, बड़क [वट्ट पहाडी अन्न]चीनक [चेना] और चना [आदि शब्द से सब देश के वोये वा बिना बोये इनही के भेद धान्य]हे शोभने इनही धान्यों में से गाहने बर्षाने झरने फटकने आदि संस्करण करने से निकला पदार्थ अन्न संज्ञक है (१६१) सं० इन उक्त आप्त आदि प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि जो पृथिवी में उपजता है, जो वर्षा का कार्य है, और जिसका मेघ वृष्टि मुख्य कारण है, ऐसा औषधि और वनस्पतियों में उत्पन्न हुआ अन्न, मनुष्यका प्राकृत आहार है, और जङ्गम मांस नहीं.

अन्न और मांस में भिन्नत्व ।

(१६२) शाकसूपान्न मांसानि क्लिन्नानि विरसानि च ।
सद्यः पर्युषितानीव विगन्धानि भवंतिहि ॥
सु० क० अ० १

अर्थ—पत्रादि "शाक,, सूप द्विदलादि तेमन, "अन्न,, अदनीय भक्त रोटी आदि पदार्थ, और, मांस जङ्गम का गूदा ये थोडे काल में ही (क्लिन्नानि) गलने वाले और (विरसानि) विकृतरस [बदज़ायके] (पर्युषितानि) बासी (इव) जैसे (विगन्धानि) विकृतगन्ध अर्थात् दुर्गंधित और दुष्टस्पर्श विष के पड़ने से हो जाते हैं इस से अन्न और मांस भिन्न २ सिद्ध होते हैं। तथा मांसाहारी जनों में मनु अध्याय ४ श्लो० २७।२८ अपने डाले हुए क्षेपकों में भी अन्न मांस से पृथक् माना है ॥ देखो निम्न लिखित श्लोक ॥

नानिष्ट्वा नव शस्येष्ट्या पशुना चाग्निना द्विजः ।
नवान्न मद्या न्मांसं वा दीर्घ मायु र्जिजीविषुः ॥

अर्थ—बड़ी आयु, की इच्छा करने वाला द्विज नवीन अन्न से इष्टि [यज्ञ] किये बिना नया अन्न न खावे, और पशु से याग किये बिना मांस भक्षण न करें, २८ वे में भी मांस शब्द से भिन्न मांस शब्द का पर्यायी आमिष शब्द लिखा है। कहो इससे, अधिक और क्या प्रमाण होगा ॥

अन्न की स्तुति ॥

(१६३) प्राणाः प्राणभृता मन्न मन्नं लोकोऽभिधावति ।
वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ॥
तुष्टिः पुष्टि र्बलम्मेधा सर्व मन्ने प्रतिष्ठितम् ।
लौकिकङ्कर्म यद्वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥
कर्माऽपवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ।
च० सू० अ० २७

अर्थ– प्राण धारियों का प्राण [जीवनीय शक्ति प्रदायक] अन्न है, अन्न को ही संसार दौड़ा २ फिरता है, और (वर्णः) रङ्गरूप (प्रसादः) अन्तः करणों की निर्मलता, वा स्वस्थता, (सौस्वर्यम्) सुन्दर स्वर, (जीवितम्) प्राणों का बना रहना (प्रतिभा) बुद्धि (सुखम्) चैन अर्थात् दुःखाभाव (तुष्टिः) सन्तोष (पुष्टिः) शारीरोपचय [मुटापा] (बलम्) शरीर सामर्थ्य (मेधा) ग्रन्थ धारण शक्ति ये सब अन्न में ही विशेषता से स्थित, हैं जो कर्म आजीवन के लिये किया जाय वह लौकिक और जो स्वर्ग प्राप्ति के वा मोक्ष के लिये कहा वह वैदिक ये सब अन्न में ही प्रकर्षता से विद्यमान हैं, अन्य में नहीं ॥ ये उक्त बातें मांसा हार में भला कहां. ?

(१६४) तपसा चीयते ब्रह्म ततोन्न मभिजायते।
अन्ना त्प्राणो मनः सत्यं लोका कर्म सुचामृतम्॥

मुण्ड कोपनिषद्।

अर्थ–मुण्डकोपनिषद् में सब जगत् का कारण अन्न ही कहा है, तप से ब्रह्मप्राप्ति, उससे अन्न उपजता है, अन्न से प्राण, मन, सत्य, लोक, और सब कामों में सुचेष्टता होती है ॥

(१६५) अन्नं प्राण भृदन्न ᳪ हि प्राणान् विभर्त्ति।

श० ब्रा० ८ अ० १।२।१।

अर्थ–अन्न का नाम प्राणभृत् है क्योंकि अन्न ही प्राणों को धारण करता है।

(१६६) अन्नं वृत्ति कराणाम्॥ चर० अ० २५

अर्थ–शारीरिक वाचिक और मानसिक कर्मों के चेष्टित करने वाले जितने प्रयोग हैं उन सब में उत्तम, वृति कारक अन्न है ॥ यथा-

(१६७) अन्नं विराडन्नाद्य मे वावरुन्धे- । ताण्ड्य ब्रा० अ० ८ कां० १०

अर्थ–दशों इन्द्रियों की तृप्ति करने का कारण होने से अन्न विराट् कहाता है,

(१६८) अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।

प्र प्रदातारं तारिष ऊर्ज्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

यजुः० अ० ११ मं० ८३ ।

अर्थ–(अन्नपते) हे अन्न के स्वामिन् परमेश्वर तू (नः) हमारे लिये (अनमीवस्य) रोग रहित (शुष्मिणः) बहु बल दायक (अन्नस्य) अन्न को (प्र प्र) अति प्रकृष्टता से (देहि) दे, हे, परमेश्वर! अन्नादि वस्तुओं के (दातारम्) दान करनेवाले यज मानादि को (तारिषः) निस्तार, (नः) हमारे (द्विपदे) द्विपद वर्गमें अर्थात् मनुष्यों में (चतुष्पदे) गौ आदि चौपायों में (ऊर्ज्जम्) पराक्रम को (धेहि) धारण कर।

तैत्तिरीय ब्रा०का०३ प्र ८ अनु २ में कहा है किः–

(१६९) अन्नं वा आपः। अद्भ्यो वा अन्नं जायते। यदे-
वाद्भ्योऽन्नं जायते। तदव रुन्धे। तासु ब्रह्मौदन-
म्पचाति। रेतएव तद्दधाति।१।

अर्थ–जल भी अन्नहै, क्योंकि जल से ही अन्न उत्पन्न होता है, जो जल के पूर्ण पोषण होने से अन्न पैदा होता है, वह पुष्ट होता है उसको ही संग्रह करै, उस जल में बृध्यूर्चे अन्न जठराग्नि से पचता है वह रेत [वीर्य] ही धारण करता है.

इत्यन्न संज्ञक द्रव्य प्रबोधनीय एकादशो विवेकः ॥ १० ॥

अथ हिताहार वस्तु सूचनम्—

(१७०) यद्वायोःपथ्यं तत्पित्तस्या पथ्य मित्यनेनहेतुना
न किञ्चि द्रव्यमेकान्तेन हित महितं
वास्तीति केचिदाचार्या ब्रुवते तत्तुनसम्यक् ॥

(१७१) इह खलु यस्माद्द्रव्याणि स्वभावतः संयोगत
श्चैकान्त हितान्येकान्ताहितानि हिताहितानि
च भवन्ति। तत्रैकान्तहितानि जातिसात्म्यात्
सलि लत दुग्धौदन प्रभृतीनि ॥

(१७२) एकान्ताहितानि दहन पचन मारणादिषु प्रवृ-
त्तान्यग्निक्षारीविषादीनि ॥

(१७३) संयोगा दपराणि विषतुल्यानि भवन्ति ।
हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति ॥
सुश्रु० सू० अ० २०

अर्थ—श्रीभगवान् धन्वन्तरि सुश्रुत से कहते है, कि हे वत्स जो आहारादि द्रव्य वात को पथ्य [सेव्य] है, वही पित्त को अपथ्य [असेव्य] है, इस हेतुसे कोई द्रव्य एकान्त निरन्तर अर्थात् सर्वकाल, सर्वदेश, सब पुरुष, और सब व्याधियों में हित, वा अहित नहीं है, ऐसा कोई आचार्य कहते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि यहां प्रकृति से और दो वा बहुतों के मिलने से ही एकान्ताहित, और हिताहित, द्रव्य होते हैं ॥

एकान्त हित के लक्षण

उन एकान्तहित, एकान्ताहित, और हिताहितों में (जातिसात्म्यात) मनुष्य जाति की आत्मा के अर्थात् देहोंके सहचारी बिकार न करने वाले होने से "एकान्त हित,, द्रव्य होते हैं, जैसे कि जल, घी, दूध, चावल, प्रभृति शब्द से जौ गेंहू आदि शूक धान्य, मूंग आदि शमी धान्य, कङ्गनी, बाजरा आदि तृण धान्य, मक्की आदि कोश धान्य, कोदों आदि कुधान्य, इन सबका ग्रहण है,

एकान्ता हित लक्षण

(एकान्ताहितानि) निरन्तर अहित वेहैं जो (दहनपचन मारणादिषु)जलाने, पचाने, वा पकाने और मारने में, और आदि शब्द से मानसिक, वा शारीरिक रोग करने में (प्रवृत्तानि) विशेष प्रवृत्त हों, जैसे कि (अग्नि क्षार विषादीनि) अग्नि- भौतिकाग्नि, क्षार- यवक्षार सोडा आदि, विष स्थावर जङ्गम पार्थिव और कृत्रिम, स्थावर वत्सनाग अहिफे- नादि, जाङ्गम विष सर्प वृश्चिकादि का, पार्थिव विष हरतालादि, कृत्रिम विष, नीलाथोथा आदि, और विष शब्द से आगे आदि शब्द होने से सब प्रकारके विरुद्ध आहार विहारादि का ग्रहण होगा, (संयोगात्) दो तीन वस्तुओं के मिलने से (अपराणि) इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक (विष तुल्यानि) विष के समान होते हैं, वे दुग्ध पानके विवेक में कहेंगे ये सब एकान्ताहित ही हैं, ये स्वस्थों को निरन्तर अहित, रोगियों को रोग की, समय की, मात्रादि की विशेषता के विचार से एक पक्ष में हित हैं ॥

हिताहित लक्षण

हिताहित वह है, जो वातकी प्रकृति में, रोगमें, देशमें, कालमें, पथ्य हो और पित्त की प्रकृति आदि में अपथ्य हो जैसे तेल, कांजी, सदृश, वस्तु ॥

इत्येकान्तहितैकान्ताहित हिताहितवस्तु लक्षणीयो द्वादशो विवेकः ॥ १२ ॥

अथ हितान्नोपदेशः

(१७४) अतः सर्व प्राणिना मय माहारार्थं वर्ग उप दिश्यते ।

(१७५) तद्यथा रक्तशालि षष्ठिक कङ्गुक मुकुन्दक पाण्डुक पीतक प्रमोदक कालकाशनक पुष्पक कर्दमक शकुनाहृत सुगन्धक कलम नीवार कोद्रवोद्दालक श्यामाक वेणुयवादयः ।

(१७६) मुद्ग वनमुद्ग मकुष्ठ कलाय मसूर मङ्गल्य चणक-हरेणवाढ़की सतीनाः ॥ *

अर्थ—यहां से सब प्रकार के अर्थात् स्वस्थ वा अस्वस्थ वा स्वस्थास्वस्थ सभी के आहार के लिये यह वर्ग उपदेश किया जाता है। वह जैसे (रक्त शालि) लालरंग के धानों के वासमती चावल (षष्ठिक) सफेद साठी (कङ्गुक) कङनी पीले चावलों की (मुकुन्दक) काले साठी (पाण्डुक) पीले साठी चावल (पीतक) पीले चावलों के साठी (प्रमोदक) महा साठी [चहोड़ा इति लोके] (कालक) अञ्जना (अशनक) सुन खर्चा (पुष्पक) पहुपिया (कर्दमक) रायमुनिया (शकुनाहृत) हंसराज (सुगन्धक) सोंधी (कलम) कलमी (नीवार) पसाई (कोद्रव) कोदों (श्यामाक) समा (गोधूम) गेंहूं (यव) जौ (वेणुयव) वांस का जौ आदि शब्द से शेष तूरके अन्न इन्हीं के तुल्य (मुद्ग) हरी मूंग (वनमुद्ग) काली मूंग (मकुष्ठ) मोठ (कलाय) बड़ा मटरा (मसूर) साधारण मसूर (मङ्गल्य) पाण्डु वर्ण की मसूर (चणक) चना (हरेणु) हरी गोलमटर (आढकी) अरहर (सतीना) विदेशी बड़ी मटर ॥

* सुश्रुत में यहां एणादि मांस वर्ग का लेख सर्व हित प्रक्षिप्त है, क्योंकि यह क्रम विरुद्ध अयुक्त और हिताहित है, क्रमानुसार शूकधान्य से शमीधान्य वर्ग है न कि मांसवर्ग ।

(१७७) चिल्लि वास्तूक सुनिषण्णक जीवन्ती तण्डुलीयक
मण्डूकपर्ण्यः। गव्यं घृतं सैन्धव दाडिमामलकम्
इत्येष वर्गः सर्व प्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः।

अर्थ—चिलमिली, बथुआ, चोपतिया, पैतिया, चौलाई, लम्बे पत्ते वाली ब्रह्मी, स्नेहों में गाय का घी, सेंधा लवण, फलों में अनार, आमला, बस यह सब वर्ग प्राणियों के लिये साधारणता से पथ्यतम है॥

(१७८) तथाब्रह्मचर्या निर्वातशयनो ष्णोदक निशास्वप्न
व्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः।

अर्थ—आहार की एकान्तताको कह कर विहारों को कहते हैं, जैसे (ब्रह्मचर्य) सर्वथा मैथुनत्याग, (अनि र्वात शयन) वायु के सुयोग में स्वाप, उष्ण जल से स्नानादि करना, रात्रिमें, शयन, और (व्यायाम-) कायिक वाचिक और मानसिक श्रमों का सुयोग ये विशेष सेवन करने योग्य हैं।

(१७९) यत्किञ्चि द्दोष मासाद्य न निर्हरति कायतः।
आहार जातं तत्सर्व महितायो पपद्यते॥

अर्थ—(यत्) जो (किञ्चित्) कुछ (आहारजातम्) भोजन मात्र किया गया (दोषम्) वातादि किसी दोष को (आसाद्य) प्राप्त होकर (कायतः) शरीर से बाहर (न) नहीं (निर्हरति) निकलता है (तत्) वह आहार (सर्वम्) रसादि सब धातुओं को (अहिताय) बुरा करने के लिये (उपपद्यते) उपस्थित होजाता है

(१८०) यच्चापि देशकालाग्निमात्रा ऽसात्म्यानिलादि भिः।
संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठा वस्था क्रमैरपि॥
परिहारो पचाराभ्याम् पाकात् संयोगतो ऽपिच।
विरुद्धं तच्च नहितं हृत्सम्पाद्विधिभिश्च यत्॥

अर्थ और जो आहार, देश से, काल से, अग्नि से, मात्रा से सात्म्य से, वायु आदि

से, अर्थात् वात से; पित्त से, और कफ से, संस्कार से, और वीर्य से, कोष्ठ से, अवस्था से, क्रम से, परिहार और उपाचार से, पाक से, और संयोग से, हृदय से, और सम्पत् से, विरुद्ध हो वह भी हित नहीं है ॥

उपर्युक्त विरुद्धाहारों के क्रम से उदाहरण- यथा देश विरुद्ध,

(१८१) विरुद्धन्देशत स्ताव द्रूक्ष तीक्ष्णादि धन्वनि ।
आनूपे स्निग्धशीतादि भेषजं यन्निषेव्यते ॥

अर्थ -- देश तीन होते हैं १ जाङ्गल इसको धन्वन् भी कहते हैं, कि जो रूखा ... होता है, जैसा कि मरुस्थल, दूसरा आनूप, ... के ... की स्थली, वा नदियों का ... मिश्रित कहाता है, रूखा और तीक्ष्ण आदि ... शीत, और स्निग्धादि आहार, आनूप देश में, विरुद्ध है, इसी प्रकार भेषज भी विरुद्ध होती है ॥

काल विरुद्ध

(१८२) कालतोपि विरुद्धं य च्छीत रूक्षादि सेवनम् ।
शीतेकाले तथोष्णे च कटुकोष्णादि सेवनम् ॥

अर्थ - शीत ऋतु में शीतल, और रूखा आदि का सेवन, और उष्ण समय में चरपरे और उष्ण आदि वस्तु सेवन करना, काल से विरुद्ध है,

अग्नि विरुद्ध

(१८३) विरुद्धमनले तद्व न्नानुरूपं चतुर्विधे ।

अर्थ --- मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, विषमाग्नि, और समाग्नि, इन चारों प्रकार की अग्नियों के अनुकूल आहर न करना उपरोक्त प्रकार के ही तुल्य अग्नि विरुद्ध है ॥

मात्रा विरुद्ध

(१८४) मधु सर्पिः समधृतं मात्रया तद्विरुध्यते ।

अर्थ – मधु [सहत] और घी तोल में बराबर होने पर विरुद्ध हैं। इसी प्रकार मधु और जल, दो स्नेह, यथा तेल और घी, मधु और कोई सा स्नेह, जल और स्नेह, विशेष कर आन्तरिक्ष जल के साथ बराबर तोल होने पर ये सब विरुद्ध हैं ॥

सात्म्य विरुद्ध

(१८५) कटुकोष्णादि सात्म्यस्य स्वादु शीतादि सेवनम्।
यत्तत्सात्म्य विरुद्धन्तु विरुद्धं त्वनिलादिभिः ॥

अर्थ – चरपरा रस, और उष्ण [गरम] आदि जिसको सात्म्य [मुआफिक] हों उस को मीठा और ठंडा आदि का जो सेवन वह सात्म्य विरुद्ध है।

वातादि दोषों से विरुद्ध

(१८६) या समान गुणाभ्यासविरुद्धान्नौषध क्रिया।

अर्थ – जो अन्न - औषध और क्रिया जिस वातादि दोष के गुणों के तुल्य गुणवाली हों, और अभ्यास के विरुद्ध हो, वह उसी दोष के विरुद्ध है, जैसे वात विरुद्ध रूक्ष शीतादि, पित्त विरुद्ध उष्ण तीक्ष्णादि, और कफ विरुद्ध स्निग्ध शीतादि, अपने गुणों के समान विरुद्ध है ॥

संस्कार विरुद्ध

(१८७) संस्कारतो विरुद्धं त यद्भोज्यं विषवद्भवेत्।
दशरात्र स्थितं सर्पिः कांस्य पात्रे तथैवहि ॥

अर्थ – आहार बनाने के संस्करण [१४२७] से जो आहार द्रव्य विकृत हो जावै अर्थात् विना विष विषके तुल्य अगुणकारी होजाय वह संस्कार विरुद्ध है, दश रात्रि तक कांसी पीतल के पात्र में रक्खा रहा घी, यह भाजन संस्कार का बिगाड़ हुआ ॥

वीर्य विरुद्ध

(१८८) विरुद्धं वीर्यतो ज्ञेयं वीर्यतः शीतलात्मकम्।

तत्संयेऽज्योष्ण वीर्येण द्रव्येण सह सेव्यते ॥

अर्थ — जो पदार्थ वीर्य से शीतल है, और उष्ण [गरम] वीर्य वाले द्रव्य के साथ मिला कर सेवन [इस्तेमाल] किया जाय, वह वीर्य से विरुद्ध जानना चाहिये, जैसे कि एक वस्तु ऐसी उष्ण खाई जाय कि जिससे मुख जलने लगे, जिह्वा गरम होजाय, दूसरी उसी समय ऐसी ठंडी खाई जाय वा पीई जाय कि जिससे दांत गलने लग जांय दांतों में पीड़ा होजाय, वह वीर्य विरुद्ध आहार है ।

कोष्ठ विरुद्ध और अवस्था विरुद्ध

(१८९) क्रूर कोष्ठस्य चात्यल्पं मन्द वीर्य मभेदनम् ।
मृदु कोष्ठस्य गुरु च भेदनीयं तथा बहु ॥
(१९०) एतत्कोष्ठविरुद्धन्तु विरुद्धं स्याद् (१९१) अवस्थया ।
श्रमव्यवायव्यायाम सक्तस्या निल कोपनम् ॥
निद्रालसस्या लसस्य भोजनं श्लेष्म कोपनम् ॥

अर्थ — क्रूर कोष्ठ [अपने अल्प प्रतीकार को मानने वाला उदरस्थाशय जिसका उस] को अल्प [लघु वा थोड़े] प्रभाव वाला, वा अभेदन, [फोड़ तोड़ न करने वाला] आहार, वा भेषज देना, और इसी प्रकार मृदु [मुलायम] कोष्ठ वाले को अर्थात् अपने प्रतीकार की तीक्ष्णता को जो सहन न कर सके ऐसे कोष्ठ वाले को गुरु, वा भेदन, अथवा अधिक, आहार वा औषध देना कोष्ठ विरुद्ध होता है ।

अवस्था विरुद्ध

अर्थ — श्रम - [मार्ग चलने आदि का थकान] मैथुन, व्यायाम [अङ्गाकृष्टि-कसरत] इनके होने की दशा में आहार करना वायु कुपित करता है । और निद्रा के आलस्य में वा अन्य किसी कारण हुए आलस्य की विद्यमान दशा में, किया आहार कफ को कुपित करता है, यह अवस्था विरुद्ध है ।

क्रम विरुद्ध

(१९१) यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चा बुभुक्षितः ।

तच्च क्रमविरुद्धं स्या द्यश्नाति क्षुद्वशानुगः ॥

अर्थ– जो क्षुधा रहित अथवा जो अति उग्र क्षुधा के वश में हुआ मनुष्य मल को और मूत्र को विना त्याग करै जो भोजन करता है, वह क्रम विरुद्ध करता है। भावार्थ यह है-कि मल की वा मूत्र की उपस्थिति [हाजत] में उपस्थित मलमूत्र के त्याग करने क्रम को छोड़कर भोजन करना अस्वास्थ्य कारक है।

परिहार विरुद्ध

(१९२) परिहार विरुद्धन्तु भल्लातादीनि सेव्य यत् ।
सेवेतोष्णं, घृतादींश्च पीत्वा शीतं निषेवते ॥

अर्थ– भिलाये आदि उष्ण वस्तु सेवन करके उष्ण [गरम] खान पान करना और घृतादि को पीकर ठण्डा जल पीना यह परिहार विरुद्ध है।

उपचार विरुद्ध

(१९३) हिंसास्तेयाद्यधर्मेभ्यो य उत्पाद्य हि भोजनम् ।
उपचार विरुद्धं तत् भुंक्ते पापकृतो जनः ॥

अर्थ – जीवों के मारने चोरी करने आदि अधर्मों से ही आहार पैदा करके जो पापी मनुष्य भोजन करता है, वह उपचार विरुद्ध है, उपचार नाम यहां धर्मानुष्ठान का है, उसके विपरीत करना ही उक्त विरुद्ध है ॥

पाक विरुद्ध

(१९४) विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्दारुसाधितम् ।
अपक्व तंडुलात्यर्थपक्व न्दग्धं च यद्भवेत् ॥

अर्थ – दुष्ट [गीला वा कृमि कीट युक्त इंधन] में वा दुर्दारु [निषिद्ध काष्ठ] से सिद्ध किया अन्न, तथा कम पका चावल वा अत्यन्त पकने से दग्ध हुए अन्नको पाक-विरुद्ध कहते, हैं ॥

संयोग विरुद्ध

(१९५) संयोगतो विरुद्धं तद्य थाम्लं पयसा सह ।

अर्थ – वह संयोग [परस्पर विरोधि दो वस्तुओं के मिलने] से विरुद्ध होता है। जैसा खट्टा रस दूध के साथ ॥

हृद्विरुद्ध ॥

(१९६) अमनोरुचितं यच्च हृद्विरुद्धं तदुच्यते ॥

अर्थ – जो मनको अच्छा न रुचे वह भोजन हृद्विरुद्ध कहाता है ॥

सम्पद्विरुद्ध

(१९७) सम्पद्विरुद्धं तद्विद्या दसञ्जातरस न्तु यत् ।

अर्थ – जिस आहार में जितना जैसा जो रस उचित वह रस न हुआ हो वा रस विकृत होगया हो, वह आहार सम्पद्विरुद्ध है ।

विधि विरुद्ध

(१९८) ज्ञेयं विधि विरुद्धन्तु भुज्यते निभृतेन यत् ।
तदेवं विध मन्नंस्या द्विरुद्ध मुपयोजितम् ॥

निषिद्ध काष्ठ

१ शाल शाल्मस्य पक्वान्नं शिरीषकस्य चैव हि । कलि चगडातक श्चैव वज्रशाक शीकस्य च ॥ एरण्ड शाल्मले वापि पक्वान्नं गर्हितंस्मृतम् ॥ सूप शास्त्र ॥

अर्थ – शाल सिरस बहेड़ा कन्नेर सेंहुड़ बरना खांड और सैमर इनके काष्ट से पकाया अन्न निंदित कहा है ॥

अर्थान्वय – यत निभृतेन (भृशं वा अध्यशनप्रकारतया उदरम्भरेण पुरुषेण) भुज्यते तद् विधि विरुद्धं ज्ञेयम् एवं विधम् उपयोजितं अन्नं विरुद्धं स्यात् ॥

अर्थ–जो अत्यन्त वा अध्यशन प्रकार से भोजन किया जाता है, वह विधि विरुद्ध है

(१९९) सात्म्यतो ल्पतया वापि दीप्ताग्नेस्तरुणस्यच।
स्नेह व्यायाम बलिनो विरुद्धं वितथं भवेत् ॥

अर्थ–विशेषाभ्यास के कारण सात्म्य [प्रकृति के अनुकूल] हो जाने से वा मात्रा थोडी होने से विरुद्धाहार व्यर्थ हो जाता है, तथा दीप्ताग्नि वाले का और स्नेहों के खान पान और व्यायामों के करने से बली हुए तरुण [जवान] का भी, विरुद्धाहार किया व्यर्थ हो जाता है ॥

विरुद्धाहार के अवगुण

(२००) शाट्यान्ध्य वीसर्प दकोदराणाम्
विस्फोटकोन्माद भगन्दराणाम्।
मूर्च्छा मदाध्मान गलग्रहाणाम्
पाण्ड्वामयस्या मविषस्य चैव ॥
किलास कुष्ठ ग्रहणी गदानाम्
शोषास्रपित्त ज्वर पीनसानाम्।
सन्तान दोषस्य तथैव मृत्यो
विरुद्ध मन्न प्रवदन्ति हेतुम् ॥

अर्थ–नपुंसकता, अन्धापन, विसर्प, जलोदर, विस्फोटक, उन्माद, भगंदर मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलग्रह, पांडुरोग, आमविष [विसूचिका] असल [विलम्बिका] रोग, किलास, कोढ़, ग्रहणी, शोष रोग, रक्तपित्त, ज्वर, पीनस, अपत्य दोष [सन्तान को दूषित करने वाला] और मृत्यु इन सब रोगों का कारण विरुद्ध अन्न के सेवन को कहते हैं ॥

इति विरुद्धाहार विषय निदर्शनं त्रयोदशो विवेकः

यवान्न को बहु गुणत्व

(२०१) उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव। मृणीही विश्वा पात्राणि मात्वा दिव्या शनि र्वधीत्॥१॥ अथर्व काण्ड ६। १३। सू० १४२

पद-उत्। श्रयस्व। बहुः। भव। स्वेन। महसा। यव। मृणीहि। विश्वा। पात्राणि। मा। त्वा। दिव्या। अशनिः। वधीत्॥

अर्थ—हे (यव) यवधान्य (त्वम्) तू (उच्छ्रयस्व) उपज कर ऊपर को बढ़ तथा (बहुः) अनेक प्रकार का (भव) हो (स्वेन) अपने (महसा) तेज से अर्थात् रस वीर्यादिक के सहित (विश्वा) सब (पात्राणि) कुसूल कोष्ठागारादिक अन्न भरने के पात्रों को (मृणीहि) परिपूर्ण कर [यहां वर्ण व्यत्यय करके पृणीहि प्रयोग मान कर पूरय क्रिया का अर्थ परिपूर्ण करना है] (दिव्या) दिविभव अर्थात् करकावृष्टि अतिवृष्टि अनावृष्टयादि (अशनिः) उत्पात (त्वा) तुझे (मा) मत (वधीत्) बाधा पहुंचावो।

(२०२) आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वा च्छावदामसि। तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः। २।

पद-आशृण्वन्तम्। यवम्। देवम्। यत्र। त्वा। अच्छा। आवदामसि। तत्। उत्। श्रयस्व। द्यौः। इव। समुद्रः। इव। एधि। अक्षितः॥

अर्थ—(आशृण्वन्तम्) सन्मुख हमारे कथन को सुनते हुए (यवम्) यवधान्यरूप (देवम्) दिव्य गुण युक्त अवास्थत देव को (यत्र) जिस भूमि पर (त्वा) तुझे (अच्छा) सन्मुख करके हम (आवदामसि) प्रार्थना करते हैं (तत्) उस भूमिपर (द्यौः) आकाश की (इव) तुल्य (उच्छ्रयस्व) ऊंचा बढ़ [यह तो खुद के बढ़नेको कहा अब फलने के विषय में कहते हैं] (समुद्रः) समुद्र (इव) जैसा (अक्षितः) क्षयरहित (एधि) फलो बढो॥

(२०३) अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः। पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः॥

पद— अक्षिताः । ते । उपसदः । अक्षिताः । सन्तु । राशयः । पृणन्तः । अक्षिताः । सन्तु । अत्तारः । सन्तु । अक्षिताः ।

अर्थ—हे (यव) यवान्न (ते) तेरे (उपसदः) कर्म करने वाले अर्थात् वपनादि क्रिया करने वाले, खाने वाले, देने लेने वाले मनुष्य, (अक्षिताः) क्षय रहित (सन्तु) होवौ (राशयः) धान्य समूह (अक्षिताः) क्षय रहित (सन्तु) होवौ, (पृणन्तः) अहादिक पूर्ण करने वाले अर्थात् यवान्न के संग्रह कर्ता जन, (अक्षिताः) हानि रहित (सन्तु) होवौ (अत्तारः) यवान्न के खाने वाले (अक्षिताः) सर्व व्याधिरहित क्षय रहित (सन्तु) होवौ,

(२०४) षाष्ठिका यवगोधूमा लोहिता येच शालयः ।
मुद्गाढकीमसूराश्च धान्येषु प्रवराः स्मृताः ॥
(२०५) दाडिमामलक न्द्राक्षा खर्जूरं सपरूपकम् ।
राजादन म्मातुलुङ्ग म्फल वर्गे प्रशस्यते ॥
(२०६) सतीनो वास्तुक श्चुंचू चिल्ली मूलक पोतिका ।
मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाक वर्गे प्रशस्यते ॥
(२०७) गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठं (२०८) सैन्धवं लवणेषु च ।
धात्री दाडिम मम्लेषु पिप्पिली नागरं कटौ ॥
तिक्ते पटोल वार्त्ताके मधुरे घृत मुच्यते ।
क्षौद्र म्पूगफलं श्रेष्ठं कषाये सपरूषकम् ॥

(२०९) शर्करेक्षु विकारेषु (२१०) पाने मध्वासव न्तथा ।
(२११) परि संवत्सर न्धान्यं (२१२) सुरोष्याःशालयो वराः ॥
(२१३) अपर्य्युषित मन्नन्तु संस्कृतं मात्रया शुभम् ।
(२१४) चणस्तु यव गोधूम तिल माषा नवा हिताः । रा० नि०
(२१५) फल पर्य्यागतं शाक मशुष्क न्तरुण न्नवम् ॥

अर्थ—अन्नों में साठी, जौ, गेहूं, रक्त शाली, चावल, मूंग, अरहर, मसूर ये श्रेष्ठ हैं। फलों में अनार, आंवला, मुनक्का, छुहारा, पिंड खजूर, फालसे, खिन्नी, और बिजौरा नींबू

ये प्रशस्त हैं। शाक वर्ग में छोटी मटर, बथेरू बथुआ, चुंपू, बथुआ, मूली, पोई, ब्राह्मी, और जीवन्ती, ये श्रेष्ठ हैं। दूध और घी गाय के श्रेष्ठ हैं। लवणों में सेंधा लवण श्रेष्ठ है। खट्टे फलों में आमला, और अनार। चरपरी द्रव्यों में पीपल, और सोंठ. कडवी वस्तुओं में पटोल, और बैंगन। अव्यक्त मधुर रसवाली द्रव्यों में घी कषायरस वाली द्रव्यों में शहद, सुपारी और फालसा. । ईख के बने पदार्थों में बूरा पीने योग्य द्रव्यो में मधु, आसव, एक वर्ष बीते पीछे के शालि षष्ठिकादि, तथा अनेक बार उखाड़ २ कर लगाये शालि, तुरन्त सिद्ध किए, मात्रा से खाया हुआ अन्न पका हुआ फल, हरा और नया शाक, ये सब प्रशस्त हैं। चना, जौ, गेंहू, तिल, उड़द, ये नवीन हितकारी होते हैं। इति प्रशस्त गुण वद्द्रव्य निर्द्धारणीय श्चतुर्दशो विवेकः ॥ १४॥

अथ हिताहितीय वर्ग विचार विषय

(२१६) सं०—अब विचारना चाहिये कि सुश्रुत के हिताहितीय वर्ग की, आदि और अन्त में "अतः सर्व प्राणिना मय माहारार्थ वर्ग उपदिश्यते" तथा" इत्येष वर्गः सर्व प्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः" इस आद्यन्त लिखित प्रस्ताव का यही अर्थ है कि यह वर्ग सब प्राणियों को सामान्यता से हित है,

(२१७) सं० यहां सर्व प्राणिनां यह सर्व शब्द क्यों कहा, एक प्राणी शब्द से ही काम निकल सकता था, और मनुष्य की चिकित्सा का अधिकार होने से, और और प्राणियों में से रोगियों के लिये उक्त वर्ग विशेष कर पथ्यतम है, यह भी हो ही जाता, परन्तु ग्रन्थकार का यहां सर्व शब्द से प्रयोजन यह है, कि एक तो वे रोगी कि जो मांस नहीं खाते, दूसरे मांस सात्म्य रोगी, कि जो मांस खाते हैं कि उन की कुलप्रसक्ता वा देशानु पातिनी प्रकृति मांसाहारिणी बनगई हो जैसे कि विशेषकर रजोगुणी आहाराचार करने वाले माता पिता की सन्तान, राक्षस काय, पिशाच काय, प्रभृति होते हैं, वा स्वयं अभ्यास से जिन्हों ने मांस सात्म्य कर लिया है, तीसरे मांसाद, मांस सात्म्य रोग ग्रसित रोगी, जैसे कि राजयक्ष्मा के होते हैं, । इन सब के लिये सामान्यता से यह वर्ग उपदेश किया है, इस कारण सर्व शब्द का यहां पाठ है परन्तु सर्व शब्द से मनुष्य मात्र का ग्रहण न होगा यहां "प्रदद्या न्मांस सात्म्याय,, जिन्हों ने मांस सात्म्य कर लिया ऐसे अभ्यस्त सात्म्य हुए मांस सात्म्य मनुष्यो के लिये [२५६] के और [२६४]

के लेख का पालन करने के हेतु से चिकित्सार्थ जिन २ जीवों के मांस में अन्यों की अपेक्षा मांस के हिताहितत्व से हितपक्ष अधिक समझा उन २ के नाम चिकित्सकों को उक्त वर्ग में लिखने पड़े, यही हेतु हिताहितीय अध्याय में मांस वर्ग लिखने का है

(२१८) सं० इस लेख से सब के लिये हितकारी नहीं हो सक्ता और जो सब के लिये सर्वथा वा सर्वदा हितकारी नहीं, किसी एक के लिये वा एक प्रकार से वा एकदा हितकारी है, वह हिता हित, अधर्म, उपचार विरुद्ध [१६३] श्रुतिविरुद्धादि अनेक दोष युक्त है, फिर उसका लिखना प्राणैषणा के स्वस्थवृत्ति उपदेश में उचित नहीं, केवल रोगवृत्ति में कहीं २ विशेष के लिये लेख है, इस कारण अनवकाश में अनवकाशी को व्यर्थ अवकाश देना उचित नहीं ॥

सुश्रुत सूत्रस्थान अ० २० में लिखा है कि—

(२१९) रोगं सात्म्यं च देशंच कालं देहंच बुद्धिमान् ।
अवेक्ष्याग्न्या दिका न्भावान् रोग वृत्तेः प्रयोजयेत् ॥
अवस्थान्तर बाहुल्या द्रोगादीनां व्यवस्थितम् ।

(२२०) द्रव्यं नेच्छन्ति भिषज इच्छन्ति स्वस्थरक्षणे ।
द्वयो रन्यतरा दाने वदन्ति विष दुग्धयोः ॥
दुग्धस्यै कान्त हिततां विष मेकान्ततो हितम् ॥

(२२१) एवं युक्त रसाद्येषु द्रव्येषु सलिलादिषु ।
एकान्त हिततां विद्धि वत्स सुश्रुत नान्यथा ॥

अर्थ—उदरादि "रोग"। जाति आदि "सात्म्य"। आनूप आदि "देश"। शीत उष्ण वर्षा लक्षणात्मक आर्तव और बाल युवा वृद्धात्मक आवस्थिक "काल"। मोटा पतला वा मध्य "देह"। और (अग्न्यादिकान्भावान्) जठराग्नि, आदि शब्द से प्रकृति बल सत्त्व आदिक (भावान्) बातों को बुद्धिमान् वैद्य रोगी को देखकर एकान्ताहित (निरन्तर अहित) को भी रोगी को देवै, जैसे-कि, उदर रोग वाले को हिल के दूध

विष का खाना, वा काले सर्प के डसाये ईख के गन्ने का चूसना, कहा है। इत्यादि जानना क्योंकि रोगादिकों की अवस्था [हालतें] अनेक होने के कारण यही हित है, वा यही अहित है ऐसा व्यवस्थित [खासकर मुकर्रिर] द्रव्य कोई नहीं ऐसा वैद्य लोग चिन्तन करते हैं। वहां कभी कहीं हित अहित और अहित हित हो जाता है, परन्तु स्वस्थ [तंदुरुस्त] की रक्षा में व्यवस्थित का ही चिन्तन करते हैं। जैसे-कि विष और दूध इन दोनों के मध्य में से अन्यतरादान [निर्द्धारण करने में] दूध की ही एकान्त [निरन्तर] हितता [सफलता] को वैद्य लोग कहते हैं और विष को अहित [असात्म्य] कहते हैं। इसी प्रकार युक्त रस [अपने २ रस गुणों से संयुक्त और अति योगादि रहित] जल घी दूध चावल गेहूं जो आदि जातिसात्म्यों को ही हितता (भलापन) हे वत्स सुश्रुत तू जान, यह धन्वन्तरि भगवान् ने कहा॥

सं० भावार्थ यह है कि रोगी को तो जिस आहार विहार से रोग दूर हों वही देना, चाहें जाति सात्म्य हो, वा असात्म्य, परन्तु स्वस्थ को सर्वथा सात्म्य ही वर्त्तना कहा है, यद्यपि विषका भी नाम अमृत, और गुण प्राणदायी, रसायन, बृंहण, मांस बढ़ाने वाला, वीर्य वर्द्धन, आयुर्वेद में कहा है, परन्तु वह रोगों के ही लिये जिस रोग में सात्म्य हो, उसमें उक्त गुण दायक होगा, और स्वस्थ के लिये प्राण दायी, रसायन, बृंहण, वीर्य वर्द्धक, विषादिक को सहसा कदापि सेवन कराना न चाहिये, जब तक कि कोई विशेष आज्ञा नहो तब तक रोगमें भी अहित का वा हिताहित का वा असात्म्य का सेवन न चाहिये॥ देखो च० सू० अ० ६

(२२२) दोषाणा मामयानाञ्च विपरीतगुणं गुणैः।
सात्म्य मिच्छन्ति सात्म्यज्ञा श्चेष्टित श्चाद्य मेदच॥

अर्थ—(दोषाणाम्) वात आदि दोषों के (च) और (आमयानाम्) ज्वरादि रोगों के (गुणैः) लघु गुरु आदि २० गुणों से (विपरीत गुणम्) उलटे गुण वाले (सात्म्यम्) आत्मा के सह दर्शी (एव) ही (चेष्टितम्) शारीरिक और मानसिक व्यापार को (च) और (आद्यम्) आहार को (सात्म्यज्ञाः) सात्म्य आहार विहार के जानने वाले (इच्छन्ति) वर्त्तना चाहते हैं॥

भावार्थ-यह है कि-जो द्रव्य स्वस्थ के शरीर में प्राकृत दोषों के और रोगार्त्त को रोगों के विपरीत गुण वाला तो हो, पर असात्म्य हो तो उसका भी सेवन विशेष आज्ञा के

बिना न करना चाहिये ॥

सात्म्यासात्म्य विषय विचार

इस में सात्म्य के द्वारा आहार का निर्णय किया है (प्रश्न) सात्म्य किसको कहते हैं

(२२३) (उत्तर) सात्म्यं नाम तद्यत्सातत्येनोप सेव्यमान मुपशेते
च० । वि० अ० ८

अर्थ– (तत्) वह आहाराचार (सात्म्य) आत्मा का सहवर्ती (नाम) संज्ञक है (यत्) जो (सातत्येन) निरन्तर (उपसेव्यमानम्) सेवन किया हुआ (उपशेते) प्राणों को सुख देता है ॥ भावार्थ यह है, कि जो बालक से ले वृद्ध पर्यन्त सर्वदा सुखदायी रहता है, और जिसका सेवन हीनयोग अतियोग और मिथ्यायोगों के अतिरिक्त योग [हित] और सुयोग [अत्यन्त हित] है, वह सात्य है, तथा सुश्रु० सू० भाष्य० अ० २० में लिखा है कि–

(२२४) आत्मना देहेन स्थितं द्रव्य मविकारि सात्म्यम् ॥

अर्थ– जो वस्तु शरीर के साथ आहारादि के लिये विकार न करने वाली स्वभाव से ही स्थित [नियत] है वह सात्म्य कहिये। सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ३५ में कहा है कि–

(२२५) सात्म्यानि तु देश काल जात्यृतु रोग व्यायामोदक दिवा स्वप्नरस प्रभृतीनि प्रकृति विरुद्धान्यपि यान्यबाध कराणि भवन्ति ॥

अर्थ– जो देश, काल, जाति, ऋतु, रोग, व्यायाम, जल, दिनका सोना, रस [मधुरादि] और प्रभृति शब्द से लघु गुरु आदि गुण, शीतोष्णादि वीर्य, अवाध कर [पीड़ा न करने वाले] हों वे सात्म्य [२२३] कहिये। तथा प्रकृति के विरोधी [विपरीत] भी जो पीड़ा न करने वाले हों वे भी सात्म्य माने हैं।

(२२६) देश सात्म्य विवरण

देश दो होते ह, एक भूमि दूसरा शरीर- इन दोनोंकेभी दो दो भेद हैं, जैसे भूमि के भेद, एक समुदाय, दूसरा एक देश समुदाय इस नाम से जांगल [खुश्की का मुल्क] आनूप [तराई का मुल्क] साधारण [मिश्रित] देश इनके लक्षणों वाले सब देशों का ग्रहण करना, जो आहार उक्त सब देशों में समान सुख देने वाला हो, वह सर्व देश सात्म्य कहिये, जैसे मनुष्य मात्र का आहार सर्वत्र अन्न दुग्धादि है, और एक देश सात्म्य वह है, कि जो आहार जांगल में सुख दे, वैसा आनूप में न दे, यह एक देश सात्म्य जानों, यथा मलय देश वासी शाक आदि विशेष खाते हैं, और उससे उनको सुख रहता है, वैसा अन्य देश वासियों को न होगा। शरीर सात्म्य के भी दो भेद हैं, एक समुदाय का, दूसरा अवयव का शरीर समुदाय का सात्म्य, जैसा मधुर रस सब धातुओं को बढ़ाने वाला है शरीरावयव सात्म्थ जैसा कोई वस्तु नेत्रों को, कोई कंठ को, कोई बालों को ही हित होता है, यह भी एक देश सात्म्थ है ॥

काल सात्म्य विवरण

(२२७) काल दो प्रकार का होता है, एकतो आवास्थिक (अवस्था) का; दूसरा आर्त्तव (वसन्तादि ऋतु सम्बन्धी) परंतु यहां काल शब्द से प्रथम आवस्थिक का ही ग्रहण करना, क्योंकि ऋतु शब्द भी इसी सूत्र में आया है, इस कारण ऋतु शब्द पर इस आर्त्तव काल का विचार किया जायगा, यद्यपि एक काल शब्द में ही आर्त्तव भी आजाता, परन्तु ग्रन्थ कर्त्ता ने दोनों प्रकार के काल का सात्म्य विचार पृथक् २ स्पष्ट द्योतनार्थ ऋतु शब्द भी रक्खा है मत कोई एक प्रकार के काल सात्म्य का ही विचार कर निश्चिन्त हो बैठे, आवास्थिक काल के सात्म्य का विचार इस प्रकार है कि जिस अवस्था में आहार हितकारी हो वही काल सात्म्य है, जैसा बाल्यावस्था में भी यद्यपि मनुष्य का अन्न का खान पान जाति सात्म्य है, तथापि बालकों को अन्न प्राशन से पूर्व दूध ही उस अवस्था में सात्म्य आहार है ॥

(२२८) जाति सात्म्य विवरण

जिस जाति का जीवन जिस खान पान पर निर्भर हो उसका वही जाति सात्म्य आहार है, जैसा- मनुष्य जातिका जल, दूध, घी शालि, यव, गोधूमादि सात्म्य आहार होताहै, ।

तथा मृग जाति का तृणादि, पक्षी जाति का पतंगादि, सिंहादिकों का जांगम मांस, जाति सात्म्य आहार है,

ऋतु सात्म्य विवरण

(२२९) जिस ऋतुमें जो २ आहार और जो २ आचार हितकारी हों वेही उस ऋतु के सात्म्य हैं, जैसे—हेमन्तऋतु में तिल उड़द शाक दधि गुड़ इनका आहार, और रुईभरावस्त्र वा ऊनका वस्त्र पहिरना, तैल मर्दन करना, अगर, केसर, कस्तूरी का लेपन इत्यादि आचार जैसे हितकारी हैं, वैसे अन्य ऋतु में उक्त आहार और, आचार हित न होंगे॥

रोग सात्म्य विवरण

(२३०) एकान्तांहिताहारविहार, वा हिताहिताहारविहार की अभ्यस्तता से जो रोग पैदा होते हैं उनमें एकान्ताहित, वा हिताहित आहार विहार भी प्रायः रोग सात्म्य गिने जाते हैं। जिसरोगमें जो आहाराचार सुखदायी हो, वही उसरोग का सात्म्य आहार और सात्म्य आचार कहिये। जैसे कि गुल्मरोग में दूध, उदावर्त्त रोगमें घी- प्रमेह में शहद, सदैव हितकारी हैं, वैसे सर्वदा उक्त आहार अन्य रोगों में नहीं। इसी प्रकार के किसी २ रोग में जांगममांस- रुधिर. वसा- वा मज्जा. चिकित्सा शास्त्रमें देश कालादिके विचार पूर्वक रोगियों के देने कहेहैं, इत्यादि रोग सात्म्य आहार और रोगोंके हेतुओं को न करना आदि रोग सात्म्य आचार होताहै।

व्यायाम सात्म्य विवरण

(२३१) व्यायाम [परिश्रमकारि कर्म] तीन प्रकार का है, एक तो कायिक [जो शरीर से किया जाय] जैसा कि कूदना फांदना दौड़ना अखाड़ा आदि, दूसरा वाचिक [जो वाणी से किया जाय] जैसा कि गायन वा उदात्त स्वरपूर्वक सम्भाषणादि करना, तीसरा आभ्यन्तरिक [जो प्राण वायु के रोकने छोड़ने से. किया जाय] जैसा कि प्राणायाम। इन में जिस का जो अभ्यास करेगा उसको वही व्यायाम सात्म्य हो जायगा॥

जल सात्म्य विवरण

(२३२) जो जल सर्व देश में और सर्व काल में हितकारी हो वह सात्म्य है। जल

के दो भेद हैं-- एक दिव्य, दूसरा भौम, इन में दिव्य वह है जो आकाश से गिरता है। और भौम वह है जो भूमि से मिलता है। दिव्य के ४ चार भेद हैं, १ धाराज २ कार, ३ तौषार, ४ हैम, इन में जो जल मेघ से वर्षता हुआ पृथ्वी तक न आने पावै, वह ऊपर से ऊपर ही सोने, चांदी, तांवे, स्फटिक, काच, वा मिट्टी के बर्त्तन में लिया जाय वह धाराज है। इस के भी दो भेद हैं, एक गांगधार, दूसरा सामुद्रधार इन में गांग प्रायः आश्विन मास में बरसता है, इस की यह परीक्षा है, कि शालि चावलों के भात के पिंड को चांदी के बर्त्तन में रख कर वर्षते समय बाहिर रखदे, यदि दो घड़ी रक्खे रहने पर वह पिंड ज्यों का त्यों बना रहै, रंग रूप विगड़े नहीं वह गांगधार— इस के विपरीत होने पर सामुद्र जानिये, इन दोनों में गांग उत्तम है, परन्तु आश्विन के महीने में सामुद्र भी गांग ही के तुल्य है। दूसरा कार नाम करका [ओले] का जल, तीसरा तौषार, भाप [ओस] का जल चौथा हैम नाम बर्फ का जल—यह दिव्य जल कहा गया॥ अब दूसरा जो भौम जल है, वह ७ प्रकार का है। १ कौप [कूए का] २ नादेय (नदीका) ३ सारस (सरोवर का) ४ ताड़ाग (तालाब का) ५ प्रास्रवण (पहाड़ के झरने का) ६ औद्भिद [पृथ्वी को फोड़कर निकला] ७ चौंड्य (शिलाओं के ऊपर रोका हुआ) इस प्रकार दिव्य और भौम इन दोनों प्रकार के जलों में तौषार को छोड़ दिव्य तो सर्व सात्म्य है और भौम देश के और काल के अनुसार सात्म्य है— उदाहरण- जिन को जिसका बर्त्ताव है, वे जानते बर्त्तते हैं

दिवा स्वप्न सात्म्य विवरण

(२३३) दिन का सोना, बालक, बूढ़ा, स्त्री का थकाया, घायल, क्षीण (धातु क्षीण) नित्य प्रति मद्य पीने वाला, और रथ आदि यान के, घोड़ा आदि वाहन के, मार्ग के, और शारीरिक काम के, थकाये हुए. और भूखे तथा मेद, पसीना, कफ, रस रुधिर ये जिनके क्षय हो गये हों, और अजीर्ण के रोगी, इन सब को दो घड़ी दिन में सोना सर्व ऋतु में सात्म्य है, और इन के अतिरिक्त औरों को एक ग्रीष्म काल में ही दो घड़ी दिन में सोना सात्म्य है विस्तार प्रमाण सहित शयन प्रकरण में देखो॥

रस सात्म्य विवरण

(२३४) रस नाम मधुरादि छहो रसों के सात्म्य का विचारना- जैसा कि मधुर रस

सर्व प्राणि मात्र को विशेषकर सतोगुणी को सात्म्य है, और रजोगुणी को चरपरा और लोंन का स्वभाव से ही प्रिय और सात्म्य है, सूत्र के प्रभृति शब्द से गुरु लघु आदि गुणों के सात्म्य का भी विचार कर्त्तव्य है ॥

प्रकृति विरुद्ध सात्म्य विवरण

(२३५) यह नियम है, कि जो आहार विहार प्रकृति [देशानुपातिनी अर्थात् जन्म देश] के विरुद्ध है, वह हितकारी नहीं. जैसा कि जल के जीवको निर्जल स्थानका आहार विहार। (२३६) परन्तु वही अपना अबांधकर [हितकारी सात्म्य] जन्म भूमि का आहार वा विहार, केवल देश के वा काल के ही भिन्न होने से प्रकृति विरुद्ध हुआ हो वह भी सात्म्य है। (२३७) जैसे-इस देश के वा शरद ऋतु के पैदा हुए अन्न के खाने वाले को अन्य देश के वसन्त ऋतु के पैदा हुए अन्न का खाना सात्म्य है। (२३८) यदि जलजन्तु को निर्जल स्थान ही हित करै तो, निर्जल स्थान ही सात्म्य होना चाहिये, सो ऐसा हो नहीं सक्ता, क्योंकि यह विकृति है, इसका होना मृत्यु है. और प्रकृति जीवन है। ऐसा हो भी तो उसको रोगसात्म्य कहना चाहिये। (२३९) तथा प्रकृति प्रत्यात्मनियता भी है, उससे इसके विरुद्ध जो हो वह भी सात्म्य जानना, जैसा कि वात के स्वभाव वाले को उष्ण स्निग्ध इत्यादि सात्म्य, पित्तप्रकृति वाले को शीतलवस्तु शीतलदेश सात्म्य होता है,। (२४०) इन सब सात्म्यों में जाति सात्म्य मुख्य है, क्योंकि सब जीवों का जीवन जातिसात्म्य के सेवन से ही यथावत् होता है, अन्य से नहीं, इसका बदल देश वा काल आदि किसी हेतु से वा किसी अवस्था में नहीं हो सक्ता है। (२४१) परन्तु उक्त देश आदि से जातिसात्म्य के भेद का तो बदल हो सक्ता है, जैसे कि मनुष्य जाति का जातिसात्म्य अन्न, जल, दूध, शूकधान्य, [तूर का नाज] शमी धान्य [फली का नाज] तृणधान्य, कोशधान्य, आदि के भेदों से है, उनमें एक के स्थान में दूसरा वर्ताव में आ सक्ता है, कि जैसे कहीं के वासियों को गेहूँ, जौ, बाजरा, आदि, कहीं मूंग की दाल, कहीं उड़द की और कहीं अरहर की दाल, चावल और कहीं समंड़ी सात्म्य हो सक्ते हैं। (२४२) तथा यह बात पशुओं में भी है कि, जैसे आनूप देश के चरने वाले गाय भैंस आदि जांगल देश के तृण को, और जांगल के रहने वाले आनूप देश के तृणको खासक्ते हैं, सो यह जातिसात्म्य के भेद का बदल है, कुछ जाति सात्म्य का बदल नहीं, यह बदल जब करना चाहिये कि, तृणाहारी तो देश आदि के हेतु से मांस खाने लगें, और

मांसाहारी तृण चरने लगें, परन्तु ऐसा नहीं होता. मांसाहारी मांस ही, तृणाहारी तृण ही, खायगे इससे जो जातिसात्म्य है, वही प्राकृत [कुदरती] आहार है। (२४३) वरन सात्म्य के भेद के बदल में भी ऐसा होता है, कि जांगल देश के पशु कभी आनूप में जा रहते हैं तो वहां का तृण उन्हैं बहुत ही दिनों के अभ्यास से सात्म्य होता है, यह हमारा प्रत्यक्ष है, ।सम्वत् १६३४ में पहाड़े के पशु तृणाभाव से बहुधा गंगा के खादर में भेजे गयेथे, उन में कुछ तो मरगये, कुछ रहे सहे रोगायल हो गये, वे अपने स्थान पर भी आकर बहुत दिन में शुद्ध हुए. यही दशा मनुष्यों की भी है, इसी कारण मनुष्य का जातिसात्म्य अन्न ही मुख्य है, इसी के आहार से मनुष्य सब देश, सब काल, सब अवस्थाओं में जन्म भर यथेष्ट* जीवित रह सक्ता है, अन्य तृण वा मांस के आहार से किसी देश वा काल, वा अवस्था [हालत] में जन्म भर यथेष्ट नही जी सक्ता, । ३०४] [३०५] क्योंकि ये मनुष्य के जातिसात्म्य नहीं । (२४४) सं ० वक्ष्यमाण एकसात्म्य [२५४] के अन्तर्गत अभ्यस्तसात्म्य हो सक्ते है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही मननशील अपूर्व कल्पना करने की सामर्थ्य वाला है, इसीसे इस के भले बुरे आहाराचार मनमाने पृथक् २ कल्पना किये अभ्यस्त होकर नियत होजातेहै, इन्हीं के संशोधन के लिये आयुर्वेदीय स्वास्थ्य रक्षणार्थ शिक्षा, धर्म शास्त्रीय शिक्षा, आदि उपाय है ।

(२४५) इसे प्रत्यक्ष देखलो कि अफीम, संखिया, भांग, चर्स, गांझा, मद्य, तमाखू आदि, के खान पान की आवश्यकता विना किसी रोग के, आरोग्यता में कुछ नहीं है, परन्तु इस का सेवनाभ्यास करके बहुधा ऐसा झाड़ चिपटा लेते है कि जिसका छूटना अति कठिन हो जाता है. कोई २ मिट्टी खानी सीख जाते हैं और उनको अत्यन्त प्रिय लगने लगती है, परन्तु ऐसे आहार की बाँन पड़ जाने का परिणाम बुरा है, इसी प्रकार अनुचित विहार भी अभ्यस्त सात्म्य हो जाते है, इससे किसी विशेप कारण के विना असात्म्य, अप्राकृत, और असेव्य का अभ्यास से सात्म्य और सेव्य करना सब दोषों का कोप कराने वाला [१५७५ वें लेखानुसार] प्रज्ञा पराध है । (२४६) परन्तु बहुत बातें ऐसी हैं कि वे अभ्यास से ही मनुष्य में आती हैं, स्वाभाविक नही होतीं जैसे चोदहों विद्या और चोंसठ कला इनका अभ्यास सीखना मनुष्य का आवश्यकीय है, इन्ही से मनुष्यत्त्व है, किन्तु पशुओं में बहुत सी बातें इनमें की स्वाभाविक हैं, जैसा कि जल में तरना

---

* हितायु [६२] का होना यथेष्ट कहाता है,

आदि, इससे स्वाभाविक आहार विहारों में कुछ विधि निषेध नहीं. परन्तु अभ्यस्त में विचार कर्त्तव्य है जैसा कि मनुष्य के लिये कहा है कि "नभुञ्जीतोदधृतस्नेहम्,, जिस भोज्य वस्तु में से स्नेह निकल गया हो उसे न खावे [१४३७] "नदीन्तरेन्न बाहुभ्याम्,, नदी को भुजा से न तरे। देखो- मनुष्य के अतिरिक्त अन्य गाय भैंस आदि जीवों का बच्चा भी अपने असात्म्य को कदापि स्वभाव से नहीं खाता। और मनुष्य का बालक बिना रक्षा और शिक्षा के कदापि अपने आहार विहारों को शुद्ध नहीं करता। (२४७) यहां तक है कि जो वस्तु अशिक्षित बच्चे के हाथ लग जाती है. चाहें खाद्य हो वा अखाद्य सबको मुख में दे लेता है, यदि रक्षा न की जाय तो निगल भी जाता है, ऐसी प्रकृति होने से ही बिना रक्षा शिक्षा के अहित करने का भी अभ्यमन पडनः मनुष्य का सम्भव है और बढ़ कर प्रचार पाने पर वही आहाराचार कुल का, देश का कुछ दिन पीछे प्राचीन और प्राकृत सा भान होने लगता है॥ (२४८) जो कर्म बार २ के निरन्तर करने से प्रकृति में समाया सा होजाय, और उसके करने में कुछ कठिनाई भी प्रतीत न हो, जो सहज (सहजन्मा) सा अर्थात् अप्राकृत प्राकृत सा हो गया हो उसे सहजसा वा सहज कर लेना कार्य का लोकप्रसिद्ध है। (२४९) देखो अबसे २५० वर्ष पहिले इस देश में तमाखू की उत्पत्ति भी न थी परन्तु अब वही. अनेक प्रकार से जने २ के मुख में पहुंचने लगगया, चाहे इसे सनातन सदाचार भी कहने लगे तो कुछ आश्चर्य नहीं॥ इसी प्रकार बहुत सी अनिष्ट वस्तु अभ्यस्त सात्म्य होगई, और उनका बिना विचार प्रचार बढ़ने से उनका लेख भी प्रायः ग्रन्थों में प्रचलित होगया, और होता जाता है परन्तु उनके लेख में सन्देह सर्वत्र मिलेगा, यदि एक वाक्य विधान का होगा. तो दूसरा निषेध का होगा॥ जैसा कि जागम मांस के खाने में मनुस्मृति महाभारतादि में परस्पर विरुद्ध लेख पाये जाते है॥ (२५०) और जो जाति सात्म्य आहार है उसकी कहीं किसी ग्रन्थ में द्विविधा न होगी, जैसा कि जल को पेय लिखा हो और फिर कहीं अपेय, अन्न को कहीं खाद्य, और कहीं अखाद्य, सो नहीं क्योंकि जातिसात्म्य आहार का उदराग्नि की शुद्धता होने पर किसी देश वा काल वा अवस्था में ,त्याग कहीं नहीं लिखा और अभ्यास से सात्म्य हुए का अभ्यस्त होने पर त्याग तथा अनभ्यस्त होनेपर ग्रहण देश के, काल के, वा अवस्थादि के,,किसी विशेष कारण से हुआ करता है जैसे कि दुग्धादि मानसिक वृत्तियों के लिये भी उपयोगी न होने के कारण ब्रह्मचर्याश्रम मे रासायनिक वृद्धावस्था की व्याधियों के नाश करने वाले प्रयोगों में उन्माद अपस्मारादि मन के रोगों में दुग्ध

गर्भिणी स्त्री के आहारों में यदि अभ्यस्तता से भी मांस सात्म्यहो तो [illegible] लिखा है। (२५१) यदि मांस मनुष्य जाति का स्वाभाविक एकान्तहित सात्म्य होता तो उक्त ब्रह्मचर्यादि स्थानों में धर्मशास्त्र और आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वर्जित न लिखा होता।(२५२) इससे यह सिद्ध हुआ कि यह अभ्यस्त सात्म्य है। इसी से चरक चिकित्सा स्थान अध्याय ३ में लिखा है कि—

(२५३) कुरंगा न्कालपुच्छांश्च हरिणान् पृषतान् शशान्।
प्रदद्या न्मांस सात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान्॥ इत्यादि

अर्थ—और ताम्रवर्णमृग कूलेचरों में काली पूंछ का हिरन, तथा मृगमात्र, स्वेत बिन्दुओं का चीतल मृग, और खरगोश, इनका मांस उस ज्वर के रोगी को देवै कि, जिस ने मांसाहार सात्म्य कर लिया हो, क्योंकि इन का मांस ज्वर में रोगसात्म्य है।

यहां एक तो ज्वर में इनका मांस रोगसात्म्य समझना चाहिये, द्वितीय, किसी देश वासियों ने अभ्यस्त [आदतन्] सात्म्य [मुआफिक] कर लिया हो, जैसे कि अहिफेन मद्य आदि को सात्म्य कर लेते हैं, उन को रोगी होने पर भी मादक वस्तु खाये पीये बिना नहीं बीतती। इसी प्रकार मांससात्म्य जन यूषसात्म्यों [मूंग मसूर आदि अन्नों की दाल खाने वालों] से पृथक् लिखे,नहीं तो 'प्रदद्यादन्नपर्याय' देता, वा इस के अनुकूल, होना चाहिये था सो नहीं॥

चरक सूत्रस्थान अ० ६ में लिखा है कि—

(२५४) उपशेते यदौचित्या देक सात्म्य न्तदुच्यते॥

अर्थ—(यत्) जो आहार विहार (औचित्यात्) किसी देश, या काल आदि के वा अभ्यास के कारण सेवन करने की योग्यता हो जाने से (उपशेते) सुख देता है (तत्) वह (एकसात्म्य) अर्थात् एक देशीय सात्म्य (उच्यते) कहाता है। (२५५) ऐसे जाति सात्म्य के आहारादि को छोड़ देशादि के सात्म्य अर्थात् एक सात्म्य नाम एक प्रकार के सात्म्य हो जाते हैं फिर उनका एक साथ छोड़ना नहीं बनता।

देखो चरक चिकित्सा स्थान अ० ३० में लिखा है कि—

(२५६) औचित्यादस्य यत्सात्म्य न्देशस्य पुरुषस्य च।
अपथ्य मपि न त्याज्यं तत्र [illegible] दुःखद॥

अर्थ– (यस्य) जिस मनुष्य को (देशस्य) देश की (च) और (पुरुषस्य) पुरुष की (औचित्यात्) योग्यता [तदर्हत्व] के कारण से (अपथ्यम्) सेवन न करने योग्य (अपि) भी (यत्) जो विहार (एकान्तात्) अतिशय (सात्म्यं) आत्मा का सहवर्त्ती हो जाय (तत्) उस को (त्यजन्) छोड़ते हुए (सुखम्) आराम (न) नहीं (लभते) पाता ॥ जैसे कि–आगे कहते हैं–

(२५७) वाल्हीकाः पल्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांस गोधूम मार्द्वीक शस्त्र वैश्वानरोचिताः॥

(२५८) क्षारसात्म्या स्तथा प्राच्याः (२५९) मत्स्यसात्म्याश्च सैंधवाः

(२६०) अश्मकावर्तकाना न्तु तैलाम्लं सात्म्य मुच्यते॥

(२६१) शाक मूल फलं सात्म्यम् विद्या न्मलय वासिनाम्।
सात्म्यं दक्षिणतः पेया (२६२) मन्थ श्चोत्तरपश्चिमे॥

(२६३) मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यव गोधूम गोरसाः।

अर्थ–वाल्हीक [बलख बुखारा] जहां कि एक प्रकारकी हींग होती है, पल्लव, फारस [काबुल, यवन, [यूनान] शक [यूरुप से लेकर तिब्बत और तातार] गांधार [कन्धार] और ईशान के देशों में चीन और पश्चिमोत्तरीय देशों में शूलीक इन देशों के वासी, मांस, गेहूं, मुनक्का, मुनक्का के आसव इन के आहारी और शस्त्रों में (वैश्वानरोचिताः) अग्न्यास्त्र की योग्यता के अभ्यास वाले हैं अर्थात् भुशुंडी [बंदूक] आदि अग्न्यास्त्र का प्रहार उचित समझते हैं । आर्यों ने सदैव से मांसाहार को, शरावको और अग्न्यास्त्र के प्रहार को भी अधर्म माना है। जिन्हें देखना हो, वे मनु अ० ७ श्लो० ९० देखें ॥

अङ्ग वङ्ग कलिङ्गादि देश तथा आसाम ब्रह्मा प्रभृतिक प्राच्य देशों में दूध के विकारों को छोड़ केवल दूध, जाति सात्म्य के अतिरिक्त देशसात्म्य भी है, तथा उदीच्य देशों के मध्य सिन्धु देश के मनुष्यों ने मत्स्य सात्म्य कर लिये हैं, और पश्चिमोत्तरीय देशों के बीच आवर्त्तक [कर्त्तक] देश में तेल, और खटाई सात्म्य बना लिये हैं ॥

और मलय पर्वत के वासियों को पत्र, मूल, फल के शाक, सात्म्य हैं और दक्षिण में पेया [लपसी] और उत्तर पश्चिम में मन्थ [illegible] घुले हुए सत्तू] सात्म्य हैं। कुरु, पांचाल, शाल्व, जांगल, शूरसेन [कोसा मथुरादि] मुद्रकार, बोधक, पटच्चर, मत्स्य, [कान्हरपुर प्रदेश जयपुरराज्य] किरात, [भीलवाड़ा] कुन्त्य, कुन्तय, कुन्तकोशल, आवन्त, पुलिंग, कोल, अन्धक, इन सबकी गणना मध्य देश में है इनमें जौ गेंहूं गोरस अर्थात् दूध की सब चीजें सात्म्य हैं ॥ अब अगले श्लोक से उक्त सात्म्यों का प्रयोजन चरक मुनि लिखते हैं कि–

(२६४) तेषां तत्सात्म्य युक्तानि भैषज्या न्यवचारयेत्।
सात्म्यं ह्याशु बलंधत्ते नातिदोषं करोत्यपि ॥
योगैरेवं चिकित्सन्हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति।

च० चि० अ० ३०

अर्थ–उन [देश वासियों को] उन्हीं के सात्म्य [अभ्यस्ताहार वस्तुओं] के साथ मिलाकर वैद्य लोग औषधियों को वर्त्तें, क्योंकि सात्म्य नाम आत्मा के सहवर्ती हुई अभ्यस्त वस्तु; आत्मा को सहन हो जाना, रुचजाना, ठहरा देना, इत्यादि को और रूप बल को अपने साथ सेवन की हुई दवा में शीघ्र धर देती है, और आप अभ्यस्त होने के कारण बहुत अवगुण भी नहीं करती, इस से जो देश तथा काल आदि के विचार से अज्ञ है, वह योगों [नुसखा] से चिकित्सा करता हुआ अपराधी होता है। (२६५) सं० सारांश यह है कि उक्त देशों में उक्त वस्तुओं का सात्म्य कथन उन के केवल विशेष अभ्यास को सूचित करता है क्योंकि जौ, गेहूं मुनक्का, दूध, पेया, मन्थ, ये तो मनुष्य के जाति सात्म्य ही हैं, इनका सात्म्य कहना व्यर्थ था, और शस्त्रों में अभ्यास की योग्यता होना, इसका देश से क्या सात्म्य ? और क्षार, [१७२] संख्या के अनुसार एकान्ताहित है, यह भी सात्म्य नहीं हो सकता, और तेज, खटाई, मांस ये हिताहित हैं, ये किसी को कभी हित किसी को कभी अहित हैं, इनका भी नियम से देश सात्म्य होना नहीं बनता, फिर कहिये उक्त पदार्थ उक्त देशों के ही कैसे सात्म्य हो सक्ते हैं, क्या इतर देशों को असात्म्य होंगे ? सो नहीं। (२६६) सं० इस से यह सिद्ध हुआ कि वाल्हीक आदि देशों में मांस गेंहूं आदि पदार्थों का विशेष करके नित्य-

प्रति बर्ताव में आने का अभ्यसन हुआ देखा इससे चरक मुनिको मांस गेहूं आदि की सात्म्यता वाह्लीकादि देशों के साथ विशेष कर चिकित्सार्थ लिखनी पड़ी, सो एकान्त हितों को छोड़ एकान्ताहित वा हिताहितों का अभ्यास से सात्म्य करना [२५४] अंकानुसार एक सात्म्य है । इसी को अभ्यस्त सात्म्य कहिये ॥

(२६७) और यही कारण चिकित्सा शास्त्र में मांसवर्ग लिखने का और उसमें से मांससात्म्य मनुष्यों के चिकित्सार्थ हिताहितीयाध्याय में मांस के प्रसंगका भी है, जिन्हों ने मांस खाने का अभ्यास कर लिया हो, वे मनुष्य मांस सात्म्य कहाते हैं. उनको चिकित्सा में यदि मांस दिया जाय तो किन जीवों का दिया जाय, इस विचार से जिनका सामान्यता से पथ्यतम समझा हिताहितीयाध्याय में उनही जीवों की गणना की है, और मांससात्म्यों के लिये प्रतिरोग में भी जिस रोग का जो सात्म्य मांस है, वह देना कहा । जैसा कि यक्ष्मा रोग में मांसाहारी पशु पक्षियों का मांस देना लिखा — कि —

(२६८) मांसेनो पचितांगानां मांसं मांस करम्परम् ॥

अर्थ — मांस से जिनका शरीर पोषित हुआ है, उनका मांस, मांसको अत्यन्त बढ़ाता है

(२६९) इस अवसर में हिताहितीय अध्याय के एकान्ताहित वर्ग का भी ध्यान न कर राजयक्ष्मा वाले को उनका मांस खाना लिखा, कि जिनके मांस के खाने से मांस सात्म्य मनुष्य भी घृणा करैं; परन्तु यह आज्ञा आपत्काल में है, और उनहीं के लिये है, जो मांससात्म्य हैं । (२७०) सं० क्योंकि जो मांसाद होगा उसको एणादि हिताहितीयोक्त भी ठीक नहीं । (२७१) सं० मांसाहारी जीवों के अतिरिक्त अन्य फलाहारी या तृणाहारी जीवों के शरीरमें मांस बढ़ जाना, वा घट जाना, फल, वा तृण के लाभालाभ से प्रत्यक्ष है, वह न होता, इससे मांस से मांस का बढ़ना कहा, यह फलाहारी और तृणाहारियों के लिये स्थावर मांस का उपलक्षण मात्र है, और वह निम्न लेख भी न होता ॥

(२७२) दद्यान्मांसाद मांसानि बृंहणानि विशेषतः ।
शोषिणो बर्हिणं दद्याद्बर्हि शब्देन चापरान् ॥

गृध्रा नुलूकाँ श्चासांश्च विधिव त्सूप कल्पितान्।
काका न्तित्तिर शब्देन मत्स्य शब्देन चोरगान्॥
भ्रष्टान्मत्स्यान्त्र शब्देन दद्याद् गंडूपदानपि।
लोमशा न्स्थूल नकुला न्विडालाँश्चोपकल्पितान्॥
शृगाल शावांश्चभिषक् शश शब्देन दापयेत्।
सिंहा नृक्षाँ स्तरक्षूँश्च व्याघ्रा नेवं विधाँ स्तथा॥
मांसादा न्मृग शब्देन दद्यान्मांस विवृद्धये।
गज खड्गि तुरंगाणां वेशवार कृता न्भिषक्॥
दद्या न्महिष शब्देन मांसं मांसाभि वृद्धये।
मांसेनो पचितांगानां मांसं मांस करम्परम्॥

अर्थ – मांस हारी जीवों का मांस अत्यन्त बृंहण होता है इस कारण शोष के रोगी को मोर का मांस खाने को देवै अथवा मोर के शब्द से अन्य गृध्र उल्लू और चील का मांस अनेक प्रकार शाक भाजी की प्रक्रिया से बनाकर सेवन करावै, तीतर के नाम से कौए का मांस, मछली के नाग से सर्प का मांस, मछली की आंत के नाम से गिरोए [केंचुए], खरगोश के मांस के नाम से बड़े २ रोमों वाले नकुल का मांस, बिल्ली वा गीदड़ के बच्चे का मांस, अच्छे प्रकार बनाकर देवै, हिरन के मास के नाम से सिंह, रीछ, तैंदुआ, बघेरा, तथा ऐसे ही अन्य मांसाहारी पशुओं का भी मांस मांस की वृद्धि के लिये देवै, भैंसा के मांस के नाम से हाथी गैंडा घोड़ा इन को यथा विधि मसाले डालकर बनाकर मांस की वृद्धि के लिये वैद्य खाने को देवै। (२७२) सं० अव विचारो कि इस उपरोक्त लेख से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिसने मोर खाया है, उसी को मोर कह कर गृध्र, उल्लू, चील, खिलायाजासक्ता है, और जिस ने तित्तिर खाया होगा वही तीतर के धोखे से कौवे को खालेगा और जिस ने कभी किसी का भी मांस नहीं खाया, वह तो किसी का भी मांस जान कर कदापि नहीं खायगा यह सब राक्षसकाय [६६।६७] पैशाच कायिक बनीप्रकृति वालों के चिकित्सा के ही लिये गड़बड़ की है॥

प्रश्न- चरक विमान स्थान अध्याय ८ में यह क्यों लिखा है कि–

(२७४) तत्र ये घृतक्षीरतैल मांसरससात्म्या, सर्वरससात्म्या श्च ते बलवन्तः क्लेशसहा श्चिरजीविनो भवन्ति ॥

(२७५) रूक्षानित्या पुन रेकरस सात्म्याश्च ये ते प्रायेणा-ल्पबला श्चा क्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च ।

(२७६) व्यामिश्र सात्म्यास्तु ये ते मध्यमबलाः सात्म्य-निमित्ततः ॥

अर्थ—आहार को अभ्यास से सात्म्य कर लेने वालों में घी, दूध, तेल, वा मांस का रस ये जिन को सात्म्य हैं, वे, और जो सर्व रस [मधुरादि सब रस] सात्म्य वाले होते हैं, वे, बलवन्त, क्लेशों को सहलेने वाले, और बहुत जीने वाले होते हैं । और जो नित्य प्रति रूखा खाते हों, वा सदा एक ही रस खाने का अभ्यास रखने वाले हों वे विशेष कर अल्पबल वाले, क्लेशों को न सहने वाले, थोड़ी अवस्था और थोड़ी सामग्री वाले, होते हैं । और जो मिश्रित के अभ्यासी हैं, वे मध्यमबल, होते हैं । ये सब बातें सात्म्य के कारण से परीक्षा करनी । (२७७) (प्रश्न—) कहिये यदि मनुष्य को मांस सात्म्य [आत्मा के अनुकूल] नहीं है तो उक्त सूत्र में मांस सात्म्य मनुष्य क्यों लिखे और जैसे घृत के दूध के और तेल के सात्म्य होते हैं ऐसे मांस के भी होने चाहियें, क्योंकि मांस सात्म्य भी इन्हीं के साथ गिने हैं । (२७८) सं० (उत्तर) मित्र इस सूत्र में भी मांस सात्म्य शब्द से विशेष अभ्यास ही सूचित किया है कारण इस में यह है कि घी दूध ये तो मनुष्य के जाति सात्म्य ही है, ये किस के सात्म्य नहीं, और तेल, और मांस ये हिताहित हैं, इन में कोई कालसात्म्य, कोई रोगसात्म्य, कोई देशसात्म्य होते हैं, ये एकान्तहित नहीं । (२७९) सं० इस कारण एक तो वे जिन को घृतादि असात्म्य हों, और एक वे जिनको घृतादि सात्म्य हों, ऐसे मनुष्य आपके विचार से न हो सकेंगे, इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे [२६५] संख्या के लेख में विशेषाहाराभ्यासी सूचित किये हैं, इसी प्रकार [२७४] में भी घृतादि के विशेषाहाराभ्यासी दिखाये हैं । अर्थात् नित्य प्रति घी, वा दूध, वा तेल, वा मांस के विशेष आहार करने का अभ्यास वाले मनुष्य लिये । इन के खाने का अधिक अभ्यास बढ़ा

कर अधिक खा पचा जाने वाले मनुष्य यहां इन के सात्म्य कहे हैं। (२८०) सं० यह बात प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि जो बच्चापन से ही नित्य प्रति घी, दूध, तेल खाते पीते रहते हैं, वे ही कभी २ लब्ध होने वालों से अधिक खाने पचाने वाले होते हैं, देखो तेली जिस प्रकार तेल को अधिक खा पचा सक्ता है उस प्रकार अन्य नहीं, यदि अन्य कोई ऐसा होगा भी तो वह विशेष अभ्यासी ही हो सक्ता है जैसे कि बंगाली तैल सात्म्य होते हैं। इसी प्रकार यहां मांसाहार का भी विशेषाभ्यासी मांससात्म्य कहा ॥

(२८१) (प्रश्न) अच्छा तो विशेष ही अभ्यास से जो सात्म्य हो जाय तो क्या बुराई है, ?। सं० (उत्तर) हां बुराई है, अभ्यास से भी सात्म्य करना उसका उचित है, कि जो एकान्ता हित, जाति सात्म्य, [१७१] अर्थात् प्राकृत सात्म्य है, कि जिसके अभ्यास सात्म्य का अति योग भी उसके अनभ्यासियों की अपेक्षा हित करता है, और विना अभ्यास अहित करता है, जैसा कि दूध का पीना,। (२८२) अब असात्म्यके अभ्यासका वृत्त सुनिये। यह वृत्त चरक विमान स्थान अध्याय १ में लिखा है, उसका संक्षेप से भाषा में अर्थ मात्र लिखते हैं, कि, (२८३) तीन द्रव्य अधिक सेवन कदापि न करै १ पीपल २ क्षार [जवाखार सोडा आदि] और ३ लवण रस, यहां पीपल के वृत्त की तो अनावश्यकता है, क्षार और लवण का ही विचार लिखते हैं, विस्तार चरक में देखो। (२८४) क्षार के अधिक सेवी देश प्रायः अन्धापन, नपुंसकता, बालों का उड़ना और सफेद होना, हृदय का कांपना इत्यादि रोगों से युक्त होते हैं। वे जैसे (२८५) अंग आदि २१ पूर्वीय देशों के, और चीन के वासी हैं, इस से क्षार को अति न वर्त्तै। (२८६) लवण के अति सेवन करने वाले देशों के मनुष्य ढीले मांस, और ढीले रुधिर वाले और क्लेशों को न सहने वाले होते हैं, वे जैसे कि बाल्हीक [बलख बुखारा] सौराष्ट्रिक [कोंकण से पश्चिम समुद्र प्रान्त हिंगलाज तक दशयोजन] सैंधव [लंका से मक्के तक का देश] और सौवीरक [सूर सेन से पूर्व की ओर गण्डकी से पश्चिमीयदेश] हैं। ये दूध के साथभी सदैव लवण खाते हैं। (२८७) देखो-जो यहां पृथिवीके भी अति ऊषर स्थल हैं, उन में औषध, बेल, वनस्पति, वृक्षादि, कोई नहीं उपजता है, वा उपजता भी है तो लवण से दूषित होने के कारण अल्पवीर्य होता है। इसी प्रकार जो लवणसात्म्य [लवण के विशेषाभ्यासी] मनुष्य हैं तिनके भी बालों का उड़ना, और न जमना, शरीर में सलवट, और सफेद बाल, असमय में ही हो जाते हैं। अब आगे

यहां ज्यों का त्यों पाठ मूल का लिख कर अर्थ लिखते हैं॥

(२८८) तस्मा त्तेषां तत्सात्म्यतः क्रमेणा पगमनं श्रेयः।
सात्म्य मपिहि क्रमेणो प निवर्त्यमान मदोष मल्पदोषं
वाभवति। च० वि० स्था० अ० १

अर्थ—इस पूर्वोक्त कारण से उन तीनों के उस सात्म्य से अर्थात् अभ्यासजन्य सात्म्य से थोड़ा २ कर कै दूर होना कल्याण कारी है, एक साथ नहीं, सात्म्य भी होगया हो तब भी क्रम से छोड़ा हुआ अवगुण नहीं करता, वा करता भी है तो थोड़ा करता है (२८६) सं० अब विचारो कि सात्म्य को छोड़ने की आज्ञा क्यों होनी चाहिये, सात्म्य [२२२। २२३। २६७] तो भति ही उत्तम होता है, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि एक ऐसा भी कोई सात्म्य होता है कि, जिसके छोड़ने की आज्ञा माननी आवश्यक है। सो ऐसा एकान्ताहित, वा हिताहित वस्तुओं का अभ्यास से सात्म्य होजाना यहां सात्म्य कहा है, इससे इसके छोड़ने की आज्ञा है, ऐसे सात्म्यों के सेवन करने वालों के कुछ उदाहरण लिखते हैं। सुश्रुत भाष्य अध्याय ६ में डल्लना चार्य कहते हैं कि--

(२६०) मत्स्याम्ल भोजिनः प्राच्याः नित्यं चानूपसेविनः।
श्लीपदा गलगण्डाश्च प्राय स्तेषु भवन्ति हि॥

(२६१) निम्नतोयगता न्मत्स्या न्भक्षयन्ति समुद्रजान्।
प्रायशः कुष्ठिन स्तेन मनुष्याः दक्षिणाश्रिताः॥

(२६२) तैलाम्ल भोजिनो नित्यं गोधूम विदलाशिनः।
भूयिष्ठ मर्शसास्तेन खञ्जाश्चा वन्तिजा नराः॥

(२६३) मांसकामाः सुराकामाः स्त्रीकामाः साहसे रताः।
मागधास्तेन भूयिष्ठं दृश्यन्ते राज यक्ष्मिणः॥

(२६४) तीक्ष्णान्य न्यानि सेवन्ते वाल्हिकास्तु विशेषतः।

अभिष्यन्दीनि मांसानि तथा धान्योदकानि च ॥
प्रकृत्या चा प्यभिष्यंदान् सेवन्ते मानवाः सदा ।
तेन वाल्हीक देशेषु प्रायो व्याधि र्बलासकः ॥

(२९५) नानादेशेषु भावा ये ऽनाचारा स्तेन सात्विकाः ॥

(२९६) धर्मिणो धर्मिणस्तेषां सात्म्यं सत्त्वं च लक्षयेत् ॥

(२९७) वर्जनाद्दतु सात्म्यानां कृषो नित्यं सुदुर्बलः ॥
नित्यं रोगा भिभूतश्च पुमान्सात्म्य विवर्जनात् ॥

(२९८) तस्मात्सात्म्यं निषेवेत असात्म्यं परिवर्जयेत् ॥

(२९९) सात्म्यसेवी जितक्रोधो नित्यं चापि जितेंद्रियः ।
जीर्णभोजी मितस्वप्नः सुखं जीव त्यनामयः ॥

अर्थ–प्राच्याः [पूर्वीय देशों के वासी मनुष्य] मछली खटाई सदा खाते रहते हैं और आनूप [तराई के देश] में वसते हैं, इस कारण उनके श्लीपद [फील पाव] और गलगंड ये रोग प्रायः होते हैं। समुद्र के समीप वर्त्ती दक्षिण के देशों के वासी मनुष्य समुद्र की बाढ़ के साथ नीचे स्थलों के जलाशयों में आई समुद्र की मछलियों को खाते हैं, इससे विशेष कर वे कुष्ठ के रोगी होते हैं। उज्जैन प्रान्त में जन्मे मनुष्य सदा तेल खटाई खाने वाले, और गेहूं के दलिये के भोजी हैं, इससे विशेष कर अर्श के रोगी और लंगडे होते हैं,। विहार प्रान्त मगध देश के वासी, मांस के खाने में, तथा शराबके पीने में, स्त्रीविषय करने में, और साहस [फ़ौजदारी, वा बल के काम] करने में, लोलीन रहते हैं, इस कारण से वे गुदा राज यक्ष्मा के रोगी दीख पड़ते हैं। वाल्हीक [बलख बुखारे] के रहने वाले विशेष कर तीक्ष्ण [लसन आदि] आहार सेवन करते हैं, और अभिष्यन्दि [स्रोतों के रोकने वाले] मांसों को और धान्योदक [धानों से बनी कांजी] को तथा स्वभाव से अन्य भी अभिष्यन्दि पदार्थों का नित्य सेवन करते हैं, इससे वाल्हीक देशोंमें प्रायः कफ के रोग अधिक होते हैं, जो देशों के मध्य अनेक आचार करने वाले देश हैं, वे सात्विक अर्थात् सतोगुण

की सम्पदा वाले [५७ से ले ६३ तक] नहीं होते । वैद्य को चाहिये कि उन देशोंके धर्मी मनुष्यों के सात्म्य असात्म्य और अभ्यस्तसात्म्य आहार विहारों को और [सत्त्व मानसिक दशा]को लखै। ऋतुसात्म्य पदार्थोंके त्यागकरने से, मनुष्य सदैव थका और बलहीन रहता है, तथा सात्म्य के छोड़ने से नित्य रोगों से संयुक्त रहता है, इससे सात्म्य आहार विहारों का सेवनकरै, और असात्म्यों को सर्बथा छोडै । सात्म्य सेवन करने वाला, क्रोधको जीतने वाला अन्न पचजानेपर भोजन करने वाला, और प्रमाण से सोनेवाला, मनुष्य रोग रहित सुखपूर्वक जीता है ॥

प्राकृत सात्म्य के गुण

(३००) " यथा सात्म्य श्चेष्टा भ्यवहारो पसेव्यानां "

च० सू० स्था० अ० २५

अर्थ– चेष्टा [शरीर का हिलाना चलाना आदि] और अभ्यवहार [भोजन] और उपसेव्य [विहार] अर्थात् शारीरिक मानसिक व्यापार जितने प्रकार के हैं, अर्थात् सात्म्य असात्म्य और अभ्यस्त सात्म्य, इनसबके मध्य [यथा योग्यता में] सात्म्य ही प्रधान है ॥

(३०१) सात्म्य रसोपयोगा दरोगो ऽभिवर्द्धते ॥

च० शा० स्था० अ० १

अर्थ– सात्म्य रस के सेवन करने वाला रोगरहित सब ओर से बढ़ता है ।

अन्यच्च

(३०२) वर्षशतं खल्वा युषः प्रमाण मस्मिन्काले तस्य निमित्तं प्रकृति गुण सम्प त्सात्म्यो पसेवनं चेति ॥ च० शा० अ० ६

अर्थ– इस समय में मनुष्य की अवस्था का प्रमाण सौ वर्षका है, उसका कारण प्रकृति के गुणों की सम्पत् और सात्म्य सेवनही है ॥

(३०३) तद्यथा रोग मनालस्य मलोलुपत्व मिन्द्रिय प्रसादः स्वरवर्ण वीर्य सम्पत्प्रहर्ष भूयस्त्व श्चेति सात्म्यजानि।

च० शा० स्था० अ० १

अर्थ - जो जो बातें सात्म्य आहार विहार सेवन करने वाले स्त्री पुरुषों के गर्भाधान से संतान में होती हैं, ते इसप्रकार हैं, आरोग्य रहना, आलस्य रहित होना, निर्लोभता, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की निर्मलता, अर्थात् अपने २ विषयों की यथावत् ग्रहण प्रवर्तन शक्ति, स्वर, वर्ण वीर्य, इनका सर्वथा उत्तम होना, और अधिक उत्तम हर्ष का होना, ये सब सात्म्यज हैं ॥

(२०४) हिताभि र्जुहुया न्नित्य मन्तराग्निं समाहितः।
अन्नपान समिद्भि र्ना मात्राकालौ विचारयन् ॥
आहिताग्निः सदा पथ्या न्यन्त राग्नौ जुहोतियः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ॥
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पान भोजनैः।
भजन्ते नाऽऽमयाः केचिद् भाविनो ऽप्यन्तराहृते ॥
षट् त्रिंशच्च सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीव त्यनातुरो जन्तु र्जितात्मा सम्मतः सताम् ॥

च० सू० स्था० अ० २७

अर्थ--उचित है कि (ना) मनुष्य (समाहितः) दत्त चित्त हो (मात्रा कालौ) अन्न और पान के प्रमाण को और उन के समय को (विचारयन्) विचारता हुआ (अन्त राग्निं) जठराग्नि में (हिताभिः) हित करने वाली (अन्न पान समिद्भिः) अन्न और पान रूपी समिधाओं से (नित्यम्) सदा (जुहुयात्) हवन करै। (यः) जो मनुष्य (आहिताग्नेः) समय से सुरक्षित वा वेद मंत्रों द्वारा स्थापन की हुई अग्नि के (पथ्यानि) सेवन करने योग्य आहारों को (अन्तराग्नौ) जठराग्नि में (सदा) नित्य प्रति (जुहोति) हवन करता है , (अथ) और (दिवसे दिवसे) प्रति दिन (ब्रह्म) वेद को (जपति) शुद्ध व्यक्त वाणी से पढ़ता है (च) और (ददाति वेद का दान करता है अर्थात् पढ़ाता है अथवा ब्रह्म नाम परमेश्वर का जप करता है और सुपात्रों को दान देता है इस प्रकार (अन्तराद्दृते) निरन्तर (पान भोजनैः) पीने से और खाने से (निःश्रेयसे) अभीष्ट सिद्धि के लिये (युक्तम्) जुटे (सात्म्यज्ञम्) सात्म्य और अभ्यस्त सात्म्य के ज्ञाता (नरम्) मनुष्य को (केचित्) कोई (अपि) भी (भाविनः) होने वाले (आमयाः) अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत रोग

(न) नहीं (भजन्ते) सेवन करते हैं, अर्थात् नहीं होते (च) और वह (जन्तुः) पुरुष (हित भोजनः) हिताहार भोजी (जितात्मा) जितेन्द्रिय (सताम्) सज्जनों का (सम्मतः) सम्मान किया (अनातुरः) रोग रहित (षट् त्रिंशत्) छत्तीस (सहस्राणि) हज़ार (रात्रीणाम्) रात्रि पर्यन्त (जीवति) जीता है अर्थात् १०० वर्ष की आयु पाता है

'मांसाहार विषय में अनेक डाक्टरों की सम्मति,

(३०५) डाक्टर ऐट किन्स Ait Kins का मत है कि जिस प्रकार मनुष्य निरा फलाहारी होकर भले प्रकार स्वस्थ रह सक्ता है, निरा मांस भक्षी होकर कदापि नहीं रह सक्ता। इसमें वे यह प्रमाण देते हैं। जब मिश्र देश में फ्रांसीसी लोग नइल नदी के किनारे एक नगर में घिर गये थे तो उन को वहां नदी में से मछली पकड़ २ कर खाने के सिवाय और कुछ भोजन नहीं मिला इसका परिणाम यह हुआ कि उन सब को स्क्युरेरी Scurary रोग होगया।

(३०६) बैर्नार्ड Bernard और लैन्ट Lent इन डाक्टरों ने मनुष्यों की लार को विलग कर देखा तो उस में वे द्रव्य ही नहीं हैं जो मांसभक्षी सिंह आदि पशुओं की लार में मांस पचाने के लिये होते हैं।

(३०७) डाक्टर ए कार्पेन्टर Dr A. Carpenter ने स्वास्थ्य रक्षक सभा के आगे यह कहा कि — „ लन्डन नगर के आमिषी भोजन का दशमांश टरबक्युलर Terbucurlar रोग से दूषित होता है। और जो उसे खाते हैं उन के कण्ठ माला-गर्दन में फोड़े फुन्सी इत्यादि होजाते हैं।

(३०८) डाक्टर पौट Dr. Paut की यह सम्मति यूरोपभर के लिये है।

(३०९) डाक्टर किंग्स फोर्ड Dr. Kings Ford क्षयी रोग ग्रसित माता पिता से उत्पन्न हुए थे, इससे वह रोग उन को भी होगया, तब उन्होंने एक प्रसिद्ध डाक्टर की शिक्षानुसार मांस भोजन त्यागा और निपट फलाहारी बने तो पूरे अच्छे होगये, और तबसे फलाहार के बड़े प्रचारक बने। और एक स्त्री को जिसका इलाज अनेक चिकित्सक करचुके थे, और अंत को असाध्य रोग कह बैठे थे, तब उन्होंने फलाहारी बनाकर चंगा किया॥

(३१०) इसी प्रकार रोलोथेम आफ स्टौक पोर्ट Dr. Rawlotham of Stock Port ने एक बीबी फील्डिंग चाइल्ड Mrs. Fielding Chi[illegible] को, जिसके समस्त देह में

एड़ी से चोटी तक फैलने वाले फोडे होगये थे, निरह फलाहारी बनाकर अच्छा किया॥
(३११) डाक्टर प्रे Dr. Pray और लीहमैन Lehman ने लिखा है कि मांस खाने से मूत्र में रुधिर और एक त्तार Urea of Urea Acid बढ़ जाता है, जो गठिया कण्ठ माला वा त्तयी रोग इत्यादि रोगों को उत्पन्न करता है और अधिक त्तार Urea Acid आने से मारक रोग ब्राइट्स डिसीज Brghts Disease भी उत्पन्न हो जाता है।
(३१२) दस्त वा पेचिश में मांस का आहार कभी न करना चाहिये क्योंकि यूरुप वासियों को यह रोग हुए पीछे इसी मांसाहार के कारण जाने ही नहीं हैं। इसी प्रकार हैजा और ज्वर में भी निषेध है।
(३३१) Dr. Jackson डाक्टर जैक्सन Dr. Kings Ford डाक्टर किंगस फोर्ड और Surgeon Jackson सर्जन जैक्सन कहते हैं कि हमारे मरीज़ों को स्थायी रोग की निवृत्ति जबही हुई जब उनका मांस खाना छुड़ाया गया।

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थवृत्त्यधिकारे सात्म्यासात्म्याभ्यस्त सात्म्याहार तुलना वैषयिकः पञ्चदशो विवेकः॥ १५॥

अथ-वामि प्राप्ति मकार विषय

(प्रश्न) मांसाहार की तुल्य कोई भी आहार गुण कारी नहीं, देखो चरक सू० अ० २७॥

(३१४) व्यायाम नित्याः स्त्रीनित्या मद्य नित्याश्च ये नराः।
नित्यं मांस रसाहारा नातुरास्यु र्न दुर्बलाः॥

अर्थ-जो मनुष्य नित्य प्रति व्यायाम करते हैं, नित्य प्रति स्त्री सम्भोग करते हैं, नित्य प्रति मद्य पीते हैं, और नित्य प्रति मांस रस का आहार करते हैं, वे न तो रोगी होते हैं, और न दुर्बल होते हैं,॥
(३१५) सं० कहिये जिन कामों के करने में रोग नहो और न दुर्बल हो, ऐसे कामों

से उत्तम और कोई नहीं हो सक्ता– क्योंकि–

(३१६) धर्मार्थ काम मोक्षाणा मारोग्य म्मूल मुत्तमम् ।
रोगा स्तस्याप हर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥ चर० अ० १

अर्थ–धर्म, अर्थ काम, और मोक्ष, इन सब की जड़ नीरोग रहना है, और रोग इस मूल के कल्याण, और जीवन के हरने वाले हैं ॥

(३१७) सं० जब रोग न होंगे, और बल होगा, तो उक्त धर्म आदि सब सिद्ध हो सकेंगे, इस से मांसाहार में क्या बुराई है ॥

(३१८) सं० (उत्तर) प्रियवर ! अब तनिक इधर दत्तचित्त हूजिये । महाशय ? परोक्ष और चिरकाल का बना ग्रन्थ कि जिसके बनने के समय का भी पता सुगमता से न लग सके, उस प्राचीन के पाठ में वा अर्थ में, अथवा नवीन में भी लेखन परम्परा के विगाड़ से वा किसी विपक्षी की अभीष्टता से न्यूनाधिकता, वा अन्यथा होना सम्भव है, इस कारण ग्रन्थ का जो वचन हो, वा अर्थ हो, उस को सुपरीक्षित कर के कार्य में लाना चाहिये, नहीं तो बड़ा ही अन्धेर उपस्थित होता है,। देखो चर० सिद्धि० में लिखा है कि–

दुर्गृहीतं क्षिणोत्येव शास्त्रं शस्त्र मिवा बुधम् ।
सुगृहीतं तदेव ज्ञं शास्त्रं शस्त्र ञ्च रक्षति ॥

अर्थ– असम्यक् प्रकार से ग्रहण किया अर्थात् पाठ की या अर्थ की युक्ति बिना बिठाये पढ़ा हुआ शास्त्र ऐसे नाश कर देता है जैसे अनुचित प्रकार से पकड़ा हुआ शस्त्र अज्ञानी को नष्ट करता है परन्तु वही शास्त्र और शस्त्र यथावत् युक्ति पूर्वक ग्रहण किये हुए अपने ज्ञाता की रक्षा करते हैं ।

चरक मुनि ने ऐसे ही अंधेरों के दूर करने के अभिप्राय से आप्त आदि प्रमाणों के लक्षण उदाहरण तथा विमानस्थान का तार्किक विषय शास्त्र परीक्षा और तन्त्र युक्ति आदि तराजू अपने ही चरक ग्रन्थ में धरी हैं, इन्हीं से अपना वा अन्य का सब सत्यासत्य निर्णय हो सक्ता है ॥

अब प्रथम आप के श्लोकस्थ स्त्रीनित्या इस नित्यचर्या की समालोचना सुनिये ॥

(३१९) व्यवायः कार्श्य कराणाम् । च० सू० अ० २५

अर्थ—कृश करने वाले जितने कर्म हैं उन सब में सब से अधिक कृश करने वाला मैथुन है ॥

अन्यच्च

(३२०) स्त्री प्रसङ्गः शोष द्वाराणाम् ॥ च० सू० अ० २५

अर्थ—शोष रोग के घर में पहुंचने के जितने द्वार हैं, उन में मुख्य द्वार स्त्री से विशेष संग करना है ॥ तथा सु० सू० अ० १५ में लिखा है कि—

(३२१) क्षयः पुनरेषा मतिसंशोधना तिसंशमन वेग विधारणा-
सात्म्यान्न मनस्ताप व्यायामा नशना तिमैथुनै र्भवति ॥

अर्थ— वात, पित्त, कफ, रस रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा. शुक्र और ओज इन का क्षय ,, अति संशोधन से, अति संशमन से, मल मूत्रादि वेगों के रोकने से असात्म्य आहार से, मन के दुःखित रहने से, व्यायाम [परिश्रम] से भोजन न करने से, और अति मैथुन [स्त्री सम्भोग] से हो जाता है ॥

चरक सूत्रस्थान अध्याय ७ में वेग [हाजतों] के रोकने न रोकने के प्रसंग में लिखा है कि—

(३२२) देह प्रवृत्ति र्या काचि द्वर्त्तते परपीडया ।
स्त्रीभोग स्तेय हिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत् ॥

अर्थ— जो कोई सा शरीर का ऐसा काम जैसा स्त्री भोगना, चोरी करना, हिंसा करना आदि दूसरे को दुःख देकर होता है, उस के करने का आप में जो वेग उठे, तो, उसे रोकै ॥

(३२३) श्रमः क्लमः क्षय स्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः ।
अति व्यायामतः कासो ज्वर श्छर्दि श्च जायते ॥
व्यायाम हास्य भाष्याध्व ग्राम्यधर्म प्रजागरान् ।
नोचिता नपि सेवेत बुद्धिमा नतिमात्रया ॥

एता नेवं विधाँश्चान्यान् योति मात्रं निषेवते।
गजः सिंह मिवाकर्षन् सहसा स विनश्यति ॥

अर्थ--अति व्यायाम से थकावट, ग्लानि, क्षीणता, पिपासा, रक्तपित्त, तमकश्वास, कास, ज्वर, और वमन होजाता है। व्यायाम, हास्य, भाषण, मार्ग चलना, मैथुन, और रात्रि जागरण, इन कर्मों का करना जहां जिस समय उचित भी हो वहां बुद्धिमान् पुरुष मात्रा से अधिक सेवन न करे। इनको और ऐसे ही अन्य कर्मों को जो मनुष्य अतिशय करता है, वह ऐसे शीघ्र नाश होजाता है जैसे हाथी सिंह के खेंचने से.

तथाच सु० चि० अ० २४ में भी लिखा है कि

(३२४) अति स्त्री सम्प्रयोगाच्च रक्षे दात्मान मात्मवान् ॥
शूल कास ज्वर श्वास कार्श्य पांड्वामय क्षयाः ॥
अतिव्यवाया जायन्ते रोगा श्चाक्षेपकादयः ॥
आयुष्मन्तो मन्दजरा वपु र्वर्ण बलान्विताः ॥
स्थिरोपचित मांसाश्च भवन्ति स्त्रीष्वसंयताः ॥

अर्थ--बुद्धिमान् मनुष्य अतिशय स्त्री संभोग से शरीर को रखावे क्योंकि अति मैथुन से शूल, खांसी, ज्वर, श्वास, कृशता, पाण्डुरोग, शोष, और आक्षेपक आदि वात-व्याधि के रोग, पैदा होजाते हैं। और जो स्त्रियों में संयमी रहते हैं वे बड़ी आयु वाले, थोड़े बुढ़ापे वाले, वर्ण और बल युक्त शरीर वाले होते हैं।

तथा सु० चि० अ० २५ में लिखा है कि

(३२५) अति प्रसङ्गा द्भवति शोषः शुक्र क्षयावहः।
व्याधितस्य रुजा प्लीहा मृत्यु मूर्च्छा च जायते ॥

अर्थ--स्वस्थ पुरुष को अति मैथुन करने से शुक्रपर्य्यन्त सब धातुओं का क्षय करने वाला शोषरोग हो जाता है, और रोगी को सर्वाङ्ग पीड़ा, वा प्लीहा का रोग, मृत्यु, अथवा मूर्च्छा रोग, हो जाता है ॥

शुक्र की रक्षा करने का गुण

(३२६) मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवनम् ॥

अर्थ—मल के आधीन पुरुषों का बल है, और शुक्र के आधीन जीवन [जिंदगी] है॥

(३२७) वीर्य्यं म्बल वर्धनानाम् ॥ च० सू० अ० २५

अर्थ--जितने बल के बढ़ाने वाले प्रयोग हैं, उन सब में सर्वोत्तम वीर्य्य रक्षण है ॥

(३२८) ब्रह्मचर्यं मायुष्यकराणाम् । च० सू० अ० २५

अर्थ—जितने आयुष्कर प्रयोग हैं, उन सबके मध्य ब्रह्मचर्य परमायुष्कर है।

सं० नित्य का मैथुन, मद्यपान, और मांसाहार, ये तीनों रसायन सेवन के नाशक [८०२ । ८०६] संख्यानुसार हैं

(३२९) पानसं द्राक्ष म्माधूकं खार्जूरं ताल मैक्षवं।
माध्वीकं टाङ्कं मार्द्वीकं मैरेयं नारिकेलजम् ॥
समानानि विजानीया न्मद्यानेका दशैव तु।
द्वादशंतु सुरामद्यं सर्वेषा मधमं स्मृतम् ॥

प्रायश्चित्त विवेके।

अर्थ-फालसे, दाख, महुआ, खजूर, ताड़, गुड़, मधु, नील कपित्थ, मुनक्का, [किसमिस] धात की, और नारिकेल इन का बना मद्य और सबों में अधम अन्नपिष्ट का बारहवां सुरा ये सब मद्य संज्ञक हैं।

(३३०) निवृत्तः सर्व मद्येभ्यो नरोयः स्या जितेन्द्रियः।
शारीर मानसै र्धीमान् विकारै र्न स युज्यते ॥

च० चि० अ० १२

अर्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों को यथोचित वर्तता हुआ सब प्रकार के मदिराओं से रहित होता है, वह शारीरिक और मानसिक रोगों से युक्त नहीं होता है।

(३३१) (प्रश्न) मद्यं सौमनस्य जननानाम्। च० सू० अ० २५।

अर्थ—मन के अच्छेपन को उत्पन्न करने वाले जितने कर्म हैं, उन सब के मध्य मन के भाव को अच्छा करने वाला मद्य है॥ जब मद्य के पान से मन अच्छा पैदा हुआ तब मद्य के नित्य पान में क्या बुराई है॥

(३३२) (उत्तर) आहा!! आपने इस सूत्र का मर्म नहीं जाना, यह सूत्र बिगड़े मन के अच्छे होने के लिये चिकित्सार्थ मद्य की उत्तमता सूचित करता है। कुछ स्वस्थ मन के लिये नहीं कहता, सोतो अन्य चिकित्सक भी कहते हैं जो कि महर्षि चरक के ही अनुयायी हैं जैसा कि वैद्यजीवन में लिखा है॥

(३३३) मदिरा मदिराक्षि शुचं शमयेत्

अर्थ—लोलिम्ब राज वैद्य अपनी स्त्री के प्रति मन के शोक रोग की चिकित्सा में सूचित करते हैं कि, हे मदिराक्षि? मद्य मन के शोक रोग को दूर करता है॥ और स्वस्थ के मन को तो उलटा बिगाड़ देता है देखो च० सू० अ० २५।

(३३४) धी धृति स्मृति हराणा म्मद्याक्षेपः।

अर्थ—धी [सदसद्विवेचिका बुद्धि] धृति [विषयों में अधर्म से जाते हुए मन को मर्यादा में रखने वाली नियमात्मिका बुद्धिः] स्मृति [अतीतानुभव का स्मरण कराने वाली वृत्ति] इन को नष्ट करने वाले जितने कर्म हैं उन सबके बीच बुद्ध्यादि का हरने वाला मद्य का आक्षेप [चढ़ाना] है, इस प्रकार मद्यपान के अवगुण थोड़े से कह दिये, विशेष [५०] अंक पर कहेंगे,। और मांस के अवगुणों का तो कहना ही क्या है उसकी तो सलाह में भी पाप है, "कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः"॥ माघः॥ तथापि एक उदाहरण जैसे-

(३३६) अवेदनं स्निग्ध मनन्य वर्ण मपाक मश्मोपम मप्रचाल्यम्॥
प्रदुष्ट मांसस्य नरस्य वाढ मेतद्भवेन्मांस परायणस्य॥
मांसार्बुदन्त्वेतदसाध्य मुक्तं साध्येष्वपी मान्युप वर्जयेत्तु।

अर्थ—जो पीड़ा रहित, चिकना, शरीर के रंग से मिलताहुआ, न पकने वाला, पत्थर सा

शोफ हो वह मांसार्बुद रोग कहिये। यह नित्यप्रति मांस खाने में लगे रहने वाले और इसी से दूषित हुए मांस वाले मनुष्य के शरीर में विशेष करके होता है, यह असाध्य है। तथा देखो [३०५] आदि अंकोंको। वास्तव में ये व्यायामादि कर्म हिताहितों की गणना में आसक्त हैं, इस्से इनका अपने उचित देश काल के विपरीत नित्य सेवन सर्वथा अनुचित है ॥ हिताहित के उदाहरण में जैसे—

३३८) मद्य मम्लं नवा पेय मथवा सु बहूदकम् ।
लवणाम्लं कटूष्णानि व्यायाम श्चात्र वर्जयेत् ॥

अर्थ — ग्रीष्म ऋतु में मद्य वा खट्टारस न पीना चाहिये यदि कोई आवश्यकता हो भी तो बहुत सा जल मिलाकर पीना चाहिये और इस ऋतु में लवण, खट्टा, उष्ण, चरपरा और व्यायाम त्याग दे ॥ फिर आगे लिखा है कि—

(३३९) काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च ।
ग्रीष्म काले निषेवेत मैथुना द्विरतो नरः ॥

अर्थ—ग्रीष्म काल में मैथुन से विरत [निवृत्त] हुआ वनेपवन, शीतल जल, और फूलों का सेवन करै। तथा वर्षाऋतु में भी ऐसा ही लेख है ॥

(३४०) व्यायाम मातपश्चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत् ॥

अर्थ — व्यायाम, और धूप, और मैथुन, इनको वर्षा में छोड़दे ॥ (३४१) सं० इन उपरोक्त सामान्य और विशेष वचनोंसे आपका "व्यायाम नित्या" इत्यादि श्लोक क्योंकर प्रामाणिक ठहरसक्ता है, इससे यह प्रक्षिप्त है ॥ (३४२) सं० इसमें व्यायाम, स्त्रीसङ्ग, और मद्य, इनका बिना प्रसङ्ग एकसङ्ग आनेका क्या कारण ? यह यहां बेमेल मेल मिलाकर मेल करना वाम तन्त्रियों का ही किया त्रिदोष है, नहीं तो क्या चरक से ग्रन्थ कर्त्ता को भी यह सूझ न पड़ी कि मेरा लेख पूर्वापर सर्वथा विरुद्ध है, कि जो साधारण मनुष्यों की दृष्टि में भी, कांटा सा खटकता है, बड़े आश्चर्य की बात है कि माननीय शास्त्रके लक्षण [४५] तो लिखें, परन्तु वे लक्षण उन्हीके किये ग्रन्थमें न घटैं ॥
(३४३) सं० जहां यह [अंक३१४] का श्लोकडाला है, वहां बड़ी गड़बड़ करके इस

डालने को छिपाया है। यह श्लोक च० सू० अ० २७ में अन्न पान विधि नाम के अध्याय में है, वहां यह प्रतिज्ञा की है कि, शूकधान्य वर्ग, शमीधान्य वर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, हरितवर्ग, मद्यवर्ग, जलवर्ग गोरसवर्ग, इक्षुवर्ग, और इन दश वर्गोंसे परे एक कृतान्नवर्ग दूसरा आहारयोनि वर्ग, ये बारह वर्ग हैं, इनमें कहीं द्रव्योंके रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव, सहित उपदेश किये. फिर, अन्तमें वाक्य भी लिखदिया है कि, जैसा "इत्ययं शूक धान्याना म्पूर्वोवर्गः समाप्यते,, अर्थ-यह शूकधान्यों का पहिलावर्ग पूराहुआ। इसीप्रकार वारहवर्ग की समाप्ति यथा प्रतिज्ञा पूर्ण की गई है, और पीछे अध्याय की संक्षेप सूची में निम्न लिखित डेढश्लोक है॥

(३४४) अनुपान गुणा साग्र्या वर्गा द्वादश निश्चिताः॥
सगुणा न्यन्न पानानि गुरुलाघव संग्रहः॥
अनुपान विधावुक्तं तत्परीक्ष्यं विशेषतः॥

अर्थ—बारह निश्चित किये पहिले वर्गों सहित अनुपान के गुण, तथा गुणों सहित अन्न पान, गुरु और लघुओंका संग्रह अन्न पान विधि नाम के अध्याय में कहा गया, वह विद्वानों को विशेष परीक्षा करने योग्य है। अर्थात् जब २ ग्रहण करने की आवश्यकता हो तब २ इस अध्याय की सब बात विशेष परीक्षा पूर्वक ली जावै। (३४५) सं० इन द्वादश वर्गों के पीछे इस पद्य में किंचिन्मात्र भी स्त्रीनित्योंका मद्य नित्यों का वा नित्य मांस रसाहारियों का ब्यौरा नहीं दिया है,
इस से प्रतीत होता है, कि, द्वादश वर्गों की पूर्ति होने के पश्चात् का इस अध्याय का पाठ सब ऐसा है, जैसा "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा"। (३४६) स० इस में डेढ श्लोक प्रथम धान्य वर्गों के अन्त्य का, आधा कृतान्न वर्ग का, एक मांस वर्ग का, तीन मांस संस्करण के, फिर "व्यायाम नित्या" यह तुम्हारे प्रश्न फिर एक शाक वर्ग का, एक फल वर्ग का आधा हरित वर्ग का, आदि के छः व) सब विषय अपने २ वर्ग में निश्चय करने चाहिये, ऐसी आज्ञा का यह भी अ मकारों की चुगली करता है, इससे आगे ६ श्लोक अनुपान के कह कर, फिर विरुद्ध अथ पूर्वक अनुपान विषयक गद्य कह कर पीछे साढ़े तीन श्लोकों में बिक इस की पूर्ति करदी। सं० फिर जांगमों के मांसादि अवयवों का गुरुत्व लघुत्वको आगे, वह मांस वर्ग का ही सहचारी पाठ है, इसके अनन्तर संस्कार और मात्रा भेज,

सोम

लघुत्त्व विचार आठ श्लोकों में वर्णन किया है, यह मात्रा श्रितीया ध्याय का है, क्योंकि इसी अध्याय में आहार की मात्रा तथा आहार द्रव्यों की प्राकृत लघुता और प्राकृत गुरुतादि वृत्त दिया है, जोकि स्पष्ट अपूर्ण सा प्रतीत होता है, फिर इससे आगे का पाठ इसी अध्याय के आहारानु पान की स्तुति और अध्याय के संक्षिप्त वृत्त का, और अन्न की प्रशंसा का है। (३४८) स० इस प्रकार पञ्चमकारोपासक जीने अपना मकार महात्म्य व्यायामोप देशक जी के विज्ञापन की पंक्ति में छाप दिया और अपने ही मत से नवीन बसाये वाम तन्त्र परायण मुहल्ले में विज्ञापन चिपका दिया, व्यायामोप देशक जी को चाहिये था कि, नवेगान्धारणीयाध्याय नामक अपने पुराने मुहल्ले में ही अपने मत की पुष्टि करते, तो सुशोभित होते और सदुपदेशक कहाते, नीच के साथ बैठना तो उत्तम को भी निन्द्य कहा देता है, अभिप्राय यह हुआ कि "व्यायाम नित्या" यह पाठ नवेगान्धारणीयाध्याय का है, यह मद्य मांस और मैथुन इन तीन मकारों के साथ सुशोभित नहीं होता॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे स्त्री मद्य मांस विषय प्रक्षिप्त ज्ञापनात्मके षोडशो विवेकः॥१६॥

मदात्यय रोग में सौत्रामणी के नाम से मद्यपान का वामीजी का बनाया ढंग—

(३४९) सं० प्रायः ऐसा देखा जाताहै, कि, प्रसंगवश कहीं आर्ष ग्रन्थों में मद्य, वा मांस, वा मैथुन इनमें से एकका भी नाम जहां वामियों को मिला है, वहीं दो मकार अपनी ओरसे मिला, बिना प्रसंग तीनों मकारों के पूरे २ गीत गा डाले हैं।

देखो-चरक चि० स्था० अध्याय १२

३५०) सुरैः सुरेश सहितै र्या पुरा प्रति पूजिता।
सौत्रा मण्यां हूयते या कर्मभि र्या प्रतिष्ठिता॥

)यज्ञे च या यया शक्रः सोमानि पिबतो भृशम्॥
निरुज रतमसाविष्ट स्तस्मा दुर्गात् समुद्धृतः॥

२) विधिभि र्वेद विहितै र्या यजद्भि र्महात्मभिः॥

दृश्या स्पृश्या प्रकल्प्या च याज्ञिया यज्ञसिद्धये ॥

(३५३) योनि संस्कार नामाद्ये विशेषै र्बहुधा च या।
भूत्वा भवत्येकविधा सामान्या न्मदलक्षणात् ॥

(३५४) या देवा नमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितृं श्च या।
सोमो भूत्वा द्विजातीन् या भुङ्क्ते श्रेयोभि रुत्तमैः ॥

(३५५) आश्विनं या महत्तेजा वीर्यं सारस्वतं च या।
बल मैन्द्रश्च या सोमः सौत्रा मण्यां च या मता ॥

(३५६) शोका रति भयो द्वेग नाशिनी या महाबला।
या प्रीति र्या रति र्या वाग् या पुष्टि र्या च निर्वृतिः ॥

(३५७) या सुरा सुर गंधर्व यक्ष राक्षस मानुषैः।
रतिः सुरेत्य भिहिता तां सुरां विधिना पिबेत् ॥

अर्थ – जो देवतों सहित इन्द्र ने प्रथम (प्रति पूजिता) आप को पुजवा कर बदले से पूजी थी। जो सौत्रामणी यज्ञ में हवन की जाती है। और जो वेद विहित कर्मों से (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित [इज्जतदार] हुई है। यज्ञ में अति सोम पान करने वाला (तमसाविष्टः) रोगा क्रान्त हुआ इन्द्र, जिसने उस कठिन सोम रसायन के प्रयोग से निरोग उठा दिया। वेद विहित विधि से यजन करते हुए महात्माओंने (यज्ञिया) यज्ञ की सिद्धि लिये यज्ञ वस्तु मानी जो (दृश्या) देखने (स्पृश्या) छूने योग्य (प्रकल्प्या) कल्पना करली। जो अनेक द्रव्यों से अनेक संस्कारों से बनाये जाने के कारण अनेक नामों की विशेषता से अनेक प्रकार की है, परन्तु मद [नशा] का लक्षण सब में एक सा होने से, अनेक प्रकार [३२६] की भी एक ही मानी जाती है। जो देवों को अमृत होकर, पितरों को स्वधा होकर, और द्विजों को सोम होकर, उत्तम श्रेय कर्मों में लगाती है। जो अश्विनी कुमार का परम तेज, और जो सरस्वती का पराक्रम, और इन्द्र का बल है, और सौत्रामणी में जो सोम

मानी है। और जो शोक, अरति, (अप्रीति) भय और उद्वेग इनके नाश करने वाली और अति बल दायिनी है, जो प्रीति है, जो रति है, जो वाणी है, जो पुष्टि है, और जो निर्वृति है। जो सुर असुर, यक्ष, राक्षस, और मनुष्य इन्हों ने रति [मरतो त्पादिका] कामाङ्गना मानी है, वह " सुरा " इस संज्ञा से (अभिहिता) पुकारी गइ, उस सुरा को विधि से पीवै ॥ वा वामीजी वा: आपने तो विवाह में नोंतनी पढ़ने के श्लोकों की अत्युक्ति को भी छेक दिया कि जिसमें आकाश पाताल तक नापे जाते हैं। धन्य है प्रशंसक हो तो ऐसा ही हो कि जिसने यथार्थ लेख [३६७ से लेकर ३७७ तक] का तनक भी ध्यान नहीं किया,

(३५८) प्रतीत होता है कि यह वही सुरा है, कि, जो द्विजों के देखने छूने योग्य भी नहीं, [५२३ । ६११ । १७६] और पीने की तो क्या। इसी से झिझकते से इसका सुरा नाम वामीजी बताते हैं, किन्तु सुश्रुत में लिखा है कि—

सामान्यतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्।

अर्थ — सब रोगों का सामान्य चिकित्सा यही है कि रोगोत्पादक हेतु को छोड़दे। देखो वैशेषिकदर्शन " कारणाभावे कार्या भावः "

अर्थ — कारण के न होनेपर कार्यका न होना सम्भव है अर्थात् कार्य न होगा, न कि कारणकी विद्यमानता में। इससे उचित था कि मदात्यय के कारण मद्य के पीने का निषेध करते, परन्तु यह [३६४] तो इनका आत्यिक उपदेश है, इसे कैसे छोड़ते। अब मद्य के पीने के लिये अनुकूलता सुझाते हैं। शरीर संशोधन किया हुआ अच्छी सुगन्धि लगायें ऋतु के अनुकूल वस्त्र पहरे, विचित्र अनेक प्रकार की माला धारण करें, रत्नों के भूषणों से भूषित हो, देव और द्विजों को सम्यक् पूजकर, उत्तम माङ्गलिक वस्तुओं को छूकर ऋतु के अनुकूल बने देश में, अनेक प्रकार के पुष्पों से रचित सुगन्धित धूपों से धूपित बसने योग्य स्थान में, तकिया लगे अच्छे बिछोना बिछे शय्या पर बैठा अथवा लेटा हुआ सुवर्ण के वा चांदी के वा नीलमणि के बने निर्मल पात्रों में सदा*मद्य पान करे। वामीजी निम्न लिखित श्लोकों से मद्य पीने के साथ मैथुन के और मांस के मकार का ढव बताते हैं, जैसे—

(३५६) स्त्रीभि र्यौवन मत्ताभिः शिक्षिताभि र्यथर्त्तुकैः।

* "पिबेत्सदा,, यह पाठ सदैव मद्य पीने का उपदेश करता है कि जो वाम मार्ग का सिद्धान्त है

वस्त्रा भरण माल्यैश्च भूषिताभि र्विभूषितः ॥
शौचानुराग युक्ताभिः प्रमदाभि रितस्ततः ॥
संवाह्यमान इष्टाभिः पिबे न्मद्य मनुत्तमम् ॥

(३६०) पिबे न्मद्यानुकूलै र्वा फलै र्हरितकैः शुभैः ।
लावणै र्गन्ध पिशुनै र्वराङ्गाशै र्यथर्तुकैः ।
भ्रष्टै र्मांसै र्बहु विधै र्भूजलाम्बर चारिणाम् ।
पौर गवज विहितै र्भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः ।
पूजयित्वा सुरान् पूर्व माशिषःप्राक् प्रयुज्य च
प्रदाय सजलं मद्य मादितो वसुधा तले ॥

अर्थ—यौवन के मद [गर्व] में चूर, काम केलि में सुशिक्षा प्राप्त की हुई, ऋतु के अनुसार वस्त्र आभूषण और मालाओं से भूषित हुई, शौच और अनुराग [मुहब्बत] से युक्त, मन चाही मनोहर स्त्रियों से इधर उधर से (संवाह्यमानः) टांग बांह दबवाता, हाथ फिरवाता अर्थात् संग्रहण स्पर्श कराता हुआ सुभूषित पुरुष, अनुत्तम मद्य को पीवै, अथवा मद्य के साथ अच्छे लगने वाले हरे फलों केसाथ पीवै, ऋतु के अनुसार स्थल चर, जल चर, और आकाश चारी अनेक जीवों के लवण (गन्ध पिशुनैः) लशुन (वराङ्गाशैः) हल्दी के भागों सहित भुने मांसों के साथ और (पौर गवज विहितैः) पाकशालाध्यक्षों के बनवाय अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थों के साथ प्रथम देवतों को पूजकर स्वस्ति वाचन पढ़ कर, मद्य में थोड़ा जल मिला, पृथिवी में छींटे दे मद्य पीवैं ॥

(३६१) सं० उपरोक्त लेख से स्पष्ट विदित होता है कि यह चिकित्सार्थ लेख नहीं किन्तु सर्वथा धर्म शास्त्र के विरुद्ध महा पाप रूप भोगार्थ प्रक्षिप्त किया है, ऐसे लेख मद्य के साथ मांस के और मैथुनार्थ स्त्रियों की ओर लगाने के लिये वार वार लिखे हैं ॥

(३६२) जैसे- सुख शिक्षित हस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च ।
मदात्ययः कफ प्रायः शीघ्र मेवोप शाम्यति ॥

अन्यच्च

(३६३) प्रिया आनुगता नार्यो नाशयान्ति मदात्ययम् ।

क्या यह पुनरुक्ति नहीं परन्तु चाहे जितने दोष बढ़ो मद्यप्ताओं को इन बातों से क्या प्रयोजन ।

(३६४) निधि र्वसुमता मेव भविष्य द्विभवाश्च ये ।
यथो पपत्तिभि र्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥

अर्थ—यह उक्त विधि तो धनाढ्यों की समझो, और जो भविष्यत् में धनी होना चाहैं वे यथासंभव संपत्तियों से मात्रा पूर्वक मद्य पीवैं, क्योंकि हित कर है ॥ (३६५) सं० उपरोक्त श्लोक में मद्यपान करने से निर्धन पुरुषका धनी हो जाना सूचित किया है । मद्यपानोपदेशकर्त्ता ने आगे जाने नो कोई त्रुटि छोड़ी नहीं कि जिससे इनके मकारों को ग्रहण न करै, आगे उसका प्रारब्ध रहा कि जो इनके जाल से बचजाय ॥ वामी जीने अपनी मद्य पान की गोष्ठी रचना के भी श्लोक बनाकर चरक में डाल दिये । देखो च० चि० अ० १२ ।

(३६६) सुखशीलाः सुसंभाषाः सुमुखाः सम्मताः सताम् ।
कलासु वाक्यविपदा विषयप्रवणा श्च ये ॥
परस्पर विधेया ये येषा मैक्यं सुहृत्तया ।
प्रहर्ष प्रीति माधुर्यै रापानं वर्द्धयान्ति ये ॥
उत्सवा दुत्सवतरं येषा मन्योन्य दर्शनम् ।
ते महायाः सुखाः पाने तैः पिबन् सह मोदते ॥
रूप गन्ध रसस्पर्शैः शब्दै श्चापि मनोरमैः ।
पिबन्ति सुसहाया ये ते वै सुकृतिभिः समाः ॥
पञ्चभि र्विषये रिष्टै रुपेतै र्मनसः प्रियैः ।
देशे काले पिबे न्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥

अर्थ-(ये) जो (सुखशीलाः) सुखों के भोगने वाले (सुसंभाषाः) अच्छा बोलने वाले (सुमुखः) अच्छे मुख वाले [खूबसूरत] (सताम्) सज्जनों के (सुसमताः) अच्छे जाने पहचाने हुए (कलासु वाक्य विपदाः) गीतादि तौर्यात्रिक और अच्छी बातों के करने में निपुण (विषय प्रवणाः) विषयों के भोगने में प्रवीण [चतुर] हों और (सुहृतया) निष्कपटता [साफ़ दिली] से (यषाम्) जिन का (परस्परम्) आपस में (ऐकयम्) एका हो, अर्थात् पान गोष्ठी का भेद देने वाले न हों, ऐसे उक्त प्रकार के सभ्यजन (विधेयाः) बनाने योग्य हैं। (प्रहर्ष-प्रीति माधुर्यैः) प्रहर्ष-[उपस्थेन्द्रिय चेष्टा] प्रीति-[अनुराग] माधुर्य-[दूसरे के चित्त को द्रव करने वाले भाव]-इनसे (आपानम्) मद्यपान गोष्ठी को (ये) जो (वर्द्धयन्ति) बढ़ाते हों (येषाम्) जिन का (अन्योन्य-दर्शनम्) परस्पर दीखना (उत्सवात्) आनन्द जनक से भी (उत्सव तरम्) अत्यानन्द जनक होता हो (ते) वे (पाने) मद्य पान में (सहायाः) सहचारी जन (सुखाः) दुःख रहित होते हैं (तैः सह) उनके साथ मद्य (पिबन्) पीता हुआ (मोदते) हर्षित होता है, और (ये) जो (सुसहायाः) अच्छे संग बैठने वाले (पिबन्ति) पीते हैं, (ते) वे (वै) निश्चय (सुकृतिभिः) पुण्यात्माओं के (समाः) समान हैं ॥ सं० देखिये मद्य पीने वालों का कैसा मिथ्या प्रपञ्च है कि महा पापी भी पुण्यात्माओं के समान बता दिये जिन को मनुजी अ० ११ श्लोक ५४ में सुरापान को महा पापों में पुकारते हैं, बरन सुरापी के पास बैठने को भी महा पाप कहते हैं,।

मद्य के दोष

(३६७) मद्यं हृदय माविश्य स्वगुणै रोजसो गुणान्।
दशभि र्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥

(३६८) लघूष्ण तीक्ष्ण सूक्ष्माम्ल व्यवाय्याशु गमेनच।
रूक्षं विकासि विशदं मद्यं दश गुणं स्मृतम् ॥

(३६९) गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्मृतम्।

प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्ध मोजो दशगुणं तथा ॥

अर्थ-मद्य [शराब] हृदय [दिल की जगह] में पहुंच कर ओज आदि दस

गुणों से गुरु आदि ओज के दश गुणों को नष्ट कर चित को बिगाड़ देता है॥

मद्य के गुण

लघु, उष्ण, तीक्ष्ण [अमद्या शुकागित्त्व] सूक्ष्म, अम्ल, व्यवाय, शीघ्र पहुंचना, रूक्ष, विकासि, [जकड़े हुए संधिबन्धनों का खोलने वाला] विशद, ये दश गुण मद्य के हैं॥

ओज के गुण

गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, [मचिक्कण] बहल, [सान्द्र] मधुर, स्निग्ध, प्रसन्न, [प्रसाद अर्थात् लतीफ] पिच्छिल, चिकना, ये दश ओज के गुण हैं॥

मद्यपान से ओज के गुणों का नाश

(३७०)गुरुत्वं लाघवा च्छैत्यं चौष्ण्या दम्ल स्वभावतः।
माधुर्य्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात् प्रसाद माशुभावनात्
रौक्ष्या त्स्नेहं व्यवायित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि
विकासि भावा त्पैच्छिल्यं वैशद्यात् सान्द्रतां तथा
सौक्ष्म्या न्मद्यं निहन्त्येव मोजसः स्वगुणै र्गुणान्

(३७१)सत्त्वं तदा अयं चाशु संक्षोभ्य जनये न्मदम्
रस धात्वादि मार्गाणां सत्त्व बुद्धीन्द्रियात्मनाम्
प्रधानस्यौ जसश्चैव हृदयं स्थान मुच्यते

मद्यपान में अनेक अवगुण

(३७२)कार्या कार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम्
यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद् बुधः

(३७३) सदूष्यः सर्वभूतानां निन्द्य श्चा ग्राह्य एव च
व्यसनित्वा दुदर्के च स दुःखं व्याधि मश्नुते

(३७४) प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्ष श्च यत्परम्
मनः समाधौ तत्सर्व मायत्तं सर्व देहिनाम्
मद्येन मनस श्चास्य संक्षोभः क्रियते महान्
महा मारुत वेगेन तटस्थस्येव शाखिनः
मद्योपहत विज्ञाना वियुक्ताः सात्त्विकैः गुणैः
श्रेयोभि र्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मद लालसाः

(३७५) मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्यु श्च संश्रितः
सोन्माद मद मूर्च्छाद्याः सापस्मारापतानकाः
यत्रैकः स्मृति विभ्रंश स्तत्र सर्व मसाधु वत्
इत्येवं मद दोषज्ञाः मद्यं गर्हन्ति यत्नतः
सत्य मेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः

च० चि० अ० १२

अर्थ-- मदिरा, अपने लघुत्व गुण से ओज के गुरुत्व गुण को, उष्ण से शीत को, तीक्ष्ण से मृदु को, अम्ल से मधुर को आशुगमन से प्रसाद को, रूक्ष से स्नेह को, व्यवायित्व से स्थिर को विकासि से श्लक्ष्ण को, विशद से पैच्छिल्य को, सूक्ष्म से सान्द्र गुण को नष्ट करता है, उस ओज के आसेर रहते सत्व [मन] को तुरन्त चलाय मान कर के उक्त मद्य मद [नशा] पैदा करता है। रस धातु के मार्गों का, सत्व का, ज्ञानेन्द्रियों का, और प्रधान रूप ओज का, हृदय ही स्थान कहा है। कहो जिस अवस्था [हालत] में कार्य [करने योग्य] को, और अकार्य [न करने योग्य] को, सुख को, दुःख को, हित को, और अहित को, लोक में न जाने, भला उस अवस्था को अज्ञानी के अतिरिक्त कौन सा विवेकी प्राप्त होगा, अर्थात् कोई भी नहीं। वह [मद्यपान करने वाला] सब प्रायश्चित्तियों में दूषित, निन्दनीय और अग्राह्य, [निकालने योग्य] होता है, और परिणाम में व्यसन हो जाने से वह मद्य पीने वाला दरिद्रता आदि दुःखों को, और मद्यजन्य रोगों को, भोगता है, [इस लोक में जो श्रेय [सुख] और जो परलोक में श्रेय

आर जो अत्यन्त श्रेय रूप मोक्ष वह सब देह धारियों के मन की समाधानता के आधीन हैं। और इस मन का अत्यन्त उखाड़ मद्य से किया जाता है। जैसे नदी के किनारे के वृक्ष का बड़े वायु के वेग से। मद्य से नाश हुआ विज्ञान जिन का ऐसे मदान्ध मद [नशा] में ही लालसा रखने वाले सत्त्व के गुणों [४१८] से और श्रेयों [सुखों] से रहित हो जाते हैं। उक्त मद्य में अविवेक भय, शोक क्रोध, मृत्यु, और उन्माद [खफगान] मदकी मूर्च्छा दिक और अपस्मार [मिरगी] अपतानक [वातव्याधि का रोग विशेष] रहते हैं। जिस [मद्य में एक स्मृति का नाश है, उस में सब गुण अवगुण से ही हैं। इस प्रकार जो मद्य के दोषों को जानने वाले हैं, वे मद्य को बहुत ही, बुरा कहते हैं। इस [मद्य] के ये उक्त महादोष निस्सन्देह सच कहे गये। (३७६) सं० यहां शीर्षक प्रतिज्ञानुसार मदात्यय रोग का निदान और चीकित्सा लिखनाथा, जैसा कि पूर्व्व मदात्ययस्येत्यादि से चरक में लिखा गया है, परंतु गीत गानेलगे सोम रसायन में वाभीजी अपने मकारों के। प्रथम आठ श्लोकों में तो मद्य की स्तुति करते २ मद्य का बुरा नाम प्रगट किया, फिर ७ श्लोकों में बड़े फेर फेर से बहुत सी स्त्रियों से मैथुन मकार का ढब बताया, क्योंकि इन को तो [४४१ अंक] में कही हुई आज्ञा पालन करनी है। फिर दो श्लोकों से मांसादन के मकार की योग युक्ति बताई। तीसरे श्लोक में देव और द्विजों को पूज ही चुके थे कि नवे में फिर से सुरों की सुरा से पूजा कहने लगे। दशमे से ले वारहवें तक प्रकृत्यनुसार मद्य पान सब ही का सेव्य कह दिया, और जंगली पशुओं का मांस भी साथ लगा दिया। अब आगे १३ वें में आश्चर्य की बात प्रत्यक्ष के विपरीत कही है, कि निर्धन भी मद्य पीने से धनी होने बता दिये। १६ वें तक गौड़ी आदि सब प्रकार के मद्य अमृत के तुल्य पेय कह दिये "विषस्ये त्यादि" इस श्लोक में मद्य के विषवत् त्रिदोषकारी गुण वर्णन किये, फिर एक स्थान में मद्य और अन्न स्वभाव में एकसा ही गुण करने वाले बता दिये, यह न विचारा कि अन्न एकान्तहित जातिसात्म्य, और मद्य विषवत् होने से एकान्ताहित अभ्यस्त सात्म्य है, वे एक से गुण दायक कैसे हो सकेंगे, यों तो सभी वस्तु उचित समय और प्रमाण से अपने २ कर्म करने वाली होती हैं, एक मद्य के ही ऊपर क्याहै। इस विषय को पढते विचारते समय चरक को भी उक्त पते पर देखते जावें।

सुधानिधि रत्न भाण्डागार में लिखा है कि--

(३७७) वैकल्यं धरणी पात मयथोचित जल्पनम् ।
सन्निपातस्य चिन्हानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत् ॥
अयुक्तं बहु भाषन्ते यत्र कुत्रापि शेरते ।
नग्नो विक्षिप्य वस्त्राणि स जाल्म इव मद्यपः ॥
मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रजाति हि विकलया बुद्ध्या ।
मातर मपि कामयते सावज्ञ मद्यपान मत्तः सन् ॥
चित्ते भ्रांति र्जायते मद्य पानात् ।
भ्रान्ते चिते पाप चर्या मुपैति ॥
पापं कृत्वा दुर्गतिं याति मूढः ।
तस्मा न्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥
एकत श्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्य्य न्तथैकतः ।
एकतः सर्व पापानि मद्यपानं तथैकतः ॥
मद्यपस्य कुतः सत्यं दया मांसाशिनः कुतः ।
कामिनश्च कुतो विद्या निर्धनस्य कुतः सुखम् ॥

अर्थ – वेइतना (बेसुधी) पृथ्वी में गिरना, अयोग्य बकना, इन सब सन्निपात रोग के लक्षणों को मद्य (मदिरा) दिखाती है। मद्य पान करने वाले बहुत अनुचित बोलते हैं, जहां तहां अर्थात् मल मूत्र के स्थानों में भी सो जाते हैं, मदिरा पीने वाला (जाल्म इव) उन्मत्त के समान वस्त्रों को फेंक नग्न हो जाता है, । और अपनी बुद्धि की विकलता (बिगाड़) से मत्त [उन्मत्त] हुआ हिंसा शील [मारने वाला] तथा और सब बातें (मिथ्या) अयथार्थ ही चाहे बके पर मद्य पान का मतवार (सावज्ञ) अवज्ञा सहित अर्थात् अनुचित चेष्टा करता हुआ माता से भी अश्लील कथन करता है, भावार्थ यह हुआ कि मद्य पीने वाला उन्मादी से भी बुरा है। मद्य के पीने से चित में भ्रम होता है, चित के भ्रम से पाप करता है, पाप करने से दुर्गति को मूढ पुरुष प्राप्त होता है, इससे मद्य पीने योग्य नहीं। यह कभी नहीं पीना चाहिये, एक ओर चारों वेद दूसरी ओर ब्रह्मचर्य्य है। एक ओर सब पाप और दूसरी ओर

सा मद्य पान बराबर है, । मद्य पीने वाले का सत्य कहां ? मांसा हारी को दया कहां ? कामी पुरुष को विद्या कहां ? और निर्धन को सुख कहां ? अर्थात इन उक्त पुरुषों का सत्य, दया, विद्या और सुख किसी [काल, देश व्यक्ति] में किसी के भी पास नहीं ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्यधिकारे मद्यावगुण प्रकाशकः सप्तदशो विवेकः ॥

अथ वाम मार्ग प्रचार विचारादि विषय ॥

सं० मांसा हारार्थी वेद विरोधी लोगों ने उपवेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, तथा श्रौत, और गृह्य सूत्र, धर्म शास्त्र, पुराण, इतिहास आदिक सब में कहीं यज्ञ के, कहीं पितरों की तृप्ति के, कहीं मधुपर्क के, कहीं अतिथि सत्कारादि के, मिस से गद्य वा पद्य बनाकर मांसाहार भर दिया है, तथा कहीं वेदादि का अनार्थ करके प्रचालित कर दिया ॥

(३७६) सं० (प्रश्न) वे मांसाहारार्थी कौन थे, (उत्तर) इन्द्रिय विषयातिलोलुप वाम मार्गी । (३८०) (प्रश्न) वाम मार्गी कौन होते हैं, (उत्तर) वेद विरुद्ध पञ्च मकारोपासक । (३८१) (प्रश्न) पञ्च मकार क्या होते हैं, ।

(उत्तर) " मद्यं मांसं तथा मत्स्यो मुद्रा मैथुन मेवच ।
पञ्च तत्त्व मिदं देवि निर्वाण मुक्ति हेतवे ।
मकार पञ्चकं देवि देवाना मपि दुर्लभम् " ॥

गुप्तसाधन तन्त्रे ७ पटले । वाचस्पत्ये पञ्च मकार शब्दे द्रष्टव्यम् ।

अर्थ— पहले मकार से मद्य सेवन, द्वितीय मकार से जाङ्गम मांसादन, तृतीय मकार से मत्स्य [मच्छी खाना] चतुर्थ मकार से मुद्रा* [पृथुका भुने चावल, गेहूं- चनों] का सेवन और पाचवें मकार से मैथुन करना, हे देवि निर्वाण मुक्ति के लिये यह पञ्चतत्व है, यह मकार पञ्चक देवताओं को भी मिलना कठिन है ॥ सं० भला वामीजी के अतिरिक्त देव (सात्त्विक विद्वज्जन) इन उक्त मकारों के लब्ध होने का उद्योग क्यों करने लगे हैं इस कारण देवों को पंच मकारों का दुर्लभत्व तो यथार्थ है ॥

* पृथुकास्तण्डुला भ्रष्टागोधूम चणकादयः । तस्य नाम भवेद्देवि मुद्रा मुक्ति प्रदायिनी ॥

अन्यदपि कुलचूड़ामणि तन्त्रे

(३८२) मद्यभाण्डं समालोक्य मत्स्यं मांसं वरस्त्रियम् ।
दृष्ट्वा च भैरवीं देवीं प्रणम्य विमृषे न्मनुम् ॥

अर्थ—मदिरा के पात्र को, मत्स्य को, मांस को, सुन्दर स्त्री को अवलोकन करके और भैरवी देवी को देख कर प्रणाम करके मन्त्र को विचारै। सं० इन पञ्च मकारों से ही मुक्ति मानने वाले बहुधा प्रसिद्ध है, और इनके कल्पना किये अनेक ग्रन्थ तन्त्र नाम से और प्राय. शिव पार्वती के सम्वाद युक्त प्रचलित हैं, । (३८३) सं० इनमें भी अनेक मत भेद हैं, इनमें जो अघोरी कहाते हैं वे तो मनुष्य शव के मांस को भी हाथ लगै तो नहीं छोड़ते, और कितने ही इन्हीं के मतके भेदी निज मल मूत्र को भी खा पी लेते हैं, वे सरभङ्ग मत के नाम से प्रसिद्ध हैं । यह वाम मार्ग प्रथम पूर्वीय कलिङ्ग आदि देशों से प्रचलित हुआ है, । शक्ति सङ्गम तन्त्र में देश भेद मर्यादा बाँधने के विषयका यह आगे का पाठ लिखा है कि—

(३८४) देश व्यवस्था देवेशि ? कथ्यते शृणु तत्परा ।
वैद्य नाथं समारभ्य भुवनेशान्तगं शिव ?
ताव दङ्गाभिधो देशो यात्रायां नैव दुष्यति ।

(३८५) रत्नाकरं समारभ्य ब्रह्मपुत्रान्तगं शिवे ?
वङ्ग देशो मया प्रोक्तः सर्व सिद्धि प्रदर्शकः ।

(३८६) जगन्नाथा त्पूर्व भागात् कृष्णातीरान्तगं शिवे ?
कलिङ्ग देशः सम्प्रोक्तो वाम मार्ग परायणः ।

(३८७) कालिङ्ग देश मारभ्य पञ्चाष्ट योजनं शिवे ?
दक्षिणस्यां महेशानि कालिङ्गः परिकीर्तितः ॥

अर्थ—हे देवेशि अब देशों की व्याख्या कही जाती है, उस को तू तत्पर हो सुन; चिता भूमिस्थ वैद्यनाथ के मंदिर से लेकर भुवनेश के अन्त तक अङ्ग देश है, । रत्नाकर

[समुद्र] से लेकर ब्रह्मपुत्र के अखीर तक सब सिद्धियों का दिखाने वाला वङ्ग देश है। जगन्नाथ के पूर्वीय भाग से लेकर कृष्णा नदी के तीर के अन्त तक, वाम मार्ग में अत्यन्त, आसक्त हुआ कलिङ्ग देश है,। कलिङ्ग देश से लेकर दक्षिण दिशा में पञ्चाष्ट योजन के विस्तार से कलिङ्ग देश है, इस में भी कलिङ्ग के ही तुल्य अनाचार वाम तन्त्र परक ही है, ॥ तीर्थ यात्रा बिना इन देशों में जाने वाले का पुनः संस्कार कराने का उपदेश इसी कारण से, लिखा गया था, कि इन देशों में पहुंचने पर नजाने किसी वामी के फन्दे में आकर कोई से मकार का सेवन कर लिया हो,। पुनः संस्कार सूचक निम्न श्लोक है।

(३८८) अङ्ग वङ्ग कलिङ्गेषु सौराष्ट्रे मगधेऽपि च।
तीर्थ यात्रां विना गत्वा पुनः संस्कार मर्हति ॥ धर्म शास्त्रे

अर्थ–अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र, और मगध, इन देशों में तीर्थ यात्रा के बिना जाकर पुनर्वार संस्कार होने योग्य हो जाता है,। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि, पहले लोग अपने मत के विरुद्ध देश में जाने वाले की शुद्धि पुनः संस्कार से मानलेते थे ॥

(३८९) (प्रश्न) वेद मार्ग से विरोधी क्यों बन गये, (उत्तर) अधर्म से इन्द्रियों के विषयों को अटोक भोगते रहने की इच्छा से।

(३९०) (प्रश्न) ऐसा करने का अवसर उनको क्योंकर मिला (उत्तर) जिस समय किसी प्रकार का ईश्वरीय, लौकिक, वा पारलौकिक आदि दण्ड का भय, वा अविद्या के कारण विवेक, नहीं होता है उस समय निरंकुश अधर्मियों का दाव लग जाता है, वे तभी मन चाहा कर डालते हैं। (३९१) सं० (प्रश्न) जब कि वामी पांच मकारों के सेवन से मुक्ति मानते हैं तो व्यायामनित्या इस श्लोक में तीन ही मकार का उपदेश क्यों किया गया; (उत्तर) इन तीन ही मकारों का सेवन शुद्ध वेद मार्गी को बताना दुर्घट था, अन्य दो मकार तो इन के आप सेवन हो जाते हैं, क्योंकि मांस भक्षी को मछली खाने में क्या परहेज रह गया पाप तो है ही नहीं जो उसे न खावे, वह भी मांस ही है, इसी से मांस वालों में मत्स्य भी लिये हैं और मुद्रा का उपकार न करना का खाना होने से मनुष्य मात्र का सेवन है, इसलिये कहा नियम, (३९२) (प्रश्न) मांस के ही प्रकार से मकारों का ग्रहण हो सकता था जो दत्त नकार के लिए अलग

करना कि लिखे है (उत्तर) न जाने कोई इनके स्वार्थ के विरुद्ध मांस शब्द का अर्थ फल का मांस कर लेता तो जाङ्गम मास कैसे खाने में आता।

(३९३) "मत्स्यादः सर्व मांसादः,, मनु

मछली खाने वाला सब के मांस का खाने वाला गिना जाता है। (३९४) सं० इस से इन [मान के मकार से सब के मांस खाने का पास इन के मत वाले को मिल गया, चाहें गाय का हो, चाहें भैंस का हो, चाहें सूकरादि का हो, चाहें मुर्ग का हो, चाहें काकादि का हो, चाहे मनुष्य का हो. । इसी ढीठ ने तो वाजीकरण में, वा श्राद्ध आदि कों में मन माना भर दिया, और जो न खाय तो इकीस पीढ़ी नरक को जायँ। अवश्य जायंगी क्योंकि इनकी मुक्ति तो मांस के मकार विना होती ही नहीं। ये मद्य के मकार का भी बड़ा आदर करते हैं, देखो महानिर्वाण तन्त्र

(३९५) पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

अर्थ— बार २ पी २ कर फिर पीवे, जब तक भूमि पर न गिरे तब तक पीता ही रहे, गिर कर उठ कर भी फिर पीवै तो फिर जन्म नहीं होवें।

(३९६) सं० ये इन्द्रियों के विषय भोग बार २ बुरे प्रत्यक्ष दुःखदाई देखने सुनने समझने कहने पर भी मनुष्य के चित्त को अपनी ओर ऐसे खेंचते हैं कि उनके फंदे से बचकर बड़े धैर्यवान् पुरुष का भी सावधान बना रहना अति कठिन है और जो कहीं उक्त विषय भोग आप्तोपदेश कहकर मुक्तिदायक कर्तव्य कर्म धर्म बताया सुनाया समझाया जाय तो भला ऐसे विषय भोगों के करने कराने से कैसे कोई बच सकैगा। (३९७) सं० किसी समय यह मत सर्वत्र ऐसे प्रबल प्रवाह से बहा है, कि सब के चित्त से वैदिक शुद्ध विचार को इस वामतन्त्र ने बहा दिया। और वेदादि का अशुद्धार्थ इन का किया कराया सब के चित्त में दृढ़ होगया, उस समय जिस किसी ने वेद वेदाङ्गादि सच्छास्त्र भी पढ़े पढ़ाये तो भी सब तन्त्र मंत्रों की भूलभूलय्यों के जाल में आकर विपरीतार्थ ही को सत्यार्थ कहने, समझने, और पुष्ट करने लगे, जैसा कि पाण्डु रोगी को श्वेत भी पीला ही दीख पड़ता है, चाहें कितनी ही आंख फाड़कर देखै। (३९८) सं० यह मत प्रथम तो किसी ने इन्द्रियों के वशीभूत हुए जानबोरा स्वार्थी ने धारण किया, फिर इसका प्रचार विचार का अभ्यास बढ़ने पर देश देशान्तर में सर्वत्र फैल गया, इस ... के अन्य तथा वेदादिक के भाष्य भी बन गये

ये लोग देवी के यष्टा बन उस के नाम से मद्य पीते है, बकरे काट २ कर खाते हैं, पाचों मकारों की पूर्ति बडी धूम से करते है, । (३६६) सं० कोई इस को अजामेध कह कर मांस खाने का उपाय करते हैं । (४००) सं० कहीं २ मूर्ख लोगों के चित्त में तो इन पांचों मकारों से देवी के अत्यन्त प्रसन्न हो जाने का ऐसा दृढ़ विश्वास इन लोगों ने जमा दिया था कि उन्हीं ने अपना ही सिर अपने हाथ से काट कर देवी को चढ़ा अपने जीवन को खोदिया, फिर भला ऐसे मिथ्याभिनिवेशियों को देवी के सन्तुष्ट करने के मिस से गाय, घोड़ा, बकरा, सूकर और मनुष्य को काटकर खा जाना क्या बड़ी बात है, । भैरवी चक्र वाले मैथुन मकार को भी बड़ा आदर देते हैं ॥

देखो ज्ञान संकलिनी तन्त्र—

(४०१) मातृयोनिं परित्यज्य विहरे त्सर्व योनिषु ।
वेद शास्त्र पुराणानि सामान्यं गणिका इव ॥
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधू रिव ।

अर्थ- एक अपनी माता की योनि को छोड़ चाहे कोई हो सब की योनियों में मैथुन करे और वामतन्त्र के सिवाय वेद शास्त्र शासक ग्रन्थ । और पुराण ये सब वेश्या के समान निन्द्य हैं, घर २ कुकर्म कराते हैं, एक शाम्भवी मुद्रा ही तो कुल की वधू की नाई गुप्त [सुरक्षित कुकर्म कराने वाली] है ।

(४०२) रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी ।
चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता ॥
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता । इति रुद्र यामल तन्त्रे ।

अर्थ— मार्गी लोग इन स्त्रियों से मैथुन करना तीर्थ करना कहते हैं, रजस्वला चाण्डाली, चमारी, धोबन, पुकसी, ये क्रम से पुष्कर, काशी, प्रयाग, मथुरा, अयोध्या समझलो ॥

(४३०) सं० यह बात निम्न लिखित वृत्त से स्पष्ट सिद्ध होती है, कि मैथुन मकार का आदर सब देश देशान्तरों के मनुष्यों के देखने दिखाने के ही लिये कालिंग देश की अर्क क्षेत्र सन्धि में जगन्नाथ जी के मन्दिर के शिखिर पर मैथुन कराती

करती अश्लील [फोश] स्त्री पुरुषों की मूर्त्ति बना दी गई है, कि मैथुन का मकार इस प्रकार सेव्य होना चाहिये जो कोई इस को न माने तो जगन्नाथजी जाकर प्रत्यक्ष करले। और मुद्रा के मकार के अटका में तो कोई खटका ही नहीं है। काली तन्त्रादि में लिखा है कि—

(४०४) प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजोत्तमाः।
निवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक्॥

अर्थ भैरवी चक्र के प्रवृत्त अर्थात खान पान होने के समय सब जाति द्विजोत्तम हैं, और भैरवी चक्र के निबट पीछे सब वर्ण ज्यों के त्यों अलग अलग हैं॥

(४०५) सं० परन्तु विचार दृष्टि से देखते हैं, तो इस भारत वर्ष में कोई भी ऐसा देश, स्थान वा हिन्दुओं का मेला, देखने सुनने में नहीं आया, और न आता है कि जिसमें ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्य्यन्त सब जातियां द्विजोत्तम [ब्राह्मण हों, और एकत्र बैठकर परस्पर एक दूसरे के उच्छिष्टानुच्छिष्ट खान पान करने कराने में ग्लानि न करें, और जब वहां से खा पीकर पृथक् हों तब फिर वही अपनी जाति ज्यों की त्यों होजायँ, जैसा कि भैरवी चक्र का उद्देश है, यदि है तो ऐसा स्थान जगन्नाथपुरी ही है जहां सब जाति का एकत्र बैठकर बिना ग्लानि खान पान होता और फिर पीछे निवृत्त होने पर ज्यों की त्यों जाति हो जाती है, क्योंकि भैरवी चक्र के कारण रूप उद्देश का अनुमान होता है, कि यह भैरवी चक्र ही मतान्तर का प्रचार है, जोकि जगन्नाथपुरी में है॥ (४०६) सं० हमारा यह मन्तव्य नहीं है, कि किसी तीर्थादि पर व्यर्थ आक्षेप करें, यदि उक्त व्यवहार सत्य है, वा था, तब तो वह भैरवी चक्र का ही है, यदि नहीं है, तो भली बात है॥ इन वाममार्गियों में से एक कौल नामधारी होते हैं, उनका तो यह आचरण है, कि—

(४०७) अन्तःशाक्ता बहिःशैवाःसभा मध्ये च वैष्णवाः।
नाना रूप धराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥

अर्थ— मन से शक्ति उपासक, बाहिर शिवोपासक रूप, और सभा [अनेक मत मतान्तर वालों के मध्य में] वैष्णव बनना, इस प्रकार अनेक रूप से पृथ्वी पर कौल विचरते हैं। उक्त जगन्नाथपुरी में सब जाति का एकत्र भोजन कराने के लिये जगन्नाथ के

महात्म्य में अन्न वै० पुराण के वचन का विज्ञापन टांगा है— देखो—

(४०८) प्रविशन्त स्तु तत्क्षेत्रं सर्वे स्यु र्विष्णु मूर्त्तय:।
यत्रान्न पाचिका लक्ष्मी र्भोक्ता यत्र जनार्द्दन:॥
चाण्डाले नापि संस्पृष्टं ग्राह्य न्तत्रान्न मग्रजै:।

अर्थ— जहां लक्ष्मी जी अन्न पकाया करती हैं, और जहां जनार्द्दन विष्णु अन्न के भोक्ता हैं, उस क्षेत्र में जितने मनुष्य प्रविष्ट होते हैं, वे सब विष्णु मूर्ति हैं, वहां चाण्डाल का छुआ हुआ भी अन्न ब्राह्मणों के ग्रहण करलेने योग्य है। उत्कल खण्डीय मेंभी कहा है।

(४०९) विष्णवालय गतं तद्धि निर्माल्य म्पतितादय:।
स्पृशन्ति चेन्न दुष्टं हि यथा विष्णु स्तथैव ते॥

अर्थ— विष्णु के मंदिर में विष्णु के भोग लगे अन्न को जो पतित आदि छूलें तो वह अन्न दूषित नहीं, क्योंकि जैसे विष्णु हैं वैसे ही वे हैं॥

वाम मार्ग में मनुष्यों का मन आकर्षित होने के लिये वाम मार्गियों के रचे अद्भुत उपाय॥

(४१०) वाम मार्गेण सुमुखी शीघ्रं काम विधायिनी।
भोजनांते तथो च्छिष्टै र्जप्त्वा सा स्वेष्ट सिद्धये॥७४॥
न शीघ्र फलदा देवी सुमुखी सदृशी परा।
यस्या मन्त्र जपा देव प्रसिध्यन्ति मनोरथा:॥७५॥

अर्थ— सुमुखी देवी वाम मार्ग मे ही शीघ्र मनुष्यों के कार्य्य सिद्ध करने वाली है, वह देवी अपनी मनो कामना पूरी होने के लिये भोजन करके जूंठे मुंह जपनी चाहिये। सुमुखी के सदृश दूसरी शीघ्र फल देने वाली देवी कोई नहीं। जिसके मन्त्र जपने से ही मनोरथ सिद्ध होजाते हैं।

(४११) शिशुघ्नी पापहन्त्री च काली रुधिर पायिनी।

वसा धरा गर्भ भक्षया शव हस्तान्त्र मालिनी ॥

मंत्र महोदधि ८ तरंग ।

अर्थ- बालकों के मारने वाली, और पाप के चलाने वाली, रक्त के पीने वाली, वसा धारण करने वाली, गर्भों के भक्षण करने वाली, शव [मुर्दे] की आंतों की माला हाथ में रखने वाली, काली देवी है ॥

(प्रश्न) पाप हन्त्री का अर्थ पापों के हरने वाली होना चाहिये न कि पाप के चलाने वाली (उत्तर) जो बालकों को हनन करती हो गर्भों को खाती हो वह कदापि पाप के हरने वाली नहीं, वह तो पापिनी गर्भ हत्यारी महा पापिनी है, यहां हन्त्री शब्द में हन धातु का हिंसा अर्थ नहीं घटित होता यहां गमन [चलाना] अर्थ घटता है इस कारण इसी का लिखना ठीक है,

वाम मार्गियों के एक मंत्र को पाठकों को दिखाते हैं। विद्वानपुरुष इसका अर्थ भी समझ लेंगे ॥

(४१२) **ओं ऐं भग भुगे भगिनि भगोदरि भगमाले भगावहे भग गुह्ये भग योने भग निपातिनि सर्व भग वशङ्करि भग रूपे नित्य क्लिन्ने भग स्वरूपे सर्वाणि भगानि मे ह्यानय वरदे रेते सुरेते भग क्लिन्ने क्लिन्न द्रवे क्लेदय द्रावय अमोघे भग विच्चे क्षुं क्षोभय सर्व सत्वान् भगेश्वरि ऐं ब्लूं जं ब्लूं में ब्लूं मों ब्लूं हें ब्लूं हें क्लिन्ने सर्वाणि भगानि मे वश मानय स्त्रीं हर ब्लें ह्रीं, भग मालिनी नित्या श्री पादुकां पूजयामि नमः ॥** मंत्र महोदधि १२ तरंग।

(४१३) सं० ऐसे २ अश्लील मंत्र अपने रचित संकेतों से रचकर-मनुष्य मात्र का वश में करना, चाहे जिसको चाहे जहां से बुला लेना, मोह लेना, चाहे जिसका घर बैठे उच्चाटन कर देना, मार देना, चाहे जो कर दिखाना आदि आश्चर्य मय अनेक झूठी बातें उन्होंने अपने ग्रन्थों में लोगों को चित्त चलायमान करने के लिये भर रक्खा है। यदि इन की

गपोड़ें ये सच्ची होतीं तो गुणग्राही अंगरेज़ लोग भी इनका आदर और विश्वास अवश्य करते, परन्तु वे किंचिन्मात्र भी इनकी ओर ध्यान नहीं देते, इसी से उनका प्रचण्ड प्रताप फल रहा है॥

वाम मार्गियों की गणेश मूर्त्ति रचना और पूजन प्रकार

(४१४) दुष्ट स्त्री वाम पादस्य रजसा निज देहजैः।
मलै मूंत्र पुरीषाद्यैः कुम्भकार मृदापि च॥
एतैः कृत्वा गणेशस्य प्रतिमां मद्य भांडगाम्।
संपूज्य निखने द्भूमौ हस्तार्धे पूरिते पुनः॥

मन्त्र महोदधि २ तरंग

अर्थ—दूषित स्त्री के वाम पाद के रज से, अपने देह के मूत्र पुरीष आदि मलों से, और कुम्भकार की मिट्टी से, गणेश की प्रतिमा बनाकर मद्य के पात्र में रख पूजन करके फिर एक बालिश्त पृथ्वी में गढ़ा खोद कर दाब दे॥

मनु में लिखा है कि "नग्नान्नेक्षेत योषितम्"। नग्न स्त्री को नदेखै। इसके विरुद्ध इनके एक प्रयोग में लिखा है कि—

(४१५) सुन्दरीं यौवना क्रान्तां नर पञ्चक गामिनीम्।
सस्मितां मुक्त कवरीं भूषा दान प्रतोषिताम्॥
विवस्त्रां पूजयित्वैना मयुतं प्रजपेन्मनुम्॥

अर्थ—सुन्दरी, चढ़े यौवन, पांच पुरुषों से गमन [मैथुन] कराने वाली, मन्द मुसकाती, जूड़ा खोले हुए, आभूषणों के देने से सन्तुष्ट हुई, नग्न स्त्री को पूज कर दशसहस्र मन्त्र जपै॥

एक अन्य प्रयोग में पुरुष का नंगा होना और मंत्र जपना लिखा है,

दिगम्बरो मुक्त केशः श्मशानस्थोऽधियामिनि।
जपेद् योऽयुत मंतस्य भवेयुः सर्व कामनाः।

मंत्र महोदधि १ तरंग

अर्थ—जो पुरुष रात्रि में श्मशान में बैठा, बाल खोले, नग्न हुआ, दश सहस्र मंत्र जपे उसकी सब कामना पूरी हो जावें ॥

(४१६) कूर्म पुराण राजवंशानुकीर्त्तन, अध्याय १६ में निम्न लिखित कथा है, कि पहिले समय में देवदारु के वन में गृहस्थी मुनि जनों ने ईश्वराराधन के लिये अनेक तप किये। ६७। फिर एक समय काल चक्र वश बड़ी दुस्तर अनावृष्टि प्राणियों के नाश करने वाली हो गई। ६८। वे सब मुनि इकट्ठे होकर क्षुधाविष्ट हुए तपो निधि गौतम मुनि जी से प्राणधारक आहार को मांगने गए। ६६। मुनि गौतम ने उनको बहुत शुद्ध अन्न दिया, और उन्होंने वह निःशङ्क भोजन किया। १००। द्वादश वर्ष बीते पीछे मानों कल्प के ही अन्त में हुई हो, ऐसी सुख के करने वाली बड़ी वर्षा हुई, फिर जैसा जगत् था वैसा ही हो गया। १०१। इसके पीछे वे मुनिवर परस्पर सलाह करके महर्षि गौतम से बोले कि हम बहुत शीघ्र ही जावेंगे। १०२। गौतम ने निषेध किया और उनसे कहा कि कुछ काल सुख से मेरे घर और रहकर हे पण्डितो [सदसद्विवेकी हो] अवश्य चले जाइयो।१०३।

फिर उन सब ने छल की कृष्ण गौ रचकर महात्मा गौतम के पास पहुंचा दी। १०४। वह उस गौ की रक्षा में उद्यत हुए, कृपालु गौतम मुनि ने गौ को देख कर उस गौ को गोहिरे में बांधा, वह गौ छूते के साथ ही मर गई। १०५। वह शोक में दुःखित हुए महामुनि गौतम, उस न करने योग्य कार्य को शीघ्र न देख सके, गौतम से मुनियों ने कहा कि। १०६। हे द्विजों में श्रेष्ठ! जब तक यह गो हत्या तुम्हारे शरीर में है, तब तक तुम्हारा अन्न खाना उचित नहीं, अब हम जावेंगे ही। १०७। उस गौतम के आज्ञप्त हुए सुन्दर देवदारु के वन को पाप के वश में पहुंचा कर जैसा पहले करते थे, वैसा ही तप करने को चले गए, । १०८। उस गौतम मुनि ने उन की छल से लगाई गौहत्या को किसी कारण से जानकर बड़े कोप से शाप दे दिया। १०६। महा पापियों के तुल्य पाप करने वाले वेद त्रयी से बाहिर हो जायंगे और वे शाप से बार २ जन्म लेकर दुःखी होंगे। ११०। फिर सब ने विष्णु और महादेव की जाकर स्तुति की। १११। हे देवों के देव! इस पाप से आप हमारी रक्षा करने योग्य हैं, । ११२। उस समय समीप ही विराज मान विष्णु को देख कर महादेव बोले कि इन पवित्र होने की इच्छा वालों का क्या उपाय होना चाहिये, । ११३। फिर भक्त वत्सल विष्णु महादेव जी से बोले। ११४। कि हे शङ्कर वेद बाह्य पुरुष में पवित्र होना लेश मात्र भी नहीं घटता

है, क्योंकि धर्म वेद से ही उत्पन्न हुआ है। ११५। फिर भी भक्त के वात्सल्य भाव से हे महेश्वर ! नर्क जाते हुए ये, हमसे रक्षा करने योग्य हैं,। ११६।

तस्माद्धि वेद बाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम्।
विमोहनाय शास्त्राणि करिष्यामि वृषध्वज॥
एवं सम्बोधितो रुद्रो माधवेन मुरारिणा।
चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः।
कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्व पश्चिमम्।
पंचरात्र पाशुपतं तथा न्यानि सहस्रशः। ११६।
सृष्ट्वा तानाह निर्वेदा कुर्वाणा शास्त्र चोदितम्।
पतन्तो नरके घोरे बहूनकल्पान् पुनः पुनः। १२०।
जायन्तो मानुषे लोके क्षीण पाप चया स्ततः।
ईश्वरा राधन बला द्गच्छध्वं सुकृतां गतिम्॥ १२१॥
वर्त्तध्वं मत्प्रसादेन नान्यथा निष्कृति र्हि नः।
एवमीश्वर विष्णुभ्यां चोदिता स्ते महर्षयः॥ १२२॥
आदेशं प्रतिपद्यन्त शिवस्या सुरविद्विषः।
चक्रुस्ते ऽन्यानि शास्त्राणि तत्र तत्रेरिता पुनः।१२३॥
शिष्या नध्यापयामासु दर्शयित्वा फलानि च।
मोहाय सदनं लोक मननीये महीतले॥ १२४॥
चकार शंकरो भित्तां हितायैषां द्विजैः सह।
कपाल माला भरणः प्रेत भस्मावगुंठितः। १२५।

अर्थ— इस कारण हे (वृषध्वज) धर्म ध्वज वेद बाह्य पापियों के (रक्षणार्थाय) पालनार्थ (विमोहनाय) मूर्ख बनाने के लिये (शास्त्राणि) शासक ग्रन्थों को हम तुम (करिष्याम) बनावेंगे। ११७। इस प्रकार (सम्बोधितः) विष्णु के चेताए हुए

महादेव ने (मोहशास्त्राणि) अज्ञान के शिक्षक ग्रन्थ बनाये, और शिव के प्रेरणा किये विष्णु ने भी उक्त प्रकार के शास्त्र रच डाले, । ११८ । अब आगे दिग्दर्शन मात्र उन के नाम भी बताते हैं, १ कापाल २ नाकुल ३ वाम ४ भैरव ५ पूर्व पश्चिम ६ पञ्चरात्र ७ पाशुपत तथा और भी अनेक वेद के विरुद्ध शास्त्र रचे । ११९ । शास्त्रों को रच कर उन [शाप लगे विप्रों] को कहा कि वेद रहित हुए तुम इन शास्त्रों के कहे धर्मो को करते हुए वार वार बहुत से कल्प पर्य्यंत घोर नरकों में गिरते हुए । १२० । क्षीण पाप हुए मनुष्य लोक में जन्मो फिर परमेश्वर के आराधन के बल से अर्थात् वेदोक्त परमेश्वराज्ञा करने के बल से पुण्यात्मा जनों की गति को पहुंचो, । १२१ । मेरी प्रसन्नता से बचौ, और प्रकार से तुम्हारी निष्कृति [शुद्धि] ही नहीं है इस प्रकार वे महर्षि महादेव और विष्णु के प्रेरित हुए उपदेश को पहुंचे । १२२ । और उन उन शास्त्रों में निरन्तर लगे रहकर शिव के और विष्णु के अन्य शास्त्र बहुत से फिर रचे, । १२३ ।

और उन के फल दिखा २ कर शिष्यों को पढ़ाये । इस प्रकार पृथिवी तल में उत्तर कर इस लोक [संसार] को (मोहयन्तः) अविवेकी बनाते हुए द्विजों के साथ खोपड़ियों की मालाओं का आभूषण पहरें और प्रेत [मुर्दे] की राख लपेटे हुए शिवने भिक्षा करी अर्थात् कापाल तन्त्र प्रवृत्त कर दिया । वास्तव में शिव और विष्णु इन नामों में सर्व साधारण की ऐश्वरीय श्रद्धा का विशेष अभिनिवेश घुसा हुआ समझ किसी वेद विरोधी ने शिव और विष्णु के नामसे यह कापालादिकों का वृत्त लिख मारा प्रतीत होता है ॥

कापालिकाचार

नरास्थि माला कृत भूरि भूषणः ।
श्मशान वासी नृ कपाल भोजनः ॥

अर्थ– मनुष्यों की अस्थियों की मालाओं के बहुत से आभूषण पहर कर मरघट में वास करना और मनुष्य की खोपड़ी में भोजन करना कापालिक आचार होता है,

कूर्म पुराण में कहा है कि

पञ्च रात्रञ्च तन्त्रञ्च तन्त्रं वैखानसं तथा ।

वेद भ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापति रुक्तवान् ॥

अर्थ – पञ्च रात्र तन्त्र को और वैखानस तन्त्र को वेद से भ्रष्ट हुए पुरुषों का प्रयोजन लेकर लक्ष्मीपति ने कहा

वेद विरुद्ध मत

भुजयोः शङ्ख चक्रादि तप्त चिन्ह भृतो नराः ॥
जिता शङ्कर शिष्यैस्ते वैष्णवाः पाञ्च रात्रिकाः ॥

अर्थ – दोनों भुजाओं में शंख चक्रादि तप्त मुद्रा धारण करने वाले वैष्णव जन शंकराचार्य्य के शिष्यों ने जीते ॥

(४१७) शाक्तैः पाशु पतै रपि क्षपणकैः कापालिकै र्वैष्णवैः,
रप्यन्यै रखिलैःखिलं खलु खलै र्दुर्वादिभि र्वैदिकम् ॥
मार्गं रक्षितु मुग्र वादि विजयं नो मान हेतो र्व्यधात् ।
सर्वज्ञो नयतोऽस्य सम्भवति सं मान ग्रह ग्रस्तता ॥

शङ्कर दिग्विजय सर्ग १५ श्लोक ६५ ॥

अर्थ – काली के मत वालों से, पाशुपत तन्त्र के मत वालों से, (क्षपणकैः) बौद्ध मतानुयायि दिगम्बरों से, उक्त कापालिक मत के लोगों से. वैष्णवों से, तथा अन्य भी अखिल [समस्त] (दुर्वादिभिः) वितण्डा वादी (खलैः) दुर्जनों से, (खिलम्) पृथिवी पर (वैदिकम्) वेद के मार्ग को रखन के लिये, इन उग्र वादियों का विजय किया, किन्तु अपने मान के निमित्त नहीं, क्योंकि कोई सर्वज्ञ नहीं इससे उन में मान से वा आग्रह से ग्रसित होना सम्भव नहीं, ॥

इति वाम मार्गादि वेद विरुद्ध मत प्रपञ्च प्रदर्श नात्मं को ऽष्टादशो विवेकः ॥ १८ ॥

अथ शूर अशूर विषय

(४१८) सं ० मांसाहारी लोग बहुधा ऐसा कहते हैं कि, जो मांसाहार करते हैं वेही शूर वीर होते हैं— यह उनका कहना वा समझना उनकी अनभिज्ञता है, क्योंकि शूरता एक सात्विक प्राकृत मानसिक गुण है वह माता पिता के सात्विकाहाराचार जन्य सत्व के सार [८१] वाले सात्विकी मनुष्यों में ही हुआ करता है, अन्य में नहीं, क्योंकि सत्व [मन] के सार वाला ही अति कठिन दुःख को सहन करता हुआ भी अपने स्वाभाविक धैर्य धर्म से स्थिर हो मुख नहीं मोड़ता ॥

सुश्रुत ० सू ० स्था ० अ ● ३५ में कहा है कि

(अ ४१८) सत्वन्तु व्यसनाभ्यु दया दिस्थानेष्व वैकल्य करम्

अर्थ— व्यसनों [दुःखों] के चारों ओर से उत्पन्न होने के स्थानों [मोके] में न घबड़ा ने देने वाला सात्विक गुण ही है। क्योंकि—

(इ ४१८) सत्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्या त्मान मात्मना। राजसः स्तभ्यमानो न्यैः सहते नैव तामसः ॥

अर्थ— जो सत्ववान् [सतोगुणी] होता है वह अपनी धृति से अपने मन को थामकर अर्थात् धीरज धर कर सब दुःखों को सहलेता है,, राजस [रजोगुणी] अन्यों के धीरज बंधाने से दुःखों को सहता है, युद्धादि में थमता है, और तामस सत्व का जन्मा [तमोगुणी] मनुष्य दूसरे के धैर्य कराने सहायक होने पर भी दुःख के कामों में नहीं थमता और उनको नहीं सहसक्ता, वह कायर कहलाता है। जो मनुष्य उक्त शुद्ध सत्व के जन्मे स्वभाव से शूर हो, और शूरों की विद्या [युद्ध विद्या] का शिक्षित हो और शूरत्व गुण का वर्तने वाला भी हो ॥ वही प्रत्यात्म नियता, और कुल प्रसक्ता, इन दोनों प्रकृतियों से जन्मा शूर स्वभाव, शूर गुण, और शूर कर्म, [अमल] इन तीनों शूरत्व श्रेणियों में पूर्णता प्राप्त करने वाला अत्यन्त शूर होता है, जैसे कि भीष्मपितामहादि हुए इन का इतिहास महाभारत में देखो। पशुओं में भी जाति प्रसक्ता प्रकृति जन्य ही शूरत्व गुण होता है, कुछ मांसाहार से नहीं. यदि मांसाहार से ही शूरत्व होता तो बनैला वाराह कदापि शूर न होता, सो वह तो इसी गुण से शूर [निर्भय पराक्रमी] नाम वाला शूरारि [शूअर] प्रसिद्ध शूर है, यदि मांसाहार से ही शूरत्व होता तो शृगाल

[गीदड़] भी तो मांसाहारी है कि जिसका नाम जने २ के मुख से कायरों के दृष्टान्त में निकला करता है,। ऐसा देखने में न आवेगा कि एक सिंह वा वाराह शूर, दूसरा अशूर [कायर] हो परन्तु मनुष्य प्रत्यात्म नियता प्रकृति [४८] वश भिन्न ही स्वभाव वाले देखे वा सुने जाते हैं? [५?] अङ्क लिखित चक्रवर्ति राजे शूरवीर न होते, तथा, बौद्ध, जैन प्रभृतिक अहिंसकों का राज्य न हुआ होता, वह भी न हुआ, कितने ही यवनों ने अनेक वार युद्ध में पीठ दिखाई, तथा— इन्द्र काय [५९] वरुण काय [६१] निरा मिषाहारी शुद्ध, सत्व के जन्मे शरीर शूर न लिखे होते, राजस कार्यों में असुर [६४] निरामिषी होने पर शूर न लिखा जाता, और राक्षस काय [६५] मांसाहारी होने पर शूर लिखना चाहिये था, पिशाच काय [६६] मांसाहार शील होने से भीरु [डरपोक] न कहाता, इत्यादि अनेक उदाहरण हैं, विस्तार उचित नहीं है।

(प्रश्न) सात्विक, राजस, और तामस प्राकृतिक सत्वों का क्या विचार है ? (उत्तर) सत्व, रज और तम, ये मानसिक प्रकृति के गुण हैं, इन में - सतो गुणी के लक्षण जैसे-

सात्विक लक्षण

(उ४१८) सात्विकास्तु आनृशंस्यं संविभाग रुचिता तितिक्षा सत्यं ध आस्ति क्यं ज्ञानं बुद्धि मेधा स्मृति धृति रनभिषङ्गश्च।

अर्थ—(आनृशंस्यम्) अहिंसनादि क्रूर कर्म रहित होना, (संविभागरुचिता) बांट कर खान पान करना, (तितिक्षा) सहन शीलता अर्थात् क्षमा, (सत्यम्) सच बोलना (धर्मः) शरीर से और मन से सदाचार वर्तना, (आस्तिक्यम्) परलोक, स्वर्ग, नरक, पुन र्जन्म का होना और वेदादि सत्शास्त्र में आप्तविश्वास, (ज्ञानम्) आत्म ज्ञान (बुद्धिः) सदसद्विवेचना (मेधा) ग्रन्थ धारणा (स्मृतिः) अतीत स्मरण (धृतिः) मन को मर्यादा में रखने वाली नियामिका शक्ति अर्थात् धैर्य, (अनाभिषङ्गः) दुर्व्यसनों का अभाव वा फल की निरपेक्षा से शुभकर्म करना,। मनुष्य में उक्त लक्षणों का होना मन के सात्विक गुण का चिन्ह है ॥

राजस लक्षण

(उ४१८) राजसास्तु दुःख बहु लताऽटन शीलता धृति रहङ्कार आनृ

तिकत्व मकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च ॥

अर्थ– (दुःखबहुलता) बहुधा दुःखदायक कर्म में लगना लगाना, (अटनशीलता) व्यर्थ डोलने का सदैव शील रखना, (अधृतिः) मनको अधीरता, (अहङ्कारः) आपे में सब से अधिक कर्त्तृत्वाभिमान रखना, (आनृतिकत्वम्) मिथ्या वचन कहना (अकारुण्यम्) निर्दयता (दम्भः) कपटवृत्तिः (मानः) अपने को सब से अच्छा समझना (हर्षः) विना अवसर मनोत्साह, (क्रोधः) परापकारार्थ शारीरिक वा वाचिक, वा मानसिक चेष्टा। ये उक्त राजस लक्षण राजस सत्वके अधिक गुण वालोंके होतेहैं।

तामस लक्षण

(सू४१८) तामसास्तु विषादित्वं नास्तिक्य मधर्म शीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्व मकर्म शीलता निद्रालुत्वश्चेति॥

अर्थ–(विषादित्वम्) मूढ़ता, अर्थात् कर्तव्य कर्मों का विघ्नों के भय से प्रारम्भ न करना, (नास्तिक्यम्) पुनर्जन्म, परलोकादि, देवादि आप्तवाक्यों का न मानना, (अधर्मशीलता) मन से वाणी से वा शरीर से अविहित [अनाचार] वर्तना, (बुद्धेर्निरोधः) बुद्धि से काम न लेना, अर्थात् प्रज्ञापराधों का करना, (अज्ञानम्) प्रत्यक्ष के विरुद्ध अयथार्थ समझना, (दुर्मेधस्त्वम्) दुष्टबुद्धि अर्थात बुरी बातों की धारणा [याद्दाश्त] शक्ति (अकर्मशीलता) ठाली निकम्मापन वर्तना, अर्थात् व्यर्थ समय खोते रहना, (च) और (निद्रालुत्वम्) जागने के समय भी निद्रालु रहना, । ये उक्त तमोगुण के लक्षण तमोगुणी पुरुष में होते हैं॥

आखेट विषयक विचार, शुक्र नीति में कहा है कि-

(४१६) व्याघ्रादिभि र्वनचरै र्मयूराद्यैश्च पक्षिभिः।

क्रीडयेन्मृगया कुर्या दुष्ट सत्वानि पातयन् ॥

अर्थ–बघेरे आदि बन के विचरने वाले पशुओं के, और मोर आदि पक्षियों के, साथ क्रीड़ा [खेल] करना अर्थात् उक्त पशु पक्षियों के पीछे दौड़ना, पकड़ना, छोड़ना, उछलना, कूदना आदि, शारीरिक-चेष्टा से बल वृद्धि कर अपनी फुर्ती से दंष्ट्र पशुओं के आघात से बचै, और दुष्ट [बिगड़े] जीवों को गिराता, हराता घेरता हुआ राजा मृगया [आखेट] करै ॥

मृगया के गुण

(४२०) शौर्य्यं प्रवर्द्धते नित्यं लक्ष्यसंधान मेवच ।
अकातरत्वं शस्त्रास्त्र शीघ्रपातन कारिता ॥
मृगयायां गुणा एते हिंसा दोषो महत्तरः ।

अर्थ– नित्य प्रति शूरता विशेष बढ़ती है, लक्ष्य [निशाने] का संधान, [बींधना] अकायरता और शस्त्रास्त्रों के तुरन्त पातन [चलाने] की फुर्ती, ये मृगया में गुण हैं परन्तु एक हिंसा दोष बड़ा भारी है, ॥

(४२१) आनृशंस्यं परो धर्मः सर्व प्राणभृतां यतः ।
तस्मा द्राजा नृशंसेन पालयेत् कृपणं जनम् ॥

अर्थ–क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों [मनुष्य मात्रों] का आनृशंस्य [अहिंसा] परम धर्म है इस से अहिंसा से दुःखी जन की राजा रक्षा करै अर्थात् किसी को दुःख न पहुंचावै ॥

(४२२) मृगयाक्षा स्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम् ।
दृष्टा स्तेभ्य स्तु विपदो पाण्डुनैषध वृष्णिषु ॥

अर्थ–मृगया-द्यूत- और मदिरा पान, ये तीनों कर्म विशेषता से भूमियों को और राजाओं

को निंदित हैं, क्योंकि इन ही तीनों से, पाण्डव, नैषध, और यादवों में,विपत्ति देखी गई है ॥

मैथुनादि के त्याग से कुष्ठ रोग की निवृत्ति

[३१४] स्त्री प्रसङ्ग, जाङ्गम मांसाहार, और मद्यपान ये रक्त दूषक भी हैं

सुश्रु० चि० अ० १० में लिखा है कि–

(४२३) योषि न्मांस सुरा वर्जी कुष्ठी कुष्ठ मपोहति ।

अर्थ– स्त्री, मांस, और शराब का त्यागी बना, कुष्ठ का रोगी कुष्ठ को दूर करता है। यदि स्त्री प्रसंगादि रक्त दूषक न होते तो रक्त जन्य कुष्ठ रोग में इनका त्याग क्यों लिखा जाता ? इस से बोध होता है, कि, ये तीनों [३१४] रक्त के अवश्य दूषक हैं ॥ (प्रश्न) यदि स्त्रीप्रसंग भी रक्त दूषक है, और ऐसा समझ यह न किया जाय तो फिर सन्तान क्यों कर होगी, (उत्तर) संतान की उत्पत्ति भी स्त्री के रक्त की और पुरुष के शुक्र की शुद्धि पूर्वक ही आयुर्वेद में वरनी कही है ॥ इसकी आज्ञा चर० शा० अ० ८ में देखलो यहां विस्तार भय से नहीं लिखा ॥

तथा सुश्रुत कल्पस्थान अ० ५ में कहा है कि–

(४२४) मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्री-मांस-मधु-वार्जिना।
जिताहारेण शुचिना कुशास्तरण-शायिना ॥

अर्थ–वेदोप बेदोक्त मन्त्रों का ग्रहण। साधन] आहार को अपने आधीन रखने वाले से, बाहिर भीतर से शुद्ध हुए से स्त्री, मांस, और मद्य को त्यागने वाले और कुशों के संस्तर [बिस्तर] पर शयन करने वाले से किया जाता है ॥ सं० इस से यह बात सिद्ध होगई कि मन्त्रों की सिद्धि के भी उक्त तीनों कर्म बाधक हैं ॥ इसी भ्रष्टाचार ने आथर्वणादि मन्त्र भी निष्फल से कर दिये यही वंक गति तो वक्री [बामी] कहलवाती है ॥

(४२५) एक सदुपदेशक-मांस भक्षण निषेध में अनेक डाक्टरों की सम्मति ॥

डाक्टर ए. सी. खास्टगिर, एम्. डी. (Dr. A. C. Khostgir, M. D.) ने सन् १८८७ ईस्वीमें कलकत्ता नगरमें मांसभक्षण के दोषोंपर एक वक्तृता दी थी, वह मास्टर दुर्गा प्रसाद लाहौर निवासी ने पुस्तकाकार सन् १८९१ ई० में विरजानन्द यन्त्रालय में छपाकर प्रकाशित की है, उसमें बहुत से डाक्टरों का मत इस प्रकार लिखा है कि, (४२६) "प्राचीन आर्य लोग जो निरे फलाहारी और शाकाहारी थे, वे अपने कायिक और मानसिक बल के लिये प्रसिद्ध थे जिन्होंने अनेक विद्या निकालीं।" (४२७) इसी प्रकार मिश्र देश वासी भी जिन की अपूर्व उत्कर्षता का इतिहास साक्षी देरहा है, वे मांसाहारी नहीं थे, जैसा कि सेमुएल शार्पर (Semuel Sharper) ने अपने मिश्र देश के इतिहास (History of Egypt) में लिखा है, कि चीन वाले फलाहारी हैं, तथा जापान वाले तथा सायरा लोन निवासी इनका देश स्वास्थ्य प्रद नहीं इस पर भी मांस कदापि नहीं खाते हैं, (४२८) कुस्तुन्तुनिया नगर के मज़दूर और तुर्क फौज के बड़े २ पहलवान् मांस खाने वाले नहीं हैं, जैसा कि सर डब्ल्यू फेयरबेर्न (Sir W. Fairbairne) लिखते हैं, रूस नार्वे स्काटलैंड के बहुत से लोग और भी कई प्रान्तों में मांस बिलकुल नहीं खाते हैं।

(४२९) डाक्टर निकाल्स (Dr. Nichols) कहते हैं कि समस्त यूरुप देश में गरीब लोग मांस खाते ही नहीं।

(४३०) सेंट फ्रैंसिस पौला (St Frencies Paula) के मतानुयायी जो इंग्लैंड में रहते हैं, अंडे और दूध तक को मांस समझ कर नहीं खाते।

इत्यनेक विध मांसाहार निषेध विषय वर्णने ऊन विंशो विवेकः ॥ १९॥

इतिहासादि द्वारा भारत वर्षीयाहाराचारादि विचार

(४३१) सं० हम जिस देश में आज कल बस रहे हैं इस देश का नाम आर्यावर्त पूर्व काल से चला आता है, इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है, "आर्यैः वर्तमान": आर्यों से जो वर्तमान हो, वह आर्यावर्त है, आर्य शब्द के निम्न लिखित अर्थ हैं ॥

देखो वाचस्पत्य बृहदभिधान पृष्ट ८१२ ॥

आर्य पु० ऋ-ण्यत् । १ स्वामिनि २ गुरौ ३ सुहृदि ४ श्रेष्ठ कुलोत्पन्ने ५ पूज्ये ६ श्रेष्ठे ७ संङ्गते नाटयोक्तौ ८ मान्ये ९ उदार चरिते १० शान्त चित्ते ॥

अर्थ—गत्यर्थक ऋ धातु से कर्ता अर्थ में ण्यत् प्रत्यय करने से आर्य शब्द सिद्ध होता है। स्वामी, पूज्य, श्रेष्ठ, संगत, नाटयोक्ति, मान्य, उदार चरित, और शान्त चित्त, इतने अर्थों में यह शब्द आता है। तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि-

(४३२) "कर्तव्य माचरन् कार्य मकर्त्तव्य मनाचरन।
तिष्ठति प्राकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः ,, ॥

अर्थ—करने योग्य जो यम नियमादि कर्मों को करता हुआ, और न करने योग्या हिंसा आदि पापों को न करता हुआ,जो प्राकृताचार पर ठहरता है वह आर्य है। यह देश ऐसे आर्यों से वर्तमान होने से आर्यावर्त नामक हुआ, इसी के मध्य ब्रह्मावर्त देश भी है इन की मर्यादा व विषय इस प्रकार हैं ॥

(४३३) "सरस्वतीदृषद्वत्यो र्देवनद्यो र्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्त प्रचक्षते ,, ॥

मनु० अ० २ श्लोक १७

अर्थ--सरस्वती, और दृषद्वती, गंगा, और यमुना इनके मध्य जो देवतों का बसाया देश, वह ब्रह्मावर्त देश है। उस देश में जो परम्परा से प्राप्त वर्णों का आचार है। उसको सदाचार कहते हैं। मनु जी आज्ञा देते हैं कि—

(४३४) "कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षि देशो वै ब्रह्मावर्त्ता दनन्तरः ,, ।

अर्थ—कुरुक्षेत्र, और पांचाल, और सूरसेन, ये ब्रह्मर्षि देश हैं, ब्रह्मावर्त के ही पार्श्व में है ॥

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशा दग्रजन्मनः

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः। मनु अ० २।२०।

अर्थ – इस देश के ब्राह्मणों से पृथिवी के सब मनुष्य अपने २ कामों की शिक्षा पावें
(४३५) सं० इन पूर्वोक्त श्लोकों से यह निश्चित होता है कि उक्त सब देश धर्म और विद्या से परिपूर्ण थे, इसी कारण इनकी शिक्षा पाने के लिये कहा गया, यद्यपि बहुत कुछ इन देशों के वासियों ने सहस्रों वर्षो से अनेक विपत्तियां भोगी हैं, और भोग रहे हैं तथापि इन देशों के बसने वाले इतर देशों की अपेक्षा मांसाहारी नहीं हैं, और जो हैं उन्होंने यवनों से और ईसाईयों से इस अहार की शिक्षा पाई है, और पारहे हैं॥
(४३६) अनेक युक्ति से और अनेक लेखों के देखने से तथा प्रत्यक्ष से निश्चित हुआ है कि, यवनों से कायस्थों के द्वारा मांसाहार का प्रचार प्रायः आर्यों में घुसा है, और अन्त्यज जिनका आजीवन उच्छिष्टाहार का था वा वन के जीव मारने का था अथवा मरे जीवों की खाल उधेड़ने का था वे कुछ तो पहले से खारहे थे, और कुछ कायस्थों के संग से और वाम तन्त्र वालों के उपदेश से खाने लग गये परन्तु कायस्थ लोग अब छोड़ते जाते हैं।
(४३७) सं० पहले कायस्थ बिलकुल नहीं खाते थे इस में यह प्रमाण अभी तक प्रत्यक्ष देखने में आरहा है कि, उनकी स्त्रियां अभी तक नहीं खाती हैं और यहां तक उन को घृणा है कि मांसाहारी पति,वा पुत्र,वा पिता,वा भाई आदि कोई कैसा ही प्रिय क्यों न हो उस से अपना चौका बर्तन खान पानादि सब पृथक रखती हैं, कोई कोई तो मांसाहारी के हाथ का जल तक नहीं पीती हैं॥
(४३८) सं० प्रायः स्त्रियों के स्वभाव में स्थित हुई प्रथाका परिवर्तन सुगमता [आसानी] से नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि, आर्यों में पहले मांस न खाने की ही प्रथा थी कि, जो उनकी स्त्रियों में अभीतक विद्यमान है॥
(४३९) सं० जिस कुल में बहुत दिन से जो आहाराचार चला आता हो उस के करने में वह संकोच नहीं करता' जैसा कि यवनादि जीवों की हिंसामें और मांस के खाने में, और आर्य जीवों के ऊपर दया करने और मांस न खाने में, संकोच नहीं करते,॥
(४४०) सं० यह नियम है कि, विशेष संग से कुछ न कुछ परि वर्तन अवश्य हो जाता है, जिसको जब जैसा हुआ वा होता है वह वैसा ही बनगया है वा बन जाता है।

(४४१) व्यापन्नस्याप्सुगतौ यदभोज्यमार्य्याणाम्प्रतीयेत ॥ ४८ ॥

मीमांसा दर्शन अ० ६ पा० ५

अर्थ – (व्यापन्नस्य) बिगड़े हुए भोजन का (अप्सु) नद्यादि के जलों में (गतौ) गति अर्थात् डालना देखो रहो पर (आर्य्याणाम्) आर्यों का (यत्) जो (अभोज्यत्) न खाने योग्य भोजन हो (तत्) वह (प्रतीयेत) प्रतीत हो जाता है, ॥ शास्त्र में व्यापन्न हार को जल में फैंक देना कहा है, और भक्षणानर्ह को व्यापन्न कहते हैं इस से पाया जाता है कि–आर्यों के लिये सब पदार्थ भक्ष्य न थे अर्थात् किसी प्रकार भोज्य पदार्थ भी दूषित होने पर ग्रहण नहीं किये जाते थे ॥

(४४२) पीछे मनुष्य की प्रकृति छः प्रकार की वर्णन की है, उन में जाति प्रसक्ता प्रकृति मनुष्य को मांसाहारी नहीं बनाती, किन्तु जन्मोत्तर काल में जो कुल प्रसक्ता (आदती माद्दा) बन जाती है, वह मनुष्य को बुरे भले आहाराचार करने वाला कर देती है, क्योंकि मनुष्य का अभ्यस्त स्वभाव एक मोम की नाक है, चाहे जिधर को करदो इसके उत्तम स्वभाव ही बनने के लिये गर्भाधानादि संस्कार आर्यों के धर्म ग्रन्थों में हैं, ॥

(४४३) सं० किसी समय इसी देश के वासी आर्य [श्रेष्ठ] थे कि जिनके निवास से इस देश का भी नाम आर्यावर्त [४३२] अब तक प्रसिद्ध है, फिर इसी देश की–

(४४४) शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रिय जातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौंड्रकाश्चौड्रद्रविण काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीना किराता दारदा खशाः ॥

मनु अ०१० श्लोक ४६ । ४७।

अर्थ – ये क्षत्रिय जातियां धर्मानुसार आहाराचारादि रूप क्रियाओं के लोप होने से और याजनाध्यापनादि वैदिक कर्म कराने के लिये ब्राह्मणों के अदर्शन [न दीख पड़ने] से लोकमें धीरे २ नीचता को पहुंच गईं । जैसे पौंड्र औड्र [ओड़] द्रविण कम्बोज, यवन, [यूनानी] शक, पारद, [फारसी] पह्लव, चीनी, किरात, [किरार] दारद खश ये जातियां केवल वैदिक धर्माचरण न करने और वेद विरुद्ध मांसाहारी चाराादि

करने से ही हुई।

(४४५) और अनुलोम, प्रतिलोम से नीचे लिखी मिश्रित जातियां उत्पन्न हुई हैं, जैसे अनुलोम से – मूर्द्धावसक्त, अम्बष्ठ. निषाद, पारशव। महिष्य, उग्र. करण इनको असंद कहते हैं, और प्रतिलोम से सूत, बैदेहिक, चाण्डाल, मागध, क्षत्ता, आयोगव इनको अपध्वस्त कहते हैं। अब आगे आवृत, आभीर [अहीर] धिग्वण, पुक्स, कुकुर, स्वपाक, वेण व्रात्य, भूर्जकण्टक, शावन्त, वाटधान, पुष्पध, शैख, झल्ल [झल्लोमार] मल्ल, निच्छिवि, नट, करण खस [खसिया] द्रविड़, सैरिन्ध्र, दस्युकहाई है

(४४६) मुख बाहूरु पज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाच आर्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।

मनु अ० १० श्लो० ४५

अर्थ–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों की [क्रिया लोप से] अधम जातिया म्लेच्छ भाषा युक्त वा आर्य भाषा युक्त सब दस्यु कही गई हैं। इन दस्युओं [अनार्यों] के संयोग से उक्त चारों वर्णों की मैत्रेय, कारावार, चर्मकार, अंध, मेद पाण्डु, सोपाक, त्वक्सार, आहिण्डिक [अहेड़िया] ये जातियां हुई हैं॥ (४४७) सं० इनमें ऊंच नीच भी हैं उनके इनके यथायोग्य स्पर्शास्पर्श का व्यवहार का विचार है, इनका मांसाहारादि अभक्ष्य भक्षण हो जाने से आर्यों के साथ कोई व्यवहार खान पान का नहीं रहा। प्रकृत्यनुसार मनुष्य सदैव उत्तम, मध्यम अधम होते रहे हैं, और हो रहे हैं, और आगे होवेंगे, देखो ऋग्वेद मं० १ अ० १० सू ५१। मं० ८।

(४४८) विजानी ह्यार्या न्येच दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया
शासदव्रतान् शाकी भव यजमानस्य चोदिता
विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥ ८॥

अर्थ- हे मनुष्य तू (बर्हिष्मते) उत्तम सुखादि गुणों के उत्पन्न करने वाले व्यवहार की सिद्धि के लिये (आर्य्यान्) सर्वोपकारक धार्मिक विद्वान् पुरुषों को (विजानीहि) जान अर्थात् उनका ज्ञाता हो और (ये) जो (दस्यवः) पर पीड़ा करने वाले अधर्मी दुष्ट मनुष्य हैं, उनको जानकर (बर्हिष्मते) धर्म की सिद्धि के लिये (रन्धय)

मार,और उन(अव्रतान्) कर्म यज्ञादि धर्म रहित मनुष्यों को (अरारात) हिंसा करते हुए (यजमानाय) यज्ञ के कर्ता का (चोदिता) प्रेरणा करने वाला और (शाकी) उत्तम शक्ति युक्त (भव) हो (ते) तेरे उपदेश वा संग से (सधमादेषु) सुखों के साथ वर्तमान स्थानों में (ता) उन (विश्वा) सब कर्मों को सिद्ध करने की (इत्) ही, मैं (चाकन) इच्छा करता हूं ॥८॥

(४४९) यहां इस मंत्र के लिखने का यह प्रयोजन है कि श्रेष्ठों को आर्य विद्वान् देव आदि नाम से बोलते थे,और दुष्ट [डांकू] मूर्ख दस्यु नाम अनार्यों का था। डाक्टर हन्टर लिखते हैं कि

४५०) एक इतिहासवेत्ता " हिन्द की आबादी के खास जड़ आर्य और गैर आर्य हैं,, पृष्ठ ६१ ॥

(४५१) आर्य लोग अपने ज़माने के फ़िर्के को दस्यु याने दुशमन या दास यानी गुलाम कहते थे "६ (४५२) डाक्टर हंटर "हिन्द के पुराने ज़माने का हाल सिर्फ इस कदर दर्याफ्त होता है कि दो नसलें मुल्क के अधिकार के लिये झगड़ती थीं "६१" (४५३)पीछे विद्या के बल से आर्यों की ही विजय हुई, अनार्यों को दास [शूद्र] पद मिला (४५४) सं० वाल्मीकीय रामायण महाभारतादि में ब्राह्मण, क्षत्रिय,और वैश्य के लिये आर्य शब्द सैंकड़ोंस्थानों में आया है, इन तीनों को द्विज द्विजन्मा, द्विजाति कहते हैं गोत्राध्याय गोत्रावली प्रवराध्याय आदि में द्विजों के आपस में गोत्र भी मिलते हैं ,

(४५५) "डाक्टर हंटर" और हिन्द के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ही आर्य हैं " ३२ " (४५६) पहली तीन जातियां आर्य नसल की थीं और द्विज' की उनको पदवी थी पृष्ठ " ५३

(४५७) सं० जो कुछ मनु ने द्विजों के धर्म वर्णन किये वे सब वेद से लिये हैं, (४५८) सं० द्विजों के संस्कार वैदिक ही होते थे, इस लोक तथा परलोक की पवित्रता करते थे, इनका मत वैदिक था, वेद के निन्दक को नास्तिक कहते थे, धृत्यादि मनूक्त दश धर्म के लक्षणों के करने में, निवाहने में, कटि बद्ध रहते थे, यम और नियम वर्तने का तो आर्यों का इष्ट ही था। " माहिंस्यात् सर्वा भूतानि " किसी जीव को मत मारो यह इनका उपदेश था, इन कारणों से आर्य मांसाहारी नहीं थे ॥

(४५९) सं० इनके आतिथ्य सत्कार तथा संस्कार और उत्सवों में अन्न, फल, मूल, कन्द, गोरस, आहार थे। (४६०) सं० इनके उपवास या तो निराहार वा धर्म शास्त्र

की रीति पर थे जैसे कि तप्त कृच्छ्र चांद्रायणादि कहे हैं, अथवा वे आयुर्वेद के अनुसार यथा ऋतु आहाराचार करते थे जैसा कि माघ मास में प्रातःकाल स्नान, तिलों का विशेष बर्ताव।

(४६१) सं० यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि, शीत ऋतु [शिशिर] में वात का राज्य प्रबल होता है, इस समय पसीना नहीं आता और आता भी है तो थोड़ा आता है इस पर भी जो न्हाते नहीं हैं उनकी त्वचा में मैल चढ़कर पसीना आने के स्रोतों [मसामात] को विशेष करके रोक देता है, उस में अनेक त्वचा के, वा रक्तादि धातु दूषित हो जाने क रोग तुरन्त वा कालान्तर में अवश्य पैदा हो जाते हैं, इस कारण शीत काल में प्रातः स्नान ही त्वचा के स्रोतों को अत्यन्त खोलने वाला है, उस समय जल शरीर पर पड़ते के साथ ही शीतल वायु के स्पर्श से भीतर पहुँचा पित्त एक साथ रोम २ में होकर सब स्रोतों को खोलता हुआ अपनी ऊष्मा सहित भाप को ऐसे बाहिर फैंक देता है कि, जैसे बिना बुझे चूने के फुके हुए पत्थर में भीतर पहुंचा हुआ अग्नि फैंक देता है, फिर शीत भी दूर हो जाता है॥ प्रातः काल स्नानादि कृत्य करना सदैव अत्युत्तम सुख कारक है, देखो दक्ष स्मृति—

(४६२) प्रातः स्नानं प्रशंसन्ति दृष्टा दृष्ट फलं हि तत्।
सर्वं मर्हति पूतात्मा प्रातः स्नायी जपादिकम्॥
अज्ञाना द्यदिवा मोहात् रात्रौ दुश्चरितं कृतम्।
प्रातः स्नानेन तत्सर्वं शोधयन्ति द्विजातयः॥

अर्थ—मुनि जन प्रातःकाल के स्नान की प्रशंसा [बड़ाई] करते हैं, चाहैं उसका फल स्नान करने वाले को दीखता हो वा न दीखता हो पर प्रातः काल न्हाने वाला पवित्रात्मा जितने जप आदि परमेश्वराराधन कर्म हैं उन सब के करने का अधिकारी हो जाता है,। अज्ञान से वा अविवेक से रात्रि में किये दुष्कर्म को प्रातः काल के स्नान करने से द्विजाति जन शुद्ध करते हैं।

उत्साह मेधा सौभाग्य रूप सम्पत् प्रवर्त्तकम्।
मनः प्रसन्नता हेतुः प्रातः स्नानं विशिष्यते॥

अर्थ—कार्यों के करने में उत्साह [उमाहा] ग्रन्थ धारण शक्ति, सुन्दर ऐश्वर्य, और

अच्छे रूप को करता है, तथा मनकी प्रसन्नता करने का प्रातः स्नान विशेष कारण है
(४६३) सं० आर्यों ने अनार्यों को आलसी अशुचि रहने वाले समझ विशेष कर शीत काल में सवेरे वा मध्यान्ह में भी सुख के हेतु स्नान को कदा चित् न करें इस कारण विधि के प्रवर्तन के लिये ही माघ स्नानादि माहात्म्य पुराणों के मुख से कहा दिया आयुर्वेदीय चरक संहिता चि० अ० ३० में लिखा है कि--

(४६४) बाह्ये श्च शीतैः सेकाद्यै रूष्मा न्तर्याति पीडितः।
सोन्त गूढं कफं हन्ति शीतैः शीतं तथा जेयत्॥

अर्थ- वात के रूक्षादि गुणों से शरीर के बाह्य प्रदेश [बाहिर त्वचा की ओर] से प्रातिहत [टकराया] हुआ पित्त कोष्ठ के भीतर पहुँच जाता है, वह पित्त भीतर छिपे कफ को तथा शीत को ठण्डे सेकादि से जीतता है॥

(४६५) शीते शीतानिल स्पर्श संरुद्धो बलिनां बली।
पक्ता भवति हेमन्ते मात्रा द्रव्य गुरु क्षमः॥

अर्थ--शीत समय हेमंत में ठण्डी वायु के स्पर्श से रुका हुआ पक्ता नामक पित्त बलवानों [पांच प्रकार के बली हुए पवनों] के बीच में बलवान् हो जाता है, इस कारण मनुष्य आहार में मात्रा की गुरुता और द्रव्य की गुरुता को सह लेता है॥

(४६६) उस समय वात के दोष से विपरीत गुण वाले आहारों को सेवन करना उचित कहा है, वात के गुण [१३६८] पर देखो--

सं०--आयुर्वेद वेत्ता आर्य पुरुषों का ध्यान तिलों की ओर पहुंचा और उन्हों के अनेक प्रकार से उनके वर्ताव का प्रचार कर दिया कि वात के विपरीत गुण वाले वात नाशक तिल हैं॥

(४६७) तिल के गुण

ईष त्कषायो मधुरः सातिक्तः सङ्ग्राहकः पित्तकर स्तथोष्णः।
तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः स्निग्धो व्रणा लेपन एव पथ्यः॥
हृन्यो ग्नि मेधा जननो ल्पमूत्रः स्तन्यो थ केश्यो निलहा गुरुश्च।

तिलेषु सर्वेष्व सितः प्रधानो मध्यः सितो हीनतरा स्तथान्ये ॥

सुश्रुत सू० अ० ४६

अर्थ – तिल कुछेक कषाय मधुर और तिक्त रस युक्त है, संग्राही, पित्त करने वाला और उष्ण है। तिल का विपाक मधुर है, तिल बल दायक, और चिकना है, । व्रणों के लिये तिल का लेप करना अत्यन्त हित है, ॥ तथा दांतों को हित [अचलता और आरोग्य दायक] है, जठराग्नि और मेधा [ग्र. ा धारणा शक्ति] को उत्पन्न करता है, मूत्र को थोड़ा करता है दूध को बढ़ा ा है ... हरने वाला और गुरु है। सब तिलों में काले तिल गुण में विशेष हैं, श्वेत तिल म... और लाल हीन गुण हैं ॥

(४६८) यह भले प्रकार सिद्ध है कि, जो काम ना ... बुद्धि के बढाने वाली देखी, वा परीक्षोत्तीर्ण हुई, उसी का वर्ताव आर्यों ने ... उसी को विशेष वर्त्ता, और दूसरों को उपदेश किया, देखो वेदों में एक ... बुद्धि की प्रार्थना में है, उसकी कितनी बड़ी प्रशंसा है, और है भी ऐसा ही ... बुद्धि ही के प्रताप से ही सब काम ठीक होते हैं, जबकि तिल बुद्धि वर्द्धक हैं तो फिर उस में अवगुण तो एक भी नहीं, यदि होगा भी तो प्रज्ञापराध से होगा इसी से माघ में उपवास भी तिल ही खाकर करने कहे हैं

षट्तिला एकादशी मांहात्म्य।

(४६६) तिलस्नायी तिलो द्वर्ती तिलहोमी तिलतर्पणः ॥
तिलदाता च भोक्ताच शिशिरे स्यात्सदा गृही ॥

अर्थ– तिल जल में डालकर स्नान, तिलों से उबटना, तिलों से होम, तिलों से तर्पण, तिलों का दान, और तिलों का भोक्ता शिशिर ऋतु में प्रायः गृहस्थी को होना चाहिये इसी से माघ कृष्णा एकादशी का नाम षट्तिला है। (४७०) तथा फाल्गुन चैत्र के महीने में आमले का सेवन अत्युत्तम गुणप्रद रसायन है, ऐसा समझ आमले सेवन के प्रारम्भ की तिथि आमला एकादशी नाम से प्रसिद्ध है। उसकी स्तुति में आमले के वृक्ष की छाया में बैठने की भी अति प्रशंसा है और फल खाने के माहात्म्य का तो कहना ही क्या है। देखो च० चि० रसाय० ३ पा० केवलामलकीय रसायन प्रकरण

(४७१) सं० आर्यों के बुद्धि पूर्वक धर्मानुरा... को सुख पहुंचाने वाले उक्त सब

व्यवहार थे, और अनार्यों के इन से विपरीत थे ॥

(४७२) सं० इन अनार्यों में आसुरी प्रकृति के व्रात्य वा अपसद वा अपध्वंस्त आदि जो २ दस्यु संज्ञक हुए वा पहले से थे उन में यह नहीं हुआ कि सभी कुपढ रह गये हों, बहुत से आर्यों के संग से संस्कृतज्ञ भी हुए हैं, परन्तु अपनी आसुरी प्रकृति वश इन्द्रियाधीन हो उन्होंने वाम मार्ग प्रचारक ग्रन्थ, अपने मन चाहे रच डाले, और आर्यों के हिंसादि दोष रहित निर्मल सद् ग्रन्थों को अपने मन माने क्षेपक भर कर और भाष्य बनाकर कलुषित करडाला।

(४७३) सं० कपटी लोग सदैव कपट वृत्ति करते ही रहते हैं, अब भी कर रहे हैं, थोड़े ही दिन हुए, एक सदुपदेशक ने वेदप्रकाश वर्ष २ मास ८ पृ० ८१ में "आर्यो सावधान !!! हो" ! यह शीर्षक देकर निम्न लिखित सूचना मुद्रित की थी। (४७४) सूचना "तुकाराम तात्या के संस्कृत निर्णय सागर प्रेस में सन् ८७ में छपी ऋक् संहिता के पृष्ठ ५७० से ५७६ तक में बालखिल्या नाम परिशिष्ट मिला दिया गया जिस कारण सायण भाष्यानुसारी अष्टक ६ अध्याय ४ वर्ग १५ की जगह ३३ और १६ की जगह ३४ हो गया, ११२ ऋचा व १८ वर्ग बढ़े। इसी प्रकार समस्त मूल संहिता को देखा जावै तो न जानै कितने मंत्र और वर्ग परिशिष्ट के थे जो मूल में मिला दिये गये हैं, यदि इसी प्रकार दो चार यन्त्रालयों वाले लोग १००० वा २००० वा १०००० और छाप कर देश में फैला देंगे और ठीक मूल ग्रन्थ का प्रचार न्यून हो जायगा तो, आदि सृष्टि में जिस वेद को ऋषि महर्षियों ने हृदय से चिपटा कर रक्खा, जिस वेद को वेद प्रिय ब्राह्मणों ने धनादि सर्वस्व लुटा कर और प्राण प्रण लगाकर भी यवनों के अत्याचारमय समय में भी सुरक्षित रक्खा। जिस वेद में मिलावट न होने पावै इस लिये चरण व्यूहादि ग्रन्थकारों ने उनके मंत्र अक्षर तथा अध्यायादि के सूचीपत्र बनाये। उसी वेद को सनातन धर्माभासी लोग प्रचरित पौराणिक मत को वेद मूलक ठहराने के लिये परिशिष्ट आदि पौरुषेय भाग को अपौरुषेय वेद में मिला कर स्वार्थ साधन में तत्पर हुए हैं।

इस से पाठ का पुस्तकों में प्रक्षिप्त होना वा निकल जाना संभव है इस के उदाहरण में महाभारतादि अन्य भी ग्रन्थ हैं,

(४७५) देखो-महाभारत में प्रक्षिप्त हो जाने का विवेकचक्र

सं०	पर्वों के नाम	किस श्लोकानुसार	अध्याय होने चाहियें	कम करना की छपा वर्तमान पुस्तक	कितने बढे या घटे
१	आदिपर्व	१३१	२२७	२३६	९ बढे
२	सभापर्व	२४२	७८	८०	२ ,,
३	वन पर्व	२०४	२६९	३१४	४५ ,,
४	विराट् पर्व	२१६	६७	७५	५ ,,
५	उद्योग पर्व	२४२	१८६	३६७	११ ,,
६	भीष्म पर्व	२५२	११७	१२४	७ ,,
७	द्रोण पर्व	२६७	१७०	२०४	३४ ,,
८	कर्ण पर्व	२७६	६९	९६	२१ ,,
९	शल्य पर्व	२८७	५९	६५	६
१०	सौप्तिक पर्व	३०८	१८	१८	ठीक
११	स्त्री पर्व	३२१	२७	२७	ठीक
१२	शान्ति पर्व	३२७	३३९	३६५	२६ बढ़े
१३	अनुशासन पर्व	३३५	१४६	१६८	२२ ,,
१४	अश्वमेध पर्व	३४१	१०३	९२	११ घटे
१५	आश्रमवासि पर्व	३५०	४२	३९	३ ,,
१६	मौशलपर्व	३६१	८	८	ठीक
१७	महाप्रास्थानिक पर्व	३६७	३	२	१ घटा
१८	स्वर्गारोहण पर्व	३७७	५	६	१ बढ़ा

देखो वाल्मीकीय रामायण बाल कांड सर्ग ४ श्लोक संख्या २ ।

(४७६) चतुर्विंश त्सहस्राणि श्लोकाना मुक्तवा नृषिः ।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम् ॥

अर्थ—चौबीस हजार श्लोक पांच सौ सर्ग छः काण्ड और उत्तर काण्ड यह वाल्मीकीय रामायण का प्रमाण है, । हमने संबत् १९१७ की कलकत्ते के संस्कृत यन्त्रालय में छुआमल की सहायता से छपी वाल्मकीय रामायण की पुस्तकों को देख कर उक्त रामायण के काण्ड, सर्ग और श्लोकों की संख्या ठीक २ नीचे लिखी है । उस को देख कर उक्त रामायण में प्रक्षिप्त होने का अनुमान सर्व साधारण को हो जायगा ॥

(४७७) १ बाल काण्ड — सर्ग — ७७	श्लोक	संख्या	२२७९
२ अयोध्या काण्ड — सर्ग — ११९	श्लोक	संख्या	४३११
३ आरण्य काण्ड — सर्ग — ७५	श्लोक	संख्या	२४६२
४ किष्किन्धा काण्ड — सर्ग — ६७	श्लोक	संख्या	२४६९
५ सुन्दर काण्ड — सर्ग — ६८	श्लोक	संख्या	२८५०
६ लङ्का काण्ड — सर्ग — १३०	श्लोक	संख्या	५७२०
छः काण्डों के सर्गों का योग ५३६			
७ उत्तर काण्ड — सर्ग — १२४	श्लोक	संख्या	४१११
सम्पूर्ण सर्ग — योग ६६०	उत्तरकाण्ड सहित श्लोक संख्या २४२०२		

(४७८) यदि ६ काण्ड और ५०० सर्गों में वाल्मीकीय रामायण उपरोक्त श्लोकानुसार निर्माण हुआ तब तो छः काण्डों में ही ३६ सर्ग बढ़ते हैं, परन्तु श्लोक संख्या २४००० पूरी नहीं होती ४६०९ श्लोक घटते हैं और जो उत्तर काण्ड सहित ७ काण्डों में पूर्ण माना जाय तो १२४ सर्ग संख्या और २०२ श्लोकों की संख्या बढ़ती है, इस से अवश्य उक्त रामायण में भी क्षेपक भरेगये हैं, जो कि वेद के सिद्धान्त से

विरुद्ध हिंसा परक जाज्ञम मांस भक्षण विषयक हैं, ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्याधिकारे भारत वर्षीया नेकैतिहासिकाहाराचार वैषयिक विचारे विंशति तमो विवेकः ॥ २० ॥

(४७९) वाम मार्गियों की वेद विरुद्ध पुराण रचना

वाम मार्गी लोगों के ग्रन्थ में यह कहीं भी नहीं लिखा देखोगे कि—

(४८०) अहिंसा परमो धर्म स्तथा हिंसा परो दमः ॥
अहिंसा परमं दान महिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञ स्तथा हिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्र महिंसा परमं सुखम् ॥ महा भारत

यह भी कहीं नहीं लिखा देखोगे कि "सुरा" मल है, पाप है, इस से कोई द्विज इसे न पीवै। "तथा यह भी न देखोगे कि "स्वदार निरतः सदा" अपनी स्त्री में ही रति करै, भला ये उपदेश क्यों लिखे जाने लगे हैं. ऐसे होते तो मांस, मद्य, मैथुन इन तीन मकारों की पूर्ति कैसे होती, और क्यों वेद से विरोध माना जाता, इनके ग्रन्थों में तो वह लिखा है, कि जिस से पीने को मद्य मिलै, खाने को मांस मिलै, और भोगने को स्त्री मिलै।

(४८१) अब आगे हम उनका हाथ ही पकड़े देते हैं कि जिनके हाथकी निर्दय लेखनी ने मन्वादि स्मृति तथा महाभारतादि में मांसाहार कूट २ कर भरा है।

(४८२) (प्रश्न) वे कौन हैं (उत्तर) वे काली पुराण के रचयिता प्रत्यक्ष वामीजी नीचे लिखे बलि देने वाले पढ़लीजिये ॥

सं० प्रतीत होता है कि, इन्होंने ही वर्षों की और महीनों की तृप्ति पितरों की होने का लालच दे श्राद्ध में मांस भक्षण मन्वादि में भरा है।

(४८३) साधकै बलि दानेषु ग्राह्यः सर्व सुरस्यतु ।
पक्षिणः कच्छपा ग्राहा मत्स्या नवविधा मृगाः ॥

महिषो गोधिका गाव श्छागो वभ्रुश्च शूकरः।
खड्ग श्च कृष्ण सारश्च गोधिका शरभो हरिः॥
शार्दूल श्च नर श्चैव स्वगात्र रुधिर स्तथा।
चण्डिका भैरवादीनां बलयः परि कीर्त्तिताः॥

(४८४) बलिभिस्साध्यते मुक्ति र्बलिभिःसाध्यते सुखम्।
बलि दानेन सततं जयेच्छत्रू न्नृपा न्नृपः॥

॥ रुधिर से पार्वती की तृप्ति॥

(४८५) मत्स्यानां कच्छपानां च रुधिरै सततं शिवा।
मासिकं तृप्ति मायाति ग्राहै र्मासांस्तु त्र्यन्नथ॥
मृगाणां शोणितै र्देवी नराणामपि शोणितैः॥
अष्टौ मासा नवाप्नोति तृप्तिं कल्याणदा च सा॥
गो गोधिकानां रुधिरै र्वार्षिकीं तृप्ति माप्नुयात्।
कृष्ण सारस्य रुधिरैः शूकरस्यच शोणितैः॥
आप्नोति सततं देवी तृप्तिं द्वादश वार्षिकीम्।
महिषाणां च खड्गानां रुधिरैः शत वार्षिकीम्॥
तृप्ति माप्नोति परमां शार्दूल रुधिरैस्तथा।
सिंहस्य सरभस्याथ स्वगात्रस्य च शोणितैः॥

॥ मांस से पार्वती की तृप्ति॥

(४८६) देवी तृप्ति मवाप्नोति सहस्रं परिवत्सरान्।
मांसै रपि तथा प्रीतीं रुधिरै र्यस्य यावती॥
कृष्णसार मृगे खड्गं तथा मत्स्यं च रोहितम्।

वार्ध्रीनस युगं चापि फलं तेषां पृथक् शृणु ॥
कृष्णसारस्य मांसेन तथा खड्गेन चंडिका ।
वर्षान् पञ्च शतान्येव तृप्ति माप्नोति केवलाम् ॥
रोहितस्यतु मत्स्यस्य मांसै र्वार्ध्रीनसस्य च ।
तृप्ति माप्नोति वर्षाणां शतानि त्रीणि मत्प्रिया ॥

(४८७) त्रिः पिबं स्त्रीन्द्रियक्षीणः श्वेतो वृद्ध स्त्वजापतिः ।
वार्ध्रीनसः प्रोच्यते ऽसौ हव्ये कव्ये च सत्कृतः ॥

(४८८) नील ग्रीवो रक्त शीर्षः कृष्ण पादः सितच्छदः ।
वार्ध्रीनसः स पक्षीशो मम विष्णो रति प्रियः ॥

(४८९) मन्त्र पूतं शोणितं तु पीयूषं जायते सदा ।
मस्तकं चापि तस्यात्ति मांसं ञ्चापि सदा शिवा ॥

(४९०) तस्मात्तु पूजने दद्यात् बलेः शीर्षंच लोहितम् ।
भोज्ये होमे च मांसानि नियुञ्जीया द्विचक्षणः ॥

(४९१) पूजासु नाऽऽम मांसानि दद्याद्वै साधकः क्वचित् ।
ऋते तु लोहितं शीर्ष मम्मृतं तत्तु जायते ॥

(४९२) कूष्माण्ड मिक्षु दंडं च मद्य मासव मेवच ।
एते बालि समाः प्रोक्ता स्तृप्तौ छाग समाः सदा ॥

(४९३) चन्द्रहासेन कर्त्र्या वा छेदनं मुख्य मिष्यते ।
दात्रासि धेनु क्रकच संकुलाभि स्तु मध्यमम् ॥
क्षुर क्षुरप्र भल्लैश्चै वाधमं परि कीर्त्तितम् ।
एभ्योन्यैः शक्ति बाणाद्यै र्बलिश्छेद्यः कदापि न ॥

नास्ति देवी बालिन्तत्तु दाता मृत्यु मवाप्नुयात् ।
हस्तेन छेदये द्यस्तु प्रोक्षितं साधकः पशुम् ॥
पक्षिणं वा ब्रह्महत्यां सोऽवाप्नोति सुदुःसहाम् ॥

(४६४) नामन्त्र्य खड्गंतु बलिं नियुंजीत विचक्षणः ॥

(४६५) पशूनां पक्षिणां चापि नराणा ञ्च विशेषतः ।
स्त्रियं न दद्यात्तु बलिं दत्वा नरक माप्नुयात् ॥

(४६६) संघात बलि दानेषु योषितं पशु पक्षिणोः ।
बलिं दद्या न्मानुषीं तु त्यक्त्वा संघात पूजितम् ॥

(४६७) न त्रिमासीयकान्न्यूनं पशुं दद्यात् शिवा बलिम् ।
न च त्रिपक्षका न्न्यूनं प्रदद्या द्वै पतत्रिणम् ॥
काणाभ्यङ्गादि दुष्टं तु न पशुं पक्षिणं तथा ।
देव्यै दद्याद्यथा मर्त्यं तथैव पशु पक्षिणौ ॥
छिन्न लांगूलकर्णादि भग्नदन्त स्तथैव च ।
भग्न शृङ्गादिकं चापि न दद्यात्तु कदाचन ॥

(४६८) नारं सव्ये शिरो रक्तं देव्याः सम्यङ् निवेदयेत् ।

(४६९) छागंतु वामतो दद्या न्माहिषं वितरे त्पुरः ।
पक्षिणं वामतो दद्या दग्रतो देह शोणितम् ॥

(५००) कव्यादीनां पशूनां तु पक्षिणां च शिरोऽग्रजम् ।
वामे निवेदये त्पार्श्वे जलजानां च सर्वशः ॥
कृष्ण सारस्य कूर्मस्य खड्गस्य शशकस्य च ।

ब्राह्मणा मथ मत्स्याना मग्र एव निवेदयेत् ॥
सिंहस्य दक्षिणे दद्यात् खड्गिनोऽपि च दक्षिणे ।
पृष्ठदेशेन दद्यात्तु शिरो वा रुधिरं बलेः ॥

काली पुराणोक्त नाना स्थानीयाः श्लोकाः

अर्थ--साधक लोक सब देवों के बलि दान में पक्षी, कछुवे, घडियाल, मछली, और नव प्रकार के हिरन, भैंसा, गोह, गौ, बकरा, नकुल, सूअर, गैंडा, काला हरिण, गोधिका, शरभ, सिंह, शार्दूल, और मनुष्य तथा अपने शरीर का रुधिर इनकी बलि चण्डी और भैरव आदि की बलि वर्णन करी हैं, । बलियों से मुक्ति सिद्ध होती है, बलियों से सुख मिलता है, । बलि दान करने से शत्रुओं को जीतता है । राजा अपने शत्रु राजाओं को जीतता है । मछलियों के और कछुवों के रुधिर से, एक महीने तक का चण्डी को शिवा प्राप्त होती है । ग्राहों की बलि से तीन महीने की । और मृगों के शोणित से, और मनुष्यों के शोणित से, आठ महीने तक की तृप्ति देवी पाती है । और कल्याण के देने वाली वह देवी गौओं के, और गोधिकाओं के रुधिर से एक वर्ष की । काले हिरन के और शूकर के रुधिर से बारह वर्ष को तृप्ति देवी की होती है । भैंसों के और गैंडों के, तथा शार्दूल के रुधिर से सौ वर्ष की अत्यन्त तृप्ति को चण्डी प्राप्त होती है । सिंह के शरभ के और अपने रुधिर से देवी की तृप्ति हजार वर्ष पर्य्यन्त की होती है । जिस के रुधिर से जितनी तृप्ति होती है उतने ही समय तक उसके मांस से होती है । काले हिरन के, गैंडे के, तथा रोहू मछली के और दोनों वार्ध्रीनसों के अतिरिक्त उक्त मत्स्यादि का फल पृथक् है । अब कृष्ण सारादि का फल सुन । कृष्ण सार के मांस से और गैंडे के मांस से चण्डिका पांच सौ वर्ष की तृप्ति को प्राप्त होती है । शिव जी अपने भक्त से कहते हैं कि रोहू मछली के और वार्ध्रीनस के मांस से तीन सौ वर्ष की तृप्ति को मेरी प्यारी पार्वती प्राप्त होती है । दोनों कान और मुख इन तीनों से जल को स्पर्श करता हुआ जो जल पीता है । स्त्री में जो इन्द्रिय से क्षीण हो, श्वेत वर्ण हो और वृद्ध हो ऐसा अजा का पति "बकरा,, वार्ध्रीनस कहाता है यह हव्य और कव्य में सत्कृत [अच्छे पुरुषों ने किया] है । जिसका गला नील वर्ण, सिर लाल, पाद कृष्ण वर्ण, और पक्ष श्वेत हैं वह पक्षियों का स्वामी भी वार्ध्रीनस है, वह मेरे विष्णु को अत्यन्त प्यारा है । मन्त्रों से पवित्र किया कर सदा अमृत होता है. उसके मस्तक को और मांस को भी सदा शिवा [पार्वती]

खाती है, इससे पूजन में बलि के सिर और रुधिर को देवै। भोजन में और हवन में मांस को वर्त्तै। पूजाओं में साधक कहीं कच्चे मांस को न देवै रुधिर और सिर के बिना क्योंकि वह अमृत हो जाता है। पेठा, ईख का गन्ना, मद्य, और आसव, ये बलियों के सदृश कहे हैं, और तृप्ति में छाग की तृप्ति के तुल्य हैं। बलि का काटना खांडे से कर्त्री [कत्ती] से श्रेष्ठ होता है, दरांत, गडांसा, वा तवल, आरी, और मुष्टि प्रहार इनसे मध्यम. क्षुर [उस्तरा] क्षुरप्र [खुरपा] भाला इन से अधम कहा है। इनके अतिरिक्त अन्य सांग बाण आदिक से बलि कभी न काटना चाहिये, इस बलि को देवी कभी नहीं खाती है और ऐसे बलि देने वाले की मृत्यु हो जाती है। और जो साधक हाथ से यज्ञ पशु को वा पक्षी को छेदित करता है, वह दुस्सह ब्रह्म हत्या को प्राप्त होता है। खड्ग को बिना मन्त्रित किये कभी बलि पर न चलाना चाहिये। पशुओं के पक्षियों की और विशेष कर मनुष्यों की बलि स्त्री की न देवै किन्तु पुरुष [नर] की देवै। स्त्री [मादा] की बलि देने पर नरक को प्राप्त होता है। इकट्ठे पूजन किये पशु पक्षियों के बलि दान में मनुष्य स्त्री को छोड़कर स्त्री की भी बलि देवै। देवी को पशु बलि तीन मास से न्यून आयु वाले पशु की न देवै और तीन पखवाड़े से न्यून अवस्था के पक्षी को न देवै। काना आदि अंग दूषित पशु को पक्षी को तथा मनुष्य को देवी के लिये बलि न देवै। कटे पूंछ कान वाले और टूटे दांत और सींग वाले पशु पक्षी की बलि कभी न दे। मनुष्य के सिर के रक्त को देवी की दाहिनी ओर निवेदन करै बकरे के रक्त को बाईं ओर, भैंसे को सम्मुख, पक्षी को बाईं ओर, मांसाहारी पशुओं को सन्मुख, मांसाहारी पक्षियों को बाँई ओर, सम्पूर्ण जल के जीवों को एक पार्श्व में, काला हिरन, कच्छप, गैंडा, शशक ग्राह, मत्स्य इन सब को भी सम्मुख निवेदन करै, तथा सिंह को दक्षिण ओर से निवेदन करै। बलि के शिर वा रुधिर देवी के पृष्ठ भाग में न देवै॥

उक्त काली पुराणोक्त बलि की समालोचना

(५०१) सं० चण्डी को उक्त लेखानुसार ऐसी बलि देनी ठीक है कि, जो एक सहस्र वर्ष तक तो चण्डी का पेट रीता ही न हो. ऐसी बलि सिंह की शरभ की वा अपने रुधिर की बताई है, इनमें शरभ का मिलना और सिंह का बलि होना कठिन है. हमारी सम्मति में चण्डी के भक्त को अपने ही रुधिर की बलि देनी ठीक होगी ऐसा करने में चण्डी के सेवक को यह भी परीक्षा हो जायगी कि बलि होने में जीव को कैसा

सुख पहुँचता है । और जो कहीं चण्डी को अपना शिर अर्पण करदें तबतो साक्षात् स्वर्ग ही में चण्डी सेवक का झंडा जा गडेगा, परन्तु उक्त महाशय ऐसा क्यों करने लगे हैं, इनको तो नित्य प्रति अपना पेट मद्य मांस से भरना है, चण्डी का तो एक मिथ्या बहाना किया है, और इनकी यह कपोल कल्पना न तो पुराणों में गिनी गई है, और न कहीं उप पुराणों में, इसको किसी ने प्रमाण नहीं किया, न मानों तो वाचस्पत्य-कोश में काली पुराण शब्द पर देखलो, ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे काली पुराण धृतानेक पशु पक्षि भक्षण लीला सूचक एक विंशतितमो विवेकः

(५-२) सं०कोई २ कहते हैं कि हिंसा निषेध की प्रथा बुद्ध से ही चली है, पहले न थी. यह उनका कहना बिना विचार के है. यह तो श्रुत्युक्त सनातन है, इसे [१०७६ अंक] पर देखो । और शङ्कर दिग्विजय में भी वाम मार्ग वेद बाह्य बताया है ॥ यथा—

(५०२) श्रुत्या चारं परित्यज्य मिथ्या चारं समाश्रिताः ।
केचित्कापालिका चारा मद्य मांसा शिनः सदा ॥
एकस्यैव मतस्यापि भेद षट्कं समाश्रिताः ।
पृ० ६।७
वेदोक्त कर्म्म हीनाश्च तान्त्रिका चार तत्पराः ।
पृ० ३८।
श्रुति विरुद्धा चार तत्परान् युष्मान्निन्देत् मागमम् ।
मद्य मांसाशिनां नृणाम् ब्राह्मण्य हानि दर्शनात् ॥

इस उपरोक्त पाठ से भी कापालिक प्रभृतिक वाम मार्ग वेद से विरुद्ध मद्य मांसाशी शङ्कराचार्यजी ने भी कहे हैं ॥

मांसाहार विषयक इतिहास

(५०४) विश्वामित्र के यज्ञ होने में सुबाहु और मारीच नाम के राक्षस यज्ञ वेदी में मांस और रुधिर बर्षाने का विघ्न करते थे इस पर विश्वामित्र ऋषि ने महाराजा दशरथ जी के पास जा सब वृत्त सुना कर उनसे रामचन्द्र जी को माँगा है,।

(५०५) अहं नियम मातिष्ठे सिध्यर्थं पुरुषर्षभ ।
तस्य विघ्न करौ द्वौतु राक्षसौ काम रूपिणौ ॥४॥
व्रतेतु बहुशश्चीर्णे समाप्तौ राक्षसा विभो ।
मारीचश्च सुबाहुश्च यज्ञ विघ्न करा वुभो ॥५॥
तौ मांस रुधिरौ घेण वेदि न्ता मभ्य वर्षताम् ।
अवधूते तथा भूते तस्मिन्नियम निश्चये ॥६॥
कृतश्रमो निरुत्साह स्तस्मा देशा दपाक्रमे ।
नचने क्रोध मुत्स्रष्टुं बुद्धि र्भवति पार्थिव ॥७॥
तथा भूता हि सा चर्य्या न शापस्तत्र विद्यते ।
स्व पुत्रं राज शार्दूल रामं सत्य पराक्रमम् ॥८॥
काक पक्ष धरं वीरं ज्येष्ठं मे दातु मर्हसि ।

वाल्मीकीय रामायण बाल काण्ड सर्ग १९ ॥

अर्थ—हे पुरुषर्षभ यज्ञ करने के लिये मैं तो नियम में बैठा हूं और उस यज्ञ में विघ्न कर्त्ता मारीच और सुबाहु नामक काम रूपी दो राक्षस बहुत से व्रत कर चुकने पर यज्ञ की समाप्ति होने के समय विघ्न करने वाले हुए हैं। यज्ञ वेदी को मांस और रुधिर के समूह से उन्होंने सब ओर से भर दिया ऐसा होने पर और उस नियम निश्चय हुए संकल्प के भ्रष्ट हो जाने में परिश्रम कर निरुत्साह [इरादे पस्त] हुआ मैं उस यज्ञ स्थान से चला आया हूं। और जो यह कहा कि शाप देकर नष्ट क्यों नहीं कर देते हो तो, हे पृथिवीश ? क्रोध वाक्य मुख से निकलने को मेरी बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती वह ऐसी ही यज्ञ की चर्य्या है कि, उसमें शाप नहीं देना चाहिये। इससे हे राजशार्दूल ! कुल्ले रक्खे हुए, सत्यपराक्रमी और वीर ऐसे अपने बड़े पुत्र रामचन्द्र

को मेरे लिये आप देने को योग्य हैं, ॥

(५०६) सं० यदि आर्य लोग मांसाहारी होते और यज्ञों में पशुबध और वाममियों की भांति बाते करते होते तो असुर राक्षसादि की की हुई मांस की ओर रुधिर की वृष्टि से क्यों घबराते, विश्वामित्र जी अपनी यज्ञ की रक्षा के लिये रामचन्द्र जी को क्यों लाते।

(५०७) सं० देखो जो जिस वस्तु को खाता है, और वही वस्तु उस के घर विना मांगे और विना दाम लिये कोई डाले वा फेंकदे तो भला ऐसा कौन मूर्ख है कि, जो अपनी अभीष्ट खाद्य वस्तु को अपने घर वर्षाने वाले से लडे, और ऐसा कौन मूर्ख है कि, जो अपनी ड्रेरी के घर उसके गमा व ही वस्तु को फैंके।

(५०८) सं० मनुष्य से भिन्न मांसाहारी जीवों के स्थानों में मांस, तृणाहारियों के स्थान में तृण, और फलाहारियों के स्थान में फल, डाले तो डालने वाले के उक्त जीव प्रिय हो जाते हैं, दूर के रहने वाले भी निकट आने लगते हैं, उसको अपना प्रिय और विश्वास पात्र समझ कर अपना आंतरिक प्रेम प्रकट करने की अनेक चेष्टायें करते हैं, प्रत्युत आज्ञाकारी हो जाते है, और द्वेष करना तो भला कैसा। आसुरी, राक्षसी, और पैशाची प्रकृति वाले अनार्य लोग यह अच्छी तरह समझे हुए थे कि आर्य लोग मांस रुधिर हड्डी आदि शव वस्तु और शव के शरीर के स्पर्श से तथा शव की वायु और शव भूमि में जाने से घृणा और अशौच होना मानते हैं, इसी से उक्त वस्तुओं की वृष्टि करते थे।

(५०९) सं० जो जिसका आहार होता है, उससे उसको घिन कदापि नहीं होती जैसा तृणाहारी को घासादि से, फलों के वा अन्न के आहार वाले को फलादि से, इसी प्रकार मांसाहारी को मांस से हाड़ मेद वा रुधिर से घृणा नहीं यदि होती हो तो उसका वह आहार ही नहीं, इस से यह सिद्ध होता है कि आर्य मांसाहारी नहीं थे।

मांसाहार न करने में राजाओं का इतिहास

महाभारत अनु शा० प० अ० ११५ में भीष्म पितामह ने महाराजा युधिष्ठिर से मांस भक्षण में हिंसादि अनेक दोष और अहिंसादि में अनेक धर्म वर्णन करते २ उन मुनियों सार भीम पहले राजा महाराजाओं के नाम भी उदाहरण में कुछ थोड़े से लिये हैं कि जिन्होंने मांस को सर्वथा अभक्ष्य समझ नहीं खाया, वे नीचे लिखे जाते हैं ॥

(५१०) नाभागेना ऽम्बरीषेण गयेन च महात्मना

आयुनाथा नरण्येन दिलीप रघु पूरुभिः ॥
कार्त्तवीर्या निरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना ।
नृगेण विष्वक्सेनेन तथैव शश विन्दुना ॥
युवनाश्वेन च तथा शिविनौ शीनरेणच ।
मुचकुन्देन मान्धात्रा हरिश्चन्द्रेण वा विभो ॥
श्येनचित्रेण राजेन्द्र रोमकेन वृकेण च ।
रैवतेन रन्ति देवेन वसुना संजयेन च ॥
दुःष्यन्तेन करूषेण रामा लर्क नलै स्तथा ।
विरूपाक्षेण निमिना जनकेन च धीमता ॥
ऐलेन पृथुना चैव वीरसेनेन चैव ह ।
इक्ष्वाकुणा शम्भुना च श्वेतेन सगरेण च ॥
अजेन धुन्धुना चैव तथैव च सुबाहुना ।
हर्यश्वेन च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम् ॥

अर्थ—नाभाग, अम्बरीष, गय, आयुनाथ. अनरण्य, दिलीप, रघु, पुरु, कार्तवीर्य अनिरुद्ध, नहुष, ययाति, नृग, विश्वक्सेन, शशिविन्दु, युवनाश्व, शिवि, औशीनर मुचकुन्द, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, श्येनचित्र, रोमक, वृक, रैवत, रन्तिदव, वसु, संजय, दुःष्यन्त, करूष, रामचन्द्र, अलर्क, नल, विरूपाक्ष, निमि, जनक, ऐल, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शम्भु, श्वेत, सगर, अज, धुन्धु, सुबाहु, हर्यश्व, क्षुप, भरत, इत्यादि पहले सार्व भौम राजा महाराजाओं ने और इनके अतिरिक्त अन्य राजाओं ने भी मांस नहीं खाया, यह नियम है कि—

यद्यदा चरति श्रेष्ठ स्तत्त देवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोक स्तदनु वर्त्तते ॥
गीता ३ अ० २१ श्लो०

अर्थ — जो २ आचरण श्रेष्ठ [पधान] पुरुष करता है उसी प्रकार उसी का अनुयायी

नम कर साधारण जन भी करने लगता है ॥

आचार प्रेरको राजा ह्येत त्कालस्य कारणम् ।

शुक्रनीति अ० १ श्लो० २९

अर्थ – भले बुरे समय होने का कारण राजा अवश्य है आचार का प्रेरक राजा ही है ॥

(५१२) राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजान मनु वर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ शुक्र नीति

अर्थ – जिस समय राजा धर्मात्मा होता है, उस समय प्रजा जन भी धर्मिष्ठ होते हैं, पापी राजा के होने से पाप करने वाले जन, और सम के होने में सम, इस प्रकार राजा के पीछे चला करते हैं। इससे यह सिद्धान्त निकला कि जैसा जिस समय राजा होता है, उस समय प्रजा भी वैसे ही आचरण करने वाली होती है, ॥

(५१३) सं० इन उक्त नीति वाक्यों से निश्चित होता है कि, उक्त राजा महाराजाओं की प्रजा भी मद्य मांस का आहार करने वाली न थी, तथा यह नियम प्रत्यक्ष भी देखा गया है कि जब से मांसाहारी विदेशी यहां अधिकारी हुए हैं तभी से मद्य मांस का अधिक प्रचार हो गया, और प्रति दिन बढ़ता जाता है और जिस दिन इस देश के स्वामी का ध्यान इन मद्य मांस के अव गुणों की ओर होगा, उस दिन फिर भी इसका दर्शन होना कठिन हो जायगा ।

अतिसार प्रादुर्भाव

(५१४) सं० अब हम ऐसा प्रामाणिक इतिहास आप सबको विदित करते हैं कि, जिससे यह भी अच्छे प्रकार ज्ञात हो जाय कि पुरा काल में यज्ञ के समय पशु नहीं मारे जाते थे। और जब से यज्ञ में पशु मारे जाने लगे तब से ही रोग वृद्धि संसार में हो गई और हो रही है, वह भी आंखें खोल कर देख लीजिये,। इस में इतिहास। चरक चि० स्था० अ० १९ में लिखा है कि–

(५१५) एक समय हिमालय के उत्तर की ओर जब भगवान् आत्रेय आन्हिक तथा अग्नि होत्रादि कर्म से निश्चिन्त होकर बैठे हुए थे तथा बहुत से ऋषि मुनि भी उस

समय उपस्थित थे, उस समय अग्निवेश ने बहुत नम्रता पूर्वक अभिवादन करके पूछा कि हे भगवन् ? प्रजा के अनुग्रह के लिये आप अतिसार [दस्तों] के रोग की प्रथम उत्पत्ति का वर्णन, हेतु, लक्षण, तथा उसके शमनोपायों का वर्णन करने के योग्य हैं।

(५१६) अथ भगवानात्रेय स्तदग्निवेश वचन मनु निशम्यो वाच।
श्रूयता मग्नि वेश ? सर्व मेत दखिलेन
व्याख्याय मान मादि काले। खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया*बभूवु र्नारम्भाय‡ प्रक्रियन्ते स्म ततो दक्षयज्ञ प्रत्यवर कालं मनोः पुत्राणां मरिष्य न्नाभागे क्ष्वाकु कुविडचर्य्या दीना श्च क्रतुषु पशूना मेवाभ्यनुज्ञाना त्पशवः प्रोक्षण मवापुः। अतश्च प्रत्यवर कालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यज मानेन पशूना मलाभाद् गवा मालम्भः प्रावर्त्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः तेषा ञ्चोप योगा दुपकृतानां गवां गौरवा दौष्ण्या दसात्म्यत्वा दशस्तोप योगा च्चोप हताग्नीना मुपहत मनसा मतीसारः पूर्व मुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे॥

अर्थ—(अथ) तदनन्तर अग्नि वेश के इस वचन को सुन कर भगवान् आत्रेय बोले कि हे अग्नि वेश इस सम्पूर्ण वृत्तान्त के व्याख्यान को सुन। (खलु) यह निश्चय है कि (आदि काले) प्राचीन कालमें (यज्ञेषु) यज्ञों में (पशवः) चोपाये (समालम्भनीयाः) अनेक वर्णों से अङ्कित चित्रित अर्थात् विलिप्त (बभूवुः) होते थे (आरम्भाय) वध होने के लिये (न) नहीं (प्रक्रियन्तेस्म) प्रस्तुत किये जाते थे (ततः) फिर (दक्षयज्ञ प्रत्यवर कालम्) दक्ष की यज्ञ के पिछले समय में (मनोः) मनु की

---

* समालम्भः, पुं० शम् – आ – लभ घञ् मुम् च। कुङ्कुमादिना गात्रलेपने। अमरः। ल्युट् तदर्थे, न० समालम्भनं विलेपनम्। अमरः॥

‡ आरम्भस्तु त्वरायां स्यात् उद्यमे वध दर्पयोः। इति मेदिनी।
आलम्भः [आरम्भः वध.] अत्र रलयोः सवर्णत्वात् वधार्थे, मावं इत्यभप् धातोः प्रयोगः।

(मरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकु कुविड़चर्य्यादीनाम्) मरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, कुविड़-चर्य्या आदि (पुत्राणाम्) सन्तानों की (क्रतुषु) यज्ञों में (पशूनाम्) पशुओं की रक्षार्थ (अभ्यनु ज्ञानात्) वेदों में वार वार आज्ञा होने से (पशवः) यज्ञार्थ गवादि (प्रोक्षणम्) प्रोक्षणी पात्र के जल से ऊंचा हाथ करके सेचन को (एव) ही (अवापुः) प्राप्त हुए (च) और (अतः) इससे (प्रत्यवर कालम्) पिछले समय में (दर्घिसत्रेण) बहुत दिनों तक [यज्ञ के अर्थ को और यज्ञ पशु के अर्थ को न समझ चोपाये पशु मार कर] यज्ञ करने वाले (पृषध्रेण) पृषध्र नाम के (यजमानेन) यजमान ने (पशूनाम्) पशुओं के (अलाभात्) न मिलने से (गवाम्) गौओं का (आलम्भः) वध (प्रावर्त्तितः) प्रवृत्त [जारी कर दिया (तम्) उस [वध] को (दृष्ट्वा) देखकर (गवाम्) गौओं के (उपकारानाम्) अति जग दुपकारी होने के कारण (भूत गणाः) सब प्राणि समुदाय (प्रव्यथिताः) अत्यन्त दुखित हो गये और गौओं के मांस के (उपयोगात्) अभ्यवहार, में गो मांस के (गौरवात्) भारी (औष्ण्यात्) उष्ण (असात्म्यत्वात्) असात्म्य [ना मुआफ़िक़] होने से और (अशस्तो-पयोगात्) अहित कर प्रयोग से (उपहताग्नीनाम्) नष्ट हुई अग्नि (च) और (उपहत मनसाम्) दूषित हुए मन वाले (तेषाम्) उन [गोमांसा हारी मनुष्यों] को (पृषध्रयज्ञे) पृषध्र की यज्ञ में (पूर्वम्) प्रथम (अतिसारः) अतिसार [दस्तों का रोग] (उत्पन्नः) पैदा हुआ था ॥ तथा चर० सू० अ० २५ में भी इसी कारण से लिखा है कि

"गोमांसं मृग मांसानाम्"

अर्थ – मृग [पशु] मांसों के मध्य जितने अहित कर हैं उन सब से अधिक अहित कारी गोमांस है ॥

---

(५१७) इदं कृत युगं नाम कालः श्रेठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञ पशवो युगेऽस्मि न्न तदन्यथा ॥
चतुष्पात्सकलो धर्मो भविष्यत् यत्र वै सुराः ॥

(५१८) तत स्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति।
प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे ॥

यज्ञ पाद श्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति ॥

(५१९) ततो वै द्वापरं नाम मिश्रः कालो भविष्यति ।
द्विपाद हीनो धर्मश्च युगे तस्मि न्भविष्याते ॥

(५२०) तत स्तिष्ये ऽ थ सम्प्राप्ते युगे कलि पुरस्कृते ।
यत्र वेदा श्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दम स्तथा ॥
अहिंसा धर्म संयुक्ता : प्रचरेयुः सुरोत्तमाः ॥

(५२१) अव्यवस्थित मर्यादै र्विमूढै र्नास्तिकै र्नरैः ।
संशयात्मभि रव्यक्तै हिंसा समनुवर्णिता ॥
(५२२) सर्वं कर्म स्वहिंसा हि धर्मात्मा मनु रब्रवीत् ।

कामकारा द्विहिंसन्ति बहि र्वेद्यां पशू न्नराः ॥
तस्मा त्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्व भूतभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥

(५२३) सुरा मत्स्याः मधुम्मांस मासवं कृशरौदनम् ।
धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं ह्येत न्नैत द्वेदेषु कल्पितम् ॥
महाभारत शान्ति पर्व अ० २४० श्लोक ७७ से प्रारम्भ

अर्थ – जिसका वर्णन हुआ यह सत्य युग नामक समय है इस युग में यज्ञ पशु अहिंस्य [अहिंसित] रहे, इस में कोई अन्यथा काम नहीं हुआ। हे देवता हो ? इस युग में धर्म के चारों चरण पूरे रहेंगे। इस से पीछे त्रेता युग नाम समय होगा, उस में धर्म के तीन पाद होंगे, इस में प्रोक्षित पशु ही यज्ञ में बांधे जायंगे, इस में धर्म का एक चरण हीन हो जायगा, मिश्रित [स्वार्थ-परमार्थ] यज्ञ होंगे। फिर कलियुग आवेगा, उस समय हे देवता हो ? तुम लोग जहाँ हिंसा न हो, सत्य हो, तप हो, वहां विचरौ । जिन के धर्म की मर्यादा नहीं है, ऐसे मूढ नास्तिक धोका चीती चित्त में रखने वाले द्विरे मनुष्यों ने

हिंसा कही है। धर्मात्मा मनुने सब कर्मों में अहिंसा ही वर्णन की है। बाहिर और वेदी में मांस खाने के प्रयोजन से मनुष्य पशुओं को मारते हैं, इस से विज्ञानी को सूक्ष्म धर्म का प्रयोग प्रमाण से करना चाहिये, सब प्राणियों के लिये धर्मों से बड़ा धर्म अहिंसा है।

इत्यनेके तिहास कथनको मांस भक्षण निषेध प्रदर्शको द्वाविंशति तमो विवेकः ॥ २२ ॥

भक्ष्या भक्ष्य विषय

(५२४) सं० मनुस्मृति में मांस भक्षण विषय प्रक्षिप्त है, इस में कुछ दिग्दर्शनमात्र दिखाते हैं। इस प्रकरण के पाठकों को उचित है कि, इस विषय के विचार करते समय मनुस्मृति को भी यथास्थित पते पर पढ़ते जावें, क्योंकि विस्तार भय से प्रायः यहां पाठ उद्धृत नहीं किया गया। मनुस्मृति में मांस के भक्षण और वर्जन की जो विधि लिखी है, वह उसकी प्रथमाध्यायोक्त सूची में नहीं। सूची में भक्ष्या भक्ष्य कह कर फिर शौच विधि कहने की प्रतिज्ञा है, वहां भक्ष्या भक्ष्य और शौच विधि इन दोनों के मध्य मांसभक्षण और वर्जन भर घसीटा कि जिसका प्रकरण ३० श्लोकों में समाप्त किया है, और यह भी नहीं कि भक्ष्या भक्ष्य में कुछ गड़बड़ न किया हो, भक्ष्या भक्ष्य में मांस खाना मिला ही चुके थे कि, फिर भी पेट भर कर मन माना अलग प्रकरण डाले बिना न रहा गया, वहां यह प्रतिज्ञा करके लिखा है कि—

(५२५) एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्या भक्ष्य मशेषतः।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षण वर्जने ॥

मनुस्मृति अ० ५ श्लोक २६

अर्थ—यह द्विजातियों के भक्ष्य और अभक्ष्य का विचार (अशेषतः) कुछ भी बाकी न छोड़कर कह दिया, इससे आगे मांस के भक्षण में और त्याग में "विधि" [आज्ञा] कहेंगे। *

(५२६) सं० अब विचारिये कि इतने बड़े ३० श्लोक वाले प्रकरण की सूचना सूची

में क्यों नहीं? कितनेही इससे भी छोटे प्रकरण हैं, उनकी भी गणना सूची में है। उक्त श्लोक से यह सिद्ध होता है कि, द्विजातियों का भक्ष्या भक्ष्य कुछ भी शेष न छोड़ा, सब कह दिया, फिर आगे क्या शूद्रों के वा वर्णसंकरों के लिये कहेंगे ?। अथवा मांस का भक्षण और वर्जन कोई द्यूतविषयक कुतूहल [देखने का तमाशा] है जिसे कहेंगे कि जो भक्ष्या भक्ष्य में न आ सका ? वा कुछ कहना शेष रहगया ? यदि रहगया तो अशेषतः यह शब्द क्यों कहा ?। इससे सिद्ध होता है कि, यह मांस भक्षण वर्जन प्रकरण प्रक्षिप्त है ॥

(५२७) सं० मनुस्मृति अ० ५ में आरम्भ से ही भक्ष्या भक्ष्य के निर्णयार्थ २१ श्लोक लिखे हैं, उनमें से ७ वां और ११ वें से लेकर २३ वें तक सब क्षेपक सिद्ध होते हैं। देखो छटे श्लोक से दूधका प्रसंग चला है और नवमें तक समाप्त हुआ है, बीच में सात वें में खिचड़ी आदि का और मांस का झगड़ा व्यर्थ है, क्योंकि बलि वैश्व देवादि बिना किये तो भोजन मात्र करना मनु० अ० ३ श्लोक ११८ में निषिद्ध कर चुके फिर इसके लिखने का क्या प्रयोजन ? इस से तो कृशरा [खिचड़ी] आदि के अतिरिक्त किसी अन्य पाक के करने में बलि वैश्व देवादि को न करे, यह पूर्वोक्त विधि के विरुद्ध सूचित होता है, इससे यह ठीक नहीं है, और नवमें श्लोक के अन्तिम पाद से बासी और सन्धित पदार्थ जैसा कि सुक्त आदि [काल के व्यतीत होने से मधुर द्रव्य अम्ल हो जाने वालों] का प्रसंग चला, वह दशवें में जैसे कि, दधि की पैदा हुई वस्तु तथा इसी प्रकार पुष्प मूल और फलों के सन्धान, आभिषूयित, वा बासी होने पर भक्ष्या भक्ष्य इन को कह रहे थे कि, बीच में ही मांसाहारी जी कूद पड़े, उन्होंने १३ श्लोक बिना प्रसंग लिखडाले कि, जिनके पीछे २४ और २५ वें में उक्त पर्युषित द्रव्यों का प्रकरण बीचमें टूटा हुआ आकर मिला है।

(५२८) सं० सत्यतो यह है कि, अधर्मी को स्वार्थ वश पूर्वापर विरुद्धादि दोष ही नहीं सूझ पड़ते तो ग्रन्थकार के मन्तव्य से विरोध की क्या कथा। देखो, अपने ही डाले हुए उन के इन १३ श्लोकों में पूर्वापर प्रसङ्ग ठीक नहीं। ग्यारह वें में शकुन [पक्षी] वाचक शब्द का विशेषण क्रव्याद् और सर्व शब्द विदित होते हैं इन में सर्व शब्द व्यर्थ है, क्योंकि एक क्रव्याद विशेषण से ही सब पक्षियों से मांसाहारी पक्षी मात्र पृथक् हो जायेंगे, और "तथा ग्राम निवासिनः" यह भी एक संदिग्ध सामान्य वचन बीच में विशेषण रूप है। इसका यह अर्थ है कि, वैसे ही ग्राम के रहने वाले, इससे किस को लें? पक्षियों को? वा पशुओं को। यदि पक्षी लें तब तो कहे गये, और तथा शब्द [illegible] को

सूचित करता है। यदि पशु लैं तो कौन से लैं कोई विशेषण नहीं, यदि अनिर्दिष्ट के साथ लगावैं तो मांसाहार के लिये यहां निर्दिष्ट ग्राम्य निवासी कौन हैं? जिस से भिन्न को छोड़ै, इस से अनिर्दिष्ट शब्द भी व्यर्थ हुआ। यदि एकशफ शब्द के साथ कहैं तो, बीच में चकार पड़ा है, और न कुछ उसके साथ अन्वय होने से प्रयोजन निकलता है, फिर भी एकशफ से घोड़ा, गधा, वा खिच्चर, वा गोरखर ही लिये जायँगे। और जो ग्राम निवासी से ग्राम्य पशुओं का ग्रहण किया जाय तो एकशफ शब्द से तो घोड़ा आदि वर्जित किये, और ऊंट वक्ष्यमाण १८ वें से निषेध किया, शेष वस्त, औरभ्र, मेदपुच्छ, प्रभृतिक भी, अभक्ष्य ठहरैंगे, फिर भला वस्त आदि के मांस से श्राद्ध कैसे करोगे? क्योंकि ये अभक्ष्य हुए॥

(५२९) सं० बारहवें में कलविंक [काला चिड़ा] दात्यूह [पपीहा] शुक [तोता] सारिका [मैना] कोयष्टि [टिट्टिभ] और कुक्कुट, १८वें श्लोक का खंजरीट [खंजन] ये पक्षी १३वें श्लोक में कहे हुए विष्किर और प्रतुद इनकी गणना में आजाते हैं और टिट्टिभ कोयष्टि का पर्य्यायी है, फिर इन का पृथक् लिखना व्यर्थ है।

विष्किरों की गणना

(५३०) लावो वर्तीरक श्चैव वार्तीकः स कपिञ्जलः।
चकोर श्चोपचक्र श्च कर्कभो रक्तवर्मकः॥
वर्त्तको वर्त्तिका चैव बर्ही तित्तिर कुक्कुटौ।
कङ्क शारपदे न्द्राभ गोनन्द गिरिवर्त्तकाः॥
क्रकरो बकर श्चैव वारत्रा श्चेति विष्किराः।

चरक सू० अ० २७

प्रतुदों की गणना

(५३१) शतपत्रो भृङ्गराजः कोयष्टी जीवजीवकः।
कैरातः कोकिलोऽत्यूहो गोपापुत्रः प्रियात्मकः॥
लट्वाल दूषको दद्रु र्वेडभा डिण्डि माणवः।
जटी दुन्दुभि पाक्कारः लोहपृष्ठ कुलिङ्गकाः॥

कपोत शुक शार्ङ्गष्ट चिरिटी कङ्कु यष्टिकाः।
शारिका कल विङ्क श्च चटको ङ्गारचूड़कः॥
पारावतः पाण्ड्विक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः।
प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहा स्तेन संज्ञिताः॥
विकीर्य विष्किरा श्चेति प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः॥

चरक सू० अ० २७

संज्ञा सूचनाके लिये उपरोक्त श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है, विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

(५३२) सं० कहो जब १३वें श्लोक में मत्स्याद बता ही चुके थे फिर १४वें में मत्स्याद क्यों लिखे ? चाहै कैसे ही मछली खावैं कहावेंगे मत्स्याद ही इससे पुनवार लिखना व्यर्थ हुआ। (५३३) तेरह वें में सौन पद भी ठीक नहीं, क्योंकि सूना प्राणि-बध स्थान को कहते हैं, इससे जहां प्राणी का बध हो, वहीं सूना है, और जो सूना का हो उसे सौन कहते हैं, फिर कहिये जो जीवित पशु को बध करके ला लिया जाय, और वह मांस सौन नहो. ऐसा कैसे हो सक्ता है ? हां जो स्वतः ही मरा हो उसका मांस तो अवश्य असौन है। इस कारण इस सौन पद के होने से यह सिद्ध हुआ कि अपने आपसे ही मरे हुए का मांस मांसाहारी लोग लैं मार कर न लेना चाहिये। इस प्रकार ४८वें से और वक्ष्य माण ५१वें से भी विरोध न होगा। (५३४) सं० १४वें से सब प्रकार के मत्स्य अभक्ष्य बताये और १५वें से भी इसी की पुष्टि की परन्तु १६वें में पाठीनादि मत्स्य ही फिर भक्ष्य बना लिये, क्या पाठीन रोहितादि मत्स्य मत्स्य नहीं हैं ? यदि हैं तो "**मत्स्या नेव च सर्वशः**" इसके अनुसार इनका त्याग क्यों नहीं ?। इसका यह अर्थ स्पष्ट है कि, "सर्वशः" सब "एव" ही "मत्स्यान्" मछलियों को छोड़ दे, इस में "एव" और "सर्वशः" होने से उक्त पाठीनादि भी अभक्ष्य हैं। पीछे १५वें में सब मत्स्य मात्र के अभक्ष्य होने का हेतु भी दिया है वह हेतु पाठीनादि में क्या नहीं है ? सब कुछ है. पर यह मांसाशियों की अद्भुत लीला है॥

(५३५) सं० जब कि ग्रन्थ कार का सिद्धान्त अनेक युक्तियों से मांसाहार करने का नहीं सिद्ध होता है, फिर गला एक चर वा पंचनखादि का वृत्त १७वें १८वें में सब वृथा है। (५३६) १८वें में एक ऊंट को छोड़ एक ओर के दांत वाले अर्थात् गाय,

भैंस, भेड़, बकरी प्रभृति, सब भक्ष्य सूचित कर दिये, न मालूम ऊंट ने मांसाशी जी को क्या उत्कोच [रिश्वत] दी जो वह छोड़ दिया, और गाय भैंस आदि ने उनका क्या चुरा लिया कि जिनको चुपके चुपके भक्ष्य कहने को धर्म शास्त्र में साझा डाला, उपकारी तो ये भी हैं।

(५३७) सं० १६ वां भी व्यर्थ है क्यों कि इस में गिनाई वस्तु ५ वें १२ वें और १४ वें में सब आगई हैं। (५३८) सं० वां २१ वां यह दो श्लोक अप्रसंग, असंगत और प्रकरण भिन्न प्रायश्चित्त विषय के लिख मारे इनका प्रकरण ११ वें अध्याय में है, इस से यहां ये भी निष्प्रयोजन है।

(५३६) सं० २२ वें से मांसाशी जी ने अगस्त्य से प्रसिद्ध श्रेष्ठ मुनि को भृत्यर्थं [पोष्यवर्ग के पालनार्थ] प्रशस्त [उत्तम] पशु और पक्षियों [जो कि खाने के लिये अपने मन माने भक्ष्य बताकर छांट लिये हैं उन] को मारने वाला और ब्राह्मणों का कर्म जीवों का बध करना बताया है। तो क्या यह मनु और ऋषियें: का संवाद अगस्त्य मुनि के पीछे का हुआ समझा जाय ? ॥

(५४०) सं० क्या ऐसा कर्म भी यज्ञ हो सक्ता है कि, जिसमें निरपराधी परम उपकारी जीवें का बध किया जाय ? वाःरे मांस भक्षण पक्षी हो ? आपने तो अपने पेट के लिये मुनियों को क्या ब्राह्मणों को अज्ञानी और बूचड़ बना दिया। क्या अगस्त्य महाराज को यह ज्ञान न था कि अहिंसा परम धर्म है . क्या ब्राह्मण जीवों के बध करने को क्रूर राक्षसों का कर्म नहीं जानते थे। क्या मनु० अ० २ श्लोक १५६। १७७ तथा अध्याय ४ श्लोक १७०। २०४। २३८। २४६। को नहीं पढ़ते थे वा अब नहीं पढ़ते हैं' वा आगे न पढेंगे, वा न देखेंगे वा न विचारेंगे, अथवा इन में कही हुई आज्ञाओं को अपना कर्तव्य नहीं माना कि, जो मनु० अ० ५ श्लोक २२। २३। को क्षेपक न मानें ! वा वेदोक्त " अश्वं मा हिꣳसीत्यादि " को क्या व्यर्थ समझ लें ? । इन ऊपर कही युक्तियों से श्लोक २२। २३। भी निर्मूल हो गये ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे भक्ष्या भक्ष्य विषय निर्णये त्रयो विंशतितमो विवेकः॥ २३ ॥

अथाभक्ष्यत्वे कारणानि

(५४१) सं० आहारों के अभक्ष्य होने में मुख्य कारण सर्व तन्त्र सिद्धान्तानुसार चार ही प्रतीत होते हैं। एक तो सब से बड़ा अधर्म, कि जिसका हेतु प्रज्ञापराध है॥ उदाहरण-चोरी, डकैती, छल, कपट, व्यभिचारादि निन्द्य कर्मों से आहार प्राप्त करना,

(५४२) सं० द्वितीय मलिनता दोष, उदाहरण-जैसा कि मैला रहने, वा, मैला कर्म करने वाली अपने से भिन्न, वा अभिन्न जाति का, वा मलीन व्यक्ति का, वा मैले देश वा मैले पात्र आदि के दोष से दूषित।

(५४३) सं० तृतीय काल कृत दोष, उदाहरण-जैसा बासी, बुसा, विरस हुआ आदि बुद्धिनाशक।

(५४४) चतुर्थ रोगोत्पादक दोष, उदाहरण-जैसा कि विरुद्धाहार आदि का दोष॥

(५४५) सं० तथा आहार में एक अभक्ष्यत्व के अतिरिक्त अग्राह्यत्व दोष भी माना है, जैसा कि मनु अध्याय ४ में बहुत से गिनाये हैं कि, जिनका अन्न ग्रहण करना निषिद्ध है॥ जैसा किसी को सत्पात्र समझ उससे लेने में उसको अदृष्ट पहुंचने की सम्भावना से उसका अन्न अग्राह्य मानागया, जैसा कि विद्वानों का, नाटकी का, गायन शील का।

(५४६) सं० किसी को दान पात्र समझ उससे उलटा लेना अनुचित समझ कर त्यागा है, जैसा कि दीक्षित का

(५४७) सं० कहीं निन्द्य से लेने में अन्न लेने वाले के गौरव की हानि और निन्द्य को निन्दित कर्म करने पर भी निन्द्य न होने की सम्भावना से त्यागा। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अन्न के गृहीता उत्तम पुरुष जिसके अन्न को निन्द्य समझ ग्रहण नहीं करते उसकी अप्रतिष्ठा हो जाती है, और निन्द्य कर्मी की प्रतिष्ठा घटाना एक प्रकार का धर्म है। इससे वेश्या, चोर, बुरे काम करने से प्रसिद्ध हुआ, नपुंसक, [दुराचार से क्लीब हुआ] व्यभिचारिणी, पाखण्डी वैडाल वृत्तिक, शूद्रकर्मा, झूठ खाने वाला, क्रूर कर्मा, सर्व द्वेषी, पिशुन, मिथ्या भाषी, यज्ञ विक्रयी, निर्दयी [हिंसक] जार, तथा अपनी स्त्री में जार करने वाला, खेरापति, महाब्राह्मण, उग्र [क्रूर कर्मा] पतित, कृतघ्न।

(५४८) सं० कहीं किसी के अन्न ग्रहण न करने में अपवित्रता कारण है, जैसे कि कुत्तों से आजीवन करने वाले, शराब बेचने वाले, धोबी, रङ्गरेज, वा छैंपी, झूंठ खाने, वाला, दशदिन से कम का जन्म वा मृतक सूतकी, भील, शल्यचिकित्सक, शिकारी, इत्यादि का अन्न॥

(५४९) सं० तथा मनुष्यसे भिन्न किन्हीं गवादि अन्य अशुद्ध जीवों का भी देखा, छु

खाया सूंघा भी अग्राह्य है, चाहें किसी का हो ।

(५५०) कहीं किसी का आत्मा योग्य पुरुष को भी अन्न देने में अति दुःखी होता है, जैसा कि कृपण का यह अश्रद्धा से देता है । श्रद्धा से पवित्र हुआ वृद्धिजीवी का ग्राह्य और अश्रद्धक वृद्धि जिवी का अग्राह्य है ॥

(५५१) कहीं थोडी और हद्द में रहने वाली आजीविका ही उन का अन्न ग्रहण न करने में कारण है । जैसे कि सुनार, लुहार, वेण, शस्त्र विक्रेता, दर्जी, इत्यादि का अन्न, अतोल आजीवन होने वाले द्विजों को ग्रहण न करना चाहिये ।

(५५२) यह सब उपलक्षण मात्र कहा है । यह वृत्त सिद्ध हुए अन्न को आमन्त्रित होकर खाने के वा आतिथ्य सत्कार के वा पारस्परिक व्यवहार [ज़ाफ़त वा भाजी बायनां आदि] के निमित्त लिखा है, और इस के अतिरिक्त अन्यत्र असिद्ध हुए अन्न के लैने दैने में बेचने खरीदने में यह विचार नहीं किया जाय, यह सब बातें युक्ति से सिद्ध हैं ॥

(५५३) सं० यदि विचार दृष्टि से देखते हैं, तो मांस में अभक्ष्यत्व और अग्राह्यत्व दोनों दोषों के कारण प्रत्यक्ष दीखते हैं, इसीसे महाभारत अनु शासन पर्वमें कहा है कि-

(५५४) नहि मांसं तृणा त्काष्ठा दुपला द्वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्मा द्दोषस्तु भक्षणे ॥

अर्थ-तृण से, काष्ठ से, वा पत्थर से, मांस उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जीव मारने से मिलता है, इससे मांस के खाने में दोष है, तथा--

(५५५) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांस मुत्पद्यते क्वचित् ।
नच प्राणि बधः स्वर्ग्यं तस्मा न्मासं विवर्जयेत् ॥ मनु०

अर्थ-बिना जीवों की हिंसा किये मांस कहीं पैदा नहीं होता, और जीवों का हिंसन स्वर्ग प्रद नहीं, इस से मांस को अवश्य छोड़े ॥

(५५६) सं० वास्तव में मांस की लब्धि एक बड़ी भारी डकैती से करते हैं, और डकैती भी कैसी कि जो माल के स्वामी का विनाश [क़तल] किये बिना होती ही नही । डकैती तो जिस में स्वामी न मारा जाय ऐसी भी करना सब मतों [मज़हब वालों] ने अधर्म [नाजायज़] बतायी है, और जो धन [माल] धनी [मालदार] के मारे बिना मिल ही न सके, भला ऐसी डकैती करने को कौन महा पाप नहीं बतावेगा । इस

से मांस अभक्ष्य है। (५५७) सं० दूसरा दोष मलिनता का भी मांस को अभक्ष्य पुकारता है. । जैसे—

(५५८) समुत्पत्तिं च मांसस्य बध बंधौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्व मांसस्य भक्षणात्॥

अर्थ--मांस की उत्पत्ति [घृणित शुक्र और अस्पृश्य रज से पैदा होने] को और उस की प्राप्ति के लिये निर्दयता से प्राणी के बांधने और मारने को देख कर] कि, कितना असह्य दुःख दूसरे को दिया जाता है,] सब प्रकार से मांस [यज्ञ के मिस से, वा बिना यज्ञ मार कर लिया, वा स्वयं मरे हुए का, वा मोल लिया अथवा किसी जीव का कैसा ही मांस हो सब] के खाने से चित्त हटाले॥

(५५९) सं० कहिये जो मरे शव से वा मार कर शव किये जीव के शरीर से लिया जावै और जो सर्व शरीर के गर्त्त मलों के स्थानों में विद्यमान रहता है. और मल निनकला के अशुद्ध लिङ्ग और भग स्थानों से निकले घृणित शुक्र और अस्पृश्य रज से बनता है, और सदैव मलाशयों में और मलों में चिपटा रहता है, भला उस से मलिन [गन्द] और क्या होगा।

(५६०) मांस में काल कृत अभक्ष्यत्व भी अवश्य है क्योंकि इसका शीघ्र ही सड़ना बुसना वा विरस होना [१६२] सूचित है, और इसके सिद्ध [पाक] होने में चिड़ाँद आती है॥

(५६१) मांस में रोगोत्पादकत्व विरुद्धादि दोष भी अभक्ष्यता को सूचित करता है, देखो [१५३१] जो दुग्ध मनुष्य जाति का जाति सात्म्य, एकान्तहित, मेध्य, बल्य, वृष्य, बृंहण और जीवनीयादि उत्तम गुण युक्त शुद्ध निर्दोष पदार्थ है, हा! उससे इस अधम मांसाहार का अत्यन्त विरोध है [१५३६]। अर्थात् इसका न तो दूध के रस से मेल है, न वीर्य से, न विपाक से, न गुण से, न प्रभाव से, किसी से मांस का मेल नहीं, यदि मेल है, तो उनसे है, जो अन्य भी अभक्ष्य और दूध के विरोधी हैं, जैसे कि लशुन, पलाण्डु [प्याज] प्रभृतिक हैं, । यह बात सच है कि -

(५६२) "जैसे में तैसा मिलै मिलै नीच में नीच" देखो मनु० अ०५ श्लो० ५।

(५६३) लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।

अभक्ष्याणि द्विजातीना ममेध्य प्रभवाणि च ॥

अर्थ – लहसन, शलजम, पलाण्डु [प्याज] और कवक [छत्राक] ये द्विजातियों [ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों] के अभक्ष्य [न खाने योग्य] हैं । क्योंकि अमेध्य [अपवित्र] परमाणुओं से (प्रभव) उपजते हैं । इसमें आप्त ही प्रमाण है। तथा कोई २ ऐसा भी अर्थ करते हैं, कि मेधा नाम ग्रन्थ धारण शक्ति रूपा बुद्धि का है, **"मेधायै हितं यत् तत् मेध्यम् न मेध्यम् अमेध्यम् अमेध्याय प्रभवान्ति यानि तानि अमेध्य प्रभवाणि"**
जो ग्रन्थ धारण शक्ति को हित है वह मेध्य, और जो उक्त शक्ति को हित न हो वह अमेध्य, अमेध्य के लिये प्रकर्षता से हो वह अमेध्य प्रभव है । इससे उक्त लशुनादि वस्तुओं को अभक्ष्यत्व है । मद्य मांसादि से लशुनादि का अविरोध और दूध से लशुनादि का विरोध है देखो –

(५६४) मद्यं मांस न्तथाऽ म्लश्च हितं लशुन सेविनाम् ।
व्यायाम मातपं रोष मति नीर म्पयो गुडम् ।
रसोन मश्नन् पुरुषः त्यजे देता न्निरन्तरम् ॥

भाव प्रकाश पूर्व खंड

अर्थ – मद्य [मदिरा] मांस, तथा खटाई, लहसन खाने वालों को हित करते हैं । व्यायाम, धूप क्रोध, अधिक जल, दूध और गुड़ इनको रसोन [लहसन] खाता हुआ मनुष्य कभी सेवन न करै, ।

(५६५) सं० (प्रश्न) गृञ्जन (शलजम्) में क्या अभक्ष्यता है, जो इसे अभक्ष्य मानें, ।

(उत्तर) गृञ्जन (शलजम्) भी अवश्य अभक्ष्य है, कोई २ गृञ्जन, गाजर को समझते हैं. जैसे कि काशी प्रान्त के वासी । वे गाजर को ही गृञ्जन समझ अभक्ष्य मान उसको नहीं खाते हैं, यह उनकी भूल है, बिना कारण कोई अभक्ष्य नहीं ठहर सक्ता इस बात के लिये वैद्यक शास्त्र साक्षी देता है देखो–

(५६६) गृञ्जनं शिखिमूल श्च यवनेष्ट श्च वर्तुलम् ।
ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं कन्दं डिण्डीर मोदकम् ॥

गृञ्जनं कटु रुष्ण श्च कफ वात रुजा पहम् ।
रुच्य श्च दीपनं हृद्यं दुर्गन्धं गुल्म नाशनम् ॥

राज निघंटु मूलकादि वर्ग ।

अर्थ – गृञ्जन शिखिमूल यवनेष्ट, वर्तुल, ग्रन्थिमूल, शिखाकन्द, कन्द, डिण्डीर, मोदक, इतने गृञ्जन शब्द के पर्याय वाचक हैं, गृञ्जन चरपरा उष्ण [गरम] कफ के और वात के रोगों को नाश करता है; रुचिकारक, दीपन, और हृद्य, दुर्गन्धित और गुल्म का नाशक है ॥

(५६७) इस गृञ्जन शब्द के शिखिमूल और ग्रन्थि मूल आदि पर्यायी शब्द यह बात सूचित करते हैं कि जिसको गृञ्जन कहते हैं वह एक मूल [जड़] है' और शिखा-कन्द शब्द और कन्द शब्द यह बताते हैं कि यह एक प्रकार का कन्द है [कन्द उस मूल को कहते हैं कि, जो बहुत दिनों तक रक्खी हुई सूखे नहीं हरी और सरस बनी रहै, और उसी को जब उसके बोने के समय बो दें तभी उपज आवै और अपने नाम के औद्भिद् का बीज बन जावै जैसे कि आलू अरवी [घुइयां] हस्तालु सदृश वस्तु । और मूल औद्भिद की उस जटा को कहते हैं कि, जो दो चार दिन ही सरस रह सके अधिक न रह सके और जो उसका अग्रभाग दो भाग तक भी काट डाला जाय और शेष एक तिहाई उसका पेंदा भूमिमें वपन किया जाय और वह जलसे सेचन करने पर उपज आवै जैसे कि मूली वा गाजर । और जड़ उखड़ने के साथ ही तुरन्त सूखने लगती है, और उसे काट कर बोदें तो वह उगती नहीं, वह औद्भिद् का मूल [कारण] जड़ [चेतन रहित] नाम से प्रसिद्ध है, इससे यह बात सिद्ध हुई कि गृंजन न तो ऐसी जड़ है कि, जो उखड़ने के साथ ही सूखने लगे, और उपजे नहीं, और न ऐसा कन्द है कि जो बहुत दिनों तक रक्खा रहै, और बोने पर उपज आवै, यहतो दोनों के मध्य वर्ती मूल रूप है । इसका वर्तुल नाम इस [गृञ्जन] का गोल आकार सूचित करता है और यवनेष्ट इसका पर्य्यायी यह कहता है कि गृञ्जन यवनों को अतिप्रिय है अर्थात् यूनानियों को सात्म्य है । जैसा कि लशुन है उस को भी यवनेष्ट कहते हैं । और गृञ्जन का रस कटु 'चरपरा' और वीर्य [तासीर] उष्ण [गरम] लिखी है ।

(५६८) अब विचारना चाहिये कि उपरोक्त लक्षण किसमें मिलते हैं, यदि मूली को गृञ्जन कहें तबतो मूली मूल तो है, परन्तु न गोल है न उष्ण है, यदि पलाण्डु को वा लशुन को कहें, तो वे मूल नहीं, वे कन्द हैं, यदि गृञ्जन गाजर को मान लें तो गाजर

भी गोला कार नहीं और न गाजर का रस कटु और न उस का वीर्य उष्ण है।

गाजर के गुण

(५६९) गार्जरं पिङ्गमूल ञ्च पीतक ञ्च सुमूलकम्।
स्वादुमूलं सुपीत ञ्च नारङ्ग पीत मूलकम्॥
गार्जर म्मधुरं रुच्यं किञ्चित् कटु कफापहम्।
आध्मान कृमि शूलघ्नं दाह पित्त तृषा पहम्॥

अर्थ—गाजर, पिङ्गमूल, पीतक, सुमूलक, स्वादुमूल, सुपीत, नारङ्ग, और पीत मूलक ये गाजर के नाम हैं। गाजर मधुर है, रुच्य है, कुछेक चरपरी, और कफ को दूर करती है॥

(५७०) सं० अब उपरोक्त लेख से यह सिद्ध हुआ कि जिस में मूल के लक्षण मिलें, गोल हो, यवनेष्ट हो चरपरा रस और उष्ण वीर्य हो, वह गृञ्जन है। ऐसा उक्त सर्व लक्षण युक्त गृञ्जन नाम से गाजर सिद्ध नहीं होती, किन्तु वह सिद्ध होता है कि, जिसको आज कल शलजम कह कर पुकारते हैं, उसके पत्ते सरसों वा मूली के से, और फूल पीला सरसों का सा होता है, वास्तव में यह एक प्रकार की सरसों ही है सरसों की जड़ का रंग भी "शलजम" के बकल से कुछ २ मेल करता है। गृञ्जन के विषय में ऐसा परम्परा से सुना है, और अनुमान भी होता है कि, सर्षपों में से ही औद्भिद् परिवर्तन युक्ति से गृञ्जन बनी है, और यह वह सर्षप है कि आयुर्वेद में जिसका शाक निषिद्ध शाकों में भी अत्यन्त निषिद्ध शाक कहा है, इसी से इस देश के द्विजों में इसके न खाने की प्रथा अब तक परम्परागत है परन्तु यथार्थ भेद से भूले हुए हैं। देखो च० सू० अ० २५—

(५७१) सर्षप शाकं शाकानाम्॥

अर्थ—शाकों के मध्य जितने बुरे अवगुण करने वाले शाक [पत्र शाक] हैं उन सबमें अत्यन्त अवगुण कारी सरसों का शाक है॥

तथा च

(५७२) शाकन्तु सर्षपोद्भूतं चक्षुर्घ्नं दाहि रोचनम् ।
बद्ध विट्कं बद्ध मूत्रं गुरूष्णं च त्रिदोषकृत् ॥
योग रत्नाकर

अर्थ--सरसों का शाक नेत्रों का हन्ना, दाह कर्त्ता, रोचक, मल को और मूत्र को रोकने वाला, भारी, उष्ण, और त्रिदोष को करने वाला है ॥

तथा च

(५७३) कटुकं सार्षपं शाकं बहु मूत्र मलं गुरु ।
अम्लपाकं विदाहि स्यादुष्णं रूक्षं त्रिदोषकृत् ॥
सक्षारं लवणं तीक्ष्णं स्वादु शाकेषु निन्दितम् ॥
भाव प्रकाश पूर्वखंड

तथा च

(५७४) विदाहि बद्धविरमूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्ण मेव च ।
त्रिदोषं सार्षपं शाकं गाण्डीरं वेग नाम च ॥

सुश्रुत ।

अर्थ—दाह कारक, मलको और मूत्र को रोकने वाला, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण और त्रिदोष कारी है और गाण्डीर, [गांड़र] और वेग इसके नाम हैं ॥

(५७५) इन उक्त प्रमाणों से सर्षप, और गृञ्जन, राई, लाही आदि भेद सब अचक्षुष्य, और त्रिदोषादि कारक हैं इस से वैद्यक में अहित, और धर्म शास्त्र में अभक्ष्य, लिखे हैं ।

(प्रश्न) कवकों [छत्राकों] का खाना क्यों अभक्ष्य है ? (उत्तर) कवक एक संस्वेद-जोद्भिद् होते हैं इनको भूमिछन्न और शिलीन्ध्र भी कहते हैं इन का खाना बड़ा अवगुण कारक है, देखो भाव प्र० पूर्व खंड—

सर्वे संस्वेदजाः शीताः दोषलाः पिच्छलाश्च ते ।
गुरव श्छर्द्यतीसार ज्वर श्लेष्मामयप्रदाः ।

अर्थ--कवकों की उत्पत्ति पृथिवी, गोमय, काष्ठ और वृक्षादिकों में होती है, ये सब प्रकार के संस्वेदज शीतल, दोपल, और पिच्छल और भारी होते हैं। ये वमन अतिसार ज्वर और कफ के रोगों को पैदा करते हैं। इसी कारण ये अभक्ष्य हैं॥

(५७६) सं० (प्रश्न) जैसे कि जङ्गमों के रस से आदि ले शुक्र पर्य्यन्त धातु अभक्ष्य ठहराये हैं ऐसे दूध भी अपेय और दूध के बने पदार्थ अभक्ष्य क्यों नहीं माने जायँ। (उत्तर) दूध अपेय नहीं क्यों कि इस की गणना धातुओं में नहीं, यदि धातुओं में होती तो जैसे धातु के शरीर से समस्त निकल जाने में शरीर नहीं बचता ऐसे दूधके निकलने में भी होता। यह तो प्रत्यक्ष है कि प्रथम तो पशु दुह लिया जाता है, पीछे रहा सहा बच्चा चोंख लेता है, और जब पशु लात जाता है, तब तो नितान्त ही शेष नहीं रहता और पशु बचा रहता है, इस से दूध शारीरिक धातु नहीं।

(५७७) यह एक उपधातु है, देखो-आयुर्वेदीय शार्ङ्गधर संहिता पूर्व खंड।

स्तन्यं रजो वसा स्वेदो दन्ताः केशास्तथैव च।
ओजश्च सर्व धातूनां क्रमात् सप्तोप धातवः॥

अर्थ-दूध, स्त्रीरज, (वसा) "शुद्ध मांस भवः स्नेहः, सावसा परिकीर्तिता। मेद-स स्ताप्यमानस्य स्नेहो वा कथितो वसा" [शुद्ध अविकृत अर्थात् शरीर संलग्न मांस से उद्गम हुई स्नेह [चिकनाई] वसा संज्ञक वस्तु है, जो कि स्वतः ही शरीरोष्मा से पिघल कर रोम कूपों द्वारा निकल वस्त्रों में लग जाती है] वह तथा पसीना दांत और केश और ओज ये क्रम से रसादि धातुओं के उपधातु हैं। वक्तव्य यहां इतना विशेष है कि, इनमें से जो वस्तु मल के मार्गों में हो कर निकलने वाली है वह शरीर से पृथक् होने पर मलों में गिनी जाती हैं जैसा कि—

(५७८) वसा शुक्र मसृङ्मज्जा मूत्रं विड् घ्राण कर्ण विट्।
श्लेष्मा श्रु दूषिका स्वेदो द्वादशै ते नृणां मलाः॥

मनुस्मृति।

अर्थ-वसा, वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नासामल, कर्णविट् [घूघ] कफ, अश्रु दूषिका [ढीढ] और पसीना ये शरीर से बाहर होने पर मनुष्यों के मल [अस्पृश्य] हैं,

इनके निकलने के मार्ग सब मलों के मार्ग कहाते हैं, और दूध की गणना मलों में कहीं भी नहीं लिखी किन्तु अन्नों में [१३०] है और न कहीं स्तनों को मल मार्ग कहा है मलों का निकलना और बनना नित्य स्त्री क्या पुरुष दोनों में समान है। और दूध का बनना और निकलना स्त्रियों में ही होता है और यह अनैत्यिक अर्थात् नैमित्तिक है इस से दूध [१५३१] रसादि धातुओं से भिन्न अद्भुत विलक्षण अनेकौषधि जनित, रस प्रसाद रूप एक जीवनीय पदार्थ है। कोई अन्य अशुद्ध वस्तु नहीं। परन्तु उपादेय होने पर भी मांसाहारी पशुओं का दूध [१५८] किसी का पेय नहीं॥

मांस शब्द के वाच्यार्थ।

(५७९) पिशित न्तरल म्मांसम् पललं क्रव्य मामिषम्॥

अमरः

अर्थ— पिशित, तरल, मांस, पलल, क्रव्य, और आमिष, यह छः नाम यद्यपि पर्य्याय यानी [एकार्थ] हैं, तथापि कुछ २ इनके अर्थ में भेद है, इनमें पिशित शब्द 'पिशिर् अवयवे' धातु से क्त प्रत्यय करने से बनता है, पिशित उस मांस को कहते हैं कि, जो तुरन्त सजीव शरीर से काटकर लिया जाय कि जिसमें रक्त टपकता निकलता हो किन्तु सजीव वा सब शरीर में लगे हुए मांस का नाम पिशित नहीं जैसा कि हमारे देह में या किसी फल में विद्यमान है, इसी पिशित शब्द के योग से "आङ्" पूर्वक "चमु" धातु का पिशाच शब्द बनता है कि, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार शास्त्र में लिखी है॥

(५८०) पिशित माचामति स रुधिरं सद्यो निस्सृतम्।
मांस माम मेव भक्षयति स पिशाचः प्राणी॥

अर्थ—तुरन्त के निकले रुधिर सहित कच्चे मांस को भी जो खा जाय वह पिशाच नाम का जीव है। तथा पलल शब्द भी अनेकार्थक है जैसे—

(५८१) पललं तिल चूर्णे च पङ्के मांसे नपुंसकम्॥

मेदिनी कोषः।

— पलल शब्द तिलों का चूर्ण, कीच, और मांस का वाचक है। और क्रव्य, जिसा

पकाये मांस को कहते हैं, चाहें शव से लिया हो, वा मार कर लिया हो, क्योंकि कच्चे मांस के खाने वाले जीव क्रव्याद कहाते हैं, और आमिष शब्द निम्न लिखित शब्दार्थों का बोधक होता है।

(५८२) आकर्षणे ऽपि पुंसि स्या दामिषम् पुन्नपुंसकम्।
भोग्य वस्तुनि सम्भोगे ऽप्यु त्कोचे पलले ऽपि च ॥
मेदिनी कोषः

अर्थ — पुल्लिङ्ग में आमिष शब्द आकर्षण [खैंचने] को कहते हैं, और पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग दोनों में आमिष शब्द भोग्य वस्तु [भोगने योग्य पदार्थ] संभोग, [सम्यग् भोग वा मैथुन] उत्कोच [रिशूवत] और पलल [मांस वा तिल पिष्ट] का वाचक है।

(५८३) सं० अब पाठकों को उचित है कि, जहां कहीं भोजन के विषय में पलल शब्द वा आमिष शब्द आवे वहां यही नियम न समझ लेना चाहिये कि मांस ही लेना, क्योंकि तिलों के चूर्ण का और भोग्य वस्तुओं का भी नाम है, यदि प्रकरण विरुद्ध न हो, और पूर्वापर से विरुद्ध न हो तो उक्त अर्थों में भी आमिष वा पलल शब्द का ग्रहण समीचीन है।

मांस भक्षण को निषिद्धत्व

(५८४) सं० सर्व तंत्र सिद्धान्त से तीन ही प्रकार के विषय होते हैं एक कर्तव्य कि जिनके लिये विधि है, जैसे कि यह काम करना चाहिये। दूसरे निषिद्ध, कि जिनके करने का निषेध है, जैसे कि, ये काम न करने चाहिये। तीसरे अशिष्टाप्रतिषिद्ध होते हैं कि, जिनकी न तो विधि है, और न निषेध है जैसे कि हिचकी लेना, हँसना, खुजाना आदि हैं कि जिनके करने न करने से अपनी वा दूसरे किसी की हानि न हो, उनको चाहें कोई करो वा न करो वा जैसे चाहें वैसे करो॥ ऐसे कर्म धर्म अधर्म दोनों से अलग गिने जाते हैं। यदि हिचकी लेने छींकने, वा जँभाई लेने में भी कहीं कभी किसी प्रकार अनुचित समझा जाय तो वहां उक्त हिचकी आदि भी युक्ति से करने होंगे, जैसे कि वाग्भट सू० अ० ९ में कहा है कि

"ना संवृत मुखं कुर्यात् क्षुतहास्य विजृम्भणम्"

अर्थ – छींकना, हँसना, जंभाई लैना, इनको असंवृत मुख [विना मुख के आगे कोई व्यवधान किये] न करै, ॥

सं० किन्हीं लोगों का यही विचार हो कि मांस भक्षण धर्मा धर्म दोनों से पृथक् तीसरा अशिष्टा प्रति षिद्ध ही है तो यह ठीक नहीं, क्यों कि जिन प्राणियों का मांस लिया जाता है उनकी प्रत्यक्ष ही बड़ी हानि की जाती है, अर्थात् उनका जीवन ही जव छीन लिया तो कहिये इस से बड़ी हानि और क्या होगी !(५५६) इस कारण मांस भक्षण अशिष्टा प्रति षिद्ध भी नहीं है अर्थात् अधर्म ही है ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्याधि कारे मांसस्या भक्ष्यत्वा धर्मत्व विनिश्चयात्मक श्चतुर्विंशो विवेकः ॥ २४ ॥

मनु मांस भक्षण वर्जन विधि समा लोचना विषय

मनु अ० ५। श्लोक २७ से ४२ तक मांस की भक्षण और ४३ से ५६ वें श्लोक तक वर्जन [न खाने] की विधि कही है, इसकी समालोचना ॥

(५८५) प्रोक्षितम्भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणाना श्च काम्यया ।
यथा विधि नियुक्त स्तु प्राणाना मेव चात्यये ॥

अर्थ-ब्राह्मणों की कामना मांस भक्षण की हो तो प्रोक्षण करके अर्थात् यज्ञ में जो प्रोक्षण विधि है उसमे शुद्ध करके भक्षण करै, और प्राण रक्षा के हेतु विधि के नियम से मांस ग्रहण करै ॥

(५८६) सं० जिनको शास्त्र में ब्राह्मण कहा हैं, भला उनकी इच्छा मांस भक्षण की कभी हो सक्ती है ? कदापि नहीं। देखो वसिष्ठ जी ने कहा है –

(५८७) योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतं ।
विद्या विज्ञान मास्तिक्य मेतद् ब्राह्मण लक्षणम् ॥

अर्थ--योगाभ्यास, तप, अधर्म से मनका रोकना, विद्यादि दान, सत्य पवित्रता, दया, श्रुत, [अनेक शास्त्र श्रवण] विद्या, विज्ञान, आस्तिकता, ये जिसमें हों वह ब्राह्मण है ॥

(५८८) इससे ब्राह्मणों के लिये मांस भक्षण नहीं पाता, उक्त प्रकार अर्थ करना एक यह भी अर्थापत्ति सुझाता है कि, ब्राह्मणेतर वर्णों की मांस खाने की इच्छा हो तो वे चाहैं जैसे खालें, प्रोक्षित का भी खटका नहीं। आगे अर्थ कहा कि "यज्ञ में जो प्रोक्षण विधि है उससे शुद्ध करके ग्रहण करै" प्रोक्षणका यौगिकार्थ तो सर्वत्र जल से छींटे लगाना है, और जिसको की यज्ञ में प्रोक्षण नाम पशु वध में रूढ़ि कर लिया गया है। परन्तु मांस तो किसी प्रकार के प्रोक्षण से लब्ध किया शुद्ध नहीं, [५५८] [५५९]। आगे प्राण रक्षा के कारण विधि के नियम से मांस खाना बताया, परन्तु विधि का नियम अव्यक्तार्थ है। प्रतीत होता है कि, महीधरार्थानुयायी नरमेधियों के भय से स्पष्टार्थ नहीं किया, न जाने हमारे ही मांस को प्रोक्षित करके वे लोग खाजावैं।

वास्तव में इस श्लोक का यथार्थ अर्थ प्रकृति प्रत्ययानुसार निम्न प्रकार है। यह श्लोक ब्राह्मणों की हानि होने और उनके मांस भक्षण की आज्ञा प्रवृत्त होने के विचार से कापालिकादि मत वालों ने मनु में डाला है।

(५८९) (काम्यया) पुत्रादि मिलने की इच्छा से (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के (प्रोक्षितम्) वध करके लिये हुए (मांसम्) मांस को "मनुष्य" (भक्षयेत्) खावै। (च) और (यथाविधि नियुक्तः) जैसी विधि यज्ञ में करने की आज्ञा है, उस में उसी प्रकार लगा हुआ खावै। (च) और (प्राणानाम्) प्राणों के (अत्यये) जाने के भय से (एव) भी खावै। यहां (तु) शब्द पाद पूरणार्थ है॥

(५९०) सं० जिन्हों ने आलभ को हिंसार्थक माना उन्होंने पुरुषमेध में हमारा किया अर्थ चरितार्थ किया हो तो क्या आश्चर्य है। वहां ब्रह्म के लिये ब्राह्मण को (आलभेत) मारे, यह अर्थ हो जायगा। फिर मनु अ० ५। श्लोक ३४ के अनुसार प्रोक्षित, यज्ञावशिष्ट मांस अवश्य खाना ही होगा॥

(५९१) सं० "चराणा मित्यादि" २९ वें श्लोक में जो नियम किये कि चरों के अन्न अचर हैं, तो सिंहादि के वृक्षादि क्यों नहीं? तथा सिंहादि डाढ वाले भी हैं, फिर इनके भक्ष्य बिना डाढ वाले मण्डूकादि ही होने चाहिये थे, परन्तु वे तो डाढ़ वाले मनुष्यादि का भी आहार कर लेते हैं। और हाथ वालों के बिना हाथ वाले यदि आहार हैं तो बंदर लंगूर गिलाहरी सदृशों के अन्न बिना हाथ वाल मत्स्यादि क्यों नहीं? और शूरों के अन्न डरपोक हैं तो, वाराह अत्यन्त शूर है, उसके हरिण आदि डरपोक जीन

आहार क्यों नहीं ? । यह व्यर्थ वाद है । मांसाहारी जी ने सोच लिया होगा कि, ये बातें तो मनुष्य में ही हैं, क्योंकि मनुष्य चरभी, डाढ़वाला भी, हाथ वाला भी और शूर भी है, इससे बेखटके अचर, बिना डाढ वाले, बिना हाथ वाले, और भीरु को उसके भक्ष्य बताकर धर्म शास्त्र में इसकी मिसिल दाखिल करदो, जिससे सदैव सर्वत्र अटोक हो जाय । परन्तु यह ध्यान न किया कि इसी मनु में अ० १२ श्लोक १०५ । १०६ में प्रत्येक धर्म विधि को तर्क से अनु सन्धान कर दृढ़ करने की विचारवान् मनुष्य के लिये आज्ञा दी है [६११] [६१२] ॥

(५६२) सं० "नात्ता दुष्यती"त्यादि ३० वें श्लोक में यह कहा है कि, खाने योग्य जीवों को और खाने वाले जीवों को ब्रह्मा ने ही बनाया है, इससे नित्य भी खाता हुआ खाने वाला निष्पाप है ॥

(५६३) स० हां यह ठीक है कि, सिंहादि के हरिण, गाय, भैंस, मनुष्य आदि स्वाभाविक खाद्य हैं, और सिंहादि स्वभाव [प्रकृति] से ही हरिण आदि के भक्षक हैं, सो कोई कहीं का सिंहादि ऐसा न होगा कि जिसके उक्त हरिण आदि भक्ष्य न हों । यह बात अवश्य कर्मानुसार ब्रह्मा ने ही बनाई है, क्योंकि यह जाति सात्म्य [२२८] है । परन्तु मांसाहारी जी ने ऐसे ही क्षेपक श्लोक डालकर मनुष्यों में अपने आपको मनुष्य के अभक्ष्य रूप जाङ्गम मांस का भक्षक बनाया है; इससे मांसाहारी जी को अवश्य महा पापी बनना पड़ेगा ॥

(५६४) सं० इन २६ । ३० संख्या के श्लोकों से मांसाहारी जी ने मनुष्य का प्राकृत आहार जाङ्गम मांस को सिद्ध करना चाहा था, परन्तु न हो सका, यदि कोई पक्षपात से प्राकृत मान ले तो आगे के ३१वें श्लोक से ३४वें श्लोक तक यज्ञ के, देव के, वा पितरों के, मिस से, मांस खाना निर्दोष और इनके बिना सदोष क्यों कर होगा । क्योंकि २६ और ३०वें के अनुसार जिसका जो आहार प्राकृत है, वह उसको अवश्य खायगा उस में विधि वा निषेध से क्या पाप पुण्य होगा ? वह तो ब्रह्मा ने ही रचा है, इस कथन से ३१ से ३४ तक सब श्लोक क्षेपक सिद्ध हुए ॥

(५६५) सं० ३५वें श्लोक से स्पष्ट यह भान होता है कि, मांसाहारी जी का कुछ बस चलता तो मांस के न खाने वाले के लिये कठिन से कठिन दण्ड इसी जन्म में प्रत्यक्ष होने की रजिष्ट्री करा जाते, परन्तु यह न हुआ, केवल जीभ की लपा लपी से ही इक्कीस जन्म पर्य्यन्त मांस न खाने वाले को पशु बनना बताया, वाहरे धिंगई ! ।

(५९६) सं० ३६वें श्लोक का सब अभिप्राय ३१वें से ३४वें श्लोक तक सत्र भर रहा है, कोई अधिक बात नहीं, और ३७वें में यह है कि बिना यज्ञ पशु खाने को जी ललचै तो घृत का वा पिष्ट [मैदा] का पशु बनाकर खाले परन्तु बिना यज्ञादि व्यर्थ पशु कभी न मारै ॥

ठीक है, चोर ने चोरी छोड़ी तो छोड़ी पर एरा फेरी भी छोड़ दे क्या ? ।

(५९७) सं० ३८ वें श्लोक से भी बिना यज्ञादि के ही पशु मारने वाले के लिये भयानक रस लिखा है, कुछ विशेष नहीं । ३९ वें में मांसाहारी जी कहते हैं कि स्वयं ब्रह्माने यज्ञादि के मिस से मार कर खाने को ही पशुओं को रचा है, सब की उत्पत्ति यज्ञ के ही लिये है, इस से यज्ञ में पशु बध करना बध नहीं । तो क्या बिना यज्ञ दुग्धादि पीने खाने बोझा उठाने वा खेंचने वा जोतने आदि के लिये पशु मांसाहारी जी ने रचे हैं ? वा बोझा उठाना खेंचना दूध देना आदि जगदुपकार पहुंचाना यज्ञ नहीं है ? वा इन से यज्ञ में मार खाने के अतिरिक्त उक्त काम न लिये जांय ? यदि सब जीव ऐसे यज्ञ के ही लिये हैं, तो मांसाहारी जी अपने कुटुम्ब को, और अपने आपे को भी ऐसे यज्ञार्थ मारने के लिये हिंसक यजमान के अर्पण कर दिया करैं । और यज्ञार्थ जीव का बध होना बध नहीं है तो मारा हुआ जीव क्या फिर से सजीव हो जाता है ? यदि सजीव नहीं होता तो मरे को नहीं मरा कैसे मान लिया जाय ? ॥

(५९८) सं० ४०वें श्लोक में भी इसी की पुष्टि की है कि औषध पशु, वृक्ष, कूर्मादि तिरछे पेट के बल चलने सरकने वाले और पक्षी ये सब जीव यज्ञ के निमित्त मारे हुए उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं ॥ (५९९) सं० अब विचारिये कि पशु, पक्षी तिर्यग्योनि, और वृक्ष, इनका निधन [मृत्यु] तो जब करै तब ही हो सक्ता है परन्तु औषधियों [धान्यादि] का मृत्यु यज्ञ में होना कैसे बन सक्ता है ? क्योंकि औषध उस औद्भिद् को कहते हैं कि, जिसकी मृत्यु फल के पकने पर स्वतःही हो जाती है, उसका निधन फिर को क्या शेष रहा कि जो यज्ञ में हो, ? हां, यदि कच्चे खेत को काट डाले तब तो बन सक्ता है, परन्तु नव सस्येष्टि यज्ञ होना सुना वा देखा है, उसमें खूंद काटना नहीं होता, जोकि अन्नकूट नाम से प्रचलित है ॥

(६००) ४०वें श्लोक से मधुपर्क में और यज्ञ में तथा पितृ दैवत कर्म [पितर और देवताओं के कर्म] में ही पशु मारने को कहा यह श्लोक ३१वें श्लोक से विरुद्ध है, । क्योंकि मधुपर्क को इसी श्लोक में यज्ञ से पृथक् कर दिया, और पितरों के और देव

ताओं के कर्म को भी यज्ञ कर्म से पृथक् लिखा। तथा ३१ वें से यज्ञ के अर्थ मांस खाना देव विधि [देवता के लिये विहित कर्म] कहा है, इसके अतिरिक्त सब राक्षस विधि बताया इस में उक्त ४१वें के मधुपर्क और पितृ दैवत कर्म यज्ञ से भिन्न होने के कारण राक्षस विधि हो गये, यदि यज्ञ शब्द के ही विशेषण मधुपर्क और पितृ दैवत कर्म शब्दों को ही मान लें तो अगले ४२वें के "एष्वर्थेषु" इस बहुवचन अंगुलि निर्देश से अनेकों की अर्थात् उक्त मधुपर्कादि चारों की पृथक् गिनती स्पष्ट सूझती है। इस से पूर्वा पर विरुद्ध हुआ, जब यह ठीक नहीं तो इनका पोषक ४२वां भी व्यर्थ ठहरा। क्योंकि राक्षस विधि किसी को सद्गति नहीं देती और २२। २३ २७ और ३१ से लेकर ४० तक और ५२वां श्लोक इन सब के ऊपर ४६—५३— और ५४वें श्लोकों ने पोता फेर दिया॥

(६०१) सं० प्रतीत होता है कि ४२वें से आगे के ४३वें से लेकर ५६वें श्लोक तक शुद्ध प्रकृति मनुष्यों का कुसङ्ग वश होकर, वा अधिक रजोगुणी वा तमोगुणी प्रकृति वाले मनुष्यों का बिना रक्षा शिक्षा के, मांस भक्षी हो जाना सम्भव समझ मांस के वर्जन की विधि के श्लोक धरे हैं, उनमें ४३वें का अर्थ यह है कि गृहस्थाश्रम वा ब्रह्मचर्याश्रम में वा वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज वेदाविहित [निरपराधी तथा उपकारी होने के कारण जिन जीवों के मारने की आज्ञा वेद में विधान नहीं की उन] की आपत्काल में भी हिंसा न करे। (६०२) सं० ४४ वें श्लोक का अर्थ-"और इस जगत् में जो वेद विहित हिंसा [चोर जार आदि अपराधियों का वा जगदुपकारार्थ कृष्यादि कर्मों के सिद्ध करने कराने में क्षुद्र जन्तुओं का वा अनुपकारी हिंसक मनुष्य सिंह सर्पादिका हिंसित होना] इस चराचर [जङ्गम और स्थावरों] में नियत है, उसको अहिंसा ही जानो, क्योंकि वेद से धर्म ही का प्रकाश हुआ है.॥

(६०३) सं० ४५वें श्लोक का अर्थ—"जो मनुष्य अहिंसक प्राणियों को अपने लिये सुख होने को अर्थात पुष्ट होने की, स्वर्ग मिलने की, वा पुत्रादि की प्राप्ति रूप सुख की इच्छा से मारता है, वह पुरुष इस लोक वा परलोक में कहीं भी सुख नहीं पाता" इस ४५वें श्लोक से यह बात भी सिद्ध होती है कि, हिंसक जीवों की हिंसा अहिंसा, और अपने सुख के लिये मनुष्य घोड़ा गौ बकरी आदि अहिंसक जग दुपकारी जीवों का किसी प्रकार से बध करना हिंसा रूप दुःखदायी पाप है॥

(६०४) सं० अब ४६वें श्लोक से लेकर ५६वें तक श्लोक मांस खाने के निःसंशय निषेधक है। इनमें ५३वें का अर्थ किन्हीं २ भाष्यकारों ने मांस भक्षण का ही पोषक

किया है, परन्तु मेरे विचार से यह भी मांस भक्षण का खंडन करता है, और यही ठीक होगा, नहीं तो मांस वर्जन विधि में इसका लेख न होता ॥

(६०५) न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्ति रेषा भूतानां निवृत्ति स्तु महाफला ॥

इसका अर्थ इस प्रकार ठीक है। (न मांस भक्षणे) न मांस के खाने में (दोषः) दूषण है (न मद्ये) न मदिरा के पीने में (च) और (न मैथुने) न मैथुन करने में (एषा) यह जो (भूतानां) मनुष्यों की (प्रवृत्तिः) विशेष करके कायिक वाचिक और मानसिक वृत्ति प्रचलित हो रही है, इस में (निवृत्तिः) प्रवृत्ति के विपरीत कर्म करना अर्थात् छोड़ने की रीति (तु) ही (महाफला) बड़ा फल अर्थात् सुख के देने वाली है ॥

(६०६) सं० इस श्लोक से यह भी अभिप्राय निकलता है कि, जितने श्लोक मांस विधान के हैं, वे सब वाम मार्गियों के बड़े प्रचार के समय के डाले हुए हैं, जब मांसाहार मद्यपान और पर स्त्री गमन अत्यन्त प्रवृत्त हो गया तब किसी महात्मा ने मांस वर्जन की विधि के भी श्लोक डाल दिये, इस प्रकरण में मद्य पान और मैथुन के प्रसंग का आना स्पष्ट वामियों की करी प्रक्षिप्तता को जताता है। इस ५६ के श्लोक में प्रवृति शब्द के साथ स्वाभाविक शब्द बहुधा भाष्यकारों ने लगाया है, परन्तु यह सर्वथा अयुक्त और अप्रामाण्य है। इस का अर्थ केवल बर्ताव ही करना समीचीन है, क्योंकि निवृत्ति शब्द इसके विपक्ष में इसी श्लोक में लिखा है तथा ३१वें श्लोक में भी प्रवृत्ति शब्द इसी अर्थ में लिया है, तथा न्याय दर्शन में भी यही किया है कि--

(६०७) "प्रवृत्ति र्वाग् बुद्धि शरीरारम्भः"

अर्थात् प्रवृत्ति वाणी मन और शरीर के कर्म को कहते हैं। यदि प्रवृत्ति शब्द का अर्थ स्वभाव लिया जाय तो उसकी निवृत्ति नहीं हो सक्ती, इस से इसका अर्थ बर्ताव ही ठीक होगा। उक्त श्लोक में तु अव्यय अवधारणार्थक है ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्यधिकारे मांस भक्षण वर्जन विधि समालोचनायां पञ्च विंशति तमो विवेकः ॥ २५ ॥

अहिंसा हिंसा विधि निषेध सूचक विषय

(६०८) सं० अहिंसा विधायक और हिंसा निषेधक आप्त वचनों के पते सूचित करते हैं, उनहीं पतों पर उनके विषय पढ़ने विचारने चाहिये। विस्तार भयसे पाठ उद्धृत नहीं किया। अहिंसा मनुष्य मात्र का परम धर्म है, मनु अ० १० श्लोक ६३ ॥ अहिंसा से मोक्ष और स्वर्ग प्राप्ति—मनु अ० ४ श्लोक २४६ मनु अ० ६ श्लोक ७५ ॥ अहिंसा से सुख प्राप्ति मनु अ० ५ श्लोक ४८ ॥ हिंसा निषेध—मनु अ० ४ श्लोक १६२ ॥ हिंसा से दुःख प्राप्ति मनु अ० ५ श्लोक ४५ ॥ हिंसा कर्म नीच पुरुष करते हैं, मनु अ० १० श्लोक ४८ ॥ मांस विक्रय न करै मनु अ० १० श्लोक ८८ ॥ मांस के बेचने से तत्काल पतित होता है मनु अ० १० श्लोक ९२ ॥ मांसा हारी को प्रायश्चित्त मनु अ० ११ श्लोक १५१ ॥ मांस त्याग में उत्तम फल मनु अ० ५ श्लोक ५० । तथा अ० ५ श्लोक ५३ । मांस त्याग में अधिक फल मनु अ० ५ । ४ । ४ ॥

अब महाभारत से मांस भक्षण का निषेध

(६०९) सं० अहिंसा धर्म का एक लक्षण है, शान्ति पर्व । अ० ३५ श्लोक ? । मनुष्य में मनुष्यत्व धर्म [न्याय] से, नीति [धर्म पर पहुंचा देने वाली रीति से, सभ्यता से, सदाचार से, और अहिंसा पूर्वक सब व्यवहार यथावत् वर्तने से, होता है, अन्यथा अधोगति होती है ।

देखो महाभारत आदि पर्व १ + १३ १४ ॥ वनपर्व १८१ + ९ । १० । ४२ । तथा अ० १९९ × १०० । अ० २०५ × ७३ । अ० २०६ × ८४ । अ० २०८ × ३४ । अ० २१२ + ३४ ॥ उद्योगपर्व ३२ + ५६ । अ० ३५ + ६६ । अ० ३६ + १४ ॥ शान्तिपर्व ६२ × ६ । ६६ । २२ । ७८ । १८ । १०९ । ११ । १६१ । ०८ । १८९ । १३ । २१५ । ६ । २६४ १७ । १८ । १९ । २० । २५ । २७१ । २० ॥ अनु पर्व० ३७ । ८ । ५९ ११ । १०८ । ५ । ११३ । ३ । ५ । ११४ । ७ । ८ । १४१ । २५ । १४५ ३२ । ३३ । ५३ । १६२ × २३ ॥ अश्व० पर्व २८ + १६ । १७ । १८ ॥ ३८ × ३ ॥ ४८ + ८ ॥ ५० + २३ ॥

तथा च

जब मद्य मांसाहारी मनुष्य हो जाते हैं, तब श्रेष्ठ समय नहीं होता, वन पर्व १८१ × ६१ ॥ ग्राम घाती, मांस विक्रयी अग्नि लगाने वाला, विष बेचने वाला, ये प्रायश्चित्ती हैं, शान्तिपर्व ३४ × ६ ॥ जो मांस नहीं खाते सबको समान जानते हैं, वे श्रेष्ठ हैं, शान्ति पर्व १५१ । २१ ॥ द्विज लोग मांस न खाने वाले पवित्र अमृताशी सदा रहैं, और अतिथि के पूजक रहैं, शान्ति पर्व २२१ + ७ ॥ भोजन सदा बिना मांस का करै मांस कदापि न खावै, सदा पवित्र रहै, पढ़ै, सत्य बोलै, नियम से रहै। अनुशासन पर्व ९३ + ७ ॥ जो मन से, वाणी से, और शरीर से, हिंसा को छोड़ता है और मांस नहीं खाता वह त्रिविध पाप से छूट जाता है, अनुशासन पर्व । ११४ + ८ ॥ मांस भक्षण कर्ता अधम बताया है, अनुशासन पर्व ११४ + ११ । अनु० पर्व में अध्याय ११५ में श्लोक १० से लेकर श्लोक ३७ वें तक ३९ वें से ४३ वें तक और ४८।५९।६१।६२। ७९ । इनमें भीष्मजी का कथन मांस के दोषों को अनेक प्रकार दिखाने में है। मांस के लालची को कुम्भी पाक २१६।३०॥ दयालु हो तो मांस को आजन्म तक न खावै, ३२॥ दूषित अन्न, मांस, मद्यपान, अन्योन्य विरोधी पदार्थ, ये विलम्ब से पचते हैं, और अजीर्ण में भोजन किया आयु का नाशक है, अश्व० पर्व १७×१० ॥ अहिंसा, सत्य, अक्रोध, इज्या, धर्म के लक्षण हैं, शांति पर्व ३५×१०॥ मांस के लालच से यज्ञाग्निके समीप पशुको लोग मारते हैं और मनु ने तो सर्व कर्मों में अहिंसा ही बताई है, शांति पर्व २६४ × ५ ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्यधिकारे अहिंसा हिंसा विधि निषेधकाप्त वचन सूचक सङ्केताङ्क प्रकाशनः षड्विंशतितमो विवेकः ॥ २६ ॥

मनु श्राद्धिक मांस समालोचना विषय।

(६१०) सं० मनु अ० ३ में पञ्च यज्ञों के मध्य एक पितृ यज्ञ है उसी में श्राद्ध कल्प

कहा है, वहां ८१ वें श्लोक से पितरों के लिये श्राद्ध करने की आज्ञा दी है, फिर अगला ८२ वां श्लोक यह है कि

(६११) कुर्या दहरहः श्राद्ध मन्नाद्ये नोदकेन वा।
पयो मूल फलैर्वापि पितृभ्यः प्रीति मावहन् ॥

अर्थ-(पितृभ्यः) पितरों के लिये (अन्नाद्येन) औषधियों में उत्पन्न हुए अन्न के साथ भोजन से (वा) अथवा (उदकेन) जल से (वा) अथवा (पयो मूल फलैः) दूध मूल और फलों से (प्रीतिम्) प्रेम को (आवहन्) अनेक प्रकार करता हुआ (श्राद्धम्) विश्वास प्रतिपादित कर्मको (अहरहः) प्रति दिन (कुर्यात्) करै ॥

(६१२) सं० इसकी विधि ८४ वें तक सब समाप्त हो गई, ८५ वें श्लोक से लेकर ९३ व श्लोक तक भूत यज्ञ, ९४ वें से १२० वें तक अतिथि यज्ञ कहा गया, १२१ वें में सायंकाल में बलि वैश्व देव विधि कही, फिर १२२ वें में पितृयज्ञ का सब निवटेरा कह कर प्रति माम की अमावास्याको पिण्डान्वाहार्यक नाम का श्राद्ध लिखा, यहीं से लेकर २६४ वें श्लोक तक इसकी समाप्ति है ॥

(६१३) इस में १२३ वें से यह आज्ञा लिखी कि इस श्राद्ध को मांस से करना चाहिये। यह ८२ वें से विरुद्ध आज्ञा है ॥

(६१४) सं० फिर ब्राह्मणोंकी संख्या आदि आज्ञा, ब्राह्मण परीक्षा, इनमें योग्या योग्य पात्रा पात्र, पाङ्क्ता पाङ्क्त आदि वर्णन, श्राद्ध में कर्त्तव्या कर्त्तव्य, देश, काल, भोजन रक्षा, परोसना, भोजन करने कराने की विधि, भोजन करने उपरांत करने के कर्म, ब्राह्मण विसर्जन, आशीर्वादादि सब २६५ वें तक दुबारा विस्तार पूर्वक श्राद्ध प्रकरण समाप्त किया ही था कि, फिर मांस का स्मरण आ गया, सो फिर से २६८ से २७२ वें श्लोक तक युक्ति विरुद्ध तृप्ति कह कर अनेक जीवों के मांस लिख मारे कि जिनके खाने से हिंसक भी घृणा करते हैं ॥

शतपथ ब्राह्मण में देवताओं का अन्न निम्न प्रकार है।

(६१५) चरु वै देवाना मन्न मोदनो हि चरु रोदनो-
हि प्रत्यक्ष मन्नं तस्मा च्चरु र्भवति ॥१॥

अर्थ-(चरु) चरु [हविष्यान्न] (देवानाम्) देवताओं का (अन्नम्) अदनीय पदार्थ (ओदनः) तण्डुल (वै) ही है (हि) क्योंकि (ओदनः) तण्डुल [चावल] (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष [दीदा दानिस्त] (अन्नम्) अन्न है (तस्मात्) इस से यह (चरुः) ओदन विश्वेदेवों का भोजन है ॥

श्राद्ध में मांस खाने वा न खाने का विवेक।

(६१६) स० इस बात का विचार और स्मरण रखना सर्वत्र सब ही को उचित है कि आसुरीय पैशाचीयादि निन्द्य आहार और विहार कभी न करैं, परन्तु इस श्राद्ध कर्म में तो बहुत ही कुछ उक्त प्रकार के आहार विहार होने को बार २ रोका है, (६१७) जैसा मनु अ० ३ श्लोक० १४१ वें से श्राद्ध में बदले बदले का खाना खिलाना इसी लोक में फलदायी, परलोक में निष्फल, और पिशाचों का भोजन कह कर वर्जित किया, १७० वें से वेद व्रत रहित तथा परिवेत्ता आदिक और भी जो पांक्ति बाह्य पुरुष श्राद्ध में भोजन करते हैं, वह राक्षस भोजन करते हैं, इस कहने से उक्त प्रकार के ब्राह्मणों को श्राद्ध जिमाना निष्फल कहा। २०४ से कहा कि पितृ कर्म की रक्षा के लिये पहले देवताओं को बिठा कर श्राद्ध करें, क्योंकि बिना रक्षक के श्राद्ध को राक्षस नष्ट करदेते हैं। २२५ वें से यह आज्ञा हुई कि परोसने के लिये दोनों हाथों से न लाये भोजन को असुर छीन कर खालेते हैं, इस कहने से असुरों से छिन जाने को बुरा सूचित कर एक हाथ से भोजन परोसने के लिये लाना वर्जित किया। २३० में कहा है कि श्राद्ध में रोने वाले का अन्न प्रेत को, क्रोध करने वाले का शत्रु को, झूंठ बोलने वाले का कुत्ते को, अन्न से पैर लगाने वाले का राक्षस को, और अन्न फैलाने अर्थात् फैंकने उछालने से पापियों को, पहुंचता है। २३८ वें में यह कहा है कि, जो सिर बांधे दक्षिण मुख करके खाता है, वह राक्षस ही खाता है॥ २८० वें में विधि है कि, रात्रि में श्राद्ध न करै, क्योंकि रात्रि राक्षसों की होती है। (६१८) सं० इन में १४१ वें श्लोक से यह सिद्ध होता है कि जो भोजन पिशाचों का माना जाय, वह पितरों को न दिया जाय, । १७० वें में यह कहा कि जो राक्षस माने जायं, वे श्राद्ध में न खिलाये जायं। २०४ वें में कहा कि पितृ कार्य में राक्षस न आने पावें, इसका उपाय सूचित किया। २२५ वें से असुरों को श्राद्ध का अन्न न पहुंचे इस हेतु से एक हाथ से पारस लाना वर्जित किया क्योंकि एक हाथ से लाया असुरों का दे लेना बताया। १३० वें में राक्षसों के पहुंचाने वाले जो कर्म समझे उनको वर्जित

किया। २८० वें श्लोक में राक्षसीय समय भी श्राद्ध के लिये निषिद्ध कहा। इन उपरोक्त बातों से भला मांस से श्राद्ध करना कैसा ? क्योंकि –

(६१६) यक्षरक्षः पिशाचाना माद्यं मांसं सुरासवम्।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यम् देवाना मश्नता हविः ॥

मनु० अ० ११ श्लोक ९५ ॥

अर्थ – यक्षों का, राक्षसों का और पिशाचों का (आद्यम्) खाना मांस और पान सुरा रूप आसव है। वह देवताओं के हव्य [६१५] खाने वाले ब्राह्मण को नहीं खाना पीना चाहिये ॥

(६२०) सं० १४१ वें श्लोक में जो कि संज्ञा मात्र ही पैशाची आहार है वह वास्तव में नहीं। १७० से संज्ञा मात्र ही राक्षस है, वास्तव में नहीं। २०४ से कथन मात्र ही राक्षस आगमन है, प्रत्यक्ष में नहीं। २२५ से कथन मात्र ही असुरों का छीनना है, प्रत्यक्ष में कुछ नहीं। २३० में अशुचि होना अवश्य है, और राक्षस को पहुंचना कथन मात्र है, वास्तव में नहीं। २८० से रात्रि राक्षसी नाम मात्र है वास्तव में सबकी है। कहिये जब नाम मात्र राक्षसों के पिशाचों के और असुरों के मिथ्या आरोपति अनेक भाव मान कर श्राद्ध विषयक कर्म दूषित हो जाने माने तो वास्तविक प्रत्यक्ष राक्षसादि का आहार जो मांस उक्त श्लोक में बताया है। हा ? उसके सम्पादन करने, पकाने, परोसने; तथा खाने आदि से भी श्राद्ध दूषित न गिना जाय कितनी मूर्खता की बात है, इसका कुछ ठिकाना है ॥

(६२१) १२७ वें श्लोक में इस पितृ कर्म को प्रेत कृत्या [मरों के लिये करना] कहा। फिर २३० वें में आंसू डालने वाले का दिया अन्न प्रेतों [मरे हुओं] को पहुंचता है, ऐसा कहकर श्राद्ध में रोना निषिद्ध किया। अब पृष्टव्य यह है कि जब यह कृत्य प्रेतों के लिये है तो आंसुओं के गिरने को प्रेतों पै पहुंचाने वाला कहकर क्यों निषेध किया गया। यह पूर्वा पर विरोध भी इन श्लोकों को क्षेपक बताता है ॥

(६२२) इतरेषु त्वपांक्तेषु यथो द्दिष्टेष्व साधुषु।
मेदोऽसृङ् मांस मज्जास्थि वदत्यन्नं मनीषिणः ॥

मनु अ० ३ श्लोक १८२

अर्थ – इन उक्त असाधु निन्दितों में तथा अन्य भी जो पंक्ति बाह्य हैं, उनमें दिया हुआ अन्न मेद, रुधिर, मांस मज्जा, और हड्डी होता है ऐसा बुद्धिमान् कहते हैं ॥

(६२३) सं० इसका सिद्धान्त यह निकलता है कि, ऐसों को न खिलाना चाहिये कि, जिनका खिलाया भक्ष्यान्न भी मेदा, रुधिर, मांस, मज्जा, और अस्थि आदि अभक्ष्य बन कर खिलाने वालों के पितरों को और खिलाने वालों को परलोक में मिले ॥

(६२४) अब मांसाहारियों से पूछे कि जब यहां प्रत्यक्ष सब वस्तुओं का हेतु मांस को खाया और खिलाया तब परोक्ष अर्थात् परलोकमें इन से क्या घृणा शेष रही। मेरी सम्मति में तो पंक्ति बाह्य असाधु मांसाहारियों को ही मांसाहारी लोग श्राद्ध में खिलावें जिससे यहां भी श्राद्ध के मिस से मांस मजे से मिले और आगे परलोक में भी मिलने की आस लग जाय ॥

(६२५) इस श्लोक से यह भी सिद्धान्त निकलता है कि, मनुष्य जाति मात्र का आहार मांस नहीं, यदि मांस आहार होता तो मेद आदि निन्द्य वस्तुओं का वीभत्स रस इसमें न दिखाया जाता ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृय रेधि श्राद्धे मांस भक्षण विधि खण्डनीयः सप्तविंशति तमो विवेकः ॥ २७ ॥

अथ याज्ञिक माधुपर्किक पशु बध निषेधक विषयः।

(६२६) सं० मनु अ० ५ श्लो० ३९ में यह कहा है कि स्वयंभू ने पशु, यज्ञ की सिद्धि और वृद्धि के लिये आपही रचे हैं, इससे सबका यज्ञ में बध होना अबध है.। इसका सारांश यह हुआ कि यज्ञ में पशु का बध अबध है, परन्तु अन्यत्र बध है ॥

(६२७) सं० फिर इसी अध्याय के ४१वें श्लोक में यह कहा है कि मधुपर्क, यज्ञ, श्राद्ध, और देवकर्म, इनमें ही पशु बध करे, अन्यत्र कहीं न करे ॥

(६२८) ३९ वें के कहे अनुसार यज्ञ से पृथक् मधुपर्क, श्राद्ध, और देव कर्म, इनमें पशुबध बध [हिंसा] ही हुआ, फिर उक्त मधुपर्क श्राद्ध और देवकर्म इनमें

बिना जीव बध किये मांस क्या पाषाण से, वा काष्ठ से, छुटाकर मांसाहारी जी अहिंसक बनेंगे ? ।

(६२६) सं० उक्त ३१ वें के अनुसार मधुपर्क में पशु बध करके १२६ और १२० वें के लिखित अपने घर पर आये राजा आदि जनों का मधुपर्क से पूजन करै ॥

(६३०) वाहरे मांसाहारियो नाम तो लिया जाय मधुपर्क, और किया जाय रक्त संपर्क और मांस सम्पर्क, वहभी किसी ऐसे वैसे के लिये नहीं, राजा के, ऋत्विक् के, ब्रह्मचारीके,गुरुके, मित्र के, और श्रोत्रिय इत्यादि के, लिये धोखे का पूजन बताना ! ।

(६३१) मधुपर्कं दधि मधु घृत मपिहितं कांस्ये कांस्येन ।

अर्थ कांसी के पात्र में कांसी के पात्र से ढके दधि शहद वा मधुर द्रव्य और घृत ये मिले हुए मधुपर्क कहाते हैं। इसकी गदाधरी टीका

(६३२) आज्य मेकपलं ग्राह्यं दध्न स्त्रिपल मेवच ।
मधुनः पल मेक न्तु मधुपर्कः स उच्यते ॥

स्पष्टार्थः ।

उक्त दधि, दूध, घी, शहद, वा मिसरी इन पांच मधुर वस्तुओं के नियत प्रमाण से मिलने को मधुपर्क कहते हैं।

(६३३) सं० और मधुपर्क शब्द के शब्दार्थ से भी यही ठीक है, क्यों कि " मधूनां मधुर रसात्मकानां द्रव्याणां पर्कः योगो यस्मिन् स मधुपर्कः " मीठे रस वाली वस्तुओं का योग हुआ हो जिस में वह मधुपर्क है । यद्यपि अनेक पदार्थ मधुर हैं परन्तु सब के मध्य सर्वथा सर्वोत्तम होने से यही सत्कार में ग्रहण किये हैं। यही मधुपर्क अतिथि के वा अन्य किसी पूज्य के सत्कारार्थ दिया जाता है इस में पशु बध करन का कोई काम नहीं ।

(६३४) सं० पशुबध तो उलटा इस [मधुपर्क] कर्म को नष्ट करता है, क्यों कि किसी अतिथि के आने में आज एक भी गौ आदि पशु मारा जाय तो प्रति दिन एक अतिथि के आने में भी एक ही वर्ष में ३६० पशु तो एक ही गृहस्थ को बध करने के लिये चाहियें। इस हिसाब से जहां चार सहस्र गृही वसते हों वहां १४४०००० पशु तो एक अतिथियों के ही भक्षण को चाहियें। यदि इस के दशवां हिस्सा भी बध हो त

भी बहुत होते हैं, अन्य नित्य, नैमित्तिक पितृ कर्म दैव कर्म, और यज्ञ कर्मों के लिये यदि पशु बध की गणना करैं तो क्या ठिकाना है ऐसा कर्म कहीं पहले से चला आता तोआज स्वप्न में भी गौ आदि पशुओं का दर्शन न होता, और मधुपर्क की तो कौन कथा है। धूल पड़े ऐसे अतिथि सत्कार के करने कराने वालों के मुख पर जो मधुपर्क में पशु बध करैं करावें और मधुर के स्थान में मांस और रुधिर चढावें ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्यधिकारे माधुपार्किक विषय पशुबध वर्जनीयो ऽष्टाविंशति तमो विवेकः ॥ २८ ॥

अथ तर्क कर्त्तव्याकर्त्तव्य स्थान विचार

(६३५) सं० (तर्क) हैं? हैं ?? हैं ??? आप ऐसा न कहें, इस में श्रुति स्मृति का अपमान होता है, ऐसा कहने वाला नास्तिक है देखो मनु अ० ५ श्लो० ५६ ।

यो वमन्येत मूले द्वे हेतु शास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभि र्बहिष्कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः ॥

अर्थ– जो द्विज हेतु [तर्क] शास्त्र की सहायता से श्रुति और स्मृति रूप दोनों धर्म मूलों का अपमान करता है, वह सत्पुरुषों से बाहिर करने योग्य है, क्योंकि वह नास्तिक वेद निन्दक है। भावार्थ—यह है कि जो कुछ श्रुति और स्मृति में लिखा हो वह अवश्य माननीय है, चाहें जैसा हो ।

(६३६) सं० (उत्तर) यह हमभी मानते हैं, परन्तु आप कुछ अन्यथा समझे हुए हैं, मनु महाराज "यो ऽव मन्येते त्यादि" से श्रुति स्मृति को सर्वोपरि माननीय आप्त प्रमाण सूचित करते हैं, इन में अचल दृढ़ विश्वास करना और इन को अखण्डनीय मान आदर करने की आज्ञा देते हैं, क्योंकि आप्त वाक्य बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता, आप्त जो कुछ कहते हैं, वह निर्णय करके सिद्धान्त ही कहते हैं इस में हेतु ढूंढने का आग्रह उचित नहीं। क्योंकि आप्तों के निश्चित किये मुख्य हेतु तक सब नहीं पहुंच

सक्ते हैं, यदि हेतु ढूँढने वाले को अल्पज्ञता के कारण श्रुति वा स्मृति के वाक्य में कोई हेतु न मिले, और उक्त न मिलने पर यदि श्रुति वा स्मृति के कहे सदाचार को जो त्याग दे तो कहो कितनी बड़ी हानि हो कि, जिस के करने से भविष्यत् में सुख मिलता, उस से वह वञ्चित रहा ।

जैसा कि मनु अ० ४ श्लो० ५३ में चौथा पाद यह है, कि "नच पादौ प्रतापयेत्" अर्थ-पैरों को अग्नि से न तपावै । अग्नि से तापने तपाने का काम प्राय: शीतकाल में ही पड़ता है, उस समय जिस प्रकार हस्त आदि अन्य अवयवों को तपाते है, उसी प्रकार पैरों को भी तपाने में कोई हानि प्रत्यक्ष नही दीखती, फिर क्या कारण जो पैरों को न तपावें ऐसा समझ यदि उक्त स्मृति आज्ञा नही मानेगा वह बड़ी हानि को पहुचैगा ॥ देखो-

(६३७) शीत सात्म्यां नृणां दृष्टि माहु र्नयन चिन्तकाः ॥

सुश्रुत उ० तन्त्र अ० ७ ॥

अर्थ- नेत्रों का हिता हित विचार करने वाले वैद्य, मनुष्यों की दृष्टि [दर्शन शक्ति] को शीत [शीतल वस्तु] सात्म्य [मुआफिक] रहने वाली कहते हैं । अर्थात ठंड नेत्रों को हित कारी होती है, और इसके विपरीत उष्णता असात्म्य है । यह अर्था पत्ति [प्रयोजन की लब्धि] हुई, इसमे पैरों को तपाने से तुरन्त दृष्टि को हानि पहुँचैगी क्योंकि पाद तापने से उष्णता शिरा के मार्ग होकर मस्तिष्क में गुणावगुण पहुचता है । देखो-

(६३८) शिरा नुसारिभि र्दोषै र्विगुणै रूर्ध्व माश्रितैः ।
जायन्ते नेत्र भागेषु रोगाः परम दारुणाः ॥१॥

सुश्रुत उत्तर तन्त्रे नेत्राधिकारे ॥

अर्थ-शिराओं के द्वारा ऊपर पहुंचे विगड़े दोषों से नेत्रों के भागों में अति दुःसह रोग उत्पन्न होते है ॥

(६३९) सं० सो यह तो हमारा अन्वेषण है और आप्तों ने तो न जानै कितने कारण निश्चय करके आज्ञा दी है । इस प्रकार जब पैरों अग्न्यादि के लिये सहस्रों आज्ञाओं के भंडार श्रुति वा स्मृति हैं उन में कहां तक हेतुओं की टटोल करर के साधारण जन

आज्ञा ग्रहण कर सकेंगे। इससे श्रुति वा स्मृति को हेतु वाद से कदापि त्याग न करना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥

(६४०) परन्तु श्रुति वा स्मृति में किसी प्रकार से संशय प्रतीति हो तो तीन प्रकार से अवश्य निर्भ्रान्त कर लेना चाहिये ॥

वह जैसे–

(६४१) प्रत्यक्ष मानुमानं च शास्त्र ञ्च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धि मभीप्सिता ॥

(६४२) आर्ष धर्मोपदेश ञ्च वेद शास्त्रा विरोधिना ।
यं स्तर्केणा नु सन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

मनु॰ अ॰ १२ श्लोक १०५ । १०६ ।

अर्थः-धर्म के तत्व को जानने की इच्छा करने वाले को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, और अनेक आप्त वचन इन तीनों प्रमाणों से अपना कर्त्तव्य सुविदित [निर्भ्रान्त] कर लेना चाहिये ॥

(आर्षम्) [धर्म पर पहुंचाने के लिये ऋषियों के कहे अर्थ वाद अर्थात् नैतिक] वचनों को, और धर्म के उपदेशों को जो पुरुष शास्त्र [हितानु शासक ग्रन्थ] के अविरोध [अनुकूलता] रखने वाले तर्क से ढूँढता है, वह धर्म को जानता है, इतर नहीं ॥

(६४३) सं॰ उदाहरण जैसे कोई सद्वैद्य किसी रोगी के देश, काल, प्रकृति, और अवस्था को देख उसी के अनुसार यथावत् निर्णय करके यव वा गोधूम के खाने की आज्ञा देवै कि, इसको यव वा गोधूम ही का आहार हित होगा, इसमें जो कोई कुतर्क करै, उसको मूर्ख समझ कर दूर करना चाहिये यह अभिप्राय "यो ऽव मन्येते त्यादि' श्लोक का है।

(६४४] सं॰ और जैसे कि सद्वैद्य के बताये यव वा गोधूम हैं, उन में किसी प्रकार की गड़बड़ न हो, वा अन्य के स्थान में अन्य न हो, अथवा अन्य वस्तु न मिली हो, वा कृमि कीटादि दोष युक्त न हो, इत्यादि प्रत्यक्षादि प्रमाण से सद्वैद्य की आज्ञा निर्भ्रान्त करके मानने वाला यथार्थ को जानेगा अन्य नहीं। इसी प्रकार श्रुति

वा स्मृति प्रति पादित वाक्य को वा अर्थ को निर्णय करके बर्ताव में जो लाता है वही धर्म को पहचानता है ॥

इत्याप्त वचनेषु तर्कातर्क कर्तव्या कर्तव्य संशयच्छेदनीय
ऊन त्रिंशत्तमो विवेकः ॥२६॥

वैदिक गर्भाधानोपदेश विषयः।

(६४५) सं० विश्व के सब पदार्थ गणों के, प्रियों के, और सब विद्या और रत्नादि निधियों के, पति रूप परमेश्वर की और अपने पति की गर्भाधानार्थ स्त्री की ओर से गणानांत्वा इस मंत्र द्वारा श्लेषालंकार से स्तुति लिख कर गर्भाधानार्थ ही यजु० अ० २३ के तेरह मंत्रों को अर्थ सहित वाजी करण विषयोपयोगी समझ कर लिखते हैं ॥

(६४६) गणानां त्वा गणपति ꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपति ꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपति ꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥१६॥

पद-गणानाम्। त्वा। गणपतिम्। हवामहे। प्रियाणाम्। त्वा। प्रियपतिम्। हवामहे। निधीनाम्। त्वा। निधिपतिम्। हवामहे। वसो। मम। आ। अहम्। अजानि। गर्भधम्। आ। त्वम्। अजासि। गर्भधम्॥

सान्वयार्थ-(गणानाम्) पदार्थों के समूहों [गिरोहों] के (गणपतिम्) समूह स्वामी [मालिक] (त्वा) तुमको हम स्त्री जन (हवामहे) ग्रहण करती हैं (प्रियाणाम्) इष्ट मित्रादि प्यारे जनोंके (त्वा) तुम (प्रियपतिम्) प्यारे स्वामीको हम (हवामहे) ग्रहण करती हैं (निधीनाम्) कोशों [खजानों] के (त्वा) तुम (निधिपतिम्) कोश स्वामीको (हवामहे) हम अपना अधीश करती हैं। हे (मम) मेरे (वसो) धन (गर्भधम्) गर्भ [हमल] के धरने पोषण करने वाले तुमको (अहम्) मैं (आ अजानि) अच्छी तरह

जानती हूं कि (त्वम्) तुम (गर्भधम्) गर्भ धरने अर्थात् गर्भाधान करनेको (आ जासि) अच्छे प्रकार जानते हो।

गर्भाधानोपयोगि प्रयत्नोपदेश।

(६४७) ता उभौ चतुरः पदः प्रसारयावः स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतो दधातु॥ य०। अ० २३। मं० २०।

पदच्छेदः—तौ। उभौ। चतुरः। पदः। सम्प्रसारयावः। स्वर्गे। लोके। प्रोर्णुवाथाम्। वृषा वाजी। रेतः। दधातु॥ ॥ सान्वयार्थ॥

(तौ) वे गर्भाधान करने वाले स्त्री और पुरुष दोनों (प्रोर्णुवाथाम्) * आच्छादित [पर्देमें] होवें, और अपने (चतुरः) चारों (पदः) पादों [पैरों] को (स्वर्गे) सुखदायक गर्भाधानानुकूल (लोके) अवकाश में (प्रसारयावः) फैलावें (रेतोधाः) वीर्यका धारण करने वाला अर्थात् ब्रह्मचारी रहा [६२२] (वाजी) वेजनवान् [अश्ववत् मैथुन कर्मोत्साही] † हुआ (वृषा) वीर्य सेचक पुरुष (रेतः) वीर्यको (दधातु) धरै।

गर्भाधानार्थ बन्ध [आसन विशेष] सूचनादि।

(६४८) उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। यः स्त्रीणां जीव भोजनः॥ २१॥

---

* सुश्रुत चि० अ० २४ में सदाचार के प्रसंग में लिखा है कि— "लज्जा गमावहे देशे विवृतेऽशुद्ध एव च"॥

अर्थ—लज्जा प्राप्त कराने वाले विवृते [विना ढके] और अशुचि स्थान में मैथुन न करै, । तथा चरक सू० अ० ८ में भी— "नाऽरहसि व्यवायं गच्छेत्" चौड़े [मैदान] मे मैथुन न करै॥

† अश्ववत् मैथुन कर्मोत्साहाज्ञा अथर्व—कां० २। अ० ५। सू० ३०

"एयमगमन् पतिकामा जनिकामो ह मागमम्। अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम्"॥ मं० ५॥

पदच्छेद—आ। इयम्। अगमन्। पतिकामा। जनिऽकामः। अहम्। आ। अगमम्। अश्वः। कनिक्रदत्। यथा भगेन। अहम्। सह। आ। अगमम्॥

भाष्य—इयं काम्यमाना स्त्री पतिकामा भर्तारम् अभिलषन्ती आगन् मत्समीपम् अगमत् अहमपि जनिकामः जनिर्जाया तां कामयमानः सन् आगमम् तां प्राप्तवानस्मि किञ्च कनिक्रदत् भृशं हेषा शब्दं कुर्वन् अश्वः यथा बड़वया सङ्गच्छते तथा भगेन सह आगमम्॥

पदच्छेद- उत् सक्थ्याः । अव । गुदम् । धेहि । समञ्जिम् । चारय । आवृषन् । यः । स्त्रीणाम् । जीव भोजनः ॥

सान्वय पदार्थ-हे (आवृषन् वीर्य सेचक (उत् सक्थ्याः) पुरुषकी रूकृथि [टांग] के ऊपर सक्थि रखने वाली के (गुदम्) पुरीषोत्सर्गस्थानको (अव) रखा अर्थात गुदा स्थान के स्पर्श से लिंग को बचा (अञ्जिम्) लिंग को योनि में (सञ्चारय) युक्ति पूर्वक चला, (यः) जो लिंग (स्त्रीणाम्) कामिनीयोंका (जीव भोजनः) जीवन [जिन्दगी] का पालक है कि जिससे गर्भको तू (धेहि) धरे ॥

(६४९) प्रसारितो रु द्वय मध्य योगा द्गाढापि नारी श्लथता मुपैति । कालज्ञ जानु द्वयबन्ध-युक्ता श्लथापि सङ्कोच मलं प्रयाति ॥ तस्माद्युवत्याः प्रनीतिश्च सत्व देशे स्वभावं मदनात-पत्रम् । आलोक्य बन्धाः परि कल्पनीयाः सम्भोग काले पुरुषै रसज्ञैः ॥

(६५०) उत्तान सुप्ता प्रपदोरुमध्ये स्थितः रतिः कामयते प्रकामं । तयोर्द्वयोः प्रीति करः प्रदिष्टो बन्धो नराणा मति दुर्लभोयम् ॥ एवं विधाया स्त्रिय एव जंघा कान्तस्य जङ्घो परि सन्निविष्टा । उत्थाप्य भूयः कटि संरमत्याः स्यादेष बन्धः किल नागराख्यः ॥

पति पत्नी का परस्पर कामोत्पादक वाग्विलास ।

(६५१) यका सकौ सकुन्तिका हलगिति वञ्चति । आहन्ति गभे पसो निगल्ग लीति धारका ॥२२॥

पदच्छेद-यका । असकौ । सकुन्तिका । हलग् । इति । वञ्चाति । आहन्ति । गभे । पसस् । निगल्गलीति । धारका ।

सान्वय पदार्थ-(यका) जो (असकौ) यह (सकुन्तिका) पक्षीकी चोंच के आकृति वाली भग नासिका जब (आहन्ति) संयोगानुकूल व्यापार पूर्वक क्षतीभूता की जाती है तब (हलग्) विलेखित हुई अर्थात् क्षतको पहुँची (इति) वह (वञ्चति) छलती है, किन्तु अन्यथा ही कहती है कि क्षतान्वित होने से शरीर में पीड़ा होती है परन्तु इस को सुख होता है, तत्पश्चात् (धारका) स्त्री की धरन (पसस्) गर्भको (गभे) भग में (निगल्गलीति) निगल लेती है । अर्थात् अपने आशय में धर लेती है ।

यकोऽसकौ शकुन्तक आहलगिति वञ्चति । विवक्षत इव ते मुख मध्वर्यो मानस्त्व माभि भाषथाः ॥२३॥

पदच्छेद—यकः । असकौ । शकुन्तक । आहलग् । इति । वञ्चति । विवक्षते । इव । ते । मुखम् । अध्वर्यो । मा । नः । त्वम् । अभि । भाषथाः ।

सान्वय भाषार्थ—(यकः) जो (असकौ) यह (शकुन्तक) शुककीसी नासिका धारीपुरुष संज्ञक (इति) इसी प्रकार (आहलग् सब ओर से विशेष चलती हुआ (वञ्चति) छलता है, एक स्त्री ही नहीं (ते) तुम्हारे (मुखम्) मुँह की (इव) नाईं (विवक्षते) कहता है अर्थात् मन में कुछ और मुखमें कुछ इस से हे (अध्वर्यो) पुत्रेष्टि यज्ञ कर्तृन् (नः) हमारे (अभि सम्मुख त्वम्) तुम (मा) मत (भाषथाः) बोलो ॥

कामोत्पादक वाग्विलासान्तर्गत वृक्षारूढ नामक आलिंगनोपदेश

(६५२) माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः। प्रतिलामी-ति ते पिता गभे मुष्टि मतंसयत् ॥ २४ ॥

पद च्छेदः-माता । च । ते । पिता । च । ते । अग्रम् । वृक्षस्य । रोहतः । प्रातिलामि । इति । ते । पिता । गभे । मुष्टिम । अतंसयत् ॥

सान्वय पदार्थः – अध्वर्यु [पुत्रेष्टि यज्ञ कर्त्ता पति] कहता है कि हे मम पत्ने (ते) तेरी (माता) मा (च) और (ते) तेरा (पिता) बाप (अग्रम्) पहले "ऊर्ध्व मूल मधः शाखः" ऊपर को शीर्ष रूप मूल जिस की और नीचे को बाहु सक्थ्यादि शाखा वाले मनुष्य रूप (वृक्षस्य) § वृक्षके (इति) इसी प्रकार गर्भाधान के लिये (रोहतः) चढ़ने से तेरी उत्पत्ति हुई थी मैं (इति) इस बात को (प्रतिलामि) मानता हूं कि (ते) तेरे (पिता) बाप ने भी (गभे) भग में (मुष्टिम्) * फल [फर नाम भाषा में लिंग] को (अतं सयत्) भूषित किया था ॥

---

§ इह ताव दूर्ध्व मूलो नर कल्प तरु र्भवे दधः शाखः ।
पाद तलात् तदानीं शारीरं लक्षणं वक्ष्ये ॥
सामुद्रिक शास्त्र

* मुष्टिः फले [फरे] बद्धपाणौ । इतिमेदिनी,

पञ्च शायक नाम्नि ग्रन्थे

(६५३) वृक्षारूढक संज्ञकं प्रथमतः प्रोक्तं लत वेष्टित । तस्मा ल्लाघव जिव्हका वपिमता धूरूपगूढंतत. ॥ ज्ञातव्य तिल तण्डुल रमविदा मालिंगनं योषितां । क्षीरं नीर शार ततो निगदितं तस्माच्च लालाटिकम् ॥ (६५४) एकेन पादेन पदं स्वभर्तु रन्येन चाक्रामति दूर भागं । आपीडय दोर्भ्या मपि कान्त दृष्टं वृक्षाधिरूढ निगदंति सन्तः ।

माता च ते पिता च ते ऽग्रे वृत्तस्य क्रीड़तः। विवत्तत इव ते मुखं ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु ॥ २५ ॥

पद च्छेदः – माता। च। ते। पिता। च। ते। अग्रे। वृत्तस्य। क्रीडतः। विवत्तत। इव। ते। मुखम्। ब्रह्मन्। मा। त्वम्। वदः। बहु ॥

सान्वय पदार्थ– हे (ब्रह्मन्) पुत्रेष्टि यज्ञ करने वाले मेरे पति (त्वम्) तुम (बहु) बहुत (मा) मत (वदः) बोलौ (ते) तुम्हारे (मुखम्) मुंह (इव) जैसा (विवत्तते) बढ़ कर बोलेकि (ते) तुम्हारी (माता) मा (च) और (ते) तुम्हारा (पिता) बाप मनुष्य रूप (वृत्तस्य) वृत्त के (अग्रे) आगे अर्थात् सब के देखते बाल्यावस्था में नग्न हुए (क्रीडतः) खेले हैं ॥

(६५६) ऊर्ध्वा मेना मुछ्रापयागिरौ भारं हरन्निव। अथास्यै मध्य मेधतां शीते वाते पुनन्निव ॥

पदच्छेद– ऊर्ध्वाम्। एनाम्। उत्। आपय। गिरौ। भारम्। हरन्। इव। अथ। अस्यै। मध्यम्। एधताम्। शीते। वाते। पुनन्। इव ॥

सान्वयार्थ– (एनाम्) इस उक्त गर्भाधानेच्छु का स्त्री को (ऊर्ध्वाम्) ऊँची (उत्, आपय) उठवा (गिरौ) पर्वत पर (भारम्) बोझको (हरन्) ले जाता हुआ नीचे हाथ लगाकर (इव) मानों उठाता हो, ऐसे (उच्छ्रापय) कुछ ऊपर को उठवा (अथ) इस के पीछे (अस्यै) इस का (मध्यम्) योनिप्रदेश (शीते) शीतल (वाते) वायु लगने पर (पुनन्) पवित्र होता हुआ (एधताम्) बढैगा ॥

भावार्थ– स्त्री को पुरुष मध्यभाग में इतना ऊंचा उठाने की प्रेरणा करै कि जिस से वायु इधर उधर से गमागम करता हुआ शीतलता पहुंचाता हुआ और दुर्गंध देश को पवित्र करता रहे। शीत वात के उपदेश से वेद की शिक्षा होती है कि उष्ण वात के

कहीं वेदोपदेश से लालाटिक संज्ञक आलिंगन गर्भाधानोपयोगी कहा है, जैसाकि श० ब्रा० '१४।६।८। में इसका लक्षण लिखा है –

(६५५) अन्योन्य संयुक्त मुखं कपोलं, नेत्रं ललाटं हृदयं च बाहू।
आनन्द भारं भ्रम मीलिताक्षौ लालाटिकं तत्वविदो वदन्ति॥

स्पर्श होते हुए गर्भाधान न करै, [६३१ | ३४०] और उक्त उपाय से मध्य भाग [योनि] में गाढ़ता [सखतें] भी नहीं रहती किन्तु बढ़ जाती है, ।

ऊर्ध्व मेन मुच्छ्रय ताद्गिरौ भारं हर न्निव ।
अथास्य मध्य मेजतु शीते वाते पुनन्निव ॥ २७ ॥

सान्वयार्थ - (एनम्) उक्त गर्भाधान संस्कार करने वाले इस पुरुष को स्त्री (गिरौ) पहाड़पर (भारम्) बोझ को (हरन्) लेजाते हुए के (इव) तुल्य (उच्छ्रयतात्) ऊपर उठावै (अथ) इस के पश्चात् (अस्य) इस पुरुष का (मध्यम्) मध्य भाग (एजतु) काम्पित होवे अर्थात् ऊपर नीचेको शिश्न के प्रवेशापवेश मैथुनोपयोगि व्यापार को गर्भाधानार्थ पुरुष करै कि (शीते , शीतल (वाते) वायु के चलने पर धान्य का (पुनन्) पवित्र निस्तुप करने [बर्साने] वाला (इव) जैसे हिलता हिलाता है ॥

(६५७) यदस्या अंहु भेद्याः कृधु स्थूल मुपातसत् ।
मुष्का विदस्या एजतो गोशफे शकुला विव ॥ २८ ॥

पदच्छेद– यत । अस्या। अंहु । भेद्याः । कृधु । स्थूलम् । उपातसत् ॥ मुष्कौ । इत । अस्याः । एजतः । गोशफे । शकुलौ । इव ॥

सान्वयार्थ– (यत्) जब (अस्याः) इस (अंहु भेद्याः) भग विदारण होने योग्य स्त्री की भग में (कृधु) ह्रस्वलिङ्ग पौंड् के तुल्य (स्थूलम्) मोटाहुआ (उपातसत्) भीतर पहुँचे उस समय (अस्याः) इस गर्भ ग्रहण करने वाली की (गोशफे) गौके खुरके आकृति वाली जो योनि उस के ऊपर पुरुष के दोनों (मुष्कौ) अण्डकोश (इत्) ऐसे (एजते) हिलते प्रतीत होते हैं (इव) मानो [शकुल शम्बूक [शुकले के अण्डकोश (गो) [लिङ्गेन्द्रिय] की [शफे] मूल में लगे हिलते हों ॥

(६५८) यद्देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिन माविषुः)
शक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ २९॥

पदच्छेद– यत् । देवासः । ललामगुं । प्राविष्टीमिनम् । आविषुः । शक्थ्ना ।

देदिश्यते । नारी । सत्यस्य । अक्षि भुवः । यथा ॥

साःदयार्थ– जब (देवासः) गर्भाधान करने वाले मोदमान यजमान लोग (सत्यस्य) यथार्थ (अक्षिभुवः) प्रत्यक्ष हुए (ललामगुम्) सुख को पहुंचे (पिष्टीमिनम्) शुक्र क्लेद [मनी] की बूंद निकलते हुए लिंग को योनि में (यथा) योग्यतानुसार (प्र-आ-विपुः) प्रकर्ष ता से अर्थात बलपूर्वक बार बार प्रवेश करते हैं तब (नारी) गर्भ ग्रहण करने वाली कामुकी स्त्री द्रवित हो (शकल्या) जघन टुकड़ों से पुरुष को (देदिश्यते) नितान्त कतई] त्याग करती है, तुरन्त नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि, स्त्री और पुरुष की वीर्य सेचक नाड़ी जब शिथिल हो जायँ तब पृथक् २ होवें ॥

(६५९) सं० गर्भाधान में जो २ बातें कर्तव्य हैं, उन सब का बीज रूप से उपदेश उपरोक्त मन्त्रों में है ॥ जैसे प्रथम गणपति [परमेश्वर] का स्मरण, वीर्य सेचक का ब्रह्म चर्य होना, गर्भाधानानुकूल सुखद आरोग्य देश कालादि सूचन, मश्रोट में [पर्देमें होने की आज्ञा, वाजी [घोडे] के तुल्य मैथुन कर्मोत्साह, गर्भाधानोपयोगि बन्ध [आसन] सूचना, मलिन स्पर्श का बचाव, मुख्य साधन की ओर प्रेरणा, और उसको स्त्रियों के प्रसन्न रखने का हेतु और जीवन कहना, परस्पर कामोत्पादक हास्य, शृङ्गार रस मिश्रित वाग् विलास, गर्भाधानोपयोगि वृक्षारूढ नामक आलिङ्गनोपदेश, रमण क्रियोपदेश, रमण क्रिया, स्त्री की रमणान्तिमा चेष्टा, ये सब बात और परस्त्री और पर पुरुष गमन से जार कर्म निंदा, अनुलोम प्रतिलोमोत्पत्ति में अहर्ष अर्थात् अनिच्छा सूचित है ॥

(६६०) सं० वेद में बहुधा परमार्थिक और व्यावहारिक श्लेषालङ्कार से उपदेश किये हैं, मैं ने व्यावहारिक अर्थ उक्त मंत्रों का लिखा है, पारमार्थिक शा० १३। ब्रा० में देखो और जिस को अश्लील [फोश] अयुक्त अनर्थ वेदपथ को दूषित करने वाला अपार्थ देखना हो वे महीधर भाष्य को देखें, ॥ यदि कोई कहे कि आपने भी अश्लीलार्थ ही किया है, तो हमारा अश्लील नहीं यह शिक्षकार्थ है, क्योंकि जिस विषय की जहां शिक्षा होगी वहां उस विषयक जो २ वाक्य होंगे और युक्त होंगे वे सभी वक्तव्य हैं जैसे—बलात्मैथुन अभियोग [जिना बिल् जब्र के मुकद्दमे] में जो २ राजद्वार में यथार्थ निर्णयार्थ बातें प्रश्नोत्तर में अवक्तव्य भी हों तब भी वक्तव्य ही मानी जाती हैं अश्लील भाषण नहीं, इसी प्रकार गर्भाधान में उपरोक्त प्रकार उपदेश अश्लील नहीं ॥ अथर्व कां० २ । वर्ग ३० । म० १ । ७ ॥ इस सूक्त में गर्भाधान का विधान है वहां भी गर्भाधानार्थ-

"यान ऊरू उपती विश्रयाति यस्या मुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥६॥

इस मंत्र में गर्भोपयोगि वाक्य कहे हैं वे भी अश्लील बताये जाने से गृहस्थ शिक्षा म न होने चाहिये थे परन्तु वेद में यथोचित ही माना है,॥

इति मार्यै षणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे वैदिक गर्भाधानोपदेश वर्णने त्रिंशत्तमो विवेकः ॥ ३० ॥

वैदिक गर्भाधानोपदेश विषय

तत्र

निषेकार्थ बृहदारण्य शतपथ श्रुति विचारः

(६६१) अथ य इच्छेत् पुत्रो मे विजगीथः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान् वेदा ननुब्रवीता सर्व मायु रिया दिति मा ᳪ सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्त मश्नीयाता मीश्वरौ जनयित वै औदणेन वार्षभेण वा।

(६६२) सं० इस श्रुति में वक्तव्य केवल ("मा ᳪसौदनं" औदणेन वार्षभेण वा) इतने ही अंश में था, परन्तु यहां पूरी ही श्रुति लिख कर वेदके सिद्धान्त के विपरीतार्थ वा अशुद्ध पाठ करने वालों के दृष्टि पथ में पड़ी जवनिका को उठा कर पाठ और अर्थ दोनों दिखाते हैं,।

अजमेर वैदिक यन्त्रालय में सं० १९६० के छपे उक्त बृहदारण्य उपनिषद् में विजिगीतः पाठ, है और उक्त यन्त्रालय के सं० १९५९ में छपे शतपथ ब्राह्मण में विजियीथः पाठ है। और आगे इसी शतपथब्राह्मण में "औदणेन वार्षभेण वा" ऐसा, और उक्त यन्त्रालय में उक्त समय के छपे उक्त उपनिषद् में "औदणेन वा ऋषभेण वा" पाठ है, उपनिषद् में "जनयित वा," और शतपथ में "जनयिता वा," पाठ है।

इसी प्रकार अन्य लिखित वा मुद्रित बहुतसी पुस्तकें देखी जांय तो, सम्भव है कि, और भी कहीं न कहीं पाठ भेद हो। इस कारण यथार्थ जिज्ञासु को उचित है कि, वह पाठ और अर्थ दोनों को अच्छे प्रकार यथायोग्य [६४१ । ६४२] समझ कर अपने ज्ञेय धर्म कर्म को ग्रहण करै।

(६६३) देखो इस नवम विषयाङ्क में कदापि जङ्गम मांस वाजी करण तथा गर्भोपयोगी नहीं है, यह सप्रमाण सिद्ध करके दिखावेंगे। फिर गर्भाधान में जंगम मांस कैसा, बरन गर्भ हारक है, । देखो चरक शारीर स्थान अ० ४ ॥

(६६४) गर्भोपघातकरा स्त्विमे भावाः...........

न रक्तानि वासांसि विभृया न्न मदकराणि चाद्या-
न्नाभ्यवहरे न्न यान मधिरोहे न्न मांस मश्नीयात् ।
सर्वेन्द्रिय प्रतिकूलांश्च भावान् दूरतःपरिवर्जयेत् ॥

अर्थ- गर्भ के उपघात [नाश वा अयोग्यता] को पहुंचाने वाले ये वक्ष्यमाण भाव हैं— गर्भिणी स्त्री लालवस्त्र धारण न करै, मद [नशा] करने वाले खान पान न खावे पीवे, यान [सवारी] पर न चढ़ै, मांस को न खाय, सब इन्द्रियों के प्रतिकूल [नामुआफ़िक] बातों को दूर से छोड दे। इस उपरोक्त चरक लेख ने मांसाहार गर्भ हारक सिद्ध कर दिया ॥

(६६५) [प्रश्न] तो क्या उक्त श्रुति के पाठ में अशुद्धि है ? [उत्तर] अवश्य है।

इस का निम्न प्रकार पाठ और अर्थ है।

(अथ) इसके पीछे (यः) जो (इच्छेत्) इच्छा करै कि (मे) मेरा (पुत्रः) लड़का (पण्डितः) सदसद्विवेकी (विजिगीथः) विजयी (समितिङ्गमः) सभाओं में जाने योग्य रूप्य (शुश्रूषिताम्) सुशिक्षित श्रवणेच्छा जनक (वाचम्) वाणी का (भाषिता) बोलने वाला (सर्वान्-वेदान्) सब वेदों को (अनुब्रवीत) पढे और पढावे (सर्वमायुः) पूर्णा वस्था को (इयात्) पहुंचे (वा) ऐसा (जायेत) उत्पन्न होवे। वह (सर्पिष्मन्तम्) घृत युक्त (माषौदनम्) उड़द और चावलों को अलग २ (पाचयित्वा) पकवा कर (ऋषभेण) अष्टवर्गोक्त ऋषभ नामक औषधि के साथ (अश्नीयाताम्) स्त्री पुरुष दोनों खावैं, तो (इति) इस (औदयेन) उत्तन् [ऋषभ महौषधि] के निषेक प्रयोग

से (ईश्वरी) दोनों समर्थ हुए (वे) अवश्य (वा) ऐसा (जनयितः) उत्पन्न करते हैं ॥

सुश्रुत शारीरस्थान अ०२ में लिखा है कि-

(६६६) ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा, मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैल माषोत्तराहारां नारी मुपेयाद्रात्रौ सामादिभि रभि विश्वास्य विकल्प्यै वञ्चतुर्थ्यां षष्ठ्यां मष्टम्यां दशम्यां द्वादश्या ञ्चोपेयादिति पुत्रकामः ।

एषूत्तरोत्तरं विद्या दायु रारोग्य मेव च ।
प्रजा सौभाग्य मैश्वर्यं बलञ्च दिवसेषु वै ॥

अर्थ – गर्भाधान करने वाला पुरुष महीना तक ब्रह्मचारी [सर्वथा मैथुन त्यागी] रहा (सर्पिः स्निग्धः) घृत से स्नेहित हुआ जिस दिन गर्भाधान करै उस दिन के पिछले समय घी और दूध के साथ शाली चावलों के भात को खाकर एक महीने तक ब्रह्मचारिणी रही, तिल के तेल से स्नेहविधि की हुई (तैलमाषोत्तराहाराम्) तेल और माष [उड़दों] का प्रधान आहार की हुई (नारीम्) स्त्री को (सामादिभिः) गर्भ की हानि कारक बातें सुभा समभा देने, आभूषणादि देने से (अभि-विश्वास्य) सब ओर से स्त्री के मनमें प्रेमोत्पादन करके (पुत्रकामः) पुत्र की कामना करने वाला चौथी, छटी, आठवीं, दशमी, वा बारहवीं रात्रि में (उपयात्) गमन करै। (एषु) इन उक्त (दिवसेषु) दिनों में (उत्तरोत्तरम्) पिछले २ समय में आयुः आरोग्य, सन्तान का सुख ऐश्वर्य और बल (विद्यात्) जानें (एवम्) इस प्रकार (विकल्प्य) समझ कर (उपेयात्) गमन करै ।

(६६७) अतः परम्पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्या मेकादश्या ञ्च स्त्रीकामः, त्रयोदशी प्रभृतयो निन्द्याः ॥

अर्थ—कन्या के जन्म की इच्छा करने वाला पांचवी, सातवीं, नवमी और एकादशी रात्रि में गमन करे। शेष त्रयोदशी आदि निन्द्य [बुरी] हैं॥

तथा अष्टमी, पर्वतिथि और मूल संज्ञक [अश्विनी, मघा, मूल, रेवती अश्लेषा और ज्येष्ठा] ६ नक्षत्र और दिन का समय, तथा स्त्री के रज होने की रात्रि से सप्त रात्रि तक रात्रियां इनमें गर्भाधान न करना चाहिये, क्योंकि उक्त समयों का निषेक संतान की कालानुपातिनी प्रकृति का बिगाड़ने वाला होता है, इससे समय का संशोधन विचार अवश्य कर्तव्य है, जैसे कि अन्नादि बोने में समय का बुरा भला अर्थात् अनुचित काल का बुरा और उचित का भला फल प्रत्यक्ष देखने में आता है, इसी प्रकार मनुष्योत्पादन में भी है, श्राद्धविवेक नामक ग्रन्थ में एक आर्ष्य वचन ऐसा कहा है कि, जिस नक्षत्र में गर्भाधान होगा उससे दशमें नक्षत्र में प्रसूत [बालक का जन्म] होता है, यदि गर्भोपघातकारी हेतु और गर्भ की माता का असास्थ्य न होतो, यह हमारी परीक्षा में ठीक रहा है, इसी अभिप्राय को ले, मूल संज्ञक नक्षत्रों में वर्जित किया है, क्योंकि एक मूल के नक्षत्र से दूसरा मूल नक्षत्र दशमी संख्या पर ही है इससे वह मूलों में ही जन्मेगा कि जिसकी बुराई लोक में प्रसिद्ध है,।

व्यास स्मृति में कहा है कि--

रात्रौ चतुर्थ्यां पुत्रः स्या दल्पायु र्बल वर्जितः।
पञ्चम्यां पुत्रिणी नारी षष्ठ्यां पुत्रस्तु मध्यमः॥
सप्तम्यां सुप्रजा योषि दष्टम्या मीश्वरः पुमान्।
नवम्यां सुभगा नारी दशम्यां प्रवरः सुतः॥
एकादश्या मधर्मा स्त्री द्वादश्यां पुरुषोत्तमः।
त्रयोदश्यां सुता पापा वर्णसङ्कर कारिणी॥
धर्मज्ञ श्च कृतज्ञ श्च आत्मवेदी दृढव्रतः।
प्रजायते चतुर्दश्यां पञ्चदश्यां पतिव्रता॥
आश्रयः सर्व भूतानां षोडश्यां जायते पुमान्॥

तथा हारीत संहिता याम्

रजः सप्तदिनं यावत् ऋतुश्च भिषजांवरः।
सप्त रात्रा द्रजः शुद्धि स्तस्मा दृतुमती भवेत्॥
यथा यथा रजो रात्रे नैंकटचं हि निषेकतः।
विस्फोटादि गदै र्युक्तो बालः संजायते ततः॥

तथा चरक शा० स्था० अ० ८ में भी गर्भाधान में माष ही का लेख है।

(६६८) मधुरौषध संस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषम्।
स्त्रियन्तु तैलमाषाभ्याम्।

अर्थ – मधुर वर्गोक्त औषधियों से संस्कार किये घृत और दुग्ध से पुरुष को, और तेल और माष [उड़द] से स्त्री को (उपचरेत्) गर्भाधान के योग्य करै।

(६६९) चरक के उक्त अध्याय में गर्भाधान की विधि विस्तार से है जिनको समस्त देखने कीइच्छा हो वे वहां देखें। परन्तु गर्भाधान में जाङ्गल मांस कहीं भी नहीं लिखा, व्यवहार से भी अक्षतयोनि स्त्री को क्षतयोनि [गर्भाधान] करने के दिन – जिसको कि अछूते का दिन स्त्रियें बोलती हैं- उस दिन तेल में उड़द की दाल के बड़े बना कर दुलहन को विवाह में- द्विरागमन में- खिलाये जाते हैं, उड़द साबित भी रांधे जाते हैं, चावल जौ का घाटा आदि अन्य भी अनेक वस्तु बनाई खिलाई जाती हैं, परन्तु मांस का नाम नहीं।

(६७०) आहाराचारचेष्टाभि र्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्री पुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

सुश्रुत सूत्र ० अ०

अर्थ – जैसे खान पान धर्माचरण शारीरिक और मानसिक चेष्टा करते हुए स्त्री पुरुष गर्भाधान करते हैं, उनकी सन्तान भी तदनुसार वैसी ही होती है अर्थात् बुरों से बुरी और अच्छों से अच्छी होती है।

इति श्री प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थवृत्तौ गर्भाधाने मांसाहार प्रतिपादक वाक्यार्थ खण्डनात्मक एक त्रिंशत्तमो विवेकः।

अथ गर्भाधानोप योगि वाजी करण विचारः

(प्रश्न) वाजी करण स्वस्थवृत्ति में है वा रोगवृत्ति में (उत्तर) रोगवृत्ति में ॥
(तर्क) वाजीकरण तो स्वास्थिक विषय है देखो चरक चि० अ० २ में लिखा है कि-

(६७१) वाजीकरण मन्विच्छेत्पुरुषो नित्यमात्मवान् ।
तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ।
पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः ॥

अर्थ--इन्द्रियों को जीतता हुआ पुरुष नित्य वाजीकरण प्रयोग करने की इच्छा करे, क्योंकि धर्म, अर्थ, प्रीति, और यश ये वाजीकरण के ही आधीन हैं। और यह [वाजीकरण] पुत्र की लब्धि का साधन है और उक्त धर्मादि गुण पुत्र के आश्रित [सहारे] हैं।

समाधान-- यह भी रोगवृत्ति में ही है, देखो सुश्रुत सू० अ० १-

(६७२) वाजीकरण तन्त्रं नाम अल्प दुष्ट विशुष्क क्षीण रेतसा-
माप्यायन प्रसादोपचय जनन निमित्त म्प्रहर्ष जननार्थं च ।

वाजी करण तन्त्र इस शब्द की व्युत्पत्तिः-

(६७३) येन स्त्रीषु विषयेषु वाजीव नरः सामर्थ्य प्राप्नोति
तत् "वाजीकरणं" येनात्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु तत्
"वाजीकरणं" अन्ये तु वजनं वाजो वेगः प्रसरत्त्वात्
शुक्रस्य स विद्यते येषां ते वाजिनः अवाजिनो
वाजिनः क्रियन्ते ऽनेनेति "वाजीकरणं"। अन्येतु
वाजि शब्देन शुक्र मभिधीयते। तेन शुक्र-

रहितस्य वाजी शुक्रं क्रियतेऽ नेनेति" वाजी करणं" तदर्थं तन्त्रम्" वाजी करण तन्त्रम्" ॥

अर्थ – जिस से स्त्री विषय में अश्व की तुल्य किया जाय वह वाजीकरण, वा जिस से अत्यन्त स्त्रियों में विहार करे वह वाजीकरण, वा वाज नाम वेग का वह [वेग] न हो जिस के वह अवाजी और अवाजी वाजी किया जाय जिस से वह वाजीकरण, अथवा वाजी नाम शुक्र का है उस को करने वाला जो काम वह वाजीकरण है, तदर्थ जो तंत्र उसका नाम वाजीकरण तंत्र है। (अल्प दुष्ट, विशुष्क, क्षीण रेतसाम्) पच्चीस वर्ष की अवस्था तक न पहुंचे अल्प शुक्र पुरुष को जितेन्द्रिय रखकर (आप्यायन) बहु वीय करना, उपदंशादि रोगों से (दुष्ट) दूषित हुए शुक्र को शुद्ध करना, वृद्धा वस्था में स्वाभाविक वात विकार होने के कारण (शुष्क) सूखे वीर्य को (उपचय) संचय रखना, और शुक्रल प्रयोगों के सेवन से वीर्य को पिच्छिल बनाये रखना, और तरुणावस्था में ही किसी कारण (क्षीण) नष्ट हुए शुक्रको (जनन) उत्पन्त करना, और किसी कारण (अहर्ष) लिंगशैथिल्य को (प्रहर्ष जनन) हर्ष पैदा करना यह वाजीकरण तंत्र है ॥

भावार्थ-यह है कि शुक्रव्याधि शमनार्थ यह चिकित्सा है इस से रोगवृत्ति में ही गिने जाने योग्य है।

(६७४) वाजीकरण में मुख्य कार्य शुक्रका प्रजनन शोधन वर्धनादिक है, वह मांसाहार से न होगा, क्योंकि मांस, रस से तीसरा धातु, रक्त परिणाम धातु, लघु है, और शुक्र, रस से सातवां, मज्जा परिणाम धातु गुरु है, इस से असमान है। इस कारण मांस से असमान गुण वाला शुक्र नहीं बनेगा।

(प्रश्न) शुक्र से लघु गुण वाला मांस कैसे है।

(उत्तर) चरक सू० अ० ७ में लिखा है कि-

(६७५) धातूनां शोणिताद्यानां गुरुं विद्याद्यथोत्तरम् ॥

अर्थ-- रुधिर आदि जितनी धातु हैं वे अपने पूर्व से यथोतर गुरु हैं। तथा सुश्रुत सू० अ० ४६ में भी लिखा है कि-

रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुषू त्तरोत्तरासु गुरुतराः ॥

अर्थ– रक्त से आदि शुक्र पर्य्यन्त धातुओं में उत्तरोत्तर [पिछली पिछली] अत्यन्त गुरु हैं।

मांस से शुक्र पांचवीं संख्या पर होने से मांस, शुक्र से पंचमांश लघु, और मांस से शुक्र, पचगुना गुरु हुआ। और जो सुश्रुत के "गुरु तराः" इस वचन की ओर ध्यान किया जाय तब तो उत्तरोत्तर द्विगुण ही करने से अत्यन्त ही गुरु ठहरेगा। इस कारण मांसाहार प्रत्युत शुक्र का ह्रास कर्त्ता है नकि प्रजननादि गुण कारक, फिर वाजीकरण प्रकरण में मांस का क्या काम ?।

(६७६) चरक चिकित्सा स्थान के द्वितीय अध्याय में वाजीकरण विषयक चार पाद हैं, उन में प्रथम पाद में पन्द्रह प्रयोग हैं, उन में तीन प्रयोग निरामिष, सात सामिष और साराडरस हैं। कुक्कुट, मोर, तीतर, हंस, भैंरा और चिड़ा, इनका मांसरस, और नक्र मत्स्य, हंस मोर, और दक्ष, [काक] इन के अंडों का रस, इन से युक्त किये योग लिखे हैं। (६७७) द्वितीय पाद में आठ योग हैं, इन में दूसरे योग में चिड़ा, हंस, काक, शिखी [मुर्गा] शिशुमार, [सूंस] नक्र, इन के वीर्य, और वराह, कुलंग, इन की वसा लिखी हैं। और आठवें में नक्र का अंडा, और मुर्गा का अंडा मिश्रित किया है, शेष शुद्ध हैं। (६७८) तृतीय पाद में पन्द्रह प्रहर्ष जनक प्रयोग और शिक्षा प्रद हैं, ये सब निरामिष, निरण्ड, और निःशुक्र हैं। (६७९) चतुर्थ पाद में पांच योग तो सामिष हैं और सात निरामिष हैं, सामिषों में वराह कुक्कुट जैसा मत्स्य इन के तथा अन्य भी अनुक्त जीवों के मांस के प्रयोग बनाने लिखे हैं। (६८०) इन चारों पादों में इकत्तीस प्रयोग शुद्ध और चौदह प्रयोग आमिषादि युक्त हैं।

मांस से शुक्र की असमानता

(६८१) गर्भस्य केश श्मश्रु लोमास्थि नख दन्त शिरा स्नायु
धमनी रेतः प्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि।
मांस शोणित मेदो मज्जा हृन्नाभि यकृत्प्लीहान्त्र गुद
प्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि॥

सुश्रुत शा० अ० ३॥

अर्थ– गर्भ के बाल, दाढी, मूंछ, रोंगटे, हड्डी, नख, दांत, रक्त आदि के बहने

वाली नाडी, तथा सन्धि बन्धन नाडी, रस वाहिनी नाडी और शुक्र, इनके सदृश स्थिर वस्तु पितृज हैं। मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, हृदय, यकृत्, [जिगर] प्लीहा, [तिल्ली] गुद [कांच] इन के सदृश मृदु [मुलायम] वस्तु मातृज कहाती हैं, अर्थात् माता के शोणित से बनी हैं। ये उक्त पितृज सौम्य, और मातृज आग्नेय हैं॥ देखो सुश्रुत शारीर स्थान–

(६८२) सौम्यं शुक्र मार्त्तव माग्नेय मिति।

अर्थः– पुरुष का शुक्र सौम्य और स्त्री का रज जिन से कि मांसादि मृदु पदार्थ बनते हैं वह आग्नेय है। इस कारण कारणानुरूप कार्य मांस भी तत्तुल्य ही गुण युक्त है। (६८३) आग्नेय गुण वाले मांस से सौम्य गुण वाला शुक्र, सर्वथा विपरीत असमान धातु, न उत्पन्न होगा, न बढेगा, न शुद्ध होगा। इस से वाजीकरण में मांस सर्वथा अयुक्त पाप का हेतु है। इसी प्रकार अंडा का भी वाजीकरण के प्रयोग में मिलाकर खाना, वा, अकेला खाना, सर्वथा अनुचित है, क्योंकि अंडा गर्भ है, कि जो स्त्री और पुरुष के आग्नेय और सौम्य मिश्रित धातु के योग से होता है। एवं उक्त मिश्रित धातु जन्य अण्ड से केवल सौम्य गुण युक्त, शुक्र, न उत्पन्न होगा, और न बढेगा [६७०] प्रत्युत विकृत हो दुःखदायी सन्तान उत्पन्न करने का हेतु होगा

प्रक्षिप्त प्रयोग दिग्दर्शन,

(६८४) चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिना न्तथा।
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत्॥

अर्थ– चिड़ा, हंस, काक, मोर, सूंस, और नाका इन के वीर्य को लेकर वैद्य इन के प्रयोगों से पुरुष के वीर्य को बढावे।

(६८५) सं० ऐसे वाजीकरण के कर्त्ता वा कारयिता मनुष्य के वीर्य को तो मुख-मैथुन हस्त-मैथुनादि कर कराकर ले लिया सके हैं, परन्तु यदि यह प्रयोग ठीक आर्ष था तो उक्त प्रयोग में लिखे जीवों के शुक्र को जिस प्रकार से लें उस प्रकार को योगराज महर्षि चरकादि अपने ग्रंथों में क्यों न लिखगये, कि जिस के द्वारा उक्त कर्त्ता वा कारयिता जी अब भी वाजी बन जाया करते,॥

(६८६) (प्रश्न) "शुक्र शुक्रेण शुक्र से शुक्र बढता है"-- कहिये इस वचन को कहां

किस काम में लाया जाय ! और उस काम में शुक्र कहां से और कैसे लाया जाय !
(६८७) (उत्तर) वह शुक्र औषधियों में उपजा अन्न [१५४] है, यही शुक्रत्व को [७३०] पहुंचता है। अन्न से ही वीर्य [७३१] विशेष होता है, और शुचि [७१४] होता है। क्योंकि अन्न शुक्र ही तो है, अन्य धातु नहीं। उत्तम शुक्र उत्पन्न करने वाला वह अन्न होता है, जो कि अपने उत्पादक शुद्ध पार्थिवी-आशय में यथोचित क्रिया से पहुंचा सुरक्षित हुआ पैदा हो जावै। यह अन्न अपने गुणों से यथेष्ट बना रहा अनेक वर्षों तक का भी उपज आता है। ऐसा बीज अन्य किसी का नहीं कि जो इसके तुल्य बल दायक और वर्षों तक अपने उपजने की शक्ति को न छोड़ने वाला हो। और जाङ्गम शुक्र तो तत्क्षण ही विकृत और पूति क्षयु हो जायगा।
(६८८) जो पुरुष अन्नाहार तथा गोरसाहार अधिक करते हैं वे ही शुक्र के सार वाली [८०] संतान उत्पन्न करते हैं कि जो सर्वोत्तम होती है॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्तौ वाजी करण मांसयोः प्राकृत विरोध निदर्शनात्मको द्वात्रिंशत्तमो विवेकः॥

उद्भिजों में धातुओं का वर्णन

(६८९) रस से आदि ले शुक्र पर्यन्त सब धातु कुछ जङ्गमों के ही नहीं होते, उद्भिजों में भी होते हैं,। परन्तु उद्भिजों के मर्म नहीं होते जैसे कि जङ्गमों के हैं, तद्यथा-

मांस मर्माणि। सिरा मर्माणि। स्नायु मर्माणि। अस्थिमर्माणि। सन्धिमर्माणि चेति।

सुश्रुत शारीर स्थान

क्योंकि शास्त्र में स्थावर भी सजीव माने हैं। देखो मनु अ० १२--

(६९०) **शरीरजैः कर्मदोषै र्याति स्थावरतां नरः॥**

अर्थ--शरीर से किये कर्मों के दोष से मनुष्य स्थावर होता है।

तथा मनु अध्याय १ में भी लिखा है कि—

(६६१) तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख समन्विताः॥

अर्थ—ये स्थावर अधिक तमोगुण मय, स्वकर्मानुसार सुख दुःख से युक्त, और भीतर छिपे हुए ज्ञान वाले अर्थात् इन्द्रियों सहित होते हैं।

(६६२) यथा वृक्षो वनस्पति स्तथैव पुरुषोऽमृषा॥

शतपथ ब्राह्मण

अर्थ—जैसा वृक्ष वनस्पति आदि वैसा ही ठीक चेतन शक्ति वाला मनुष्य है।

तथा राज निघंटु आनूपादि प्रथम वर्ग में कहा है-

(६६३) क्षुत्पिपासा च निद्रा च वृक्षादिष्वपि लक्ष्यते।
मृज्जलादानत स्त्वाद्ये पर्ण संकोचतोन्तिमा॥

अर्थ—मिट्टी और जल के ग्रहण से खान और पान, तथा पत्तों के सिकुड़ने से निद्रा, वृक्षादिकों में भी लखी जाती है। इससे उद्भिद् भी सजीव और सधातु हैं॥

॥ उदाहरण ॥

(६६४) तरुस्थ विद्धामलक रसः सर्वाक्षि रोग नुत।

चक्रदत्ते नेत्ररोगाधिकारे।

अर्थ—वृक्षपर बैठ कर बींधे हुए आँवले का रस लगाने से समस्त नेत्र रोग दूर होते हैं। इस प्रयोग में स्थावर रस कहा गया॥

(६६५) कृष्ण मृन्मधुकं शंखं रुधिरं तण्डुलीयकम्।
पीत मेकत्र सक्षौद्रं रक्त संग्रहण म्परम्॥

चरक चि० अ० १०

अर्थ—काली मिट्टी, मुलहटी, शंख, और चौलाई का रुधिर अर्थात् स्वरस मधु सहित एकत्र कर पीया हुआ अति ही रक्त संग्रहण करने हारा है। यहां वृक्ष में

स्थावर रक्त कहा गया ॥

(६९६) सितोपला माक्षिक पिप्पलीभिः
कुल्माष लाजा यव सक्तु भृज्ञान् ।
खर्जूर मांसान्यथ नारिकेल
द्राक्षा मथो वा बदराणि लिह्यात् ॥
स्त्रोतोज लाजो त्पल कोल मज्जा
चूर्णानि लिह्या न्मधुना भयां च ॥
कोलास्थि मज्जाञ्जन मक्षिका विड्
लाजा सिता मागधिका न्कणान्वा ॥
द्राक्षा रसं वापि पिबेत्सुशीतं
मृद्भृष्ट लोष्ट प्रभवं जलं वा ॥

चरक चि० अ० २२

देखो इन ऊपर लिखे प्रयोगों में पिण्ड खजूरों का मांस, बेर की अस्थि [हड्डी] की मज्जा, दाख का रस, ये स्थावरों के ही धातु कहे गये हैं ।

अन्यच्च

(६९७) पुराण मांसं सांक्लिष्टं क्रिमि व्याड हिमातपैः ।
अदेशाकालजं क्लिन्नं यत्स्यात्फलमसाधु तत् ॥

चरक सू० अ० २७

अर्थ – जिसका मांस [गूदा] पुराना हो गया हो जो कृमि सर्प, हिम, और धूप, इनसे बिगाड़ा गया हो, जो कुत्सित देश और कुसमय का पैदा हुआ हो, वा सड़ गया हो, वह फल अच्छा [खाने योग्य] नहीं ।

तथा सुश्रुत शा० अ० ३ में लिखा है कि–

(६९८) चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः । पृथग्दृश्यन्ते-

अर्थ—आम के फल के पक जाने पर केशर, [बाल] मांस, अस्थि, और मज्जा, ये भिन्न २ दीखने लगते हैं।

(६९९) भल्लातकास्थि त्वग्निसमं त्वङ्मांसं स्वादु शीतलम्।

सुश्रुत सू० अ० २७

अर्थ—भिलावे की अस्थि [हड्डी] अर्थात् टोपी अग्नि के तुल्य उष्ण है, और त्वक् [त्वचा] मांस ये स्वादु, और शीतल हैं।

(७००) माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम्।

चरक चि० अ० २

अर्थ—नवीन उड़दके और कौंच के बीजों का एक आढक।

(७०१) चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजम्

अर्थात् सैंहजने के बीज नेत्रों के लिये हित हैं। इन दो प्रयोगों में स्थावरों का शुक्र कहा है (७०२) इस प्रकार स्थावरों की सातों धातु, अनेक प्रयोगों में अनेक स्थलों में और अनेक ग्रन्थों में लिखी हैं। और सबको प्रत्यक्ष देखने में भी आ रही हैं। तथा उपधातु जैसे दूध जांगमों में होता है वैसे स्थावरों में भी है। और अन्न को कौन बीज [शुक्र] न मानेगा, क्योंकि उसका नाम तो बोनेके समय खरीदने, बेचने, लेने देने आदि में सबही लोग "बीज" कहते कहाते हैं। और प्रत्यक्ष में इस के बोने में पृथ्वी गर्भवती मानी ही जाती है। जैसे जांगमों के गर्भाशय में शुक्र शोणित संयुक्त हुए गर्भ अंकुरित होते हैं, इसी प्रकार शुक्र के पर्यायी बीज नामधारी गोधूमादि अन्न भी अंकुरित होते हैं, और फूलते फलते हैं।

(७०३) इन में जो अधिक वृष्यगुण युक्त हैं, जैसे कि षाष्टिक [साठी] गेहूं उड़द तिल आदि अन्न उनको शुद्ध संस्कारों से और दूध, घी, बूरा आदि अनेक वृष्य पदार्थोंके साथ अनेक विधिसे सिद्धकर सेवन करना अत्यन्त वाजीकरण होता है देखो-

(७०४) माषात्मगुप्ता गोधूम शालि षष्टिक पैष्टिकम्।

शर्करायां विदार्यां श्च चूर्ण मिक्षु रसस्य च ॥
संयोज्य सघृते क्षीरे घृते पूपालिकाः पचेत् ।
पयोनुपानाः ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषता म्परम् ॥

चरक चि० अ० २

अर्थ– उड़द, कयेंछ के बीज, गेंहूं, शालि [वासमती] चावल, साठी चावल इन सब को और विदारी कन्दके चूर्ण को ईख के रस की खांड में घी सहित दूध में संयोजन कर अर्थात् मांड कर घी में टिकिया सेककर खावे और ऊपर से दूध पीवे तो वे शीघ्र ही अत्यन्त वृषत्व करती हैं ॥

इत्यादि अनेक वाजीकरण प्रयोगों में रासायनिक शुक्ल भेषज तथा उक्त वृष्यान्न ग्रहण किये हैं परन्तु रस में विष जङ्गम मांसादि मिलाकर इस वाजीकरण तन्त्र का सर्वथा नाश कर दिया इसी से साधारण जनों से नाम तक छिपगया ॥

प्रक्षिप्त सामिष प्रयोग द्योतनम्

(७०५) पिप्पली लवणोपेते वस्ताण्डे घृत साधिते ।
शिशुमारस्य वा खादेत् ते तु वाजीकरे भृशम् ॥

सुश्रुत चि० अ० २६ ।

अर्थ– (पिप्पली लवणोपेते) छोटी पीपल और सेंधा लवण पड़े (घृतसाधिते) घी में सिद्ध किये हुए (वस्ताण्डे) बकरे के दोनों अण्ड कोशों को (खादेत्) खावै । (वा) अथवा (शिशुमारस्य) सूंस नामक जल जन्तु के खावे (ते) वे (भृशम्) अत्यन्त (वाजीकरे) शुक्र के करने वाले हैं अर्थात् शुक्र जनक हैं ॥

(७०६) सं० इस श्लोक में एक खादेत् ही क्रिया है और वस्ताण्डे एक यही कर्म है, इस में शिशुमार का कोई अवयव नहीं कहा जिसे खावै, और अण्ड शब्द का वस्त शब्द के साथ समास प्रत्यक्ष ही है, वह उससे पृथक् नहीं होसक्ता *

---

* सविशेषणानां वृत्ति र्न, वृत्तस्य च विशेषणयोगो न । इति महाभाष्यम् ॥
"कृत्तद्धित समासै कशेष सन्नाद्यन्तधातु रूपाः पञ्च वृत्तयः"

और जो शिशुमार का सम्बन्ध वस्ताण्ड ही से मानें तो शिशुमार का वस्ताण्ड नामक कोई अवयव नहीं, और न शिशुमार के अण्ड कोश होते हैं, क्योंकि शिशुमार नामक जल जन्तु अण्डज है, दुर्जन तोष न्याय से शिशुमार के भी अण्डकोष [मुष्क] मान लिये जायँ तबभी। मांस पेशी होने से मांस तुल्य ही समझे जायंगे। देखो सुश्रुत शा० अ० ५–

(७०७) "द्वे वृषणयोः" अर्थ– दो पेशी [अजलात] फोतों में होते हैं॥

(७०८) सं० कोई २ शास्त्र मर्मानभिज्ञ अण्ड कोशों को शुक्राधार बता कर मुष्काहार करने को वाजीकर कहते हैं, यह उनका कहना सर्वथा अनुचित है देखो सुश्रुत शा० अ० ४–

(७०९) यथा पयसि सर्पिस्तु गूढ़ श्चेक्षौ रसो यथा ।
एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥

(७१०) द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे वास्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्र स्त्रोतः पथे शुक्रं पुरुषस्य प्रवर्त्तते ॥

अर्थ– जैसे दूध में घृत छिपा रहता है, और जैसे ईख के गन्ने में रस व्याप्त रहता है उसी प्रकार देह धारियों के समस्त शरीर में शुक्र व्याप्त रहता है॥ वह वास्ति [मूत्राशय के द्वार के दो अङ्गुल नीचे दक्षिण और वाम नाडियों से मूत्र के बहने वाले स्त्रोतों के मार्ग में होकर पुरुष का वीर्य निकलता है॥

(७११) महिषर्षभ वस्तानां पिबे च्छुक्राणि वा नरः।

अर्थ–अथवा महिष [भैंसा] ऋषभ [बैल] और वस्त [बकरा] इन के शुक्र को पीवै॥ (७१२) सं० हम पूछते हैं ? कि यदि मनुष्य अपना धर्म कर्म और मनुष्यत्व को नष्ट करके इस प्रयोग को करना भी बदै, तो, उक्त पशुओं का शुक्र कैसे कब और कौन से अवयव से मिल सकैगा, ?॥

तथा अन्य भी एक अद्भुत प्रयोग देखिये

(७१३) नक्र मूषिक मण्डूक चटकाण्ड कृतंघृतम् ।

पादा भ्यङ्गेन कुरुते बलं भूमिं च न स्पृशेत् ॥

अर्थ—नांका, मूसा, [चूहा] मेंढ़क, गृह चिड़ा, इनके अण्ड से सिद्ध किया घृत पाद तल में मलने से पृथिवी पर जब तक चरण न छुवावै तब तक काम का बल करता है ॥ (७१४) सं० यहां सब के अन्त में अण्ड शब्द आया है, और अण्ड शब्द मुष्क का और प्राणाधान [अण्डे] का बोधक है, यदि इसकी योजना सब के साथ की जाय और उक्त शब्द अण्डे के अर्थ में लिया जाय तब तो मूषक के अण्डे नहीं होते, और जो अण्ड शब्द मुष्क के अर्थ में माना जाय तो नक्र और चटक इन के मुष्क नहीं होते, और मण्डूक के तो दोनों ही नहीं होते, यदि अण्ड शब्द की योजना चटक के साथ की जाय तो नक्र मूषिक और मण्डक इन का कौन सा अङ्ग लिया जाय। और न इस बात के निश्चय के लिये कोई कहीं परिभाषा है कि मण्डूक का कोई अंग न कहा हो तो अमुक अङ्ग लेवै, (७१५) सं० और "अङ्गे नोक्ते जटा भवेत्" यदि अङ्ग अनुक्त [न कहा] हो तो जङ्घा लेवै, इस से काम निकलैगा नहीं फिर उक्त प्रयोग कैसे बनेगा ?

(७१६) सं० यदि दुर्जन तोषक न्याय से इन के सर्वाङ्ग का ही ग्रहण मान लें तो, शुक्र इनके किस अवयव के कौन से गुण से शरीर में स्थिर हो अपने प्राकृत च्यवन धर्म को योनि के सम्पर्क होने पर छोड़ देगा ? कि जब तक पृथिवी से स्पर्श न हो, । यह सब अधर्मी हिंसक निर्दयी मांसाहारियों की अद्भुत लीला है, (७१७) वे उक्त जीवों के मांसाहार करने कराने में उत्कण्ठा दिलाते हैं कि, जिनके अवयव से बने घृत के स्पर्श मात्र से ही वीर्य स्तम्भ हो जाता है तो, उन के मांसादि के भक्षण करने से वीर्य स्तम्भ होने में तो कोई सन्देह ही नहीं, वास्तव में मिथ्या है ।

अन्य भी एक दुश्चरित्र वामतन्त्री का सुनिये,

(७१८) निज शुक्रं गृहीत्वा तु वाम हस्तेन यः पुमान् ।
कामिनी चरणं वामं लिप्येत स्यात् स्त्रियप्रियः ॥
गरुड़ पु० अ० ४१ ।

अर्थ—वाम हस्त से अपने वीर्य को लेकर स्त्री के वायें चरण में जो पुरुष लेप करै हो स्त्री का प्रिय हो जावै, ॥ (७१९) सं० इत्यादि असम्भव बातें वामीजी की बहुधा अनेकत्र लिखी हैं कि जो परीक्षा में सर्वथा मिथ्या ही ठहरती हैं । (७२०) हां ?

ऐसे ही प्रयोगोंने हस्त मैथुन प्रवृत्त कर संसार का नाश कर दिया। अब इन से पूछें कि लिंग हर्ष तो शुक्र के पात होते ही नष्ट हो जायगा फिर स्त्री से प्रेम क्या किसी कृत्रिम यन्त्र से होगा, अस्तु ?॥

शुक्रल पदार्थ

(७२१) यत्किञ्चि न्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु।
हर्षणं मनस श्चैव सर्वं तद् वृष्य मुच्यते॥
चरक चि० अ० २।

अर्थ-जो कुछ मधुर, चिकने, जीवित रखने वाले, शरीर को बढ़ाने वाले, भारी, और मन में हर्ष पैदा करने वाले सात्विक आहार विहार हैं, वे सब वृष्य ही कहाते हैं॥

अवृष्य पदार्थ

(७२२) कटुकाम्लोष्ण लवणै रति मात्रोपसेवितैः।
सौम्यधातुक्षयो दृष्टः क्लैब्यं तदपरं स्मृतम्॥

अर्थ-चरपरा, कड़वा, उष्ण, लोंन का, इन के अति सेवन से सौम्य धातुओं का क्षय देखा गया है, जितने प्रकार के क्लैब्य [नपुंसकत्व] हैं उन में सौम्य धातु [शुक्र तथा ओज सदृश श्लीयाश रूप धातु] ओं का नाश होना एक प्रकार का नपुंसकत्व है॥ भैषज्य रत्नावली में भी लिखा है कि-

(७२३) अत्यन्त मुष्ण कटु तिक्त कषाय मम्लम्।
क्षारञ्च शाक मथवा लवणाधिकं च॥
कामी सदैव रतिमान् वनिताभिलाषी।
नो भक्षये दिति समस्त जन प्रसिद्धिः॥

अर्थ-यह बात सब को विदित रहै कि स्त्री के रमण की इच्छा करने वाला रतिमान् कामी पुरुष, सदैव अत्यन्त उष्ण, चरपरा, कड़वा, खट्टा, खारा, शाक, (पत्रशाक) और लवण इन का अधिक खान पान न करै, (७२४) मांसाहारी लोगों को जहां

तक देखा वा सुना गया तो प्राय: सभी मांसपाक में उक्त नमक मिर्च लहसन खटाई आदि अवृष्य ही डाल कर खाते हैं, (७२५) कुछ तो मांसाहार स्वभाव से ही अवृष्य सिद्ध है, अवृष्यों के योग से और भी अधिक अवृष्यत्व का मानी हो गया।, (७२६) सं० (प्रश्न) क्या जाङ्गममांस वास्तव में अवृष्य है (उत्तर) वास्तव में अवृष्य है,। देखौ--निम्न लिखित किसी सत्कवि का कथन,--

(७२७) सिंहो बली द्विरद शूकरमांस भोजी।
संवत्सरेण कुरुते रति मैकवारम्।
पारावतः खर कणादन शीलिनेऽपि।
कामी भव त्यनुदिनं वद कोऽत्रहेतुः॥

अर्थ-- सिंह प्रकृति से महा बली और हस्ती वा शूकर से बलवानों के मांस को खाने वाला है, इस पर भी वर्षभर में एक बार ही मैथुन करता है, और कबूतर अन्न के रूखे सूखे कणों को खाने पर भी प्रति दिन कामी बना रहता है कि जिसकी सोवर ही नहीं निबटती, बताओ इन में कौन कारण है॥

अन्य दपि

(७२८) वाजी वराह वृष वानर वन्य वारणाः।
मांसे मनागपि मनो न मखन्ति जात्वमी॥
नित्यं नरा नपि नरीष्व तनून तर्षकान्।
उत्तेजयान्ति नितरां भग भोग चेष्टया॥

अर्थ-- (वाजी) घोड़ा (वराह वृष वानर वन्य वारणाः) सूअर, बैल, बन्दर, और वन का हाथी, (अमी) ये (मांसे) मांसकी ओर (मनागपि) तनक भी अपने (मनः) मन को (न) नहीं (मखान्ति) चलाते हैं, (च) और (अननून तर्षकान्) न्यून होगया है कामाभिलाष जिनका ऐसे (नरान्) पुरुषों को (नरीषु) स्त्रियों में (भगभोग चेष्टया) स्मर मन्दिर के भोगने की चेष्टा [हरकत करने] से (नितराम्) अतिशय (उत्तेजयान्ति) कामातुर करते हैं। (७२९) सं० इस उपरोक्त दृष्टान्त से यह

निगमन निकला कि जङ्गम मांस वाजीकरण गर्भोपयोगि प्रकृति से ही नहीं है, तब यह निर्द्धारित हुआ कि " शुक्रं शुक्रेण " मनुष्य का शुक्र [वीर्य] शुक्र [क्षेत्रोत्पन्न बीज] से बढ़ता है, मांस से कदापि नहीं। उपनिषदों में कहा है कि-

(७३०) आहुत्या प्यायते सूर्यः सूर्याद् वृष्टि रथौषधिः।
तदन्नं रस रूपेण शुक्रत्व मधि गच्छति ॥

याज्ञवल्क्य

अर्थ- अग्नि में आहुति देने से सूर्य आरोपित होता है, और सूर्य से वर्षा, वर्षा से औषधी, उन से अन्न, वह अन्न रस रूप हो शुक्र भाव को पहुंच जाता है,
श० ब्रा० कां० २। २। १। १२। में कहा है कि-

(७३१) वीर्यं वै शुचि यदा वा ऽ न्नेन वर्द्धते ऽ थ वीर्यं तदन्ने-
नै वैन मेत द्वर्द्धयित्वा था स्मिन्ने तद्वीर्य ७ शुचि
दधाति तस्मा दग्नये शुचये ॥

पदच्छेद- वीर्यं। वै। शुचि। यत्। आ। वा। अन्नेन। वर्द्धते। अथ। वीर्यम्। तत्। अन्नेन। एव। एनम्। एतत्। वर्द्धयित्वा। अथ। अस्मिन्। एतद्। वीर्यम्। शुचि। दधाति। तस्मात्। अग्नये। शुचये॥

अर्थ- (यत्) जो (वीर्यम्) शुक्र (वै) निः संशय (अन्नेन) अन्नाहार से (आ) समन्तात् (वर्द्धते) बढता है (तत्) वह (वा) ही (शुचि) निर्मल पवित्र अर्थात निर्दोष होता है, (तस्मात्) इस कारण (अथ) प्रारम्भ से (एनम्) इस उक्त (वीर्यम्) शुक्र को (अन्नेन) अन्न से (एव) ही (अस्मिन्) इस शरीर में (वर्द्धयित्वा) बढाकर (अथ) पीछे (एतद्) इस (वीर्यम्) शुक्र को (शुचये) शुद्ध (अग्नये) जठराग्नि बने रहने के लिये (एतद्) यह मनुष्य (शुचि) पवित्र (दधाति) धारण रक्खे इसी से सुश्रुत सू० अ० १४ में लिखा है कि-

धातु क्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायते ऽ नलः ॥

अर्थ- शुक्र धातु के क्षय से और रुधिर के निकलने पर जठराग्नि मन्द होजाती है,

(७३२) नहि जातबलाः सर्वे नराश्चा पत्यभागिनः।

(७३३) वृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः॥

(७३४) सन्ति चाल्पायुषः स्त्रीषु बलवन्तो वहुप्रजाः।

(७३५) प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामय दुर्बलाः।
नराश्चटक वत्केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम्।

(७३६) गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहु गामिनः॥
काल योग बलाः केचि (७३७) त्केचिदभ्यसन ध्रुवाः।

(७३८) केचित्प्रयत्नै र्वाह्यन्ते (७३९) वृषाः केचि त्स्वभावतः॥

(७४०) तस्मात्प्रयोगा न्वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान्।
सुखोप भोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्द्धनान्॥

अर्थ— यह बात नहीं है कि जिनको बल हुआ है वे सबही सन्तान वाले हों, बहुतसे बड़े शरीर वाले बलवान् भी स्त्री गमन में दुर्बल होते हैं, कोई थोड़ी उम् वाले भी स्त्री रमण में बलवन्त और बहु सन्तानोत्पादक होते हैं, कोई प्रकृति से ही दुर्बल हैं, कितने ही रोगों के कारण हीनबल हैं, कितने ही मनुष्य गृहचिड़ा की भांति बहुत सी स्त्रियों को भोगते हैं, कितने ही बहुगामी नही हैं किन्तु हस्ती के तुल्य वीर्य प्रसेक करते हैं। और कोई काल [आवास्थिक बा आर्तव समय] के मिलने के बलसे, कोई अभ्यास [बान पड़ जाने] से, कोई बाहिर के ही वाजीकरणोक्त उपायों § से, सकामी होते हैं,। और बहुत से स्वभाव से ही वृष्य होते हैं, जैसे कि शुक्रसार (८०) वाले। इस कारण दुर्बलों को बल के देने वाले सुख के उपभोग कराने वाले, तथा बलवानों को अधिक बल बढ़ाने वाले प्रयोगों को कहेंगे॥

§ कामोत्पादका बाह्य प्रयत्ना. सु० चि० अ० २६। ५

(७४१) भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च।
वाचः श्रोत्रानुगामिन्य स्त्वचः स्पर्शसुखा स्तथा॥
यामिनी सेन्दु तिलका कामिनी नव यौवना।
गीतं श्रोत्र मनोहारि ताम्बूलं मदिराः स्रजः॥
मनसश्चा प्रतीघातो वाजीं कुर्वन्ति मानवम्।

अर्थ-- मधुरादि रसों से बने अनेक प्रकार के रुचि कारक भोजन, दुग्धादि पीने के अनेक पदार्थ जैसे दधि घृतादि, कानों को प्यारे लगने वाले मनचाहे अनुकूल वचन, त्वचा को स्पर्श से सुख देने वाले पदार्थ, उजाली रात, नवीन यौवनवती स्त्री, शृङ्गार रस के सूचक कर्णेन्द्रिय और मन के हरने वाले गीत, ताम्बूल, [पान] हर्ष के देने वाली मालाऐं, और मनके अनुकूल कार्य होते रहना, ये उक्त बातें मनुष्य को, वाजी बनाती हैं॥ (७४२) सं० उपर्युक्त "मदिराः स्रजः" इस में मदिराः इस शब्द का अर्थ प्रायः भाष्यकार मद्य करते हैं, यह ठीक नहीं क्योंकि मद्य सर्वथा अहृद्य है, देखो [३६७] को और जो अहृद्य होता है, वह वाजीकर नहीं इस से यह स्रजः का वहुवचनान्त विशेषण है. कोई यहां मदिरा का अर्थ दूर्वा करते हैं, जैसा कि राजनिघंटु एकार्थादि वर्ग में लिखा है कि--

गवादिनी चैव दूर्वा गण्डदूर्वा च हस्तिनी।
प्रतीच्ची मदिरा चेति वारुण्यां षट्सुसम्मता॥

यह मदिरा शब्द दो धातुओं से मिलकर बनता है, एक 'मदी हर्षे' दूसरी "रा दान ग्रहणयोः" इस की इसप्रकार व्युत्पत्ति करनी चाहिये कि- मदं, हर्षं राति, आददाति इति मदिरा--और जो मद्य का वाचक मदिरा शब्द है वह एक मदी धातु से किरच् प्रत्यय करने से हुआ है इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार करनी चाहिये कि" माद्यति उन्मतो भवति यया सा मदिरा" मतवारा होजावे जिस से वह मदिरा। इस के लिये पदार्थ तंत्र युक्ति [१४] निषध करती है॥तथा इससे आगे के श्लोक से हमारा सिद्धान्त सिद्ध किया है कि--

(७४२) तैस्तै र्भावै रहृद्यैस्तु रिरिंसो र्मनसि क्षते।

द्वेष्य स्त्री संप्रयोगाच्च क्लैव्यं तदपरं स्मृतम् ॥

अर्थ-- रमण करने की इच्छा वाले के मन के अहृद्य भावों से मन विगड़ने पर और अप्रीति रखने वाली कर्कश स्त्री के सम्भोग से एक प्रकार की नपुंसकता होती है ॥ तथा चर० सू० अ० ३० में भी लिखा है कि-

(७४३) हृद्यं यत्स्या यदोजस्यं स्रोतसां यत्प्रसादनम् ।
तत्तत्सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञान मेवच ॥

अर्थ-- जो वस्तु हृदय को हितकारी हो और ओज के लिये हितकारी हो और स्रोतों को खोलने वाली हो शान्ति कारक और ज्ञान दायक हो वह यत्न से सेवन करनी चाहिये । मद्य में इनके विरुद्ध गुण है ।

(७४४) शरमूले क्षुमूलानि, काण्डेक्षुं सेक्षु वालिकम् ।
शतावरीं पयस्यां च विदारीं कण्टकारिकां ॥
जीवन्तीं जीविकां मेदां वीर मृषभकं बलाम् ।
ऋद्धिं गोक्षुरकं रास्ना मात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ॥
पृथक् त्रिपलिकान् कृत्वा माषाणा माढकं नवम् ।
विपाचये ज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शोषयेत् ॥
तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षां फल्गुणि पिप्पलिम्
आत्मगुप्तां मधूकानि खर्ज्जूराणि शतावरीम् ॥
विदार्या मलके चूर्णां रसस्य च पृथक् पृथक् ।
सर्पिष आढकं दद्यात् क्षीरद्रोणं च तद्भिषक् ॥
साधयेद् घृतशेषश्च सुपूतं योजयेत्पुनः ।
शर्करायास्तुगाक्षीर्य्या श्चूर्णैः प्रस्थोन्मितै भिषक् ॥
पलै श्चतुर्भि मागध्याः पलेन मरिचस्य च ।

त्वगेला केशराणां च चूर्णै रर्ध पलोन्मितैः ॥
मधुनः कुडवाभ्यां च द्वाभ्यां तत् कारये द्भिषक् ।
पालिकी गुलिकाः कृत्वा ता यथाग्नि प्रयोजयेत् ॥
एष वृष्यपरो योगो वृंहणो बल वर्द्धनः ।
अनेनाश्व इवो दीर्णो लिङ्ग मर्प्पयते स्त्रियाम् ॥

अर्थ – मूंज की जड़, ईख की जड़, कांस की जड़, दाभ की जड़, शतावर, क्षीर-काकोली, विदारी कन्द, [सिराल] बड़ी कटेहरी के पके फल, जीवन्ती [भिण्डी अथवा शुक्रलाई कि जिससे खाण्ड निखारी जाती है, उसकी जड़] जीवक, मेदा, [अष्ट वर्गोक्त] वीर, [वाराह कन्द] ऋषभक, [जीवक का सहचारी] खिरैटी मूल, ऋद्धि, बड़े गोखुरू, रासन, कयेथ के वीज, पुनर्नवा, इन सबको तीन २ पल के प्रमाण ले, नवीन काले माष [उड़द] एक आढ़क प्रमाण लेवे, इन सबको एकत्र कर एक द्रोण जल में मिट्टी के पात्र में औटावै, चौथाई जल बाकी रहे पर उतार छान लेवै फिर लोहे की कढ़ाई में चूल्हे पर चढ़ाय इस में मुलेटी, द्राक्षा, अंजीर, छोटी पीपल कयेथ के वीज, महुआ, पिण्ड खजूर, शतावर, इन सबको पूर्वोक्त तीन २ पल प्रमाण से ले सबको पीसकर उक्त संग्रह में डाले, फिर विदारी कन्द का रस, आमले का रस, ईख का रस, और गाय का घृत ये चारों एक २ आढ़क, और एक द्रोण गौ का दूध डालकर मन्दाग्नि से पकावे जब पकते २ मृदुपाक सिद्ध घृत शेष रहै, तब उसे वस्त्र मे छान ले फिर उस घृत में चीनी [बूरा] वंश लोचन, ये दोनों एक २ प्रस्थ छोटी पीपल चार पल, काली मिरच एक पल, दाल चीनी आधे पल, इलायची छोटी आधे पल, केशर अर्ध पल, सहद दो कुडव डाल के एकत्र मिलाकर एक २ पल की गुटिका बनाकर अग्नि बल के अनुसार खावै। यह योग [नुसखा] अत्यन्त वृष्य, वृंहण, और बल वर्द्धक है, इसके [सेवन] से घोड़े के सा लिंग स्त्री में अर्पित करता है, अर्थात मनुष्य को [यह प्रयोग] वाजी [अश्ववत् मैथुन कर्मोत्साही] बना देता है,

इति प्राणैषणा निरूपणे वाजीकरण विषय वर्णने प्रक्षिप्ता प्राक्षिप्त प्रयोग निदर्शनात्मक त्रयस्त्रिंशत्तमो विवेकः ॥ ३३ ॥

शारीरिक धातु ह्रास वृद्धि वर्णन

(७४५) शरीर विचयः शरीरोपकारार्थ मिष्यते भिषग्विद्यायाम् । ज्ञात्वाहि शरीरतत्वं शरीरोपकारकेषु भावेषु ज्ञान मुत्पद्यते तस्मा त्शरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥

अर्थ-आयुर्वेद विद्या में शरीर के उपकार के लिये शरीर का विचय [विवेक वा अन्वेषण] करना चाहिये, क्योंकि शरीर के तत्व [यथार्थ को वा पदार्थ को वा स्वभाव] को जान कर शरीर के उपकारी भावों में ज्ञान पैदा होता है, अर्थात् जिन बातों से शरीर को नफ़ा पहुंचे उन २ की शनाख़्त हो जाती है, इससे शरीर विचय की चतुर लोग प्रशंसा करते हैं। (प्रश्न) शरीर किस को कहते हैं। (उत्तर)-

(७४६) तत्र शरीरन्नाम चेतना धिष्ठान भूतम् पञ्चभूत विकार समुदायात्मकम् ॥

अर्थ-उस आयुर्वेद शास्त्र में चेतन का आहार हुआ, पृथिव्यादि पांच भूतों से बने पदार्थों का समुदाय वाला शरीर, इस नाम से प्रसिद्ध है ॥

(७४७) समयोगवाहिनो यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्य मापद्यन्ते तदायं क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति वैषम्य गमनं वा ॥

धातु विषय ज्ञान

(७४८) पुन र्धातूनां वृद्धि ह्रास गमन मकात्स्न्येंन ॥

(७४९) प्रकृत्या च यौगपद्येन तु विरोधिनां धातूनां वृद्धि ह्रासौ भवतः । (७५०) यद्धि यस्य धातो वृद्धिकरं

तत्तो विपरीत गुणस्य धातोः प्रत्यवाय करं सम्पद्यते।

(७५१) तदेव तस्मात् भेषजं सम्य गवचार्यमाणं युगप
न्न्यूनातिरिक्तानां धातूनां साम्यकरं भवति

(७५२) अधिक मपकर्षति न्यून माप्याययति।

(७५३) एतावदेव हि भेषज्य प्रयोगे फल मिष्टं स्वस्थ-
वृत्ता नुष्ठानञ्च याव द्धातूनां साम्यं स्यात्॥

अर्थ– जब इस शरीर में सम योग से बढ़ने अर्थात् और समान योग से प्राप्त होने वाले धातु विषम गुण के योग से विषमता को प्राप्त होजाते हैं, तब यह मनुष्य क्लेश को वा नाश को प्राप्त होता है, और धातुओं के असमग्रता से बढने घटने की प्राप्ति को विषमं गमन अर्थात् कमोबेश होजाना कहते हैं, एक साथ सब धातुओं के बढ़ने वा घटने को विषम होना नहीं कहते, विषम होना उसे कहते हैं, कि जो एक वा दो का ही बढ़ना वा घटना हो। और एक साथ तो विरोधि धातुओं का बढ़ना और घटना स्वभावसे है, जैसे तरुणावस्था में वा बाल्यावस्था में सब धातुओं का बढ़ना और वृद्धावस्था में घटना। जो जिस धातु की वृद्धि करता है, वह उस से विपरीत गुण वाले धातु का (प्रत्यवाय) ह्रास करता है, इस से भले प्रकार निश्चय किया भेषज एक साथ घटी बढी धातुओं को समान करता है, अधिक को घटाता है, न्यून को बढ़ाता है, इतना ही औषध प्रयोग में अभीष्ट फल होना चाहिये कि स्वास्थ्य स्थिर रहै, और सब धातुओं की समता होवै।

(७५४) स्वस्थस्य ह्यापि धातूनां साम्यानुग्रहार्थं मेव कुशला
रसगुणा नाहारविकारांश्च पर्यायेणे च्छन्त्युपयोक्तुं॥

(७५५) सात्म्य समाख्याता नेके प्रकार भूयिष्ठांश्चोप
युञ्जानां स्तद विपरीत करण समाख्यातया

चेष्टया सम मिच्छान्ति कर्तुम् ॥

अर्थ– स्वस्थ मनुष्य के धातुओं की भी समानता रही आने के लिये भी चतुर वैद्य मधुरादि रसों को गुर्वादि गुणों को और आहार के लिये बने पदार्थों को "पर्यायेण" अदल बदल करके देने की इच्छा करते हैं। और अनेक प्रकार से बहुत से बर्ताव में आये सात्म्य नाम से प्रसिद्ध हुए अर्थात् अभ्यस्त सात्म्य पदार्थों को उन के विपरीत करने की चेष्टा [हरकत] से धातुओं को समान करने की इच्छा करते हैं,

(७५६) देश कालात्मगुण विपरीतानां हि कर्मणां आहार विकाराणा ञ्च क्रमेणोपयोगः सम्यक् सर्वाभि योगः। (७५७) अनुदीर्णानां संधारण मसन्धारणानाञ्च गातिमतां साहसा-नाञ्च वर्जनं स्वस्थ वृत्त मेता वद्धातूनां साम्यार्थ मुपदिश्यते।

अर्थ– "देश" [आनूपादि] "काल" [आदानिक वा शीत] आत्म [लघु दीर्घ स्थूल कृषादि शरीर] इन के गुणों के विपरीत ही (कर्मणाम्) कर्मों का (च) और (आहार विहाराणाम्) आहार की वस्तुओं का (क्रमेण) क्रम से (सम्यक्) अच्छी तरह (उपयोगः) उपयोग [इस्तेमाल] करना (सर्वाभि योगः) सब का उपाय (गतिमताम्) शरीर से निकलने वालो (अनुदीर्णानाम्) न्यून हुई वस्तुओं का (संधारणम्) रोकना (उदीर्णानाम्) अधिक हुई का (असंधारणम्) न रोकना और (साहसानाम्) फौजदारी आदि का (वर्जनम्) छोड़ना इनका धातुओं के समान करने के लिये स्वस्थ वृत्त उपदेश किया जाता है॥

(७५८) धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समान गुण भूयिष्ठै र्वाप्याहारविहारै रभ्यस्यमानै र्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति (७५९) ह्रासन्तु विपरीत गुण भूयिष्ठै र्वाप्याहारै रभ्यस्यमानैः॥

अर्थ- शरीर की धातु समान गुणों से वा समान गुण अधिक हों जिन में ऐसे आहार विहारों के अभ्यास से बढ़ती हैं, और विपरीत गुणों से तथा विपरीत गुण अधिक हों जिन में ऐसे आहार विहारों के अभ्यास से उक्त धातु घटती हैं ॥

(७६०) तत्रेमे शरीरधातुगुणाः संख्या सामर्थ्यं करा स्तद्यथा-
(७६१) गुरु लघु शीतोष्ण स्निग्ध रूक्ष मन्द स्तीक्ष्ण स्थिर सर मृदु कठिन विशद पिच्छल श्लक्ष्ण खर सूक्ष्म स्थूल सान्द्र द्रवाः ॥

अर्थ- उस शरीर में ये वक्ष्यमाण धातुओं के गुर्वादि गुण संख्या से शक्तिप्रद होते हैं अर्थात् जिस आहार विहार में जिस धातु के समान गुण संख्या में अधिक होंगे और विपरीत के न्यून, उस आहार विहार से धातु बढैगा, और जिस आहार विहार में जिस धातु के विपरीत गुण संख्या में अधिक होंगे, और समान न्यून होंगे तो, वह धातु उस आहार विहार से घटेगा। वे धातुओं के गुण ये हैं जैसे, गुरु लघु शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष मन्द तीक्ष्ण स्थिर सर मृदु कठिन विशद पिच्छल श्लक्ष्ण खर सूक्ष्म स्थूल सान्द्र द्रव। इन के अर्थ [१२०] पर देखो।

(७६२) तेषु ये गुरवो धातव स्ते गुरुभि राहारगुणै रभ्यस्यमानै राप्यायन्ते लघवश्च ह्रसन्ति।

(७६३) लघवस्तु लघुभि राप्यायन्ते गुरवश्च ह्रसन्ति।
(७६४) एव मेव सर्व धातुगुणानां सामान्य योगाद् वृद्धि र्विपर्ययाद् ह्रासः ॥

अर्थ- उन धातुओं में जो गुरु धातु हैं, वे आहार के गुरु गुणों के अभ्यास से बढ़ते हैं, और लघु घटते हैं, ऐसे ही सब धातुओं के गुणों का समान योग होने से धातु वृद्धि, और विपरीत योग से घटत होती है ॥

(७६५) तस्मा न्मांस माप्यायते मांसेन भूयो ऽन्येभ्यः शरीर धातुभ्यः

(७६६) तथा लोहितं लोहितेन मेदो मेदसा वसा वसया अस्थि तरुणास्न्था मज्जा मज्जया शुक्रं शुक्रेण गर्भ स्त्वामगर्भेण ॥

अर्थ—इस कारण मांस मांस से, और अन्य शरीर की धातुओं से अन्य धातु, तथा रक्त से रक्त, मेद से मेद, वसा से वसा, तरुणास्थि [नरम हड्डी] से अस्थि, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र, और आम गर्भ से गर्भ बढ़ता है ॥

७६७) सं० यहां चिकित्स्य वस्तु रुधिरादि पुरुष के ही शरीर की ग्रहण की जाती हैं, क्योंकि पुरुष ही चिकित्साधिकृत है ॥

(७६८) और भेषजाधिकार में रस रुधिरादि से स्थावरों की धातु ली जाती हैं, क्योंकि भेषजाधिकार स्थावर जङ्गम और पार्थिव इन तीनों प्रकार के द्रव्यों में बटा हुआ है, देखो च० सू० अ० १—

(७६९) तत्पुन स्त्रिविधं ज्ञेयं जाङ्गमौद्भिद् पार्थिवम् ॥

अर्थ—वह भेषज द्रव्य तीन प्रकार का है, १ जीवों का २ उद्भिजों का और ३ पृथिवी का,

(७७०) इस कारण इन में से युक्तिग्राह्य लिया जायगा अन्य नहीं, उदाहरण-जैसे (शुक्रम्) मनुष्य वीर्य (शुक्रेण) अन्न से बढ़ता है, यह युक्तार्थ है, और स्थावर शुक्र [अन्न] (शुक्रेण) जाङ्गम वीर्य से बढ़ता है यह अयुक्तार्थ है। (प्रश्न) (गर्भस्त्वाम गर्भेण) यदि गर्भवती का गर्भ किसी कारण से बढ़ना बन्द हो गया हो तो कच्चे गर्भ के खाने से बढने लगता है ॥ इस प्रयोग में आम गर्भ से क्या लोगे ? ॥ (उत्तर) यहां गर्भ शब्द से दूध पड़ते अन्न के दानों का ग्रहण है, न कि किसी जीव के कच्चे गर्भ का, क्योंकि गर्भ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि-

"गिरति गृणा त्युंपदिशति स्वकोश रूपं स्वीयाशयं वर्द्धनादिना यः स गर्भः" जो सूचित करे अपने आशय को बढ़ने आदि से वह गर्भ कहिये, वह गर्भ स्थावरों का भी माना है, उदाहरण --

(७७१) "गर्भिताः शालयः" अर्थात् कोश [कोथ] में शाली गर्भे इनहीं भक्ष्य और ग्राह्य अन्नों के आम [थोड़े पके] गर्भ [कोषस्थ] अन्न के प्रयोगाहार से गर्भ को बढ़ावै ॥

(७७२) यत्र त्वेवं लक्षणेन सामान्येन सामान्य--

वता माहारविकाराणा मसान्निध्यं स्यात्
सन्निहितानां वा प्युक्तया भोगयोगो
घृणित्वा दन्यस्माद् वा कारणा त्स च
धातु रभिवर्द्धयितव्यः स्यात्। तत्र समान-

(७७३) गुण भूयिष्ठाना मन्य प्रकृतीना मप्याहार-
विकाराणा मुपयोगः स्यात्। तद्यथा - शुक्र
क्षये क्षीरसर्पिषो रुपयोगो मधुर स्निग्ध
समाख्याताना श्चापरेषा मेव द्रव्याणाम् ॥

अर्थ--जहां इस प्रकार शरीर की धातु से समान लक्षण वाले आहार के बने पदार्थों की अप्राप्ति हो वा प्राप्ति हो तो (अयुक्तत्वात्) अयोग्य होने से, वा घिनौना होने से वा अन्य किसी कारण से प्रयोग न कर सके और वह धातु बढ़ाना उचित हो तो उस समय समान गुण अधिक हों जिन में ऐसे अन्य प्रकृति [दूसरे प्रकार] के आहार के विकारों [बने पदार्थों] का उपयोग करे, वह जैसे--शुक्र के क्षय होने में शुक्र के समान विशेष गुण युक्त दूध और घी का और मीठी चिकनी प्रसिद्ध अन्य ऐसी ही द्रव्यों का प्रयोग होना चाहिये ॥

(७७४) कृत्स्न शरीर पुष्टिकरा स्त्विमे भावा तद्यथा-
बलवत् पुरुष देशे जन्म बलवत् पुरुषे च काले
सुखश्च कालयोगो बीज क्षेत्रगुणसम्प चाहार
सम्पच्च स्वभावसंसिद्धि श्च यौवनस्थ क्रीडा श्चेति ॥

अर्थ--सम्पूर्ण शरीर के पुष्ट करने वाले ये भाव [हाल गुण और कर्म] हैं, जैसे बलवान् मनुष्य जहां होते हों, उस देश में, बलवान् पुरुष [माता पिताओं] में, और बलकारी समय में जन्म, और सुख [इच्छा का अनुकूल] काल योग, [गर्भाधान के और जन्म के समय का योग, ऐसा जैसे, स्त्री के रजस्वला होने के समय से सात रात्रि जो कि रज प्रवाह काल के समीप होने के कारण विशेष

कर बालक के शीतला अधिक निकलने के दोष की हैं, इन को, और ग्यारहवीं, और तेरहवीं रात्रि को छोड़ सोलहवीं रात्रि पर्यन्त शेष सब विषम रात्रि कन्या के उत्पन्न होने के लिये और सम रात्रि पुत्र के उत्पन्न होने के लिये गर्भाधानार्थ उत्तम हैं, । तथा पर्व तिथि, अष्टमी तिथि, तथा मघा मूल सदृश नक्षत्र आदि को छोड़ शुक्ल पक्ष का होना, और पूरे दिन भर के जन्म होना, यह काल योग कहिये । बीज के और क्षेत्र के गुणों की सम्पत् [अर्थात् पुरुष का वीर्य और स्त्री का आर्तव अपने गर्भ कारक रस, वर्ण, गंध, आदि शुद्ध प्रकृति के गुणों से युक्त हों, और स्त्री की गर्भ धारिका भूमि का शुद्ध और आरोग्य होना] आहार की सम्पत् [असात्म्यादि दोष रहित यथोचित भोजन] और शरीर की सम्पत् [गर्भाधान करने वाले माता पिताओं का तथा अपना अति स्थूल, अति कृश, अति दीर्घ, अति ह्रस्व, और रोगामल शरीर का न होना] सात्म्य [उपशय] सम्पत् अर्थात् देश के, काल के, शरीर के सर्वथा हित-कारी औषध, अन्न, और विहारों का सेवन । और सत्व [मन] की सम्पत् [योग्यता] [५८ से ६३ तक] और स्वभाव [प्रकृति] की संसिद्धि [अच्छा होना] और यौवन अवस्था, और कर्म हर्ष [अर्थात् गर्भाधान करने वालों का अश्ववत् मैथुन कर्मो त्साह] इत्यादि उक्त भावों को पुष्ट करते हैं ॥

आहार को परिपाक करने वाली बातें

(७७५) आहार परिणामकरा स्त्विमे भावाः तद्यथा-
ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः समयोगश्चेति ।
तत्र तु खल्वेषा मूष्मादीना माहार परिणाम
कराणा म्भावाना मिमे कर्म विशेषाःभवन्ति ।

तद्यथा—

(७७६) ऊष्मा पचति वायु रपकर्षति क्लेदः शैथिल्य-
मापादयति स्नेहो मार्दवं जनयति कालः
पर्य्याप्ति मभिनिर्वर्त्तयति समयोग स्त्वेषां
परिणाम धातु साम्य करः सम्पद्यते ॥

अर्थ—आहार को पचाने वाली ये बातें हैं, वे जैसे ऊष्मा [गरमी] वायु, क्लेद [तरी] स्नेह [चिकनाई] समय, और सम योग, [हीन मिथ्यादि योग रहितत्व] बस। इनमें ऊष्मा आदि भोजन के पचाने वाले भावों के यही विशेष कर्म हैं। वे जैसे ऊष्मा पकाती है, वायु एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाती है, क्लेद ढीला करता है, स्नेह मृदुता करता है, काल समाप्ति करता है, इनका सम योग (परिणामः) अन्तिमावस्था सब धातुओं को साम्य [प्रकृति पर] करने वाला होता है॥

(७७७) परिणामत स्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभाव मापद्यन्ते यथा स्वयमविरुद्धाः विरुद्धाश्च विहन्यु र्विहिताश्च विरोधिभिः शरीरम्।

अर्थ—आहार के परिपाक होने पर आहार के गुण अविरुद्ध हों तो शरीर के गुण भाव बन जाते हैं, और विरुद्ध हों तो, विरोधि गुणों से विहित [विकृत] हुए शरीर को नष्ट कर देते हैं॥

(७७८) शरीर गुणा स्त्वेवं द्विविधाः सङ्ग्रहेण मलभूताः प्रसादभूताश्च (७७९) तत्र ये मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकरा स्युः। (७८०) तथा शरीर छिद्रेषु उपदेहाः पृथक् जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः। प्रकुपिता श्च वात पित्त श्लेष्माणो ये चान्येपि केचित् शरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायो पपद्यन्ते सर्वास्ता न्मलान् संप्रचक्ष्महे।

(७८१) इतरस्तु प्रसादे (७८२) गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन (७८३) रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्य भेदेन।

अर्थ— (सङ्ग्रहेण) विस्तार को छोड़ संक्षेप से कहा जाय तो (शरीर गुणाः) शरीर के गुण (द्विविधाः) दो प्रकार के (एवम्) ही हैं, (मलभूताः) एक मल रूप (च) और

(प्रसाद भूताः) दूसरे प्रसाद रूप हैं, (तत्र) तिन में (ये) जो (मल भूताः) मल रूप हैं, (ते) वे (शरीरस्य) शरीर के (बाधकराः) पीड़ा करने वाले होते हैं, (तथा) उसी प्रकार (शरीर छिद्रेषु) शरीरके मुख नासिकादि छेदों में (उपदेहाः) बढ़े हुए (पृथक्) अलग (जन्मानः) पैदाहुए (बहिर्मुखाः) बाहिर मुख अर्थात् शरीर से बाहिर निकलते हैं. (च) और (परिपक्वाः) पकी हुई अर्थात् पूयादि रूप हुई (धातवः) धातु (च) और (प्रकुपिताः) कुपित हुए अर्थात् अपने प्रमाण से अधिक हुए (वात पित्त श्लेष्माणः) वात पित्त और कफ दोष (अन्ये ऽपि) औरभी (ये) जो (केचित्) कोई से (शरीरे) देहमें (तिष्ठन्तः) ठहरे हुए (भावाः) भाव (शरीरोपघाताय) शरीर के अपकार के लिये (उप पद्यन्ते) उत्पन्न होवें तो (तान् सर्वान्) उन सब को (मलान्) मल (च) और (इतरान्) इन से भिन्न दूसरे (गुर्वादीन्) गुरु से आदि ले (द्रवान्तान्) द्रव पर्य्यन्तों को (गुण भेदेन) गुणों के भेद से (च) और (रसादीन्) रससे आदि ले (शुक्रान्तान्) शुक्र पर्य्यन्तों को (द्रव्य भेदेन) द्रव्यों के भेद से (प्रसादे) प्रसाद संज्ञकों में (संप्रचक्ष्महे) कहते हैं ॥ चरक. शा० अ० ६ ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्यधिकारे शरीर विचय विज्ञानीय श्चतु स्त्रिंशत्तमो विवेकः ॥३४ ॥

आहारिक द्रव्य गुण सूचक विषय

उद्भिद् और जङ्गम दोनों सजीव सब धातु और उप धातुओं वाले [६७३ से ६८३ तक सप्रमाण सिद्ध] है, अब उन दोनों के परस्पर समान भाव और असमान भावों को स्पष्ट दिखाने वाला उनके आहार योग से उन की वृद्धि ह्रास का ज्ञापक चक्र नीचे लिखते हैं ॥

आहारिक द्रव्य गुण सूचक चक्र

जाङ्गम (७८४)					औद्भिद् (७८५)				
मांस	दुग्ध	दधि	घृत	शुक्र	व्रीहि	गोधूम	यव	चणक	माष
पाटल	श्वेत	श्वेत	श्वेत पीत	श्वेत	श्वेत	श्वेत	श्वेत	पीत	श्वेत
लावण	मधुर	कषायानु मधुराम्ल	मधुर	मधुर	मधुर	मधुर	मधुर	कषाय मधुर	मधुर
विस्रगंधि	मधुगंध	अम्लगन्ध	सौगंध	मधुगं०	सुगंध	सुगंध	सुगंध	सुगंध	सुगंध
उष्ण	शीत	उष्ण	शीत	शीत	शीत	शीत	शीत	शीत	उष्ण
श्लक्ष्ण	स्निग्ध	स्निग्ध	स्निग्ध	स्निग्ध	स्निग्ध	स्निग्ध	अतिरूक्ष	रूक्ष	स्निग्ध
कठिन	मृदु	मृदु	मृदु	पिच्छ-	मृदु	मृदु	स्थैर्यकृत् पिच्छिल	सर विशद	सर
आर्द्र अमेध्य	द्रव	सांद्रद्रव	स्निग्धद्रव	सांद्र द्रव	ग्राही चक्षुष्य	रुच्य बल्य	मेध्य	विष्टंभी	संतर्प० रूच्य
लघु	गुरु	गुरु	गुरु	गुरु	लघु	गुरु	गुरु	लघु	गुरु
अवृष्य	वृष्य	वृष्य	वृष्य	पुंस्त्व	वृष्य	वृष्य	वृष्य	पुंस्त्वघ्न	वृष्य
तामस	सात्विक	सात्विक	सात्विक	सात्विक	सात्विक	सात्विक	सात्विक	राजसिक	राजस
बृंहण	बृंहण	बृंहण	बृंहण	बल्य	बृंहण		स्थूल लघन मेदोघ्न	रोचन	बृंहण बल्य
स्तन्य हर	जीवनीय	प्राणकर	आयुकर		रुचिकर	संधान	स्वर वर्णकृ	वर्णकर	स्तन्यकृ
स्तन्य हर					दीपन	जीवन	जठराग्नि कृ०		

अब हम एक अन्य प्रकार से भी जाङ्गम मांस से और दही दुग्ध घी और जाङ्गम शुक्र इन सब को असमानता दिखाते हैं —

(७८६) स्थूल सूक्ष्म मलैः सर्वे भिद्यन्ते धातव स्त्रिधा।
स्वः स्थूलांशः परं सूक्ष्मो विड्मलं यातितन्मलः॥

स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु।
न शुक्रे पच्यमानेपि हेमनीव क्षये मलः॥

भाव प्रकाशः

अर्थ—रसादि सब धातु स्थूल, सूक्ष्म, और मल, इन तीन अंशों [भागों] में बटते हैं, जो धातु अपने स्वरूप से शरीर में दीखता है वह स्थूलांश [स्थिरांश] है, उसका सूक्ष्मांश पर [उत्तर] धातु का कारण, और एक तृतीय भाग उसका मल बन जाता है॥ रसादि छहो धातुओं में निज अग्नियों से पकने पर मल निकलता है, और शुक्र में मल के क्षय होजाने से पकने पर भी मलांश नहीं, जैसे सुवर्ण में अग्नि से बार बार पकाने पर भी मल नहीं निकलता [७८९]॥ तात्पर्य यह है कि, प्रथम आहार आमाशय में जठराग्नि से पक कर रस बना उसके तीन भाग हुए एक स्थूलांश, जो रसनार्थ अपने आशय में सदैव जमा रहता है, दूसरा सूक्ष्मांश उत्तरोत्तर रक्तादि धातु बनने के लिये चला जाता है, तीसरा मलांश विष्ठा और मूत्र बन जाता है। इसी प्रकार रसका सूक्ष्मांश पक्वाशय में पकने पर उसका स्थूलांश रक्ताशय [स्थूल सूक्ष्म रक्तवाहिनी शिराओं] में अपने रक्तकार्य्य करणार्थ रक्त स्थिर रहता है, सूक्ष्मांश मांसादि बनने के कार्यार्थ शेष रहता है, तीसरा अंश मल निजाग्नि से पक कर निकला प्राकृत कफ और पित्त बन व्यान वायु के फेंके हुए अपने २ आशयों में पहुंचते हैं,। फिर उक्त रक्त का सूक्ष्मांश उक्त प्रकार पका उसमें से स्थूलांश शरीर में मांस बन ठहर जाता है जिसको कि मांहारीजी जीव से छीनते हैं, शेष सूक्ष्मांश बनते चले जाते हैं। पिछली धातु शुक्र का कुछ तेज ओज को पहुंचता है शेष सूक्ष्मांश साररूप निर्मल स्थिरांश शुक्र सर्व शरीर में व्याप्त हो ठहर जाता है, (७८७) सं० इसी प्रकार उद्भिजों के भी जलके खात के आहार से रसादि धातुओं के स्थूलांश, सूक्ष्मांश, और मलांश उत्तरोत्तर बनते हैं, उद्भिजों की धातुओं के भी ये ही नाम [६९४ से ७०१ तक] हैं। और उद्भिजों के मल, शुक्र वल्कल पत्र प्रभृतिक प्रत्यक्ष हैं, मूत्र भी जलके सूक्ष्म कणों के रूप में बन कर फुहार सी गिरती है, यह पीपल आदि बड़े वृक्षों के बड़े २ स्रोतों से गिरता हुआ सब को प्रत्यक्ष हो सकता है॥ मलांश उद्भिजों के शुक्र [बीज] में भी नहीं होता॥

उक्त मांस में मांस से अगली धातु के बनने का उपादान कारण रूप सूक्ष्मांश शेष ही

नहीं रहता, स्थूलांश [ठहरने वाला हिस्सा] और मलांश बनता छिकता चल जाता है, इसीसे सबके शेष सूक्ष्मांश निर्मल शुक्र को मांस कदापि नहीं बना सक्ता, इसी अभिप्राय से [७६५ । ७६६] सूचित हैं। (७८८) सं० शुक्र में सब धातुओं के सूक्ष्मांश रहे आते हैं, इसी कारण औद्भिज् शुक्र से उद्भिज् का और जांगम शुक्र से जङ्गम का सर्व धातुमय शरीर बन जाता है, मांस के टुकड़े के वा अन्य किसी धातु के उभय भूमियों में बोने से कोई सा भी नहीं उत्पन्न होगा क्योंकि उपजने की शक्ति वीर्य में ही है,

(७८९) (प्रश्न) यदि मांस से मांस ही बनता है, वीर्य नहीं बनता. तो. सिंहादि मांसाहारी जीवों का वीर्य क्यों कर बनता है और उनकी सन्तान कैसे होती है? (उत्तर) मांसाहारी जीव इसी कारण अल्पशुक्र अल्पव्यवाय [७२७] होते हैं कि किसी प्रकार का शुक्र उनका आहार नहीं, इनमें भी जो २ कुछ २ अन्न के वा फल के आहारी होते हैं, वा अन्नाहारी के संग से हो जाते हैं, वे निरे मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक मैथुनी भी होते वा हो जाते हैं, मांसाहारियों के अल्प शुक्र भी तब होता है, कि जिसका मांस मांसाहारी खाता है उसके वीर्य का भाग मांस के साथ खाया जाता है क्यों कि सर्व शरीर में -प्राप्त [लीन] [७०९] होकर ही शुक्र रहता है, सर्व शरीर की अपेक्षा जितना अंश मांस में शुक्र का रहता है, उस से ही मांस भक्षी जीवों का शुक्र बनता है, अधिक नहीं

परन्तु मनुष्य की प्रकृति मांसाहारिणी नहीं है इस से प्रकृतिविरुद्ध मनुष्य शरीर में मांस के भक्षण करने वाले सिंहादि पशुओं के से मांस को लब्ध करने तथा खाकर यथावत् पकाकर धातु बना के शुक्र तक पहुँचाने वाले साधन ही नहीं हैं [३०६]॥

(७९०) सं० इस ऊपर लिखे चक्र आदि के विचारने से किन्हीं २ विषयी वाजीकरणाभिलाषी मांसभक्षी जी का मन, मनुष्यों के वीर्य को प्राशन करने की ओर यदि झुका हो वा झुक जावै तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि जिस ने मांस [५५९] खालिया उस ने छोड़ाही क्या? विवेक हीन कामान्ध विषयी निःशङ्क जन चाहैं जिधर को ढुलजावैं यहां किसी सत्कवि का वचन है-

(७९१) यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्व मविवेकता ।
एकैक मप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

अर्थ--यौवन अवस्था [जवानी की उम्र] धनकी सम्पत्ती [इफरात] प्रभुता [हकूमत] और अविवेकता ये एक एक भी मनुष्य से अनर्थ कराने के लिये पर्य्याप्त [काफी] हैं, और जो कहीं चारों एकत्र हों वा हो जावें तब कहना ही क्या ? इन सब में अविवेक [अज्ञान] का पुंछारा सब से अधिक बुरा है, यही मनुष्य की खल संज्ञा कर देता है, । खल की और अच्छे पुरुष की पहिचान भी नीतिशास्त्र में यह है कि –

(७६२) विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधो विपरीत मेतत् ज्ञानाय दानाय परिरक्षणाय

अर्थ– खल की विद्या विवाद [सज्जनों से वितण्डावाद, मुकद्दमे बाज़ी आदि कलह करने कराने] के लिये, खल का धन खल को घमण्ड करने के लिये, और खल की शक्ति [सामर्थ्य] दूसरों को अनेक प्रकार से पीड़ा पहुंचाने के लिये होती है। और ये ही ऊपर कही तीनों बातैं सज्जनों के पास हों तो इस के विपरीत होती हैं। अर्थात् सज्जन की विद्या अपने को और दूसरों को ज्ञान के लिये और धन परोपकार में दान के लिये, तथा शक्ति दूसरों की अनेक प्रकार से रक्षा के लिये होती है।

(७६३) सं० अब यही हमारा उपरोक्त विचार यदि किसी कामान्ध को विपरीत ऊहा कराने वाला हो तो कुछ हमारा दोष नहीं वह उसका प्राकृत दोष है, जैसे उलूक को दिन में भी रात दीखती है तो सूर्य का क्या दोष। ऐसे ही लोगों ने इस देश को रोगागार सर्व दुःखों का भण्डार बना दिया। जो रोग आयुर्वेदीय रोग गणना में भी नहीं देखे सुने थे वे अब इस हिन्दुस्थान में जने २ के नित्य प्रति के आने वाले अतिथि बन गये और अपना बलात्कार से सत्कार कराने लगे, और जना २ अपना आहाराचार त्याग इन अनेक रूप धारी अनेक रोग रूप अतिथियों के सत्कार में लगा रहता है, अनन्त सम्पत्ति अनन्त जन इस देश के इन अतिथियों ने भेट ले लिये, और ले रहे हैं। आज कल घर २ वैद्यराज, वैद्य मार्तण्ड, अनेक डाक्टर हकीम फिर रहे हैं। पहरा देरहे हैं, कि कोई रोग अतिथि आने न पावै और आये हुओं को धक्का दे निकाल रहे हैं, इधर उधर से देशी विदेशी सच्ची झूंठी विज्ञापन भुशण्डियों [बन्दूकों] की तुरन्त उडा देने वाली गोलियां भी चल रहीं हैं इतने पर भी यह होरहा है "मान न मान मैं तेरा महमान"॥

भावप्रकाश मध्यखंड फिरङ्गाधिकार में लिखा है कि–

(७६४) फिरङ्ग संज्ञके देशे बाहुल्ये नैव यद्भवेत्।

**तस्मात् फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधि र्व्याधिविशारदैः ॥
गन्ध रोगः फिरङ्गो ऽ य ज्ञायते देहिनां ध्रुवम्
फिरङ्गिनोङ्ग संसर्गात् फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः ॥**

अर्थ–फिरङ्गस्तान नाम के देश [मुल्क] में ही जो व्याधि [रोग] विशेषता से होता है उसी प्रकार अब यहां होने पर रोगों के ज्ञाताओं नें इस [आत्शक रोग] का नाम फिरङ्ग कहा है। यह गन्ध रोग [इस की गंध उड़कर लगना भी दूसरे को रोगी बना देता] है, फिरङ्गी के अंग के संसर्ग से फिरंगिणी के साथ मैथुन करने से प्राणियों को उक्त व्याधि अवश्य होजाता है। (७९५) प्रतीत होता है कि इस देश में उपदंश रोग तो पहलेही से था और वह पुरुष को ही होता है स्त्रियों को नहीं और उष्ण वात गरमी आतशक फिरंग, ये जिस रोग के नाम लिये जाते हैं, यह दोनों को होता है, और इस के लक्षण भी उपदंश से भिन्न हैं, जिन को देखने हों वे उक्त पते पर भावप्रकाश में देखें। कहिये जो वीर्य के पात करने और करानेका मनुष्यमात्रका उपस्थेन्द्रिय सर्व सम्मत उचित स्थान है, वहां भी जिसका अनुचित योग पात कुष्ठादि [१३८८] रोग कर देता है, तो उक्त पात के सर्वथा अनुचित देश मुख से प्राशन करना उक्त रोग क्यों नहीं करैगा फिरङ्ग आत्शक के रोगी की गंधभी एक से दूसरे को पहुँचै तो आत्शक हो जाय उस से कुष्ठ होजाय गठिया होजाय जो न हो सो थोड़ा कहांतक कहैं कि उपस्थेन्द्रिय गल सड़ जाती है कीड़े पड़जाते हैं बडी दुःसह पीड़ा आजन्म तक को हो जाती है, अनेक असाध्य रोग पैदा होते हैं बड़ी दुर्दशा से अन्त को मरना पड़ता है ॥
ऐसी वस्तुको प्राशन करने का साहस मांसाहारी जी को ही होसक्ता है, अन्य की सामर्थ्य नहीं,
विवेकियों के लिये तो उपस्थेंद्रियादि अमेध्य स्थानों का अनावश्यकता में स्पर्श करना भी उचित नहीं देखो मनु० अ० १ श्लो० ९२–

**(७९६) नाभे रूर्ध्वं मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान् मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥**

अर्थ–नाभि स्थान से ऊपर मनुष्य अति पवित्र है, और मुख स्वयंभू ने उस से भी अधिक पवित्र कहा है। धिक्कार है उस को जो पशु के वा मनुष्य के शुक्र के चाटने की

इच्छा को भी करै वह आस्तिक नहीं, [६३५] जाङ्गम शुक्र को मलमार्गी होने से मलों में भी गिना [५७८] है, ॥ जाङ्गम शुक्रों में मनुष्य शुक्र की समानता गोरस और स्थावर शुक्र अन्न [१५३] ही से पूरी २ मिलती है। इससे यही मनुष्य का सुखकर निःसंशय परम वाजीकर जीवनीय सर्वोत्तम [१६३] गुणकर है ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे धातु वृद्धि ह्रास ज्ञानोपयोगि मांस शुक्रयोः समानासमान गुण ज्ञापकः पञ्चार्त्रिशत्तमो विवेकः ॥३५॥

अथ रासायनिक विषयः

देखो ! जिन रासायनिक प्रयोगों के सेवन करने से अनन्त शुभगुण इस मनुष्य शरीर में भरकर हमारे पूर्वज इसी शरीर से चिर काल तक मन चाहे सर्व आनन्द भोग कर सद्गति को लब्ध करते थे। हाशोक ! आज उन प्रगोगों का सेवन तथा गुण कहीं देखने सुनने मात्रभी नहीं रहा केवल लेख मात्रही कहीं कहीं पुस्तकों में रहगया है। उसे भी कोई ध्यान देकर विचार से और श्रद्धा से नहीं पढ़ता और सेवन वा उस के करने कराने के विधानका तो कहना ही क्या ! । (प्रश्न) रसायन क्या होता है ? (उत्तर)

(७६७) लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।

चरक चि० अ० १

अर्थ– रसादि उत्तमोत्तम धातु प्राप्त हो जाने के उपाय का नाम रसायन है।

अन्यदपि

यज्जरा व्याधि विध्वंसि वयसः स्तम्भक न्तथा।
चक्षुष्यं वृंहणं वृष्य म्भेषज न्तद्रसायनम्॥

अर्थ–जो वृद्धावस्था की व्याधियों को नाश करै आयु को स्थिर करै तथा नेत्रों को

हित और मांस को बढ़ावे और शुकल हो वह औषध रसायन कहाता है ॥

अन्यच्च

दीर्घ मायुः स्मृतिं मेधा मारोग्य न्तरुणंवयः ।
प्रभावर्ण स्वरौदार्य्यं देहेन्द्रिय बलम्परम् ॥
वाक्सिद्धि म्प्रणति क्कान्ति लभते ना रसायनात् ।
स्वस्थस्यो जस्करं यत्तु तद्वृष्य न्तद्रसायनम्

चरक चि० अ० १

अर्थ– मनुष्य को रसायन सेवन से बड़ी आयु स्मृति मेधा आरोग्यता तरुणावस्था प्रभा वर्ण स्वर औदार्य्य, [विनय] ये गुण मिलते हैं और मनुष्य शरीर और इन्द्रियों के परम बल को वचनासिद्धि को प्रणति [नम्रता] को और कान्ति को प्राप्त होता है । जो स्वस्थ के ओज को करता है, वह वृष्य है, वह रसायन है ॥

प्राणकामीय रसायन के गुण के लाभ में ऐतिहासिक प्रमाण

(७६८) प्राणकामाः शुश्रूषध्व मिदमुच्यमान ममृतमिवापर मदितिसुत हितकर मचिन्त्याद्भुत प्रभाव मायुष्य मारोग्य करं वयसःस्थापन न्निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्य दौर्बल्यापह मानिल कफ पित्त साम्यकरं स्थैर्यकर मबद्धमांसहर मन्तराग्नि सन्धुक्षण म्प्रभावर्ण स्वरोत्तमकरं रसायन विधानम् । अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्व मापुः नारीणा मिष्टतमा बभूवुः स्थिरसम सुविभक्त मांसाः सुसंहतस्थिर शरीराः सुप्रसन्न बलवर्णेन्द्रियाः सर्वत्रा प्रतिहत पराक्रमाः क्लेशसहाश्च ॥

चरक चि० अ० १

अर्थ– हे प्राणैषणा वाले मनुष्य हो ! इस अमृत तुल्य अपर [दूसरी] कथा को

तुम श्रवण करो। पूर्व काल में अदिति के पुत्र जो कि देवता कहाते थे इनको हित कर, अचिन्त्य आश्चर्यरूप प्रभाव [करिश्मात] वाला, आयु के आरोग्य के करने वाला, अवस्थाका स्थापक, निद्रा तन्द्रा श्रम क्लम [अहर्रे] आलस्य निर्बलता इनका हारक और वात पित्त कफ इनका साम्यकारक स्थिरता के योग्य भावों को स्थैर्य करने वाला, मांस के ढीले पन को दृढ, जठराग्नि को चैतन्य, प्रभा वर्ण स्वर इन को उत्तमोत्तम करने वाला, यह रसायन का विधान हुआ था, इससे च्यवन से आदि ले अनेक महर्षि फिर से जवान, और स्त्रियों को अतीव इष्टतम, स्थिर सम और सुडौल मांस वाले, अच्छे गठे देह वाले अच्छे बल वर्ण इन्द्रियों वाले, सर्वत्र पराक्रम में हार न मानने वाले और क्लेशों के सहन शील हुए थे। (७९९) रसायन के प्रयोग चरक तथा सुश्रुत आदि आयुर्वेदीय संहिताओं में विस्तार पूर्वक हैं। जिनको देखने विचारने तथा करने की उत्कण्ठा हो, वे उन ग्रन्थो में देखैं. विचारै, तथा करैं,। यहां केवल दिग्दर्शन मात्र लिखा है ॥

(८००) सं० शल्य आदि आयुर्वेदीय आठ चिकित्साओं में एक रसायन तन्त्र गिना जाता है। और जैसी अधिक प्रशंसा आयुर्वेद में इस तन्त्र की स्वास्थ्य रक्षण तथा स्वाभाविक व्याधियों के निवारणार्थ लिखी हैं वैसी किसी अन्य तन्त्र की नहीं, तथा अनेक आर्ष इतिहासों से भी इसकी स्तुति यथार्थ प्रतीत होती है। परन्तु जहां तक देखा वा सुना गया तो इस तन्त्र में मांसाहार और मद्यपान की चर्चा कहीं लेश मात्र भी नहीं, वरन उक्त वा वक्ष्यमाण लेख इस अधिकार में ऐसे हैं, कि जिनके देखने से यह सिद्ध होता है कि, जैसे कुछ मांसाहार और मद्यपान मनुष्यत्व के नष्ट करने वाले हैं ऐसे अन्य कर्म कोई नहीं।

यथा च

(८०१) सर्वे शरीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारविहाराभ्याम्।

(८०२) अम्ल लवण कटुक क्षार शुष्कशाक मांस तिलपलल पिष्टान्न भोजिनाम्।

(८०३) विरूढ़ नव शूक शमी धान्य विरुद्धासात्म्य रूक्षाभिष्यन्दि भोजिनाम् ॥

(८०४) क्लिन्न गुरु पूति पर्युषित भोजिनाम्

(८०५) विषमा ध्यशन प्रायाणाम् ।

(८०६) दिवास्वप्न स्त्री मद्य नित्यानाम् ।

(८०७) विषमा तिमात्र व्यायाम संक्षोभित शरीराणाम् ।

(८०८) भय क्रोध शोक लोभायास बहुलानाम् ।

(८०९) अतो निमित्तं हि शिथिली भवन्ति मांसानि विमुच्यन्ते सन्धयो विदह्यते रक्त न्न निष्यन्दते चानल्प म्मेदो न सन्धीयते ऽस्थिषु मज्जा शुक्रं न प्रवर्तते क्षय मुपैत्योजः ।

(८१०) स एवम्भूतो ग्लायति सीदति निद्रातन्द्रा लस्य समन्वितो निरुत्साहः श्वसिति असमर्थ श्चेष्टानाम् शारीर मानसीनां नष्टस्मृति बुद्धि च्छायो रोगाणा मधिष्टान भूतो न सवमायु - रवाप्नोति तस्मा देतान् रसायनानि प्रयोक्तु मर्हति ॥

अर्थ — शरीर में दोष [अवगुण] (ग्राम्याहार विहाराभ्यां) विवेक रहित मूढों के से ग्राम्य [गमारू] आहार और विहारों से होते हैं ॥ अब प्रथम गमारू आहार जैसा कि अम्ल लवण चरपरा, क्षार, शुष्कशाक, मांस, तिल की खल, पिष्टान्न [पिसा हुआ अपक्व अन्न] भोजन करने वालों का, अंकुर फूटे हुए तूर के, फली के अन्न, विरुद्ध, असात्म्य रूखे अभिष्यन्दि [स्रोतों के अवरोधक] भोजन करने वालों का, गला हुआ, गुरु, दुर्गन्धित, बासी, भोजन करने वालों का, विशेष कर विषमाशन अध्यशन करने वालों का है। अब ग्राम्याहार के पीछे ग्राम्य विहार दिखाते हैं,

दिनका शयन स्त्रीविषय मद्यपान इनको नित्य करने वालों का, विषम [ऊंची नीची टेढ़ी तिरछी] वा अधिक व्यायाम से संक्षोभित [विचलित] शरीर वालों का तथा बहुत सा भय, क्रोध, शोक, लोभ और परिश्रम करने वालों का ग्राम्य [गमारू] विहार होता है, उक्त आहार विहारों के ही कारण से मनुष्य शरीर के मांस शिथिल हो जाते हैं, जोड़ अपना स्थान छोड़ देते हैं, रुधिर जलने लगता है! और गुदा द्वारा मेद अधिक निकलने लगता है, हाड्डियों में मज्जा स्थिर नहीं होती, शुक्र नहीं बनता, ओज [हृदयस्थ सब धातुओं का सार] क्षय हो जाता है, फिर वह इस प्रकार हुआ हर्ष रहित दुःख पाता है, और नींद तन्द्रा आलस्य युक्त, निरुत्साह [हार हिम्मत] सा सांस लेता है, फिर शारीरिक मानसिक चेष्टाओं [जिस्मानी रूहानी हरकतों] के करने में असमर्थ हो जाता है। नष्ट हुई स्मृति बुद्धि और प्रभा जिसकी ऐसा वह मनुष्य सब रोगों का आधार बन पूरी आयु को नहीं पहुंचता, इससे इन दोषों [अवगुणों] को देखता हुआ इन यथोक्त सब आहार विहारों को त्याग कर रसायनों का प्रयोग करने योग्य है॥

(८११) सं० (प्रश्न) मद्य और मांस के अतिरिक्त और भी जो बहुत से आहार विहार ऐसे इस अधिकार में है, कि जिनका मद्य मांस के ही साथ निषेध किया है, फिर वे क्यों नहीं मनुष्य सुख के नाशक ठहरते हैं॥

(८१२) (उत्तर) इन में बहुत से आहार विहारों को तो अतियोग जैसे कि अम्ल लवण कटुक क्षार इनकी विशेष मात्रा वा चिर काल तक निरन्तर सेवन अहित है, परन्तु पाप कुछ नहीं है, और हीन योग में कोई हानि नहीं, वरन गुण है, क्योंकि चरक सू० अ० २५। में लिखा है कि—

(८१३) सर्व रसाभ्यासो बलकराणाम्

अर्थ— सब रसों का सेवन बल करने वाले प्रयोगों में मुख्य है इस से थोड़ा थोड़ा रुचता हुआ सब रसों का अभ्यास रखना उचित है,।

(८१४) सं० शुष्क शाक तिलपलल [तिलकुट] और पिष्टान्न ये हिताहित हैं इनका सेवन देश, काल, व्यक्ति आदि के विचार बिना सर्व काल में अवगुण कारक है, इस से वर्जित हैं, परन्तु पाप कुछ नहीं।

(८१५) सं० अंकुरित हुआ, विरुद्ध, नवीन, तूर का वा फली का अन्न असात्म्य, और, अभिष्यन्दि भोजन, ये सदैव रोग कारक हैं, इस से वर्जित किये।

(८१६) सं० क्लिन्न, [गला सड़ा] गरिष्ठ, पूति, पर्युषित भाजन, रोग कारक और

बुद्धि नाशक है, विषम वा अध्यशन भोजन रोग कारक है॥

(८१७) सं० दिन का शयन, और स्त्री ये हिताहित हैं, इनका भी नित्य सेवन रोग कारक और अधर्म प्रापक विहार है,। (८१८) सं० मद्य ओज का नाशक अपतानक आदि रोग कारक, और महापापप्रद है। यथा—

(८१९) ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैःसह॥

मनुस्मृति

अर्थ—ब्राह्मण का हनन, मद्य का पीना, चोरी, गुरु पत्नि से गमन, ये महा पाप हैं। और उन पापियों के साथ बैठना भी महा पाप है। कहिये जब मद्य पान करने वाले के पास बैठना भी महा पाप है तब मद्य के सेवन का तो कहना ही क्या?।

(८२०) धी धृति स्मृति इनके हरने वाले जितने कर्म हैं उन सबके मध्य मद्यपान जैसा कुछ है वैसा दूसरा नहीं [२३४] [२९७] इस कारण मद्यको वर्जित किया।

(८२१) अनुचित व्यायाम और भयादिकों का रोग कारक और दुःख दायी होना किस से छिपा है, ये बहुतही थोड़े हेतु तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में कहे गये— ऐसे ऐसे अगणित दोष हैं। तथा मांसाहार के अवगुण और पापों का तो ठिकाना ही क्याहै देखो मनु अ० ५

(८२२) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रय विक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्ता च खादक श्चेति घातकाः॥

अर्थ-- जीवके मारने की सम्मति का दाता टुकड़े करने वाला, मारनेवाला खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला, और खाने वाला, ये आठों हिंसक कहाते हैं।

(८२३) सं० यद्यपि ऊपर कही वस्तुओं में भी विशसन के और हनन के अतिरिक्त सलाह देना, खरीदना, बेचना संस्कार करना, और परोसना ये तो इन के भी किये जाते हैं, परन्तु इन के कर्ता घातकों [हत्यारों] में कहीं भी नहीं लिखे जैसे कि जाङ्गम मांस के कहे हैं। क्योंकि मानसिक वाचिक कायिक तीनों प्रकार के पाप इसके आहार में हैं।

सुनते हैं कि वामी और नरमेधिया तो अवसर मिलने पर दुर्गाको मनुष्यकी बलि देकर खा जाते थे, और अबभी खाजायँ, किन्तु राज्य उनके अनुकूल नहीं। मच्छी भलेही

मार खाओ, सो उसको भी अच्छे पुरुष बुरी निगाह से देखते हैं। देखो जो कोई कभी निन्धकर्म करता है तो, उसे कहते हैं कि पागलहै, झष मारता है, झष माम मच्छी का है कहो! जव ऐसा सर्वथा हिंसादि पापोंका मांसाहार पुंज है, तो उसकी चर्चा भला रसायन में कैसी देखो च० चि० अ० १-

(८२४) सत्य वादिन मक्रोधं निवृत्तं मद्य मैथुनात् ।
अहिंसक मनायास म्प्रशान्तम् प्रियवादिनम् ॥
याज्य शौच परं ।नित्यं नित्यं करुण वेदिनम् ।
सम जागरण स्वप्नं नित्यं क्षीर घृताशिनम् ॥
देश काल प्रमाणज्ञं युक्तिज्ञ मन हङ्कृतम् ।
शस्ताचार मसंकीर्ण मध्यात्म प्रवणेन्द्रियम् ॥
उपासितारं वृद्धाना मास्तिकाना ञ्जितात्मनाम् ।
धर्मशास्त्र परं विद्या न्नर न्नित्य रसायनम् ॥
गुणै रेतैः समुदितः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम् ।
रसायन गुणा न्सर्वा न्यथोक्तान् स समश्नुते ॥

अर्थ-सत्य कहने क्रोध न करने वालेको, मदिरा और मैथुनसे छुटे हुए आहिंसक को, अल्प-श्रमी को हित प्रशान्त और प्रिय बोलने वाले को, यज्ञ करने और पवित्र रहने वाले नित्य दया युक्त को, जागना और सोना ठीक रखने वालेको, प्रतिदिन दूध और घृत पीने खाने वालेको, देश के काल के और प्रमाण के ज्ञानी को सब आहार विहार और व्यवहारों को यथा वत् योजना करने वाले शुभाचारी शुद्ध अध्यात्म [परमात्मा में] प्रवणेन्द्रिय [आसक्त हुई इन्द्रियों वाले] को, आस्तिक जितात्मा वृद्धों के सेवक धर्मशास्त्र के नित्यानुयायी मनुष्य को, नित्यही रसायन सेवी जानो। इन गुणों से संयुक्त हुआ जो मनुष्य रसायन का सेवन करता है वह रसायन के यथोक्त सब गुणों को भले प्रकार भोगता है ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे रसायन गुण विचारे तद्गुण दूषकाहार विहार निदर्शनात्मक षट् त्रिंशत्तमो विवेकः ॥ ३६ ॥

॥ सोमामृत का वर्णन ॥

(८२५) ब्रह्मादयो ऽसृजन्पूर्व ममृतं सोम संज्ञितम् ।
जरामृत्यु विनाशाय विधान न्तस्य वक्ष्यते ॥

(८२६) एक एव खलु भगवान्सोमः स्थाननामाकृतिवीर्य-
विशेषै श्चतुर्विंशतिधा भिद्यते ॥ तद्यथा –
अंशुमान्मुञ्जवां श्चैव चन्द्रमा रजत प्रभः ।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनक प्रभः ॥
प्रतानवां स्तालवृन्तः करवीरों शवानपि ।
स्वयम्प्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥
गायत्र्य स्त्रैष्टुभः पांक्तो जागतः शांकरस्तथा ।
अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥
गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चो डुपति रुच्यते ।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तै र्नामभिः शुभैः ॥
सर्वेषा मेव चैतेषा मेको विधि रुपासने ।
सर्वे तुल्यगुणा श्चैव विधानन्तेषु वक्ष्यते ॥

अर्थ– ब्रह्मादिक देवताओं ने प्राचीन समय में सोम नामक अमृत को रचा यह अमृत बुढ़ापे और मृत्युके दूर करने के लिये है, आगे इसका विधान कहेंगे। एक ही सोम स्थान नाम आकृति और वीर्य इनके भेदसे चौबीस प्रकार का है। अंशुमान्, मुञ्जमान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वा सोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनक प्रभ, प्रतान वान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयम्प्रभ, महा सोम, गरुड़ाहृत, गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पांक्त, जागत, शांकर, अग्निष्टोम, रैवत, गायत्र्या त्रिपदा युक्त, और उडुपति, इस प्रकार वेदों में कहे गये सोम के शुभ नाम चौबीस हैं। इन सब के सेवन की विधि और गुण एक से

ही हैं। अब इन का विधान कहते हैं।

सोम धरने के पात्रों का विधान

(८२७) अंशुमन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात् चन्द्रमसं राज-
ते चोपयुज्याष्ट गुण मैश्वर्य मवाप्ये शान न्देवमनु-
प्रविशति शेषांस्तु ताम्रमये मृणमये वा रौहिते चर्माणि
वितते शूद्रवर्जं त्रिभि र्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः तत
श्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणा नर्चयित्वा
कृतमङ्गलो निष्क्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति ॥

अर्थ- अंशुमान् सोम को सुवर्ण के पात्र में निचौडे, और चन्द्र सोम को चांदी के पात्र में इस प्रकार सेवन करके अठगुने ऐश्वर्य को मनुष्य प्राप्त होता है। पीछे परमेश्वर देव का भक्त होता है, शेष सोमों का तांबे के वा मिट्टी के पात्रों में निचोड़ रोहित [रोझ] मृग के चर्म के बिछे आसन पर बैठकर शूद्र को छोड़ अन्य तीनों वर्ण सेवन करैं, तत्पश्चात् चौथे मास की पूर्णिमा के दिन उत्तमस्थान में ब्राह्मणों का पूजन कर सोम सेवन के स्थान से बाहर यथेच्छ विचरै।

सोमपान का फल

(८२८) ओषधीना म्पतिं सोम मुपयुज्य विचक्षणः।
दश वर्ष सहस्राणि नवां धारयते तनुम् ॥
नाग्नि र्न तोय न्न विष न्न शस्त्र मस्त्र मेव च।
तस्याल मायुः क्षपणे समर्था श्च भवान्ति हि ॥
भद्राणां षष्ठि वर्षाणाम् प्रसूताना मनेकधा।
कुंजराणां सहस्रस्य बलं समधि गच्छति ॥
क्षीरोदं शक्र सदन मुत्तरां श्च कुरूनपि।
यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्रा प्रतिहता गतिः ॥

कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः ।
प्रह्लादयति भूताना म्मनांसि स महाद्युतिः ॥
साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान्वेदा न्विन्दति तत्वतः ।
चरत्य मोघ सङ्कल्पो देव व चाखिल जगत् ॥

अर्थ– ओषधियों के स्वामी सोमका सेवन जो बुद्धिमान् पुरुष करते हैं, वे दश सहस्र वर्ष तक नूतन शरीर धारण किये रहते हैं, उन की आयु को आग्नि जल विष शस्त्र अस्त्र आदि कोई भी नाश करने को शक्ति नहीं रखते । वह मनुष्य क्षीर सागर, इन्द्र पुरी, उत्तर कुरु, सब स्थानों में जा सक्ता है, कोई उस के गमन को नहीं रोक सक्ता अर्थात् कोई आगन्तुक विघ्न नहीं होता है, रूप में कामदेव के तुल्य, और कान्ति में चन्द्रमा के तुल्य, बड़ी कान्ति वाला वह मनुष्य सब मनुष्यों के मन को प्रसन्न करता है, तथा अङ्गोपाङ्गो सहित वेदों के तत्व को जान कर देवताओं की समान सब जगत् में वह अटल प्रतिज्ञा वाला विचरता है ।

सोम की पहचान

(८२६) सर्वेषा मेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च ।
तानि शुक्लेच कृष्णेच जायन्ते निपतान्तिच ॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्या हरह स्तदा ।
शुक्लस्य पौर्णमास्यान्तु भवे त्पञ्चदशच्छदः ॥
शीर्यते पत्र मेकैकं दिवसे दिवसे पुनः ।
कृष्णपक्षक्षये ऽ त्रापि लता भवति केवला ॥

अर्थ– सब प्रकार की सोमलता में पन्द्रह पत्ते होते हैं, वे शुक्लपक्ष में उत्पन्न होकर कृष्ण पक्ष में गिर जाते हैं, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रति दिन चन्द्रकला के साथ साथ एक एक पत्ता निकलता है इस प्रकार पूर्णिमा के दिन पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं, और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से चन्द्रकला क्षीण होने के साथ ही साथ एक एक पत्ता प्रतिदिन गिरने लगता है इस प्रकार अमावस्या को केवल लता मात्र रह जाती है ॥

सोम के पृथक् २ लक्षण

(८३०) अंशुमा नाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः
कदल्याकार कन्दस्तु मुञ्जवाँ ल्लशुन च्छदः ॥
चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा ।
गरुडाहृत नामा च श्वेताक्ष श्रापि पाण्डुरौ ॥
सर्प निर्मोक सदृशौ तौ वृक्षाग्रा वलम्बिनौ ।
तथान्यै मण्डलै श्चित्रै श्चित्रिताइव भान्ति ते ॥

अर्थ– अंशुमान् सोम में घृत की सी सुगन्धि होती है रजत प्रभ कन्द वाला होता है और मुंजवान् केला के कन्द के समान आकार वाला तथा लहसन के से पत्तों वाला होता है सुवर्ण के समान कान्ति युक्त और जल में उत्पन्न होने वाला चन्द्र सोम होता है गरुडाहृत और श्वेताक्ष ये दोनों पाण्डु वर्ण के होते हैं. वे सर्प कंचुका के तुल्य वृक्ष की डालियों में लटके रहने वाले तथा अनेक प्रकार के चित्र विचित्र मंडल वाले होते हैं ॥

(८३१) सर्वे एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदश च्छदाः ।
क्षीर कन्द लतावन्तः पत्रै र्नाना विधैः स्मृताः ॥

अर्थ– सब ही प्रकार के सोम पन्द्रह पत्ते वाले और दूध युक्त कन्द लता वाले होते हैं, । किन्तु पत्ता भिन्न २ प्रकार के होते हैं ॥

सोमोत्पत्तिस्थान

(८३२) हिमवत्य र्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा ॥
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा ॥
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥
पञ्च तेषा मधो मध्ये सिन्धु नामा महानदः ॥
हृठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोम सत्तमः ॥

तस्यो द्देशेषु वाप्यस्ति मुंजवा नंशुमानपि।
काश्मीरेषु सरो दिव्य न्नाम्ना क्षुद्रक मानसम् ॥
गायत्र्य स्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाङ्कर स्तथा।
अन्ये सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसम प्रभाः ॥

अर्थ--हिमालय, अर्बुद [आबू] पर्वत, सह्याद्रि, महेन्द्राचल, मलय गिरि, श्री पर्वत, देव गिरि, देव सह, पारियात्र, विन्ध्याचल, देव सुन्द सरोवर, वितस्ता [व्यास] नदी से उत्तर ओर के बड़े २ पांच पर्वत, तथा उनके नीचे सिन्धु नामक बड़ी नदी, इन में चन्द्र नामक सोम उत्पन्न होता है, । उन्हीं के समीप अंशुमान् और मुञ्जमान् सोम भी हैं, काश्मीर में दिव्य नामक छोटे मानसरोवर में गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त जागत, और शाङ्कर नामक, सोम तथा अन्य भी चन्द्र की सी कान्ति वाले सोम होते हैं।

सोम सेवन विधि

(८३३) अतोऽन्यतमं सोम मुपयुयुक्षुः सर्वोप करण प-
रिचारकोपेतं प्रशस्त देशे त्रिवृत मागार ङ्कारयित्वा
हृत दोषः प्रति संसृष्टं भक्तप्रशस्तेषु तिथि करण
मुहूर्त नक्षत्रे ष्वंशुमन्त मादाया ध्वर कल्पेना
हृत मभिषुत मभिहुत आन्तरा गारे कृत मङ्गलं
सोमकन्दं सुवर्ण सूच्या विदार्थ पयो गृह्णीयात्
सौवर्णे पात्रेऽञ्जलि मात्रम् ततः सकृदेवोपयुञ्जीत
नास्वादयं स्तत उपस्पृश्य शेष मप्स्वासाद्य यम
नियमाभ्या मात्मानं संयोज्य वाग्यतोऽभ्यन्त-
रतः सुहृद्भि रुपास्यमानो विहरेत् ॥

अर्थ — सब सोमों के तुल्य गुण हैं, इस कारण इन में से किसी एक सोम को उपयोग करने का इच्छुक सर्व यज्ञ साधन घृतादि सामग्री और यज्ञ कर्मचारी सेवकों सहित वास्तु शास्त्रज्ञों के परीक्षा किये हुए देश में तीन भित्तियों से घिरा स्थान बनवाकर

गृह को बनवा कर स्नेहनादि पञ्च कर्मों से शुद्ध हुआ पहला अभ्यस्ताहार क्रम से अर्थात् प्रथम मन से फिर वाणी से फिर शरीर से शनैः शनैः त्याग करने वाला पुरुष सर्वथा निर्विघ्न तिथि करण मुहूर्त और नक्षत्रों में अंशुमान् प्रभृति कोई से सोम को यज्ञ की विधि से लाये हुए और रसायनार्थ बने गृह के मध्य में ऋत्विजों द्वारा संस्कृत हुआ, हवन हुए सोम के कन्द को अर्थात् होम से बचे और रसायन प्रयोगार्थ पृथक् लाये अपर सोम कन्द को लेकर स्वस्तिवाचनादि मङ्गल पाठ क्रिया पूर्वक सुवर्ण के सूचीमुख शस्त्र से फाड़कर सुवर्ण के पात्र में कुडव प्रमाण दूध लेवै, फिर एक वार ही मनुष्य स्वादु रस का ध्यान न करता हुआ उपयोग करै अर्थात् पी लेवै, आचमन करके अपनी आवश्यकता से बचे भेषज को नदी आदि के जलों में प्रक्षेपण कर यम [मन के संकल्पादि के न करने] से और नियम [इन्द्रियों के विषयों के निषेध] से चित्त को संयुक्त कर, वाणी को वश में करके अर्थात् पारुष्य पैशुन्य अनृत और असम्बद्ध प्रलाप, इन वाङ्मय पापों को त्यागकर शुद्धान्तःकरण से इष्ट मित्रादि जनों से परिसेवित हो शारीरिक व्यापार करै, अर्थात् बैठना उठना डोलना फिरना करै, सोवै नहीं ॥

(८३४)रसायन म्पीतवांस्तु निवाते तन्मनाः शुचिः ।
आसीत तिष्ठे त्क्रामेच्च न कथञ्चन संविशेत् ॥

अर्थ– रसायन पीकर उसी में मन लगाता हुआ वात रहित स्थान में पवित्रता पूर्वक बैठै खड़ा रहै वा चलै फिरै किन्तु सोवै कदापि नहीं ॥

(८३५)सायं वा भुक्तवान् श्रुतशान्तिः कुशशय्यायां
कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भि रुपास्यमानः शयीत
तृषितो वा शीतोदक मात्रां पिबेत् ततः प्रातस्तथा-
योप श्रुतशान्तिः कृतमङ्गलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत ।

(८३६)तस्य जीर्णे सोमे छर्दि रुपपद्यते ततः शोणिताक्तं
कृमि व्यामिश्रं छर्दितवतः सायं शृतशीतं क्षीरं
विसरेत् । ततः तृतीये ऽहनि कृमि व्यामिश्र मति-

सार्यते । स तेना निष्ट प्रतिग्रह भुक्त प्रभृतिभि-र्विशेषै मुक्तः शुद्धतनु र्भवति । ततः सायं स्नातस्य पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत् । क्षौम वस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत् ।

(८३७) तत्र श्चतुर्थे ऽहनि तस्य श्वयथु रुत्पद्यते । ततः सर्वाङ्गे-भ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति तदहश्च शय्यायां पांशुभि-रवकीर्यमाणः शयीत ॥ ततः सायं पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत् ॥

अर्थ— सायंकाल में भोजन कर वेद पाठ सुन कुशों की शय्या पर कृष्ण मृग चर्म बिछा कर मित्र गणों से संसेवित शयन करै, तृषित होने पर प्रमाण से शीतल जल पान करै । फिर प्रातःकाल उठ शान्तिपाठ स्वास्तिवाचन कर गौ को स्पर्श करके उसी प्रकार बैठे । सोम के पचने पर उसको छर्दि उत्पन्न होती है, फिर रुधिर और क्रिमि मिला हुआ बमन होता है । सायं काल वमन होने के पश्चात् औटा हुआ ठण्डा दूध पीवे । फिर तीसरे दिन क्रिमि मिश्रित दस्त होने लगते हैं । वह पुरुष ऐसा होने से अनुचित दान ग्रहण और भोजन के दोषों से छुट कर शुद्ध शरीर हो जाता है, फिर भी सायं काल स्नान करके पहले दिन के ही समान दुग्ध पान करै, और रेशमी वस्त्र बिछी हुई शय्या पर शयन करै । चौथे दिन उसके शरीर में शोथ उत्पन्न हो जाता है, और शरीर से क्रिमि झरने लगती हैं, उस दिन शय्या पर धूलि बिछाय सोवै । फिर सन्ध्या समय पहले के समान दूध पिलावै ॥

(८३८) एवम्पञ्चम षष्ठयो र्दिवसयो र्वर्तेत । केवल मुभय काल मस्मै क्षीरं वितरेत् ॥

(८३९) ततः सप्तमे ऽहनि निर्मांस स्त्वगस्थिभूतः केवलं सोम परिग्रहा दुच्छ्वसिति तदहश्च क्षीरेण सुखो-ष्णेन परिषिच्य तिल मधुक चन्दना नुलिप्तदेहं पयः पाययेत् ॥

(८४०) ततो ऽष्टमे ऽहनि प्रातरेव क्षीर परिषिक्तं चन्दन प्रदिग्ध गात्र म्पयः पायित्वा पांशु शय्यां समुत्सृज्य क्षौमास्तृतायां शाययेत्। ततो मांस मथाप्यते त्वक् चावदलति दन्त नख रोमाणि चास्य पतन्ति

(८४१) तस्य नवम दिवसात् प्रभृत्यणु तैलाभ्यङ्गः सोम वल्कल कषाय परिषेकः॥

अर्थ—इसी प्रकार पांचवें छटे दिन करै, दोनों समय केवल दूध पिलावै। फिर सातवें दिन उस पुरुष की त्वचा और मांस गिर जाते हैं, केवल अस्थि शेष रह जाती हैं। सोम के बल से स्वांस लेता है, उस दिन कुछ गरम दूध से उस के शरीर को परिषेक कर तिल मुलहटीं चन्दन इनका लेप करदे, और दूध पिलाता रहै। फिर आठवें दिन प्रातः काल ही दूध से परिषेक करकै, चन्दन सब शरीर में लगावें, और दूध पिलावै तथा धूलि की शय्या से उठाकर रेशमी वस्त्र बिछी हुई शय्या पर शयन करावै, तब उसके शरीर में मांस बढ़ने लगता है, त्वचा हटती जाती है, दांत नख रोम गिर पड़ते हैं। नवें दिन अणुतैल [वात व्याधि रोग में निर्दिष्ट हुए तैल] को लगावें और सोम के वल्कल के कषाय से शरीर पर परिषेक करै।

(८४२) ततो दशमे ऽहन्ये तदेव वितरेत्। ततो ऽस्य त्वक् स्थिरता मुपैति एव मेकादश द्वादशयो र्वर्तेत॥

(८४३) तत्र त्रयोदशा त्प्रभृति सोम वल्कल कषाय परिषेकः एव माषोडशा द्वर्तेत॥

(८४४) ततः सप्तदशा ष्टादशयो र्दिवसयो र्दशना जायन्ते। शिखरिणः स्निग्ध वज्र वैडूर्य स्फटिक निकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः॥ तदा प्रभृति चानवैः शालि तण्डुलैः क्षीर यवागू मुपसेवेत याव-

त्पंचविंशति रिति। ततो ऽस्मै दद्या च्छाल्योदन मृदू भयकाल म्पयसा ॥ ततो ऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्र गोपक तरुणादित्य प्रकाशाः स्थिराः। स्निग्धाः श्लक्ष्ण सम्पन्नाः केशाश्च जायन्ते त्वक्च नीलोत्पला तसीपुष्प वैडूर्य्य प्रकाशा ॥

(८४५) ऊर्ध्वञ्च मासा त्केशा न्वापये द्वापयित्वा चो शीर चन्दन कृष्ण तिल कल्कैः शिरः प्रदिह्य। त्पयसा वा स्नापयेत् ॥

अर्थ— इसी प्रकार दशवें दिन उपचार करै, उस दिन उसकी कुछ त्वचा कठोर हो जाती है, इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें दिन करै, तेरहवें दिन से सोम को पीसकर औटाये हुए से स्नान करै, इस प्रकार सोलहवें दिन तक करै, फिर सत्रहवें और अठारहवें दिनों में दांत उत्पन्न होजाते हैं, ये दांत नुकीन, चिकने, हीरा वैडूर्य और स्फटिक इन मणियों के समान स्वच्छ कान्ति वाले, एक से और दृढ़ होते हैं। उस दिन से पचीसवें दिन तक पुराने शालि चावलों की खीर का सेवन करै तिस पीछे दूध के साथ चावल खाय। फिर मूंगा, बीरबहुट्टी, और प्रातः काल के सूर्य की सी प्रभा वाले नख उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् दृढ़ चिकने इत्यादि सर्व शुभ लक्षण युक्त केश निकलते हैं त्वचा भी नील कमल, अलसी का फूल और वैडूर्य्य मणि के समान उत्पन्न होती है। एक मास के पश्चात् केश मुंडाकर केश स्थान में काले तिल चन्दन खस इनके कल्क का लेप करै पीछे दूध से स्नान करै ॥

(८४६) ततो ऽस्यानन्तरं सप्त रात्रा त्केशा जायन्ते भ्रमराञ्जन सन्निभाः कुञ्चिताः स्निग्धा स्तत स्त्रिरात्रा त्प्रथम परिसरा न्निष्क्रम्य मुहूर्त्त स्थित्वा पुनरे वान्तः प्रविशेत् ततोऽस्य बला तैल मभ्य ङ्गार्थे वचार्य्यम् यवपिष्ट मुद्वर्त्तनार्थे सुखोष्ण पयः परिषेकार्थे, अजकर्ण कषाय मुत्सादनार्थे, सोशी-

र कूपोदकं स्नानार्थे चन्दन मनु लेपार्थे आमलक
रस विमिश्रा श्चास्य यूष सूप विकल्पाः क्षीर
मधुक सिद्ध ञ्च कृष्ण तिल मवचारणार्थे। एवं दश
रात्र न्ततोऽन्य द्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्त्तेत,
(८४७) ततस्तृतीये परिसरे स्थिरी कुर्व न्नात्मान
मन्यद्दश रात्र मासीन किञ्चि दातप पवनान् वा
सेवेत पुनः स्वान्तः प्रविशेत्। न चात्मान मादर्शे-
षु वा निरीक्षेत रूप शालित्वात्। ततोऽन्य द्दश
रात्रं क्रोधादीन् परिहरे देवं सर्वेषा मुपयोगः।
(८४८) विशेषत स्तु वल्ली प्रतान क्षुपादयः सोमा
भक्षयितव्याः तेषान्तु प्रमाण मर्द्ध चतुर्थ मुष्टयः॥

अर्थ—तत्र उस के सात दिन के अनन्तर भ्रमर वा अंजन के समान चमकीले काले घुंघराले चिकने केश उत्पन्न हो जाते हैं, तिस पश्चात् तीन दिन तक पहले घर में से निकल दूसरे में दो घड़ी ठहर फिर भीतर [प्रथम परिसर में] ही चला जावै, तथा बला तैल [वातव्याधि प्रकरणोक्त] को मलवावै, जौ के आटे से उबटना, गरम जल से उसीर डाल कर कूपोदक से स्नान करै, लेपन चन्दन से करै, आंवले का रस जिन में डाला जाय ऐसे अनेक प्रकार के यूष और सूप इनका भोजन में उपयोग करै, इस प्रकार दश दिन करै, तदन्तर दूसरे परिसर में भी दश दिन इसी प्रकार वर्त्ते। फिर तीसरे ग्रह में दश दिन ठहरै, और अपने चित्त को वश में कर वहां थोड़ी देर धूप और वायु का सेवन करै और फिर भीतर चला जावै, अत्यन्त रूपवान होने से अपना मुख शीशे में न देखे। इस के आगे और भी दश दिन तक क्रोधादि न करै॥ यही विधि सब प्रकार के सोमों के सेवन की है, विशेषतः बेल लता और क्षुप जाति के सोमों का रसायन में उप योग करना चाहिये। इन की मात्रा साढे तीन पल की है।
(८४९) सं० अग्निष्टोम पाङ्क्त इत्यादि यज्ञ भी सब सोम यज्ञ के ही भेद हैं और जितने प्रकार के सोम हैं वे सब पशु संज्ञक हैं, देखो- श० ब्रा० कां० २। १।१।१२।
पाङ्क्तः यज्ञः पाङ्क्तः पशुः।

(८५०) यहां सोम का विस्तार से वर्णन इन कारणों से लिखा गया है कि, सब महौषधियों [८५८] का सब विधान सोम के ही समान होने से प्रत्येक महौषधी का प्रयोग करना जाना जाय ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे सोम महौषधि रसायन विधि वर्णने षट् त्रिंशत्तमो विवेकः ॥ ३६ ॥

अथर्व कां० ६ अ० १० सू० ६६ मं० १

(८५१) या ओषधयः सोमराज्ञी बह्वीः शत विचक्षणाः । वृहस्पति प्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ।१ ॥

सान्वय भावार्थ – (सोमराज्ञीः) सोम है राजा जिन का ऐसी लतारूप (ओषधयः) वीरुध भेषज (बह्वीः) अनेक प्रकार हैं (याः) जो (शत विचक्षणाः) अनेक रस वीर्य विपाक गुण प्रभावों से विख्यात हैं (वृहस्पतिना) वृहस्पति देव ने यथा योग्य चिकित्सा में (प्रसूताः) प्रेरित की है (ताः) वे ओषधियां (नः) हमको (अंहसः) पाप से अर्थात् रोगों से और उनके कारणों से (मुञ्चन्तु) पृथक् करो ॥

(८५२) सं० अनेक औषध ऐसी हैं कि जिनके नाम पशुओं के नाम पर हैं जैसे वृषभ गो, संज्ञक पशु का भी नाम है और शतवार नाम के भेषज का वांसे का और अष्टवर्गोक्त ऋषभ महौषधि का भी है, ।

(८५३) सं० अज एक पशु विशेष का भी नाम है कि जिसको लोक में बकरा कहते हैं, और क्षुप जाति के एक महौषध का भी नाम अजा वा अज है, ।

(८५४) मेष एक पशु है कि जो लोक में भेड़ इस नाम से प्रसिद्ध है, और मेष एड़गज ये नाम लोक में जिसको पमार वा पनवार नाम से पुकारते हैं ऐसा एक उद्भिज है उसको भी कहते हैं, परन्तु जङ्गम के स्थान में उद्भिद् और उद्भिद् के स्थान में जङ्गम समझना कितना बड़ा अनर्थ है ।

(८५५) सं० मांसाहारार्थियों के अपार्थ ने ऋषभ नाम गा संज्ञक बैल गाय, अज नाम से बकरा बकरी, मेष नाम से मेंढ़ा मेंढ़ी इत्यादि को यज्ञ के मिष से काट खवाया, और परम गुण कारी महौषधों की [रसायन भेषजों की] कि जो यज्ञ पूर्वक विधि से ग्रहण की जाती थीं, उन की पहचान तक आज नष्ट भ्रष्ट कर दी गई, यदि इन भेषजों के स्थान में पशु न समझे जाते तो आज ऋषभ, अजा, मेष, इत्यादि महौषधों को कौन न जान लेता, कौन से छिपी रहती, और सहस्रों गवादि जगन्महोपकारी पशु आज दिन बध न हुआ करते यह दूध घी का अभाव देखने में क्यों आता ॥

(८५६) सं० अब अजामेध यज्ञ का विवेक व्यक्त करते हैं । "अज गति क्षेपणयोः" इस धातु से अच् प्रत्यय होने से अज शब्द सिद्ध होता है, "अजति क्षिपति रोगा निति अजः" जो रोगों को दूर भगा दे वह अज वा अजा कहिये ।

(८५७) सं० "मेधृ संगमे" इस धातु से घञ् प्रत्यय करने से मेध शब्द बनता है "अजाया अजा संज्ञक महौषधस्य मेधः सङ्गमं सङ्गति करणं यत्र सोऽजा मेधः, सुश्रुतोक्त अजा नामक महौषध का रसायन कल्प आयुर्वेदोक्त विधि से जो सेवन करना है उसी का नाम वास्तव में अज मेध वा अजा मेध कहिये ॥

सुश्रुत चि० अ० ३० रसायन प्रकरण

(८५८) अथौषधी र्व्याख्यास्यामः । अजगरी श्वेतकापोती कृष्ण कापोती गोनसी वाराही कन्या छत्रा ति छत्रा करेणु रजा चक्रका आदित्य पर्णिनी ब्रह्म सुवर्चला श्रावणी महा श्रावणी गोलोमी चाजलोमी महा-वेगवती चेत्यष्टादश सोम सम वीर्या महौषधयो व्याख्याताः तासां सोम वत् क्रियाशीः स्तुतयः शास्त्रे ऽभिहिताः ॥

भा०- अजगरी से आदि ले महा वेगवती पर्यन्त १८ अठारह सोम के समान वीर्य वाली महौषध कही हैं । उक्त पते पर ही इनकी पहचान भी है । इनका सोम के ही समान "क्रिया" कल्प विधान, "आशीः" मङ्गल पाठादि. "स्तुतयः" फलवाद शास्त्र में कहे हैं । इन उक्त अठारह महौषधों के मध्य करेणु है इस से आगे अजा का पाठ है कि-

जिस के लक्षण [पहँचानने के चिन्ह] यह हैं ।

(८५६) अजा स्तनाभ कन्दास्तु सक्षीरा क्षुप रूपिणी ।
अजा महौषधी ज्ञेया शंख कुन्देन्दु पाण्डुरा ॥
सुश्रुत चि० अ० ३० ।

अर्थ– बकरी का जैसा दूध भरा थन होता है, ऐसे आकार का जिसका कन्द हो, और दूध सहित हो, छोटी जाति के क्षुप संज्ञक उद्भिजों की गणना में उसकी उत्पत्ति हो, शंख, कुन्द और चन्द्रमा इन के तुल्य जिसका पाण्डुर वर्ण हो, वह अजा महौषधी जाननी । (८६०) इसी महौषध का वर्णन अथर्व० कां० ६ में किया है कि जो मांसाहार के पक्षी भाष्यकारों ने अजा महोषधी का अर्थ अज नाम से बकरा मार कर खाना कर दिया वास्तव में वह भषज

देखो ताण्ड्य ब्रा० । १२ । ६ में लिखा है कि–

(८६१) भेषजं वा आथर्वणानि भेषज मेव तत्करोति ॥ १० ॥

अर्थ–(आथर्वणानि) अथर्व वेद विहित कर्म वा वस्तु वा मंत्र सब (वा) निःसन्देह (भेषजं) औषध है, क्योंकि (तत्) वह [अथर्व] वेद रोग शमनार्थ (भेषजम्) महौषधि (एव) ही उपदेश (करोति) करता है ॥
(८६२) सं० जब कि वेदों में सोम का विधान विशेषता से व्याप्त हो रहा है तो उस के तुल्य ही वीर्य वाली गुण वाली जो रसायन महौषध हैं, उनका उपदेश भी वेदों से है, विशेष कर अथर्व से, जो कि आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भरपूर हो रहा है, क्यों कि अथर्व का उपाङ्ग [उपवेद] आयुर्वेद है, देखो सुश्रुत सू० अ० १ ।

(८६३) " इह खल्वा युर्वेदो यदुपाङ्ग मथर्व वेदस्य "

इस वाक्य से स्पष्ट धन्वन्तरि महाराज ने अथर्व का उपाङ्ग अर्थात् उपवेद आयुर्वेद कहा है इस से अथर्व ही चिकित्सा शास्त्र का बीज रूप है ॥

(८६४) ये ऽ थर्वाण यो ऽ थर्वाण स्तद् भेषजं यद्भेषजं तद
मृतं यदमृतं तद्ब्रह्म ॥

गोपथ ब्राह्मण पू० भा० प्र० ३ ब्रा० ४ ।

अर्थ – आथर्विक मन्त्र और आथर्विक उक्त उपदेश वह सब भेषज हैं, जो भेषज है वह अमृत, जो अमृत वह ब्रह्म, अर्थात् सब सम्पतियों का सर्व गुणों का वही वर्द्धक है ॥

(८६५) वेद में लिङ्ग विभाक्ति वचन और पुरुष आदि का बदल "व्यत्ययो बहुलम्,, इस सूत्र से हो जाता है ॥

(८६६) सं० अथर्व० कां ४ अ० १ सू० ४ से लेकर औद्भिज् भेषजों का प्रसंग है, वह भी खनन पूर्वक लिखा है, न जानें कोई वृष, वा अज, वा वाराही, वा करेणु, इत्यादि नामों से औद्भिजों के स्थान में जङ्गमों को काट खावे, क्योंकि कोई जङ्गम पृथिवी से खोद कर नहीं निकाले जाते हैं, और औद्भिज् खोदे जाते हैं, इससे प्रथम भेषज खनन मन्त्र उक्त प्रसंग में सूचित किया है यथा –

(८६७) या त्वा गंधर्वो अखनत् वरुणाय मृत भ्रजे ता
त्वां वयं खनामस्यो षधिं शेप हर्षणीम् ॥

अर्थ – मृत प्राय कांति हुए वरुण के लिये हे ओषधे ! जिस शेप [लिंग] के हर्ष करने वाली तुझको गंधर्व ने खोदा था उसी तुझ औषधि को हम खोदते हैं ॥

इसी सूक्त का आठवां मन्त्र निम्न प्रकार है

(८६८) अश्व स्या श्व तरस्या जस्य पेत्वस्य च । अथ
ऋषभस्य ये वाजा स्तान स्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥

अर्थ – हे (तनू वशिन्) शरीरों को वशी करण शील परमात्मन् अश्व के, अश्वतर [खिच्चर] के अज [बकरे] के, पेत्व [अमृत वा घृत] के, और ऋषभ [सांड वृषभ] के वाज बल वा वेग [मैथुनार्थोत्थान शक्ति] को इस औषधि में धर ।

(८६९) सं० यहीं से प्रत्येक सूक्त में अनेक मुख्य २ भेषज सूचित हैं, जैसे कि "विषम्" अतिविषा, अतीस इति लोके । "वारिद" नागर मोथा । "व्याघ्र," वा 'व्याघ्री' बड़ी कटेहरी, । "त्रायमाणा" . स्वेत कंटकारी । "शङ्ख" वा "शङ्ख पुष्पी", आदि

(८७०) सं० फिर वृषभ, वा अनुड्वान, वा गौ, इत्यादि पशु नाम वाले भेषजों के नाम

से पशुओं को न खाने की आज्ञा, । (८७१) फिर "रोहिणी" कुटकी अथवा कोई दूसरी घाव भर देने वाली भेषज । "पिशव भषज" शुंठी, ।

(८७२) इससे अगला सूक्त अज का अर्थात् अजा महौषध का है, इसी सूक्त में अर्क आक, तथा इसी सूक्त में "अजगरी" वा "अजगरा" नामक महौपध का वर्णन है, फिर इसी सूक्त के अन्तिम मंत्र के अंतिम पाद को "आनन्दिनी रोषधयो भवन्तु" इस पाद को लिख कर पूर्ण किया है। यहां तृतीयानुवाक पूर्ण हुआ ३।

(८७३) सं० अगले चतुर्थानुवाक में "अपामार्ग,, ओंगा का वर्णन है, पांचवें अनुवाक में उक्त महौषधों के गोरसानुपानार्थ गो स्तुति, गो पालनो द्देशो पदेश, तथा व्रीहि यवाद्यन्नाद्युत्पादिकादि हेतूद्देश से वृषभ पालन पोषण वर्णन, फिर सैंतीसवें सूक्त के प्रथम मंत्र में इसी अजा महौपधि के लिये ही हे औपधे ? यह संबोधन दिया है, फिर द्वितीय मंत्र में यह पाठ स्पष्ट कहा है कि–

(८७४) अज शृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गंधेन नाशय ॥

अर्थ–हे (अजशृङ्गि) हे अज सब राक्षसों [दंश मशकादि दुष्ट जन्तुओं] को अपने गन्ध से नष्ट कर ॥ चर० चि० अ० १ आयुर्वेद समुत्थानीय रसायन पाद, ।

(८७५) अजाना मौषधि रज शृङ्गीति विज्ञायते ॥

अर्थ– जिसका नाम अज है, वह अज शृङ्गी जानी जाती है,

(८७६) फिर तीसरे में गुग्गुलु पीला- नलद्या- उक्षगन्धि- प्रमन्दनी- अश्वत्थ- न्यग्रोध महावृक्ष- शिखंडी- अर्जुन- आघाट- कर्कर्य- उक्त अजा से भिन्न दूसरी अज शृङ्गी कि जिस को काकड़ा सींगी कहते हैं। कण्ट की- तीक्ष्ण शृङ्गी · उष्ट्र कण्ठक इति लोके। पंचम काण्ड में अनेक भेषजों का जैसी कि "कुठ" कूट लाक्षा आदि का वर्णन है ॥

(८७७) जब कि इस प्रकार औद्भिजों के गर्भ में उत्पन्न हुआ अज भला मांसाहारी जी के चरने के लिये जङ्गम गर्भोत्पन्न चर बकरा कैसे बन सकेगा ॥

(८७८) सं० यजु० अ० १८ में यज्ञोद्देश्य लेकर स्वार्थ वा परमार्थ नित्य और नैमित्तिक अनेक कार्यार्थ अनेक वस्तुओं का स्मरण और प्रार्थना रूप से निर्देश किया है, परन्तु मांस का वा वपा का नाम तक नहीं, यदि ये यज्ञ के द्रव्य माने जाते तो इन का भी नाम अवश्य होता सो नहीं।

(८७९) वेद के अनेक स्थलों में व्रीहि यवादि अन्नों की स्तुति, तत्साधनों की स्तुति जल और घी-दधि मधुरादि सब पदार्थों की, और अनेक भरगों की स्तुति, लिखी हैं परन्तु मांस की वा वध की स्तुति कहीं नहीं, और न कहीं हिंसा कर्म की स्तुति की है प्रत्युत बार बार निन्दा की है, ।

(८८०) परन्तु जङ्गम मांस भक्षी जी को उक्त बातें क्यों सूझने लगी हैं, वे तो स्वार्थ तिमिरान्ध हैं । उनकी बसाती तो उक्त महौषधियों में अजा से पूर्व करेणु नाम का महौषध है कि जो हस्ती का भी नाम है, कि जिस से हाथी को भी मार खाते परन्तु वह दो आने चार आने में तो नहीं मिलेगा बकरा तो मिल जाता है ॥

इति मार्गणपरा निरूपणे स्वस्थ इत्यधिकारे सोम गुणानु कार्य्यष्टा दश महौषधि संज्ञा कथन पूर्वक अजा महौषधि निर्द्धारणा-त्मकीयः सप्त त्रिंशत्तमो विवेकः ॥ ३७ ॥

---

(८८१) अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् । तेन गेष्म सुकृतस्य लोकंस्वरारो हन्तो अभिनाकमुत्तमम् ॥

प्रथम बर्कर भक्षक जी का अर्थ

अन्वय— अहम् पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णम् पयसं बृहन्त मज मनज्मि । तेनाऽभिनाक मुत्तमं स्वरारोहंतो वयं सुकृतां लोकं गेष्म ॥

अर्थ— मैं (पयसा) जल से और (घृतेन) घी से (दिव्यम्) उत्तम गुण वाले (सुपर्णम्) अच्छे पार्श्व वाले (पयसं) पुष्टि कारक खाने को (बृहन्तम्) बड़े को (अजम्) बकरा को (अनज्मि) पाक द्वारा व्यक्त और कमनीय करता हूं । (तेन) उस से (अभिः) सर्वतः (नाकम्) सुखमय (उत्तमम्) उत्तम (स्वः) ज्ञान प्रकाश को (आरोहन्तः) आरोहण करने वाले हम (सुकृतस्य) सुकृत के (लोकम्) लोक को

(गेष्म) अन्वेषण करें ॥
भावार्थ- जल और घी से पकाया हुआ बकरा सर्वोत्तम खाना है,इस से उत्तम सुख प्रकाश और ज्ञानादि युक्त धर्म लोक प्राप्त होते हैं। इस मंत्र में ज्ञान तथा धर्मादि का साधन और उसका भोजन कहा गया, यह आज [बकरेके] यज्ञ का प्रकरण चला है॥

(८८२) सं० उपरोक्त मन्त्रार्थ की समालोचना ॥

प्रथम भावार्थ की अद्भुत वाक्य योजना को ही देखिये। मैं जल से और घी से उत्तम गुण वाले अच्छे पार्श्व वाले पुष्टि कारक खाने को। यहां तक अज भक्षक जी ने कर्त्ता करण और विशेषण पूर्वक कर्म कारक कहा अब आगे क्रिया के ही कहने की आकांक्षा थी परन्तु फिर से आपने बड़े को बकरा को इन दो निराकांक्ष कर्म का विशेषण और कर्म को क्रिया के साथ मिला दिया " पाकद्वारा " यह अनुक्त पाठ कहां से क्या कैसे आगया, क्या बकरा अव्यक्त [अप्रकट] था कि जो पाक के द्वारा व्यक्त किया ? सच पूछा जाय तो अज भक्षक जीने पका खा कर ही व्यक्त अज को अव्यक्त [नष्ट] कर दिया फिर न जाने कमनीय किस को किया, क्या बकरे में भी दिव्य गुण होता है। औषधियों में तो अवश्य है देखो शार्ङ्ग धर (८८३) सं० " दिव्यौषधीनां बहवः प्रभेदाः " तथा अथर्व-का० ८। सू० ७। आपो अग्रं दिव्याः ओषधयः।
(८८४) सं० ' सुपर्ण ' का अर्थ संस्कृत में तो " सुपर्ण सुपतनं सुपत्र मिति यावत् " जिसका अर्थ अच्छा गिरना वा किसी उद्भिज्ज का अच्छा पत्ता, है परन्तु आपने भावार्थ में अच्छे पार्श्व वाले यह पूर्वा पर अन्यथा ही कर दिया (८८५) वाचस्पत्य बृहदभिधान में " सुपर्णः पुं० सुष्ठु पर्णं पत्रं पक्षो वा यस्य" अच्छा पत्ता अथवा पक्ष [पंख] हो जिसका उसको सुपर्ण कहते हैं। १ गरुड़ अमरः २ सुन्दर पर्ण युक्त त्रि० ३ स्वर्ण चूड खगे पुं स्त्री स्त्रियां ङीप् ४ कृतमाल वृक्षे पुं० मेदि० ५ नाग केशरे पु० त्रिकां० (८८६) वैदिक निघं० सुपर्ण पद नामसु ॥
(८८७) सं० परन्तु पार्श्व [पांसू] अर्थ कहीं भी नहीं। 'पयसं, का अर्थ करते हैं पुष्टि कारक खाने को। पयः शब्द अन्न के नामों में वैदिक निघंटु में तो आया है परन्तु पुष्टि कारक बकरे के मांस के अर्थ में कहीं भी नहीं। फिर आगे अर्थ लिखा है कि, उससे सर्वतः सुखमय उत्तम ज्ञान प्रकाश को आरोहण करने वाले हम सुकृत के लोक को अन्वेषण करें। इस का यह भाव व्यक्त [जाहिर] होता है कि उस बकरे के सर्वतः सब ओर से सुख युक्त ज्ञान के उजाले को चढ़ने वाले हम पुण्य के लोक को

(८८८) सं० अब इन से पूछा जाय कि "तेन" इस पूर्व परामर्श बोधक तृतीया विभक्त्यन्त पद से जीता बकरा लोगे ? वा मारा हुआ ? सप्राण, वा उसका मांस ?।
(८८९) सं० यदि कोई कहै कि मैं बकरे को दूध घी के पिलाने खिलाने से कमनीय करता हूं तो क्या इस अर्थ को कोई हटा सक्ता है कदापि नहीं, और बकरे के स्थान में उस के मांस का काटना पकाना खाना कैसे किस युक्ति से अर्थ कर लिया जावै
(८९०) अब आगे इन के लिये इसी मंत्र के भावार्थ का भाव दिखाते हैं, आप लिखते हैं, कि जल से और घी से पकाया हुआ बकरा सर्वोत्तम खाना है, । भला कहीं जल से और घी से भी कोई वस्तु पकती है, जो इन का बकरा पक गया। "बकरा सर्वोत्तम खाना है" यहां अभी न तो ओदन है, न करछू है, न कोई अंगुली छुआई है, और न अभी किसी को बांटा है, न मालूम बिना खायें ऐसी दशा में बकरे के खाने की सर्वोत्तमता कैसे शास्त्री जी ने समझली, अस्तु जो कुछ हो अब आगे लिखते हैं कि "इस से उत्तम सुख प्रकाश और ज्ञानादि युक्त धर्म लोक प्राप्त होते हैं" इसका भाव यह झलकता है कि इस बकरे से अच्छा सुख [इच्छा का अनभिघात] अच्छा प्रकाश [बिजली की रोशनी] और ज्ञान से भरे धर्म के लोक [स्थान] मिलते हैं। वाः वाः बकरा क्या खाया जाता है, उदर रूप घर में कल्पवृक्ष ही बो दिया जाता है, कि जिस से उपरोक्त सुख घर बैठे पाले, फिर लिखते हैं कि "इस मन्त्र में ज्ञान तथा धर्मादि [धर्म अर्थ काम और मोक्ष] का साधन अज पाक और उसका भोजन कहा गया" इस लेख से कुछ यज्ञ के मिष का भी घंटा न रहा, बकरा पकादो, चाहैं खालो, उक्त चतुर्वर्ग मिलने के अधिकारी तो हो ही गये।

उक्त मंत्र का शुद्धार्थ।

(८९१) पदच्छेदः– अजम् । अनज्मि । पयसा । घृतेन । दिव्यम् । सुपर्णम् । पयसम् । बृहन्तम् । तेन । गेष्म । सुकृतस्य । लोकम् । स्वः । आरोहन्तः । अभिनाकम् । उत्तमम् ॥

सान्वयभाषार्थ–हे प्रणव पद वाच्य दयालु परमेश्वर मैं (दिव्यम्) दिव्य [आश्चर्य] गुण युक्त (सुपर्णम्) क्रिमि कीट तुषारादि से अदूषित श्रेष्ठ पत्तों वाले (पयसम्) अपने स्वाभाविक दुग्ध युक्त (बृहन्तम्) स्थूलआकार के बड़े कन्द वाले (अजम्) अजा नाम के महौषध को (पयसा) दूध और (घृतेन) घी के आहारानुपान के योग से (अनज्मि) सुव्यक्त [ज़ाहिर] करता हूं कि यह उक्त महौषध ऐसा गुणद है (तेन) उस व्यक्त

हुए अज्ञानात्मक रसायन के गुण से (स्वः) सुख को (आरोहन्तः) चढ़ते हुए हम लोग (सुकृतस्य) किये हुए अपने पुण्य के (अभि) अति (उत्तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) दुःख रहित (लोकम्) दर्शनीय फल को (गेष्म) अन्वेषण करें ॥

(८६२) पञ्चौदनं पञ्चभि रङ्गुलिभि र्दर्व्योद्धर पञ्चधैत मोदनम् प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ।४।१४।७।
प्रतीच्यां दिशि भसदं धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ॥ ऊर्ध्वायां दिश्य जस्या नूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम् । अन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ६।१६।८॥

मांसाशी जी का अर्थ

अन्वय- पञ्चौदनं दर्व्योद्धर । एत मोदनं पञ्चभि रङ्गुलिभिः पञ्चधा कुरु । अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि धेहि, दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं धेहि ॥

अन्वय- अस्या जस्य प्रतिच्यां दिशि भसदं धेहि, उत्तरस्यां दिश्युत्तरं पार्श्वं धेहि । ऊर्ध्वायां दिश्य जस्या नूकं धेहि । ध्रुवायां पाजस्यं धेहि । मध्या दस्य मध्य मन्तरिक्षे धेहि ॥

अर्थ- (पञ्चौदनम्) मांस घी और जलसे सिद्ध पञ्चविध विभक्त भात को (दर्व्या) कड़छी से (उद्धर) निकाल (एतम्) इस (ओदनम्) भात को (पञ्चभिः) पांच (अङ्गुलिभिः) अंगुलियों से (पञ्चधा) पांच प्रकार से विभक्त कर (अजस्य) बकरा का (प्राच्याम्) पूर्व (दिशि) दिशा में (शिरः) शिर अर्थात् जो भात शिर के मांसादि संमेत पकाया है वह (धेहि) धरो (दक्षिणायाम्) दक्षिण (दिशि) दिशा में (दक्षिणम्) दहने (पार्श्वम्) पार्श्व के मांसादि से पकाये भात को (धेहि) धरो ॥

भावार्थ- ईश्वर आज्ञा देता है कि मांस जो बकरे के सब अंगों से ग्रहण किया है उस को चावल घी और जल डालके पकाओ और पकाहुआ कड़छीसे निकाल २ कर पूर्वादि दिशास्थ देश अर्थात् विद्वानों को बांटो । पिछले में घी चावल जलादि सामग्री की भी सूचना

और इस मंत्र में पात्र तथा बांटना आदि का प्रकार है और कुछ आगे के मंत्रों में भी वर्णित है ॥

इस से अगले मंत्र का अर्थ

(अस्य) इस बकरे के (भसदम्) जघन मांस सिद्ध भात को (प्रतीच्याम्) पश्चिम (दिशि) दिशा में (धेहि) धरो (उत्तरस्याम्) उत्तर (दिशि) दिशा में (उत्तरम्) दक्षिण से दूसरे भाग के मांस से पकाये भात को और (पार्श्वं) पार्श्व अर्थात् उत्तर कुक्षिस्थ मांस से पकाये भात को (धेहि) धरो (ऊर्ध्वायाम्) ऊर्ध्व (दिशि) दिशा में (अजस्य) बकरे के (अनूकम्) वंक्री वाले स्थान के मांस से सिद्ध भात को (धेहि) धरो (ध्रुवायाम्) ध्रुव वा भूमि जो पाद तलस्था है अर्थात् अपने पाद के इधर उधर स्थित यद्वा नीच स्थान जो उत्तमों के बैठने की अपेक्षा से है उस तर्फ (पाजस्यम्) बल के लिये जो अङ्ग उन के मांस से पकाये भात को (धेहि) धरो (मध्यात्) बीच से (मध्यम्) मध्य भाग के मांस से पकाये भात को (अन्तरिक्षे) अवकाश में (धेहि) धरो ॥

(८९३) सं० पंडित देवीचन्द्र शर्मा ने अपने किये अर्थ का जो ऊटपटांग भावार्थ लिखा है, उसका लिखना हम व्यर्थ समझते हैं क्योंकि पाठक जनों को उस के पढ़ने में अरुचि और आलस्य होगा, उन के किये सब मंत्रों का अर्थ और भावार्थ यही है कि बकरे का काटना खाल उधेड़ना पकाना खाना ही यज्ञ है ।

(८९४) अब इन के ७ वें और ८ वें मंत्र के किये अर्थ की समालोचना ४।१४। ७। वें मंत्र में दो क्रिया हैं, एक तो "उद्धर" और दूसरी "धेहि" मंत्र में तीसरी कोई क्रिया ही नहीं, और न कोई आकांक्षित है, फिर मूलान्वय में वा सान्वय भावार्थ में कुरु क्रिया व्यर्थ है, इस से यह अर्थ किया है कि इस ओदन को पांच अंगुलियों से पांच प्रकार का वा पांच प्रकार से कर, अब इन से पूछा जाय कि वह पांच प्रकार का वा पांच प्रकार से करना क्या है ? तो मौन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ॥

(८९५) सं० "पञ्चौदनम्" इसका अर्थ यह है कि पांच भात वा पांच सजल पदार्थ क्योंकि उन्दी धातु का क्लेदन [तर] करना अर्थ है कि जिसका ओदन शब्द बनता है, परन्तु "पञ्चौदनम्" इस में "मांस घी जल से सिद्ध पंच विध विभक्त यह, और "अजस्य प्राच्यां दिशि शिरः धेहि" इसमें जो भात शिर के मांसादि समेत पकाया है, यह और "दक्षिणम् पार्श्वम्" यहां मांसादि से पकाये भात को, ये अर्थ कहां से किस प्रमाण से आगये वह नहीं लिखा । भला कहीं शिर में भी मांस होता है । परन्तु

मांसादि इसका आदि शब्द क्या हड्डी त्वचा और केशों का स्वाद चखने के लिये रक्खा है। भला बिना अग्नि कहीं मांसादि से भी भात पकता है, इत्यादि अनन्त असंगति दोष परिपूर्ण इनका अर्थ है। आठवें मन्त्र में "भसदम्" इसके अर्थ में "जघन मांस सिद्ध भात" तथा दो वाक्यों में "मांस से पकाये भात" यह दो वार पाठ और "अनूकं" इसके अर्थ में 'वंक्षो वाले स्थान के मांस सिद्ध भात,, और "ध्रुवायाम्" इसके अर्थ में "भूमि जो पाद तलस्था है" अर्थात् अपने पाद के इधर उधर स्थित यद्वा नीच स्थान जो उत्तमों के बैठने की अपेक्षा से है उस तर्फ" ये सब लेख असङ्गत और प्रमाण शून्य हैं। इस उक्त भावार्थ के अपार्थ लेख की लीला तो असीम है॥

अब मन्त्रों का पुनर्वार पाठ न लिखकर शुद्धार्थ व्यक्त करते हैं।

(८९६) सं० शुद्धो ऽर्थः– (एतम्) इस (पञ्चधा) पांच प्रकार का अर्थात् तुरंत उखाड़ कर लाई सरस आर्द्र भेषज का स्वरस वा दूध और सूखी हुई का हिम, वा फांट वा क्वाथ रूप (ओदनम्) उन्दन [स्वरस आदि द्रव] वस्तु (पञ्चौदनम्) पञ्चौदन कहाता है, इसको (पञ्चभिः) पांचों (अङ्गुलिभिः) अङ्गुलियों से पकड़ी (दर्व्या) [कड्छली वा उचित दारु निर्मित वा चाँदी वा सुवर्ण के बने चमचे] से (उद्धर) निकाल और यथा विधि सेवन कर॥

(८९७) तर्क– यदि अज का अर्थ महौषधि होगा तो "अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि धेहि" इत्यादि का अर्थ कैसे घटित होगा, क्योंकि दिशा और शिर आदि शारीरिक अवयव कहां से लाओगे! समाधान– ये तो दोनों बातें सब वस्तुओं में व्यवहारार्थ कल्पना करली जाती हैं, वास्तव में दिशा तो कोई नियत ही नहीं, क्योंकि जो देश जहां से पूर्व वा उत्तर माना जाता है, वह कहीं से पश्चिम में वा दक्षिण में भी गिना जाता है, तथा ऊपर वा नीचा भी कहीं नियत नहीं, इसी कारण श० ब्रा० १४। ६। १०। १२ में लिखा है कि (८९८) अनन्ता हि दिशः। अर्थ– दिशा अपार हैं।

(८९९) और अवयव कल्पना भी सब में होती है, देखो स्थावरों [उद्भिजों] को पादप कहना प्रसिद्ध है, इससे स्थावरों [वृक्षों] में पाद [चरण] होना माना जाता है, जब चरण हुए तो शिर भी अवश्य माना है * जब ये हैं तो टांग बाहु पार्श्व आदि अन्य भी अवयव सब माने जा सक्ते हैं जङ्गमों के स्कन्ध जिनको भाषा में कंधा कहते हैं स्थावरों के भी जो भाषा में तुरे हैं संस्कृत में वे भी स्कन्ध ही कहाते हैं, जङ्गमों की टांग और भुजाओं को शाखा कहते हैं, देखो– सुश्रुत शा० अ० ५ में–

* प्रान्तु शिखरं शिरः। राज नि०॥

(६००) तत्र शाखा चतस्रो मध्यमं पञ्चमं षष्ठं शिर इति।

अर्थ—यह अङ्ग छः ६ हैं, ४ शाखा [दो टांग दो भुजा] पांचवां मध्य, छटा शिर, और स्थावरों [वृक्षादि] के भी भाषा में जिनको डाली कहते हैं संस्कृत में उन्हीं को शाखा कहते हैं, । अमर० वनौ० वर्ग "वृक्षो महीरुहः शाखी " ये वृक्ष के नाम हैं, इन में शाखा वाला भी नाम है, जिसकी छोटी२ शाखा हों, उसे क्षुप कहतेहैं, देखो अमर वनौ० वर्ग (६०१) "ह्रस्वशाखः शिफः क्षुपः" । उक्त अजा महौषधि भी क्षुप जाति की है, अर्थात् छोटी २ डालियों वाली है। इस प्रकार दिशा और अवयव अजा महौषधि में सिद्ध होने से हमारे उक्त तथा वक्ष्यमाण अर्थ सब यथावद् घटित होतेहैं। शुद्धोऽर्थः- (६०२) हे परमेश्वर (अजस्य) अजा नामक महौषधि के (शिरः) शीर्ष भाग की शक्ति हमारे (प्राच्याम्) पूर्व (दिशि) देश में अर्थात् अग्रभाग [मुख] में (धेहि) धारण कर हमारी (दक्षिणायाम्) दाहिनी (दिशि) दिशा में अर्थात् दाहिने अङ्ग में इसके (दक्षिणम्) दाहिने (पार्श्वम्) पसवाड़े के गुण को (धेहि) धर और हमारे (प्रतीच्याम्) पश्चिम अर्थात् पिछले (दिशि) देश में (अस्य) इस महौषधि के (भसदम्) अज्ञानान्धकार नाशक भास्कर वत् ज्ञानप्रकाशक चमत्कृद् गुण को (धेहि) धर, तथा हमारे (उत्तरस्याम्) दक्षिणेतर भाग के (दिशि) देश में अर्थात् वामाङ्ग में इसके (उत्तरम्) दक्षिणेतर नाम वाम (पार्श्वम्) पसवाड़े के गुण को (धेहि) धर (अजस्य) अजा महौषधि की अनेक ज्ञानेन्द्रिय शक्ति (अनूकम्) समूह को हमारी (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर ले अर्थात् मौलि स्थान [दिमाग] के (दिशि) देश में (धेहि) धर, और हमारे (ध्रुवायाम्) देह के अधो भागों के (दिशि) देश में इस के (पाजस्यम्) बलकारी अंश को (धेहि) धर और हमारे (अन्तरिक्ष) शारीरिक अव काश में (अस्य) इस महौषध के (मध्यतः) बीच से (मध्यम्) मध्य वर्ति गुण को स्थापित कर । भावार्थ यह है कि अजा महौषध के समस्त पेड के शिखा पर्यन्त शाखा और जड़ समेत लाकर मंत्रोक्त दिशाओं में छोड़ देना और उसके कन्द को यथा विधि बर्ताव में लावै ॥ क्योंकि मूल का विभाग करना नहीं कहा ॥
ऐसे अर्थ लक्षणा से किये जातेहैं इसी प्रकार का अलङ्कार सोम महौषध के विषय में है।

(६०३) प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः प्रबाहू शूर राधसा ॥ ३ ॥

सामवेद उत्तरार्चिः अ० २ [६]

अर्थ – हे (शूर) पराक्रम युक्त (इन्द्र) राजन् ! (ते) तेरी (कुक्ष्योः) दोनों कोखों में उक्त सोमरस शक्ति (प्र अश्नोतु) प्राप्त होवै, (ब्रह्मणा) वेद मंत्रो के विचार के साथ (शिरः) मस्तिष्क को, और (राधया) सब सिद्धियों सहित तेरी (बाहू) दोनों भुजाओं को (प्राश्नोतु) प्राप्त होवो ॥

(१०४) यदि अज शब्द को बकरे के अर्थ में लगाया जायगा तो, अथर्व ९ । ५ । २३ वां वक्ष्य माण मंत्र किस प्रकार संघटित होगा, क्योंकि बकरे के शिर पार्श्व आदि अवयव तो पूर्वादि सब दिशाओं में काट २ कर बांट दिये, फिर समूचा बकरा वेदी में स्वाहा करने को नहीं रहेगा, और जो साबित बकरा वेदी में झोंक दिया तो, ऋत्विगादि के पेट मांस से भरने के लिये यज्ञ शेष कहां से आवेगा ? इससे हमारा ही किया अर्थ महौषधि वाचक ठीक होगा ॥

(प्रश्न) अच्छा तो आप ९ । ५ । २३ वें मंत्र का क्या अर्थ करोगे ? (उत्तर) सुनियें-

(९०५) नास्या स्थीनि भिन्द्या न्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्व मेनं समादाये दमिद म्प्रवेशयेत् ॥ ९ । ५ । २३ ॥

सान्वयभाषार्थ – (अस्य) इसकी (अस्थीनि) हड्डियां (न) नहीं (भिन्द्यात्) भेदन करै अर्थात् शाखादि काण्डों के टुकड़े न करै (मज्ज्ञो) इस की मज्जा को (न) नहीं (निर्धयेत्) पीवै अर्थात् शाखा आदि के टूटने से उन के भीतर से टपकते हुए मज्जा स्थानीय इसके रस को कोई न पीवै क्योंकि वह निष्प्रयोजन है * । किन्तु (एनम्) इस उक्त शाखा को (सर्वम्) समूची (आदाय) लेकर (इदम्) इसे अग्नि कुण्ड में (प्रवेशयेत्) पहुंचादे अर्थात् आहुती देदे ॥

---

* रसायन प्रयोग के लिये अजा महौषधि का कंद ही है, उस कन्द का भी दूध ग्रहण करना कहा है – देखो सुश्रुत चि० अ० ३० ।

याः क्षीरवत्य स्तासां क्षीर कुडवं सकृदेवो पयुञ्जीत ।

अर्थ– जो दूध वाली हों उनका दूध कुडव प्रमाण रसायन क्रिया में लेवै, यदि शुष्क हो तो पञ्च कषाय विधि करै यथा –

आदाय शुष्क द्रव्यं वा स्वरसाना मसम्भवे ।
जलेष्ट गुणिते साध्यं पाद शिष्टञ्च गृह्यते ॥

इति परिभाषायाम् ।

क्योंकि मीमांसा द० अ० १० पा० ७ में लिखा है कि-

(६०६)पशो रेक हविष्टं समस्त चोदितत्वात् ॥ १ ॥

अर्थ- (पशोः) यज्ञके हेतु पशु संज्ञा प्राप्त [हवनार्ह] वस्तु का (समस्त चोदितत्त्वात्) समस्त [अखण्डित] का विधान पाये जाने से (एक हविष्टम्) समूचा एक ही द्रव्य का ग्रास देना कहा है ॥
(६०७) तर्क-- बकरे में तो हड्डियों का न तोड़ना मज्जा का न पीना हो सक्ता है कि जिस के लिये निषेध किया, परन्तु आपकी महोषधि में उक्त वस्तु कहां,? फिर यह निषेध विधि क्यों है? (६०८) समाधान- महौषधियों में भी उक्त वस्तु सब होती हैं।

देखो अथर्व कां० ४ अनु० ४ सू० १२ मं० ४ । ५।

(६०६) मज्जा मज्ज्ञा संधीयतां चर्मणा चर्म रोहतु असृक्
ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ।४।
लोम लोम्ना संकल्पया त्वचा संकल्पया त्वचम्
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं संधे ह्योषधे ॥ ५ ॥

अर्थ- हे रोहाणि ! कटे हुए अस्थि को अङ्कुरित करने वाले भेषज, छिन्न हुए की (मज्जा) मज्जा (ते) तेरी (मज्ज्ञा) मज्जा से (संधीयताम्) संधित होवै, और (चर्मणा) चाम से (चर्म) कटा चाम, (रोहतु) पुरौ, (ते) तेरा (असृक्) रक्त (अस्थि) हड्डी को (रोहतु) पूरित करौ, और (मांसं) मांस (मांसेन) मांस से (रोहतु) भरौ ॥ ४ ॥
और तू (लोम्ना) रोम से (लोम) रोम को (संकल्पया) बना (त्वचा) अपनी खाल से (त्वचम्) खाल को (संकल्पया) बनाय और (ते) तेरा (असृक्) रुधिर (अस्थि) हड्डी को (रोहतु) उत्पन्न करौ, इस प्रकार (औषधे) हे औषध ! कटे हुए को (संधेहि) संधित कर अर्थात् जोड़ दे । ५ ।

(६१०) शृत मजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वै रङ्गैः सम्भृतं
विश्व रूपम् । स उत्तिष्ठे तो अभि नाक मुत्तमम्

पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥

बकरा खाने वाले का अर्थ

भाषा पदार्थ- (शृतया) उतारे वा उत्पाटन किये (त्वचा) खाल से (सर्वैः) सब (अङ्गैः) अवयवों से (संभृतम्) भली भांति धारण किये हुए (विश्व रूपम्) विचित्र रूप वाले (शृतम्) पकाये हुए (अजम्) बकराको (प्रोर्णुहि) खिलावो वा खावो (सः) वह तू (उतः) कल्याण युक्त (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्ट (नाकम्) सुख के (अभि) ओर (उत्तिष्ठ) उठ (चतुर्भिः) चार (पद्भिः) ज्ञान साधनों से * (दिक्षु) सब दिशाओं में (प्रति तिष्ठ) विराजमान हो ॥

भावार्थ- ईश्वर आज्ञा देता है कि बकरे की खाल उतार, अंग २ का मांस निकाल कर उसे पका कर खाओ जिस से शत्रुओं को जीत कर सर्व प्रकार से सर्वोत्तम सुख और ज्ञान की प्राप्ति होवै ॥

(६११) सं० अब हम इन बकरा खाने वालों के उपरोक्त अर्थ की समालोचना कर दिखाते हैं, कोष्ठ गत संस्कृत पदों को छोड़ भाषार्थ को पढ़ने से अज भक्षक जी की सब विद्वत्ता पाठकोंको प्रस्फुट हो जायगी, इस में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

अथ शुद्धार्थ :

(६१२) पदच्छेदः - शृतम्। अजम्। शृतया। प्र, ऊर्णुहि। त्वचा। सर्वैः। अङ्गैः। सम्भृतम्। विश्वरूपम्। सः। उत्तिष्ठ। इतः। अभि। नाकम्। उत्तमम। पद्भिः। चतुर्भिः। प्रतितिष्ठ। दिक्षु

सान्वय भाषार्थ (शृतया) पके (त्वचा) वल्कल से (सर्वैः) सब (अङ्गैः) अवयवों से (संभृतम्) अच्छे भरे हुए (शृतम्) पके हुए (विश्वरूपम्) अपने सर्वाकार युक्त (अजम्) अजा महौषधि को रसायन गुणोंकी लब्धि के लिये हे मनुष्य ! (अभि) अति (उत्तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) दुःख रहित लोक में तू (प्रोर्णुहि) अच्छादित कर अर्थात् आहुती द्वारा दिवि लोक में पहुंचा जहां सोम का निवास है (सः) वह [अजा]

---

* अजा महौषध रसायन यज्ञ के चार पाद

चतसृषु होत्रासु चतुष्पाद्यज्ञः प्रतितिष्ठति। १।

गोप० ब्रा० पू० भा० प्र० ३।

चतष्पात्सकलो यज्ञश्चतु र्होतृ विनिर्मितः ॥

तथैव वास्योनर भागे २ प्रपाठके

आयुर्वेदोक्त चिकित्सा के वा यज्ञ के (चतुर्भिः) चार (पद्भिः) पादों से * (उत्तिष्ठ) उठो मनुष्यों के कर्ण रूप (दिक्षु) दिशाओं में प्रतितिष्ठ (प्रतिष्ठा) पावौ कि अमुक पुरुष ने अजा महौषधि को यज्ञ विधी पूर्वक सेवन किया और वह सब क्लेशों से मुक्त हो अत्युत्तम सुख फल का भागी हुआ इत्यादि ॥

(९१४) आनयैत मारभस्व सुकृतां यत्र लोकमपि गच्छतु प्रजानन्। तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाक माक्रमतां तृतीयम् ॥ ९ । ५ । १ ॥

अज हिंसक का अर्थ ।

भाषा पदार्थ -- (एतम्) इस बकरा को (आनय) ला (आरभस्व) क्रिया का आरम्भ कर (प्रजानन्) ज्ञानी तू (बहुधा) अनेक प्रकार के (महान्ति) बड़े २ (तमांसि) अन्ध कार अर्थात् अज्ञानों को (तीर्त्वा) तैर कर (सुकृताम्) धर्मात्माओं के (लोकम्) लोक में (गच्छतु) प्राप्त हो (अजः) बकरा (अपि) भी तुझ को (तृतीयम्) शारीरिक आत्मिक और सामाजिकों में से उत्तम संख्या पूरक (नाकम्) सुख को (आक्रमताम्) प्राप्त करावे ॥

(९१५) इस मंत्रार्थ की समालोचना में कुछ विशेष लेख नहीं वही बकरा बनाने का आरम्भ सूचित किया है ॥ भावार्थ में यह कहा है कि बकरे का मांस उत्तम फल दाता है और ऐसा मनवाते हैं ॥

शुद्धार्थः-

(९१६) पदच्छेदः- आनय । एतम् । आरभस्व । सुकृताम् । लोकम् । अपि । । गच्छतु । प्रजानन् । तीर्त्वा । तमांसि । बहुधा । महान्ति । अजः । नाकम् । । आक्रमताम् । तृतीयम् ॥

सान्वय भाषार्थ - हे (प्रजानन्) विशेषज्ञ (एतम्) इस उक्त लक्षण युक्त अजा महौषधि को (आनय) ला (आरभस्व) यज्ञारम्भकर (बहुधा) अनेक प्रकार के

* अजा महौषधी के चार पाद

१ रस, २ गुण, ३ वीर्य, ४ प्रभाव । इन्हीं चारों पादो से अपने गम्य देश में भेषज फल देने के लिये जाता है, इनका विपाक रस के अवान्तर आगया ॥

(तमांसि) तिमिरादि रोगा न्धकारों को (तीर्त्वा) उलांघकर (सुकृताम्) पुण्यात्मा जनों के (लोकम्) दर्शनीय फल को (गच्छतु) प्राप्त हो (अजः) अजा महौषधि (अपि) भी (तृतीये) तीसरे (नाकम्) द्युलोक को (आक्रमताम्) प्राप्त हो ॥ इन महौषधियों का विधान सोम का सा ही होने से स्वास्ति वाचन, शांतिपाठ, महोषधि का घृतादि हव्य के साथ हवनादि क्रिया होना, इत्यादि जो आहुतियां होती हैं उनसे आरोग्य उत्तम गुणद अन्नादि उत्पन्न होते हैं ॥

(९१७) सर्वत्र महौषधियां आग्नेय गुण वाली वा सोमीय गुण युक्त होती हैं। जैसे कहीं कहा हो कि " आग्नेयो जः " तो वहां सूखा अजा महोषध समझना सोमीय से आर्द्र सदुग्ध समझना। देखो—श० ब्रा० कां० । १ । ६ । २ । २३ ।

(९१८) "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति आर्द्रं चैव शुष्कञ्च । यच्छुष्कन्तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्" ॥ इत्यादि ।

९ । ५ । २ के मन्त्र में कोई लिखने योग्य विशेष बात नहीं इससे उसे नहीं लिखते ।

(९१९) अनु छ्य श्यामेन त्वच मेतां विशस्त र्यथापर्व सिना माभि मंस्थाः । माभि द्रुहः परुशः कल्प यैनं तृतीये नाके अधि विश्रये नम् ॥ ९ । ५ । ४ ॥

मांसाशी जी का अर्थ—

पदानि—अनु । छ्य । श्यामेन । त्वचम् । एताम् । विशस्तः । यथापर्व । सिना । अमा । । अभि । मंस्थाः । अभिद्रुहः । परुशः । कल्पय । एनम् । तृतीये । नाके । अधि । विश्रय । एनम् ॥

भाषा पदार्थ—(विशस्तः) हे विशन अर्थात् मार कर टुकड़े २ करने वाले (श्यामेन) तीक्ष्ण शस्त्र से (एताम्) इस (त्वचम्) खाल को (यथापर्व) अङ्ग २ से (अनु) मारने के पीछे (छ्य) काट कर उतार और मांस को (अमा) अपरिमित (सिना) अन्न अर्थात् खाना (अभि मंस्थाः) मान (मा) मत किसी से (अभि द्रुहः) द्रोह कर कि औरों को न दूं आप ही खाऊं इस प्रकार का द्रोह न कर (एनम्) इस बकरा का (परुशः) अङ्ग २ (कल्पय) पाक क्रिया से सिद्ध कर

(एनम्) इस यजमान को (तृतीये) सर्वोत्तम (नाके) सुख के (अधि) ऊपर (वि) विशेष करके (श्रय) आश्रित कर ॥

उपरोक्त मंत्रार्थ की समालोचना

(६२०) सं० इस मंत्र के पदच्छेद अशुद्ध करके अज मांस पकाया है, अब घी से ओदन से पकाना छोड़ दिया, अब निरा बकरे का मांस आप खाने और दूसरों को खिलाने पर कटि बद्ध हुए हैं। इस मंत्र में यजमान को भी तीसरे लोक में पहुँचा दिया ऐसा विचित्र अर्थ किया है। हा शोक ! शास्त्री का पद जिन को लिखा जाय और वे [यथा पर्व सिना माभि मंस्थाः] इस भाग का पदच्छेद ऐसा बेढंगा करें कि" यथा । पर्व । सिना । अमा । अभिमंस्थाः ।

(६२१) सं० यहां "छो छेदने" धातु का" छय" और" असु क्षेपणे" का" असि" शब्द और "पृ प्रीतौ धातु" का" परु" शब्द बना है, यही सामान्य यौगिकार्थ वेद में करना मीमांसाकारों ने [११५६] स्वीकार किया है। परन्तु इन के से, चाहें जो बिगड़ो इन्हें बकरे का विध्वंस करना खाना और कुछ नहीं ॥

शुद्धार्थः—

(६२२) पदच्छेद— अनुछ्य । श्यामेन । त्वचम् । एताम् । विशस्तः । यथा । परु । असिना । मा । अभि मंस्थ । मा । अभिद्रुहः । परुशः । कल्पय । एनम् । तृतीये । नाके । अधिविश्रय । एनम् ।

सान्वय भावार्थ— हे (विशस्तः) भेषज छीलने वाले (एताम्) अच्छे पकने के कारण कठोर हुए इसके (त्वचम्) छिलके को (श्यामेन) पैनी धार के (असिना) छीलने के शस्त्र से (अनुछ्य) छील और (यथापरु) यथायोग्य प्रीति कर [८३३] [सोम के तुल्य यम नियम पर होने से] (अभिद्रुहः) वैर (मा) न कर (एनम्) इस उक्त महौषध का (परुशः) प्रेम से अर्थात् श्रद्धा से (कल्पय) प्रयोग कर और (एनम्) इस उक्त महौषध को (तृतीये) तीसरे (नाके) सुख स्थान में अर्थात् सूर्याश्रम में आहुति द्वारा (अधिविश्रय) विश्राम करा ।

(६२३) ऋचा कुम्भी मध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चौ
दक मवधे ह्येनम् । पर्याधत्ता मग्निना
शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ ६५५ ॥

मांसाहारी जी का अर्थ-

(ऋचा) ज्ञान से (कुम्भीम्) बटलोही जिस पात्र में मांस पकाया जाता है (अग्नौ) आग पर (अधि श्रयाभि) अधि श्रयण कर्म अर्थात् पकाने के लिये धरता हूं (उदकम्) जल को (आसिञ्च) सींच (एनम्) इस मांस को उसमें (अव धेहि) डाल और (पर्य्याधत्ताम्) ऊपर से ढकनी देकर पात्र का मुख बन्द कर (शमितारः) हे मारने वाले ऋत्विग् विशेष (अग्निना) आग से (शृतः) पकाया हुआ (सुकृताम) धार्मिकों का (यत्र) जहां लोकः (लोक) वा दर्शन है (तत्र) उसमें गच्छतु) प्राप्त करे ॥

(१२४) इस मंत्र के अर्थ करने में भी मांसाचार्य जी ने मांस शब्द अपनी ओर से ही खर्च किया है, और कुम्भी शब्द का अर्थ मांस पकाने की बटलोही घड़ दिया यही झोंकना इनके भावार्थ में है विशेष कोई बात नहीं ॥

शुद्धार्थः

(१२५) सं० सान्वय भाषार्थः (ऋचा) ऋगादि वेदों के मंत्रों से (कुम्भीम्) मृण्मयी छोटी घटी [मिट्टी की हंडिका] को * (अग्नौ) अग्नि के ऊपर (अधिश्रयामि) अधिश्रय [रख] (उदकम्) जल को (आसिञ्च) आसिञ्चन कर अर्थात् हांडी में जल छोड़ § (एनम्) इस उक्त महौषधको (अवधेहि) इस में धर (पर्य्याधत्ताम्) पारा ढकदे हे) (शमितारः) शान्ति पाठ करने वाले ऋत्विग् लोगो ! (अग्निना) अग्निसे (शृतः) पकाया अर्थात् क्वथित हुआ यह भेषज (यत्र) जहां (सुकृताम्) सत्कर्म करने वालों का (लोकम्) दर्शन हो वहां (गच्छतु) जाओ अर्थात् पुण्यात्मा जन इस कायिककल्प रसायन अजा महौषध का सेवन करो ॥

(१२६) उत्क्रामातः परि चेदतप्त स्तप्ता च्चरो रधिनाकं तृतीयम्। अग्ने रग्नि रधि संबभूविथ ज्योतिष्मन्त मभिलोकं जयैतम् ॥ ६ । ५ । ६ ॥

मांस भक्षक जी का अर्थ

भाषा पदार्थ (तप्तात्) पक (चरोः) भक्ष्य बकरे के मांस से (परि) सब प्रकार से

---

* पात्रे नोक्ते च मृण्मयम् । इति परि भाषायाम् ॥

§ यहां आसिञ्च के योग होने से लट्को लोट् व्यत्यय है ।

(उत्क्रामातः) निकाला हुआ (अतप्तः) कच्चा मांस (तृतीयम्) सर्वोत्तम (नाकम्) सुख को (अधि) "करोति" अत्यन्त करता है (अग्निः) अग्रणी तू (अग्नेः) ईश्वर की कृपा से (अभि) सब प्रकार से (संबभूविथ) बढ़ (ज्योतिष्मन्तम्) स्वर्णादि से समृद्ध (एतम्) इस (लोकम्) शत्रु के लोक अर्थात् देश को (जय) जीत ॥

अब विपक्षी का भावार्थ भी लिखे देते हैं।

ईश्वर आज्ञा देता है कि मांस के पकाने में यदि कच्चा अंश रहै तो उसको निकाल कर पका हुआ खाओ। ऐसा करने से तुम अग्रणी और शत्रुओं के देश जो स्वर्णादि से समृद्ध हैं उनको जीत कर नीरोग और सुखी होवो।

समालोचना

(६२७) "उत्क्रामातः" ऐसा पदच्छेद अशुद्ध है, इसका अर्थ— निकाला हुआ— यह न हो सकेगा "चरोः"- इसका— भक्ष्य बकरे के मांस से— ऐसा विशेषार्थ और" अतप्तः" इसके अर्थ, में- मांस- पद, "तृतीयं" का- सर्वोत्तम- "अधि" के साथ "करोति" क्रिया, ये सब अर्थ अयुक्त और अनुचित हैं, 'अग्नि" का अर्थ यहां— अग्रणी— अनावश्यक है, "अग्नेः" का- कृपासे- संबभूविथ" का- बढ़- "ज्योतिष्मन्तम्" का- स्वर्णादि, से समृद्ध- और" एतं लोकं जय" इसमें- अपने लोक को शत्रु का बता कर जीतने की प्रेरणा- ये सब बातें मांस भक्षी जी की गांठ की हैं॥ तथा इनका किया भावार्थ भी इसी डगर को गया है, विशेष लिखना उचित नहीं॥

शुद्धार्थः

(६२८) शुद्ध पदच्छेद.— उत् क्राम। अतः। परि। चेत्। अतप्तः। तप्तात्। चरोः। अधिनाकम्। तृतीयम्। अग्नेः। अग्निः। अभि। संबभूविथ। ज्योतिष्मन्तम्। आभि, लोकम्। जय। एतम्॥

सान्वयभाषार्थ— (चेत्) यदि (परि) सर्वथा (अतप्तः) सूर्य संताप द्वारा स्वतः काल वश अपक्व [ठीक न पका] हो अर्थात् कच्चा हो वह (अतः) इस रसायन प्रयोग से (उत्क्राम) पृथक् करदे क्योंकि सम्यक् परि पक्व महौषध के ग्रहण करने की [६१० अंकपर] आज्ञा है, और (अग्नेः) अग्नि के (तप्तात्) ताप से पके (चरोः) भक्ष्य [हव्य] से (अग्निः) हुताशन (अभि) साक्षात् प्रा[illegible]

सब ओर से (संबभूविथ) सम्यक् प्रज्वलित हो और (एतम्) इस (तृतीयम्) तीसरे (अधिनाकम्) सुख प्रद (ज्योतिष्मन्तम्) प्रकाश वन्त सूर्य (लोकम्) लोक को (अभिजय) सब ओर से विजय करो अर्थात् अपने भेषज युक्त हव्य के परमाणुओं से झांप लो ॥ इसी वैदिक अभिप्राय को लेकर मनु अ० ३ श्लो० ७६ में कहा है कि-

(६२६) अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्य गादित्य मुप तिष्ठति ।

अर्थ-अग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को पहुंचती है ॥

(६३०) अजारोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तो ऽतिदुर्गाण्येषः । पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीय मानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥

मांसाहार पत्ती का अर्थ-

भाषा पदार्थ- (अज) बकरा (शरभ) शरभ मृग की (न) न्याँई (अतिदुर्गाणि) कठिन स्थानों को दुःखो को (चत्तः) हरने वाला वा नष्ट करने वाला (सुकृताम्) धार्मिकों की (यत्र) जहां (लोकः) स्थिति है वहां पर (आरोह) आरूढ करै (ब्रह्मणे) महात्मा बड़ों की तई और अन्न जल धन के लिये (दीयमानः) दिया हुआ (सः) वह (पञ्चौदन) पञ्चौदन का अर्थ पूर्व मंत्र में लिख दिया है । यह शब्द श्रौत सूत्रानुसार वैदिक पारिभाषिक शब्द है । जिसका अर्थ मांस से पकाया हुआ पांच प्रकार का भात है, आगे के मन्त्रों में भी जहां आवे यही अर्थ होगा । (दातारम्) दाता को (तृप्त्या) तृप्ति पूर्वक (तर्पयाति) तृप्त करता है ॥

भावार्थ-इस मंत्र में उपमालंकार है जो मनुष्य पञ्चौदन पका कर बड़ों तथा भृत्यों को खिलाता है वह अन्न जल और धनादि पदार्थों को प्राप्त होता है । जैसे शरभ से अन्य मृग सब दूर भागते हैं । और जो सन्मुख आते हैं वह मारे जाते हैं वैसे ही पञ्चौदन के दाता से शत्रु भाग जाते हैं वा मारे जाते हैं और एवं उक्त पुरुष के सुखादि की उन्नति और मनोरथ सिद्धि भी होती है ॥

समालोचना

(६३१) सं० आप जिस प्रकार मंत्रों का असङ्गत, और अघटितार्थ, अर्थ और भावार्थ

लिखते करते आये हैं, उसी प्रकार इस मंत्र के भी किये हैं न मानों तो कोष्ठ गत पदों को छोड़ कर सब पढ़ डालिये, इन के बकरा मारने खाने की गपौड़ें हमारे अर्थों के साथ मिलान करने से सब व्यक्त हो जायंगी ॥

शुद्धार्थः

(९३२) पदच्छेदः- अज । आरोह । सुकृताम् । यत्र । लोकः । शरभः । न । चत्तः । अतिदुर्गाणि । एषः । पञ्चौदनः । ब्रह्मणे । दीयमानः । सः । दातारम् । तृप्त्या । तर्पयाति ॥

अर्थ- हे (अज) अज संज्ञक ओषधे (यत्र) जहां (सुकृताम्) सदाचारि जनों का (लोकः) दर्शन हो वहां तू (आरोह) सब ओर से अर्थात् अधिकतर उपज तुझे (शरभः) शलभ [पतङ्ग जाति के कीट जैसे कि आक के खाने वाले विचित्र वर्ण के वा उसी के सदृश के टीढ़ी वा उस से छोटे कीट] (न) मत (चत्तः) प्राप्त हों अर्थात् मत लगो कि जिन से तू नष्ट होवे, क्योंकि रासायनिक चमत्कारि फल दायक भेषज (अति दुर्गाणि) बड़ी कठिनाई से मिलते हैं (एषः) यह (पञ्चौदनः) पांच प्रकार का स्वरस आदि रूप उन्दित अर्थात् सरस सजल पदार्थ जो है (सः) वह (ब्रह्मणे) ब्रह्म के अर्थ (दीयमानः) दिया हुआ अर्थात् ब्रह्मार्पण किया हुआ (दातारम्) याज्ञिक दान शील यजमान को (तृप्त्या) इच्छा की पूर्त्ति से (तर्पयाति) तृप्त करता है, अर्थात् अभीष्ट फल दे कर संतुष्ट कर देता है ॥

(९३३) एतास्त्वा जोपयन्तु धाराः सौम्या देवी र्घृत पृष्टा मधुश्च्युतः । स्तभान पृथिवी मुतद्यां नाकस्य पृष्ठे अधि सप्तरश्मौ ॥ ९ । ५ । १५ ॥

मांसभक्षी का अर्थ

भाषा पदार्थ- (अज) बकरे (एताः) यह (मधुश्च्युतः) मधुर रस के झराने वाली (देवीः) दिव्य गुण युक्त (सोम्याः) ओषधिरूप सोम रस वाली (घृतपृष्टा.) जल की (धाराः) धारें (त्वा) तुझको (उपयन्तु) प्राप्त की जावें (नाकस्य) सुख के (पृष्ठे) ऊपर (सप्तरश्मौ) सात प्रकार के रंग युक्त सूर्य की किरणों में (पृथिवीम्) पृथ्वी को (उत) और (द्याम्) प्रकाश मान सूर्य चन्द्रादि लोकों को (स्तभान) हमारे सुख के लिये करो ॥

भावार्थ- बकरे के मांस को औषध सोम रस वाली जल की धारें हमारे सुख के लिये सिद्ध करें अर्थात् इनसे आज मांस सुख कारी होता है, इस से अनुपान किया मांस रोग नाशक है जैसे सूर्य की किरणों में सात प्रकार के रंग होने से सौन्दर्य है, वैसे श्रेष्ठता और पाक में मनोहरता इस में भी जानों और तद्वद् लाभकारी भी मानों ॥

समालोचना

(८३४) इन के सभी मंत्रार्थों में बकरे के मांस की ही मनोहरता दिखाई जाती है और कुछ नहीं ऐसा ही असंगतार्थ करके वेदार्थ बिगाड़ा है ॥

शुद्धार्थ

(८३५) सं० हे (अज) अजा महौषधे (एताः) देवीः (ये) दिव्य गुण मयीं (सौम्या) सोम गुण वालीं (मधुश्च्युतः) मधुर रस झिरने वालीं (घृतस्पृष्टाः) घृत संपर्क [मेल] की हुई (धाराः) धाराएं अर्थात् अग्नि कुण्ड में अविच्छिन्न रूप से निरन्तर प्रयात (त्वा) तुझे वृष्टि रूप से (उपयन्तु) प्राप्त हों, और तू (नाकस्य) स्वर्ग के (पृष्ठे) ऊपर (अधि सप्तरश्मौ) सूर्य की सातों किरणों में (पृथिवीम्) पृथ्वी में (उत) और (द्याम्) चन्द्रादि अन्य प्रकाश मान लोकों में (स्तभान) ठहरो ॥

कौथुम शाखीय छान्दोग्य प्र० ४ खं० १७ ।

(८३६) यज्ञस्य हैष भिषक् यद् ब्रह्मा यज्ञायैव तद् भेषजं कृत्या हरति ॥

अर्थ- ब्रह्मा यज्ञ का [१००५ । १००६ । १००७] वैद्य है कि जो यज्ञ के लिये ही औषध बनाकर पहुंचाता है अर्थात् सर्व जनता के उपकारार्थ यज्ञ द्वारा चिकित्सा करता है । (८३७) सं० सोम और बकरा एक से हैं । यह सिद्ध करने के लिये मांस भोजन विचार नामक पुस्तक के संपादकजी ने ६ । ५ । १५ । के "एतास्त्वाजे" ति उक्त मन्त्रपर, श० प० ब्रा० ३ । ६ । ४ । १२ । यह पता दे कर निम्न लिखित पाठ धरा है ॥

(८३८) सोमो वै वाज स्तस्य चन्द्रमा स्तृतीय मयं यः पवते । स तृतीय मिति सतनू करणे तं सर्वं स्वतनू भूत माप्यायर्यात ॥

पदच्छेदः । सोमः । वै । वा । अजः । तस्य । चन्द्रमाः । तृतीयम् । अयम् । यः पवते । सः । तृतीयम् । इति । सः । तनू करणे । तम् । सर्व । स्वतनू भूतम् । आप्यायति ।

सान्वय भावार्थ– (सोमः) सोम लता और (अजः) अजा महौषध ये दोनों (वै) निस्संदेह गुण से वीर्य से प्रभाव से (वा) सदृश हैं (तस्य) उस सोम के (चन्द्रमाः) चन्द्र लोक (तृतीयम्) तीसरे स्थान में है, और (अयम्) यह (यः) जो अजा (सः) वह भी (इति) इसी प्रकार से (तृतीयम्) तीसरे सूर्य लोक को (पवते) स्वच्छ करता है (सः) वह चन्द्रमा चन्द्र लोक (तनूकरणे) संतानार्थ (स्वतनू भूतम्) अपने शरीरांश से उत्पन्न हुए (तम्) उस सोम को (आप्यायति) सब ओर से बढ़ाता है ॥

(९३९) **सं०** परन्तु इसका अर्थ मांसाहारी जी ने कुछ नहीं किया हमने शत पथ ब्राह्मण का पाठ समझ उस में इसी पते पर देखा तो यह उक्त पाठ नहीं मिला अस्तु अब हमने इसका भी अर्थ करके इनके बकरे के गीत में भङ्ग दिखा दिया ।

(९४०) **सं** उपरोक्त पाठ में अज नाम से सोम की सहचारिणी औद्भिद् और सजातीय अजा महौषधि को छोड़ कर जाङ्गम असहचारी और विजातीय प्रमाण शून्य बकरा ले लेना महान् अनर्थ है, देखो– व्याकरण परिभाषा–

(९४१) सहचरिता सहचरितयो मध्ये सहचरित स्यैव ग्रहणम् ॥

अर्थ--सहचारि और असहचारि इन दोनों के ग्रहण की अति व्याप्ति में सहचारी का ही ग्रहण होता है ॥

देखो- च० चि० आयुर्वेद समुत्थानीय रसायन पाद ।

(९४२) सोम नामौषधिराजः पञ्चदशपर्वा स सोम इव हीयते वर्धते च पद्मा नामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च । अजानामौ षधि रजशृङ्गीति विज्ञायते ।

अर्थ इस का सुगम है । इस उक्त लेख से सोम और अजा की सहचारिता सर्वथा

सिद्ध है। इस कारण उक्त विषय पर अजा महौषधि ही लेना चाहिये।

इति प्राणौषद्य निरूपणे स्वस्थ वृत्त्यधिकारे मांसभाद्यि कृता पार्थ
खण्डन पूर्वकाजा महौषधि रसायन प्रयोग प्रकाशको-
ऽष्ट त्रिंशत्तमो विवेकः ॥ ३८ ॥

अनर्थ नाशिका अर्थ ग्राहिका युक्ति निदर्शन

(६४४) एक वस्तु का दूसरी वस्तु के नाम पर जो नाम होता है, वह किसी अर्थ को ही लेकर होता है, क्योंकि सार्थक संज्ञा ही ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आत्मा को वस्तुओं का ज्ञान कराने वाली है, यह प्रायः यौगिक वा योगरूढि होती है। जैसे कि द्राक्षा का नाम गोस्तनी है, यह शब्द अपने शब्दार्थ से यह सूचित करता है कि जो भेषज गौ के थन के आकार का सा हो वह गोस्तनी है। जिस का अजा [बकरी] के स्तनोपम कन्द हो वह अजा महौषधि होती है। जिस भेषज का कोई अवयव मेष पशु के अङ्गोपम वा अवयवोपम हो वह मेष नामक हो सक्ता है वा है। (६४५) सं० किसी की कोई संज्ञा उसके गुण की वाचिका होती है, जैसी इसी उक्त भेषज का नाम दद्रुघ्न है, अर्थात् दादों के खोने वाला है, अब बुद्धिमान् पुरुष विचार सक्ता है कि कोई भेषज ऐसी है, जिस का कोई अवयव मेष पशु के अवयवोपम है, और वह दद्रुघ्न भी है। मिलते मिलते जहां दोनों बात मिल गई यही मेष और दद्रुघ्न इन दोनों संज्ञाओं का लक्ष्य है, ऐसा पमार नामक लोक प्रसिद्ध एक क्षुप जाति के वानस्पत्य को देखा उस के बीजों का रंग मेष [भेड़] पशु के नेत्रों का सा है, इसी कारण इस को मेषलोचन और एडगज भी कोशकारों ने लिखा है, ॥

(६४६) सं० जहां कहीं उपमान से उपमेय उपमित किया जाता है वहां उपमान का अव्यभिचारि प्राकृत गुण ही लिया जाता है, इसी से भेषजों की अनेक सञ्ज्ञा अनेक वस्तुओं के प्राकृत शब्द स्पर्शादि अर्थों की उपमा देकर नियत की हैं ॥

(६४७) सं० किसी भेषज का नाम अन्य वस्तु के नाम पर हो तो उस वस्तु के जितने पर्य्यायी शब्द होते हैं, वे सब उस भेषज के भी माने जाते हैं जैसे हल्दी का नाम

रात्रि है, तो जितने रात्रि के पर्य्यायी नाम हैं. वे सब हल्दी के भी समझे जाते हैं, परन्तु हरिद्रा के निज नामों से रात्रि का ग्रहण न होगा क्योंकि हरिद्रा रात्रि का पर्य्यायी [एकार्थी] नहीं, मुस्ता [नागर मोथा] यह मेघनामा है, जितने मेघ के पर्यायी हैं वे सभी मुस्ता के नाम हैं, परन्तु मुस्ता के कहने से मेघ नहीं लिया जायगा- अश्व गंध वा अश्व गंधा, यह भेषज वाजिनामा है। जितने वाजी [अश्व] के नाम हैं वे सभी अश्वगंध के नाम हैं। तथा वाराहिका तुरगी वाजिनी हयी, इत्यादि भी इसी के नाम हैं, वाराही अश्व-गंधा का नाम इस कारण है कि इसके पत्तों की आकृति वाराह के कर्णों की सी होती है, इस्से वाराह कर्णी भी भाव प्र० में लिखा है, (९४८) सं० इस उक्त प्रकार ही अज वा अजा शब्द के छाग आदि जितने पर्य्याय वाच शब्द हैं वे सब अजा महौषधि के, और मेष के, अवि, भेड़, एड़क आदि सब पर्य्याथि प्रपुन्नाट [पमार] भेषज के बोधक हैं। देखो – वृष नाम वांसे का, और बैल का भी है, तो क्या वृष नाम से वांसे के स्थान में बैल, वा बैल के स्थान में बांसा ले लें। कदापि नहीं, ऐसा करना सब अयुक्त और महान् अनर्थक है,

(९४९) सं० जबकि रसायन सेवन अध्वर कर्म पूर्वक होता है, भेषजाहुति गायत्र्यादि मंत्रो सहित होती है, सोमादि जिसमें प्रधान भेषज, अश्विनी कुमार स्वर्वैद्य, इन्द्र, अग्नि, इन्हीं सर्व रक्षक देवों के जिस यज्ञ स्थल में बार २ नाम आते हैं * और किसी मांस भक्षक असुर पिशाच राक्षस आदि का नितान्त नाम नहीं वहां महौषधियों के नाम से चौपाये आदि जीवों की हिंसा करना कैसा ? ॥

हमारा मन्तव्य वा आग्रह यह कदापि नहीं है कि, हम वपा का वा मेद का अर्थ कहीं भी चरबी न करैं, अथवा छाग शब्द का बर्कर [बकरा] वा मेष का अर्थ मेंढा, और ऋषभ का बलीवर्द्द न करें, वा सर्वत्र योगिकार्थ में ही हठ करैं, रूढि वा योगरूढि अर्थ को यथोचित न करें, परन्तु विषय भी तो देखना चाहिये। कहिये जहां धार्मिक-याज्ञिक, आर्ईस्य, रासायनिक, सोम का साहचर्य हो, वहां उक्त नामों से जङ्गम नहीं लेना चाहिये, देखो – इसी यजुर्वेद के ३५ वें अध्याय के मन्त्र १९।२० में वपा और मेद शब्द आये हैं, वहां चरबी के अतिरिक्त इनका अन्य अर्थ हो ही नहीं

---

* इन्द्राग्नि चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः।
स्तूयन्ते वेद वाक्येषु न तथान्या हि देवताः।
च० चि० अ० १ रसायन प्रसङ्ग

५३ इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मात् सर्वऽऐन्द्रा भवन्ति। श० ब्रा० ४।२।४।१७

सक्ता, क्यों कि यहां " क्रव्याद मग्निं प्रहिणोमि दूरं यम राज्यं गच्छतु " इत्यादि में अग्नि का विशेषण क्रव्याद, तथा यम राज्य आदि शब्दों का साहचर्य है, तथा य० अ० ३६ वे में लोम त्वचा लोहित [रक्त] मेद - मांस - स्नायु - अस्थि - मज्जा रेतस् ये सब धातु स्थावर वा जङ्गम दोनों के ही बोधक हो सक्ते हैं, १०। ११। । १२। १३ इनमें आये शुन्, शोचमान, शोक, मृत्यु, इत्यादि शब्दों का साहचर्य जङ्गम धातुओं को ही सूचित करता है, क्योंकि ये मन्त्र शव दहन विषयक हैं, तथा – य०- अ० १३ × ४३। ४४। ४५। इन स्थानों में अश्व - गो - अज - अवि - इनका उपकार और अहिंसन वर्णन किया वहां उद्भिद् वाचक नहीं घट सक्ते, देखो षड्- जादि स्वरों के मध्य ऋषभ शब्द है, उसे कोन महौषधी के अर्थ में लगा सक्ता है, इसी प्रकार याज्ञिक प्रकरण में सोम के साहचर्य से महौषधियों से भिन्नार्थ में उक्त अश्वादि शब्द नहीं खिच सक्ते, और जो किसी ने कुछ अर्थ किया भी और संगति न बैठी तौ वह करना, ऐसा समझना कि जैसा " द्वारि स्थितो गायाति भद्र काणि" में निरर्थक दोष आ जायगा ॥

प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे रासायनिक विषय भेषज निर्णयात्मक एकोन त्रिंशत्तमो विवेकः ॥ २९ ॥

अथ वेदोक्त सोम रसायन प्रयोगाः

(६५०) होता यक्ष दिडे डित ऽ आजुह्वानः सरस्वती मिन्द्र म्बलेन वर्द्धयन् नृषभेण गवेन्द्रिय मश्विनेन्द्राय भेषजं यवैः कर्कन्धुभि र्म्मधु लाजै र्न मासरम्पयः सोमः परिस्रुता घृतम्मधु व्यन्त्वा ज्यस्य होतर्यज ॥

यजु० अ० २१ ॥ म० ३२ ।

सान्वय भाषार्थ– (इन्द्राय) ऐश्वर्य वन्त राजा के लिये (अश्विना) अश्विनी कुमार

[चिकित्सक] ने (ऋषभेण) अष्ट वर्गोक्त ऋषभ नामक महौषध के (यवैः) यवान्न के (कर्कन्धुभिः) बेरों के (मधुलाजैः) माक्षिक [सहद] वा मुनक्का किसमिस सदृश मीठे फल और खीलों के साथ (मासरम्) परिणाम को पहुंचा अर्थात् सन्धित हुआ (पयः) जल (न) और (सोमः) सोमलता (परिस्नुता) अर्क रूप में खेंचा (भेषजम्) सर्व रोग दूर करने वाला परम रसायन औषध है, यज्ञ में (गवा) वाणी से (आजुह्वानः) बुलाया (इडेडितः) स्तोत्र से स्तुति किया गया (होता) हवन कर्त्ता (इन्द्रम्) तेज को और (सरस्वतीम्) वाक् (इन्द्रियम्) इन्द्रिय को इस उक्त सोम रस के (बलेन) बल से (बर्द्धयन्) बढ़ाता हुआ (यक्षत्) यजन करता है, तथा तैसे ही हे (होतः) हवन करने वाले मनुष्य, तू (घृतम्) घी को और (मधु) मधुर रसको उक्त रसायन के अभाव में वा भाव में (व्यन्तु) पान कर, और (घृतस्य) घी का (यज) हवन कर ॥

(९५१) होता यक्ष दश्विनौ छागस्य वपायाः मेदसो
जुषेता ᳪ हवि र्होत र्यज । होता यक्ष त्सरस्वतीं
मेषस्य वपायाः मेदसो जुषे ता ᳪ हवि र्होत र्यज ।
होता यक्ष दिन्द्र मृषभस्य वपायाः मेदसो
जुषता ᳪ हवि र्होत र्यज ॥

सान्वय भाषार्थ– यज्ञ समय (होता) दान के और हवन के करने वाला पुरुष (छागस्य) अजा संज्ञक महौषध के (मेदसः) मेदा नामक आयुर्वेदीय अष्ट वर्गोक्त महौषध के हवन द्वारा (वपायाः) बीज वपन क्रिया करने से, जो (यक्षत्) देव पूजनादि करता है, उस समय (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्रमा (जुषेताम्) प्रसन्न निर्मल, आरोग्य, अमृत वृष्टि कारक सेवनीय होते हैं, तथा हे (होतः) हवन पूर्वक उक्त रसायन सेवन और आहुति करने वाले मनुष्य तू भी इसी प्रकार (हविः) घृतादि सुगंधित द्रव्यों को (यज) यजन कर ॥ (९५२) सं० इस मंत्र का पूर्व भाग उक्त हुआ । मध्य भाग में मेष [पमार] और उक्त मेदा महौषध का प्रयोग वांग विशुद्ध्यर्थ और इसके पिछले भाग में सब के परमैश्वर्य पराक्रमार्थ ऋषभ [अष्ट वर्गोक्त महौषध] का और उक्त मेदा के योग का रसायन प्रयोग वर्णित है, शेषार्थ स्पष्ट है, ॥

(९५३) सं० आयुर्वेदानभिज्ञ मांस लोलुपों ने वपा का और मेदा का अर्थ चरबी

किया है, वह अयुक्त है, इस कारण तर्क उत्पन्न होता है कि, वपा और मेदा भिन्न २ वस्तु हैं? वा एक ही है! यदि एक ही है! तो दोनों नामों का क्या काम? यदि भिन्न हैं तो वपा से बकरे आदि की चरबी ग्रहण की तो मेदसे क्या लोगे?। यदि मेद शब्द से चरबी लिया तो, वपा शब्द व्यर्थ पड़ा, यदि मेद का धात्वर्थ से स्नेह अर्थ किया तौ वपा धातु का बीज सन्तान अर्थ क्यों नहीं किया जाय, यदि मेद का धात्वर्थानुसार स्नेह अर्थ किया तो वपा से क्या पत्थर लोगे? यदि वपा और मेदा एकार्थ नहीं तो भिन्नार्थ होने चाहियें इस से हमारा धात्वर्थानुकूल यौगिकार्थ ही शुद्ध है ॥ श० ब्रा० कां० १२ अ० ४। कं० ४ में लिखा है कि—

(६५४) त्रयो ह वा पशवो ऽमेध्याः। दुर्वराह एडकः श्वा तेषां यद्यधि श्रित ऽग्नि होत्रे ऽन्तरेण कश्चिं त्संचरेत किं तत्र कर्म का प्रायश्चित्तिः।

इस का भावार्थ यह है कि- विड्वराह, मेष, और कुत्ता ये अपवित्र पशु हैं, यदि इन में से कोई अग्नि होत्र वेदी के पास बैठे, वा होता वा यजमान के, और अग्नि होत्र के बीच में होकर निकल जाय तो क्या कर्म करना और कौन प्रायश्चित्त करना चाहिये? जिससे यज्ञ निर्दोष हो [१०८] ॥

सं० जब कि उक्त पशुओं का यज्ञ स्थली में आना भी प्रायश्चित्त कराता है तो इन में के एडक [मेष] को यज्ञार्ह पशु समझना कितनी बड़ी धूर्त्तता है ॥

(६५५) होता यक्ष दश्विनौ सरस्वती मिद्र ७ सुत्रामाण मिमे सोमाः सुरा माणाः च्छागै र्न मेषै ऋर्षभैः सुताः शष्पै र्न तोक्मभि र्लाजै र्मह स्वन्तो मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तो ऽमृताः प्रस्थिता वो मधुश्च्युत स्तान श्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्ता ७ सौम्यं मधु पिबन्तु मदन्तु व्यन्तु होत र्यज ॥

सान्वय भाषार्थ (इमे) ये (पयस्वन्तः) दूध वाले (सोमाः) पञ्चदशाङ्ग महौषधराज (सुताः) निचोड़े हुए (छागैः) अजामहौषधि के (मेषैः) चक्रमर्द [पमार] के (ऋषभैः) ऋषभ महौषधके (न) और (तोक्मभिः) नवाङ्कुरोत्पन्न यवों के (शष्पैः) दूर्वाङ्कुरों के (न) और (लाजैः) खीलों के साथ (सुरामाणाः) सुरा के प्रकार सन्धित हुए (मासरेण) परिमाण को पहुंचने से (परिष्कृताः) शुद्ध हुए (मधुश्च्युताः) मध्वासव के तुल्य वारुणी यन्त्र द्वारा चुवाए हुए (शुक्राः) वीर्य वर्द्धक (अमृताः) अकाल मृत्यु हारक वा यज्ञ शेष (महस्वन्तः) बड़े (मदाः) उत्तम हर्ष के देने वाले (प्रस्थिताः) प्रस्तुत [तयार] होते हैं (तान्) उन को (अश्विना) स्ववैद्य (सरस्वती) ज्ञानवती स्त्रियें (सुत्रामा) सुरक्षक (वृत्रहा) वृत्र नाम युद्ध उससे राज्य लब्ध करने वाला वृत्रहा, वा वृत्र नाम मेघ उसको छिन्नभिन्न करने वाला (इन्द्रः) परमैश्वर्यवन्त राजा वा सूर्य (जुषन्ताम्) सेवन करो (सौम्यम्) सोम के बने इस (मधु) आसव को (पिबन्तु) पीओ (मदन्तु) प्रसन्न होवो (व्यन्तु) विशेष जीवी होवो, जैसे (होता) उक्त सोम रस को हवन करने वाला (अश्विनौ) पद धातु के ज्ञानादि अर्थों को (सरस्वती) वाक् शक्ति को (सुत्रामाणम्) सुरक्ष्यमान (इन्द्रम्) परम विभव को (वः) हमारे वा तुम्हारे लिये (यक्षत्) दान करता है वा सगति पूर्वक वर्तता है, ऐसे ही हे (होतः) ऋत्विक् तू (यज) यजन कर ॥

सेनाध्यक्ष सैनिक से कहता है कि-

(६५६) यदी दहं युधये सन्नयान्य देवयून् तन्वा३
शूशुजानान् अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि
तीव्रं सुतम् पञ्चदशं निषिञ्चम् ॥

ऋ० १०।२।२७।

(यदि इत्) जब कभी (अहम्) मैं (अदेवयून्) देव यज्ञादि शुभ कर्म रहित (तन्वा) शरीर से (शूशुजानान्) हृष्ट पुष्ट हुए दस्युओं के अर्थात् चोर डाकुओं के प्रति (युधये) संग्राम के लिये (सन्नयामि) सनद्ध कर चलाऊं उस समय (ते) तेरे लिये रसायन (अमा) गृह में (तुम्रम्) बल प्रेरक (वृषभम्) अष्ट वर्गोक्त ऋषभ नाम के महौषध को और (तीव्रम्) तीक्ष्णगुण मय (सुतम्) निचोड़े हुए (पञ्चदशम्) सोम को (पचानि) पका उसका अर्क (निषिञ्चम्) खेंचूंगा अर्थात् चुवाऊंगा ॥

यहां वृषभ शब्द स्पष्ट सोम के साथ में है, कुछ गाड़ी चलाने के प्रसङ्ग में नहीं है, और

सोम कहीं गाड़ी में वा हल में जोता नहीं जाता इससे सोम का जोडिया गाढी जोतने वाला बैल रसायन प्रयोग में पकाने के लिये नहीं बनाया जा सकेगा ॥

तांड्य महा ब्रा० १६ । १० । लिखा है कि–

(६५७) भेषजं वै देवाना मथर्वाणो भैषज्यायै वारिष्टै ॥ १० ॥

अर्थ– (अथर्वाणः) अथर्व वेदोक्त सोमादि ओषधि (देवानाम्) इंद्रादि देवों के (भेषजम्) चिकित्सोपयोगि द्रव्य हैं इस कारण वह ऋग्, यजुः और साम भी जिस में अथर्व के कहे भेषज हों (अरिष्टै) अहिंसा [प्राणिरक्षा] रूप (भैषज्यायै) चिकित्सा के लिये हैं ॥

(६५८) असृक्षत प्र, वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया शुक्रासो वीरया ऽऽ शवः।

सामछन्द आर्चि० अ० ५। द० २ । मं० ६ ॥

सान्वय भाषार्थ–(गव्या) ऋषभ महौषधी के (अश्वया) अश्वगन्धा नामक रसायन भेषज के और (वीरया) बड़ी शतावर के साथ (सोमासः) सोम महौषधें (शुक्रासः) वीर्य वर्द्धक (प्रवाजिनः) विशेष बल वाले (आशवः) फुर्तीले अर्थात् चमत् कृत (असृक्षत) बनाये जाते हैं ॥ (६५९) सं० यह सोम महौषधि रसायन प्रकरण की है इस कारण जो भेषज रसायन होंगी उन से इस सोम महौषध में गुणों की अधिकता अवश्य हो जाती है ऋषभ, अश्व गन्धा, और शतावर, ये सब शुक्रल और रसायन हैं ॥
(६६०) अश्वगन्धा हयाह्वया । भाव प्रकाशः ।
तुरगी वनजा वाजिनी हयी । राजनि०(६६१) अश्वगन्धा निलश्लेष्म श्वित्र शोथ क्षयापहा बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णा ति शुक्रला । भा ० प्र ०
(६६२) महा शतावरी वीरा तुङ्गिनी बहु पुत्रिका । राज नि ० ॥
महती कफ वातघ्नी तिक्ता श्रेष्ठा रसायने । राजनि ० ॥

(६६३) अश्वावती ँ सोमावती मूर्जयन्ती मुदोजसम् । आवित्सि सर्वा ओषधी रस्मा अरिष्टतातये ॥

यजुः अ ० १२ मं ० ८१ ॥

सान्वय भाषार्थ– (अस्मै) इस यजमान के (अरिष्ट तातये) दुःख दूर होने के लिये (अश्वावतीम्) अश्वगन्ध जिस में पड़ा हो (सोमावतीम्) सोम जिस में हो उन (सर्वाः) सब (औषधिः) भेषजों को (ओजसम्) शुक्र पर्यंत सब धातुओं के तेज के (उत) अतिशय (ऊर्जयन्तीम्) बढ़ाने वालियों को (आ) सर्वथा अर्थात् रूप से, गुणसे और उन के योगसे हे मनुष्य (आविवित्ति) तू पहँचान ॥ अर्थात् सबके पहँचानने में अवश्य इनका आजाना उचित है। अथर्व– कां० १९ अ० ५ सू० ३६। में लिखा है कि–

(९६४) ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः।
सर्वा न्दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३॥

सान्वय भाषार्थ (ये) जो (यक्ष्मासः) रोग (अर्भकाः) बाल हैं अर्थात् अल्प मूल हैं (च) और (ये) जो (महान्तः) बढ़े हुए हैं और (ये) जो (शब्दिनः) शब्द वाले हैं अर्थात् दुश्चिकित्स्य ऐसे वाक्य से पुकारे जाते हैं (तान्) उन उक्त लक्षणों वाले (सर्वान्) सब को (दुर्णामहा) दुर्न्नाम - बुरी ख्याति वाले जैसे कि कोढ़, बवासीर आदि का हन्ता (शतवारः) यह शतवार नामक (मणिः) मणि वत् अचिन्त्य प्रभाव वाला (अनीनशत्) अतिशय नष्ट करता है ॥ ३ ॥

(९६५) शतं वीरा नजनय च्छतं यक्ष्मा नपावयत्।
दुर्णाम्नः सर्वान्हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४॥

सान्वय भाषार्थ– यह उक्त भेषज का सेवन (शतम्) अनेक (वीरान्) वीरों [शूर पुत्रों] को (अजनयत्) उत्पन्न करता है, (शतम्) और (यक्ष्मान्) रोगों को (अपावयत्) खोता है और (सर्वान्) समस्त (दुर्णाम्नः) अर्श, कुष्ठ, दद्रु, पामा, आदि रोगों के आतङ्कों को (हत्वा) मार कर (रक्षांसि) राक्षसों को (अवधूनुते) कँपाता है ॥

(९६६) हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः।
दुर्णाम्नः सर्वा तृड्ढ्वाव रक्षां स्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

सान्वय भाषार्थ– (शातवारः) शतवार भेषज का (मणिः) मणि का (हिरण्यशृङ्गः) हिरण्य नाम सुवर्ण वा रजत की तुल्य चमकते शृङ्ग [अग्रभाग] वाला (ऋषभ)

ऋषभ महौषध है (अयम्) यह सर्वान् सब (दुर्नाम्नः) घिनौने नाम के त्वग्दूषक रोगों को (तृड्ढ्वा) हिंसित करके (रक्षांसि) राक्षसों को (अवाक्रमीत्) दबाता है (६६७) सं० हाशोक ! इस अचिन्त्य प्रभाव वाले उक्त भेषज का वार्तमानिक आयुर्वेदीय पुस्तकों में न अब नाम है न पता है, और न इसकी पहचान ही रही ? जैसे ऋषभ वृषभ ये वृष पर्य्याय वाच्य हैं ऐसा यह भी एक प्रकार का शतवार नामक ऋषभ है यह उक्त शतवार नाम के भेषज का भी बोधक है ॥

इति रसायन विषयक वैदिक भेषज प्रयोग द्योतनीय श्चत्वारिंशत्तमो विवेकः ॥ ४० ॥

(६६८) वेदों में सोमके और सोमके भेदों के तथा सोम के तुल्य गुण वाली अनेक अन्य जैसी कि अजगरी आदि अष्टादश उक्त महौषधियों के, तथा जीवक ऋषभादिकों के, अश्वगन्धा शतावरी आदि शुक्ल रासायनिक भेषजों के, अनेक योगों से अनेक अरिष्ट, अनेक आसव, तथा मध्वासव लोकोपकारार्थ उप लक्षण मात्र विधान किये हैं, । (६६९) परन्तु जिन में सोमका वा सोम के भेदों का योग है' वे तो सोमरस वा सोम इस नाम से विख्यात होते हैं, वा हैं, वे शुद्ध माने गये हैं और (६७०) जिन प्रयोगों में सोम वा सोम का भेद भी नहीं हो वह सुरा कहाते हैं, वे निन्द्य द्विजों के अपेय गिने जाते हैं, उनको असुर पिशाच राक्षसादि शुभेतर पुरुष पीते हैं * वा पशुओं के वा सुरा से आरोग्य होने वाले रोगियों के पीने के काम में आते हैं, (६७१) तथा बहुत से ऐसे भी प्रयोग हैं कि, जो सोम और सुरा को मिलाकर बनाये जाते हैं वे विशूचिकादि महा मारक रोग निवारणार्थ हैं, ।

(६७२) सौत्रामणी नामक प्राणिरक्षार्थ एक यज्ञ विशेष [सोम और सुरा आदि आसब रूप भेषजों की सङ्गति लगाने के लिये सभा] है, नाकि सुरा पीने की शिक्षा पाने के लिये हो । अविवेकी धूर्त्तों ने मद्य पीने की धार्मिक आज्ञा वेद में बताकर इस मिस से मद्य पीना प्रचालित कर दिया है ॥

---

(६७६) * मद्य प्रयोगं कुर्वन्ति शूद्रादिषु महार्तिषु
द्विजैः क्षीभ स्तु न ग्राह्यं यद्यप्युज्जीवयेन्मृतम् ।
राजनि० पानीयादि वर्ग ।

(६७३) सं० जो सोम रसायन सेवन करते थे उनको सोम पीने के पश्चात् वमन होता था इसका वृत्त पिछे विस्तार से लिखा गया है, सोम से वमन होने वाले सोमवामी कहाते थे, वे सोम रसायन का फल पाकर वेदोक्त कर्मों की प्रशंसा कराते थे।

(६७४) सं० और अब सोम तो खालिया अजने, और अज खालिया चण्डी भक्त ने, इस कारण सोमवामी वेद विरोधी वामी हो गये ॥

तैत्ति० ब्रा० अष्ट० १। अध्याय वा प्रपाठक ३ अनु० ३ कं० २

(६७५) एतद्वै देवाना म्परम मन्नं यत्सोमः ॥

अर्थ— (एतत्) वह (वै) ही (देवानाम्) इन्द्रादि देवों विद्वानों का (परमम्) श्रेष्ठ (अन्नम्) अदनीय रसायन है (यत्सोमः) जिस में सोम है वा जो सोम है ॥

तथा० तै० ब्रा० १ । ३ । ३ । मं० ३

(६७७) अन्नस्य वा एत च्छमलं यत्सुरा ॥

अर्थ— (एतत्) वह (अन्नस्य) अन्न का (वा) ही (शमलम्) मल है (यत्सुरा) जिस में सुरा है वा जो सुरा है ॥ तथा च मनु अ० श्लो०

(६७८) सुरा वै मल मन्नानां पाप्मा च मल मुच्यते ।
तस्माद् ब्राह्मण राजन्यौ वैश्यश्च न सुरा म्पिबेत् ॥

अर्थ— सुरा [शराब] अन्नों का मल है यह निश्चय है और मल पाप को कहते हैं इस-से ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, सुरा को न पीवें, क्योंकि द्विज वृत्ति धारि जनहीं संसार के विशेष प्रबन्धक हैं, इन के दुर्व्यसनी होने पर किसी को भी सुख नहीं ॥

गोप० ब्रा० उत्तर भाग प्रपाठक ५ ब्रा० ६

(६७९) एत दश्विनौ च सरस्वती च यज्ञं समभरन्
सौत्रामणिं भैषज्याय ॥

अर्थ— इस सौत्रामणी नामक यज्ञ को अश्विनी कुमारों ने और सरस्वती ने (भैषज्याय) [औषध्यर्थ] (समभरन्) धारण किया ॥

(९८०) सं० भावार्थ– यह है कि सौत्रामणी चिकित्सार्थ यज्ञ है यह स्वस्थ वृत्ति के लिये नहीं ॥ सोमादि महौषधि विषयक विचार, स्थाली पुलाक न्याय से भाष्य महीधर का भी देखिये ॥

(९८१) शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणा मृत
मम्मृतेन। सग्मे ते गोः। अस्मे ते चन्द्राणि।
तपस स्तनू रसि प्रजापते र्वर्णः परमेण पशुना
क्रीयसे सहस्र पोषं पुषेयम् ॥

यजुः अ० ४ कं० २६ मं २६

महीधर भाष्य– का० [७ । ८ । १६] शुक्रं त्वेति हिरण्य मालभ्य वाचयतीति हे सोम शुक्रं दीप्यमानं त्वा त्वां शुक्रेण दीप्यमानेन हिरण्येन क्रीणामि क्रीतं करोमि। किम्भूतं त्वां चन्द्रं चादि आह्लादने फल हेतुत्वेना ह्लादकरं। तथा अमृतं स्वादुत्वेना ऽमृत समानम्। किम्भूतेन शुक्रेण चन्द्रेणा ह्लादकरेण तथा मृतेना ऽग्नि संयोगादिनापि बिनाश रहितेन ॥ का० [७ । ८ । १७ ।] सग्मे त इति सोम विक्रयिण ७ हिरण्ये नाभिकम्पयति। यो हिरण्य मादाय सोमं विक्रीणीते तं हिरण्ये नाभिकम्पयेत् ! तद्धस्ते हिरण्यं दत्वा स्वीकुर्वं स्तं निराशं कुर्यादिति सूत्रार्थः। षष्ठी प्रथमार्थः। हे सोम विक्रयिन् ! गोः गौः सोम मूल्यत्वेन तुभ्यं दत्ता सा त्वदीया गौः पुनः प्रत्याहृत्य सग्मे यजमाने तिष्ठतु। हिरण्य मेव तवास्तु गौ र्माभू दि त्यर्थः यद्वा ते गौः सग्मे वर्तते। गौ ग्मा क्ष्मा क्ष्मी त्युक्ते [निघं० १ । १ । २] ग्मा गौः तया सह वर्तमानः सग्म स्तस्मिन् ते गोरिति। यजमाने ते गोरिति श्रुतेः [३ । ३ । ३ । ७] सग्मो यजमानः का० [७ । ८ । १८ ।]अस्मेत इति यजमान सहित निदधाति इति यजमाने प्रत्यर्पितं तद्धो द्रव्यं तत्पुन र्यजमान सहितं सोम विक्रयिणः पुरतो निदध्या दिति सूत्रार्थः। हे सोम विक्रयिन् ! ते चन्द्राणि तुभ्यं दत्तानि यानि हिरण्यानि तान्यस्मे अस्मासु प्रत्याहृत्य तिष्ठंतु तव गौरेव सोम मूल्य मस्तु हिरण्यानि मा भूवन्निति भावः। का० [७ । ८ । २०] । अजाम् प्रत्यग्मुख्वी मालभ्य वाचयति तपसस्तनू रिति। अजा देवता ऽस्य यजुषः ऽसौ सोमः। हे अजे ! त्वं तपसः पुण्यस्य तनूरसि देहो

ऽसि । दिवि स्थितस्य यज्ञियस्या नयनायाजां गृहीत्वा गायत्री जगामेति तित्तिरिणा सोमाहरणो पाख्याने उक्तत्वा दजायाः पुण्य शरीरत्वं । किञ्च हे अजे, त्वं प्रजापते र्वर्णो ऽसि, वर्णो देहः । याथ प्रजापतिः सर्वदेवताप्रिय एव मजापि तदुक्तं तित्तिरिणा । सा वा एषा सर्व देवत्या यदजेति । एव मजां स्तुत्वा सोमं प्रत्याह, हे सोम ? परमेण पशुना उत्तमेना ऽजा लक्षणेना नेन पशुना त्वं क्रीयसे । तपस स्तनूत्वादजाया उत्तमत्वं । अत स्तव प्रसादात् सहस्र पोषम् पुत्र पश्वादि सहस्राणां पोषो यथा भवति तथा पुषेयम् पुष्टो भूयासम् । यद्वा यमर्थः हे अजे ? त्वं प्रजापते स्तपस स्तनूरसि प्रजापति तपो रूपासि तदुत्पन्नत्वात् । तदुक्तं श्रुत्या । [३ । ३ । ३ ।८] तपसो ह वा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजेति । किञ्च प्रजापते र्वर्णो रूपं त्वमसि त्रिगुणत्वा त्प्रजापते स्त्रिरूपत्वं । अजापि प्रति सम्वत्सरं त्रिवारं प्रसूते तस्मात् प्रजापते र्वर्णत्वं । तदुक्तं श्रुत्या [३ । ३ । ३ । ८] सा यत्त्रि संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापते र्वर्ण इति एव मजां स्तुत्वा सोम माह, परमेणोत्कृष्टेन पशुना ऽजया त्वं क्रीयसे ततोऽहं सहस्र पोषं-सहस्रम् प्राणिनां पुष्णातीति सहस्र पोषं-धनं पुषेयम् पुष्णीयां वर्द्धयेय मित्यर्थः । पुष्णाते र्व्यत्ययेन शे प्रत्यये लिङि पुषेय मिति रूपम् ॥ २६ ॥

महीधर भाष्य समालोचना

(६८२) सं० सोम स्तुति और सुवर्ण से सोम को बदलना नियत किया, फिर सुवर्ण का सोम के बदले में दे देना, फिर सोम विक्रेता को प्रकम्पित कर अर्थात् डरा कर यह कहै कि हे सोम बेचने वाले सोम के मूल्य में जो गौ तुझको दी थी वह तेरी गौ फिर लौट कर यजमान के घर में स्थित हो, सुवर्ण तेरा हो न कि गौ । फिर सोम विक्रेता से संबोधन कर कहा कि सोम के मोल में तुझे जो गौ दी थी वह फिर से लौट कर यजमान के पास आवे, तेरा तो सुवर्ण ही होवो, गौ न होवे, फिर चन्द्राणीत्यादि पाठ से आगे लिखा है कि, जो तुझे सुवर्ण दिये वे सब यजमान के घर लौट आवैं, सोम का मोल गौ ही होगा, सुवर्ण न होगा ॥

(६८३) सं० इस प्रकार अस्थिर [डमाडोल] और अनय सिखाने वाला भ्रम जाल में डालने वाला इनका भाष्य है ॥ कहिये वार वारे लौटने का क्या काम, यह बात मंत्र में लेश मात्र भी नहीं, क्या इसी प्रकार करने का नाम यज्ञकर्म है ।

(६८४) सं० यह नियम है कि जिस अर्थ का वा जिस मंत्र के जिस भाग का जो

देवता होता है उस में वा उस भाग में उसी का वर्णन होता है। इस यजु के आधे का सोम देवता और आधे का अजा है, यहां अजा नाम की महौषधि का ग्रहण था क्योंकि सोम की अजा महौषधि ही सहचारिणी है, पर भाष्यकार जी ने वनस्पति भक्षक बकरी का वर्णन गांठा है। "तपस स्तनू रसि" इसका यह अर्थ करते हैं कि हे अजे! तू पुण्य का देह है, इस में तैत्तिरीय की श्रुति प्रमाण दी है कि, द्युलोक में ठहरे यज्ञिय [सोम] के ले आने के लिये अजा [बकरी] को लेकर गायत्री गई थी। तित्तिर के इस कथन से अजा [बकरी] का पुण्य शरीर है, शङ्का इस में यह होती है कि, वह द्युलोक कहां था जहां सोम टिक रहा था और वह अजा कौन, कहां, क्या थी? और वह गायत्री कौन थी, जो सोम को लेने गई थी, और उक्त प्रकार होने से अजा [बकरी] पुण्य शरीर क्यों कर हो गई, क्या इस से पहले अपुण्य थी! दूसरा विशेषण "प्रजापते वर्णः" यह भी सशंक है, इसका अर्थ—तू प्रजापति का वर्ण है और वर्ण नाम देह का कहा, इस में प्रजापति का अर्थ नहीं किया कि अमुक प्रजापति का तू देह है, और वर्ण शब्द का देह अर्थ कैसे हो गया? अब आगे उक्त वाक्य का अर्थ यह करते हैं कि, प्रजापति त्रिगुण होने से उस के तीन रूप हैं, यहां उन गुणों को नहीं सूचित किया कि जिन का होना प्रजापति में वा अजा में ही है अन्य में नहीं कि जिनके कारण प्रजापति की और बकरी की सवर्णता होगई,। आगे [३ । ३ । ३ । ८] इस पते की श्रुति प्रमाण दी है, इसका यह अर्थ किया है कि, अजा [छेरी] भी एक वर्ष में तीन वार ही प्रसूत [प्रसव] होती है, इस से प्रजापति का वर्ण है, तो क्या जो २ साल भर में तीन वार प्रसूत होंगी वे २ सभी प्रजापति के वर्ण कहावेंगी?। उक्त प्रजापति के तीन रूप वा तीन गुणों में कोई प्रमाण नहीं, यदि किसी प्रकार गुण वा रूप हों भी तो उनका प्रसव होने से क्या समता वा संबन्ध हुआ। ऊपर एक स्थान में विना प्रसङ्ग अजा का सर्व देव प्रियत्व भी कहा गया है, तो क्या असुरों को पं० म० ध० जी की अजा अप्रिय है? इस प्रकार पश्चिमाभिमुखी अजा की स्तुति कर के सोम के प्रति कहते हैं। हे सोम उत्तम लक्षण वाले! इस अजा पशु से तू बदला जाता है इस से तेरे प्रसाद [प्रसन्नता] से पुत्र पशू आदि अनेकों का पोषण हो जिस प्रकार उसी प्रकार मैं पुष्ट होऊं॥

(१८५) सं गौ से वा सुवर्ण से सोम के बदलने का झगड़ा ही रहा, अब बकरी से बदलने की ठहराने लगे॥ वाहरे भाष्यकार, उक्त भाष्यकार ने अपने अर्थ की पुष्टि में अनेक श्रुति भी लिखीं, परन्तु उन को उचित स्थान न मिलने से सफलता न

हुई अयुक्त योजना सभी निष्फल होती हैं ॥

शुद्ध सुघटितार्थ-

(९८६) सान्वय भाषार्थ- हे सोम (शुक्रम्) शुक्रोत्पादक होने से शुक्र (चन्द्रम्) आह्लादक [आनंद प्रद] होने से चन्द्र (अमृतम्) सुस्वादु के होने से अमृत रूप (त्वा) तुझ को (शुक्रेण) शुक्र के (चन्द्रेण) आनन्द के (अमृतेन) सुस्वादु के कारण (गोः) ऋषभ नामक महौषध से (अस्मै) इस यज्ञ के लिये (क्रीणामि) बदलता हूं हे सोम विक्रयिन् [सोम को बदले में देने वाले] पुरुष ! (ते) तेरी सोमादि सब (चन्द्राणि) आनन्द दायक भेषज (सग्मे) जिस के पार्श्व में भूमि हो उस यजन शील पुरुष के देश में सदैव रहो ।

(९८७) किसी समय यदि अजा महौषधि से सोम का बदला किया जाय वहां के लिये निम्न लिखित विधि है । (अजे) अजा संज्ञक महौषधि (त्वम्) तू (तपसः) तप [मौन रहने के मानसिक तप] का (तनूः) शरीर अर्थात् अवाक् शरीर (असि) है, इससे पुण्य शरीर है जहां पुण्यात्मा [पवित्रात्मा] जन होते हैं, वहीं तू उपजता है, तथा(प्रजापतेः) प्रजापति * [चन्द्रमा] के (वर्णः) रङ्ग है; इस प्रकार अजा की स्तुति कहकर फिर सोम के प्रति कहे, हे सोम ! इस (परमेण) प्रधान अजा महौषधी गायत्र्य रूप (पशुना) पशु से तू (क्रीयसे) बदला जाता है । जिस प्रकार (सहस्र पोषम्) अनेक शारीरिक दोष धात्वादि अवयवों का पोष [पुष्टि] हो उसी प्रकार मैं तेरे प्रयोग से (पुषेयम्) पुष्ट होऊं ॥

सोम यज्ञ में कारण

(९८८) रेतो वै सोमो रेत एवैतत् सिञ्चति तस्मा त्सोमं यजति ।

शा० ब्रा० कां० १ । १ । २ ।

अर्थ – सोम महौषध, निश्चय रेत [शुक्र] ही है । यह रेतः [वीर्य] ही सेचन करता है इसी से इसका यजन [रसायन यज्ञ] करना उचित है ।

(९८९) ग्मा इति पृथ्वी नामसु [निघ० अ० १ खं० १] ग्मया पृथिव्या सह वर्त मानः यः सः सग्मः तस्मिन् सग्मे । ग्मा का अर्थ गौ करना महीधर जी का अयुक्त

* "प्रजापति वै चन्द्रमा" श० ब्राह्मण १ अ० । ३ । १६

है। क्योंकि ग्मा शब्द पृथिवी के नामों में निघंटु में है, गौ के नामों में नहीं।

महाभारत मोक्षधर्म से प्रजापतियों की संज्ञा

(६६०) ब्रह्मा स्थाणु र्मनु र्दक्षो भृगु र्धर्म स्तथा यमः।
मरीचि राङ्गिरा त्रि श्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥
वसिष्ठः परमेष्ठी च विवस्वान् सोम एव च।
कर्दम श्चापि यः प्रोक्तः क्रोधोऽर्वाक् क्रीत एवच।
एक विंशाति रुत्पन्नाः ते प्रजापतयः स्मृताः॥

अर्थ– ब्रह्मा, स्थाणु, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, यम, मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठी, विवस्वान्, सोम, कर्दम, क्रोध, अर्वाक्, और क्रीत, ये २१ प्रजापति नाम वाले हैं, इन में १७ वाँ चन्द्रमा प्रजापति है कि जिस के वर्ग की अजा महौषध है।

(६६१) तृतीयस्या मितो दिवि सोम आसीत् तं गाय-
त्र्याहरत् तस्य पर्ण माच्छिद्यत। तत्पर्णोऽभ-
वत्। तत्पर्णस्य पर्णत्वम्। ब्रह्म वै पर्णः। ०००
गायत्र्यो वै पर्णः। गायत्र्याः पशवः॥

तैत्तिरीय ब्रा० कां० २ अ० १।

सान्वय भाषार्थ इतः) यहां से (तृतीयस्याम्) तीसरे (दिवि) द्युलोक अर्थात् त्रिविष्टप [तिब्बत] में (सोमः) सोम नामक महौषध (आसीत्) था (तम्) उस को गायत्री खैर (अहरत्) हर लाया (तस्य) उस [सोम] का (पर्णम्) पत्ता (अछिद्यत) टूट पड़ा (तत्) वह (पर्णः) पलाश [ढाक] (अभवत्) हो गया (तत्पर्णस्य) उस [ढाक] का (वै) निश्चय (ब्रह्म) बड़ा विस्तृत [चौड़ा] (पर्णः) पत्ता है (तत्) वह [विस्तार] ही पत्ते का (पत्रत्वम्) पत्र का गुण है (पर्णः) पलाश (वै) भी (गायत्र्यः) खदिर का लाया हुआ है॥

(६६२) सं० प्रतीत होता है कि, जो सोम के कन्द को लेने गया था वह गायत्री

के पैने नोंक के खूंटे से खोद कर सोम लाया था। गायत्री नाम खैर का है॥

देखो - भाव प्रकाश पूर्व खंड।

(६६३) " खदिरो रक्तसार श्च गायत्री दन्त धावनः

इस का अर्थ स्पष्ट है

(६६४) सोमादि महौषधियों के खोदने का एक प्रकार का शङ्कु [कीला] होता, है उस को अभ्रि कहते हैं जैसा कि याज्ञिय परिभाषा—

(६६५) " अभ्रि स्तीक्ष्णमुखा ज्ञेया खादिराऽ रत्नि सम्मिता"

अर्थ- अभ्रि पैने मुख की खैर की लकड़ी की अरत्नि [बद्ध मुष्टि कर] प्रमाण लम्बी होती है। तथा खैर की लकड़ी का स्रुच भी यज्ञ वेदी खोदने का होता है।

अथर्व-का० १० । सूक्त ४ । में कहा है कि-

(६६६) कैरातिका कुमारिका शका खनति भेषजम्।
हिरण्ययीभि रभ्रिभि र्गिरीणा मुप सानुषु॥

अर्थ- किरातों की कन्यायें, और शक जाति, चमकीली अभ्रियों से पर्वतों की समतल भूमि के वनों में भेषजों को खोदती हैं॥

(६६७) सं० सम्भव है कि लोहे का स्पर्श होना सोमादि महौषधों को अवगुण त्मक करने वाला होता हो, ओर खैर का स्पर्श वा उसके साथ सोम का सेवन विशेष गुण कारी हो, इस कारण लोहे के शस्त्र से खोदना अनुचित समझ खदिर [गायत्री] को वर्त्ता

देखो श० ब्रा० कां० ३ । ६ । २ । १२ पर

(६६८) खदिरेण ह सोम माचखाद। तस्मात् खदिरो यदेनेना खिदत्॥

अर्थ — खैर के योग से सोम को खाया वा खावै। वह खदिर संज्ञा इस कारण है कि इससे खनन किया गया है वा किया जाता है। उपरोक्त प्रकार से ही भेषज खनन विधि

के उचित होने से आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी लिखा है। देखो शार्ङ्गधर सं० मध्य खंड —

(९९९) उत्तराभि मुखो भूत्वा खनेत् खदिर शङ्कुना ॥

अर्थ- उत्तर को मुख कर खैर की कील से भेषज को खोदै ॥
तात्पर्य्य यह है कि सोमादि जितने महौषधि हैं वे सब गायत्री [खैर] की कील से खोद कर लाये जाते हैं इस कारण सब महौषध गायत्र कहाते हैं। यथा "**गायत्राः पशवः**" गायत्र अर्थात् गायत्री [खैर] की कील के लाये हुए भेषज पशु माने हैं, इस उक्त प्रमाण से अजा महौषध पशु संज्ञक सिद्ध हैं, तो "परमेण पशुना क्रीयसे" यह निःशङ्क हो गया।

इति रसायन विषय वर्णने सोमासव सुरासव भेद कथन पूर्वक सोमर्षभाजा महौषधीनां यज्ञार्थ विनिमय करणात्मक एक चत्वारिंशत्तमो विवेकः।

अथ याज्ञिक विषय विचारः

(१०००) यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवा स्तानि धर्माणि प्रथमा न्यासन्।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

सान्वय भावार्थ-(देवाः) यज्ञानुष्ठान करने वाले यजमान (यज्ञेन) अग्नि से (यज्ञम्) होम के आधार आहवनीय अग्नि को (अयजन्त) अनुष्ठान के लिये संयोजित करते हैं, यहां यज सङ्गति करणार्थक है, (तानि) वे (धर्माणि) अग्नि साधन कर्म (प्रथमानि) मुख्यफल प्रदायक (आसन्) हुए वा होते हैं, (ते) वे (ह) निश्चय (महिमानः) बड़ाई पाते हुए (देवाः) विद्वान् (नाकम्) स्वर्ग को (सचन्त) पहुँचे वा पहुँचते हैं (यत्र) जिस स्वर्ग में (पूर्वे) पहले (साध्याः)

प्राण साधन शील विद्वान् लोग (सान्ति) हैं अर्थात् सुख स्थान में बसे वा बसते हैं,*
(१००१) इसी प्रकार अब भी यज्ञाधिकारी पुरुषों को नित्य नैमिचिक अग्निहोत्र, तथा अतिथि सत्कारार्थ और प्राण रक्षणार्थ पाक क्रियादि अग्नि साधन कर्म, विधि पूर्वक करने कराने चाहियें, जिस से सुख की प्राप्ति होवै ॥

यज्ञ शब्दका अर्थ

(१००२) यजति चोदना द्रव्य देवता क्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् । २७ ॥

मीमांसा दर्शन अ० ४ पा० २।

अर्थ- (द्रव्य देवता क्रियं) द्रव्य, देवता, और क्रिया, इन तीनों का एकत्र संयोग (यजति चोदना) यज्ञ विधि कहाता है क्योंकि (समुदाये) उक्त विधि का समुदाय में ही (कृतार्थत्वात्) संकेत पाये जाने से ॥

(१००३) सं० यज्ञ यह शब्द देव पूजन, सङ्गति करण, और दानार्थक यज धातुसे भाव में नङ् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है, तथा यजन और याग शब्द भी इसी धातु के बनते हैं, जहां कहीं ये शब्द आये वा आवें वा आते हैं वहां ये ही तीनों धात्वर्थ ग्रहण किये जाते हैं । "देव पूजन" अग्न्यादि ३३ तेतीस देवों का वा विद्वानों का पूजन [प्रसन्नार्थ प्रयत्न] । सङ्गति [सप्रसङ्गादि षट् प्रकार से किसी विषय का निरूपण वा यथावस्थित युक्ति पूर्वक व्यवहार] करना वा वर्तना । और दान [अपना पन मिटाकर दूसरे को अधिकार दे अपना वस्त्वर्पण करना रूप व्यवहार] यह यज्ञ कहाता है ।

(१००४) सं० अर्थात् जिन कामों के करने में देव प्रसन्न हों, हिंसादि पाप दूर हों और पदार्थों की संगति का बैठाना जहां हो और सुपात्र जन जिन कार्यों में विद्यादान, अभयदान, अन्नादि शुभदान, पाकर सन्तुष्ट हों वे सब कार्य यज्ञ वा यज्ञ सम्बन्धी हैं ।

---

* प्राणा वै साध्या देवा स्त एतम् अग्रम् एवम् असाधयन् इति । श० ब्रा० १० । २ । २ । ४ ।
छन्दांसि वै साध्या देवाः । ऐतरेयं ब्राह्मण ॥
यज्ञेन वै तद्देवा यज्ञं अयजन्त । यद् अग्निना ग्निं अयजन्त ते स्वर्गं लोकम् आयत् । इति । ऐतरेय ब्राह्मण :
यद्वा देवा इदं पूर्वं यज्ञेनाग्निना पशुभूतेन यज्ञं यष्टव्यम् अग्निम् अयजन्त पूजितवन्त :
[ऐतरेय ब्रा० १ । १६]
"अग्निः पशुरासीत् तेना यजन्त" । यजुः ॥

(१००५) द्रव्यसंस्कार कर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ १ ॥ मीमांसा दर्शन अ० ४ पा० ३ सूत्र १ ॥

अर्थ–(द्रव्य संस्कार कर्मसु) द्रव्य- रोग नाशक बलपुष्टि प्रद बुद्धि वर्द्धनादि गुण कारक भेषज [दवा] संस्कार- अनेक प्रकार से उत्तम बनाना, कर्म- विधि से इनका सेवनादि उपयोग, इन उक्त तीनों में जो (फलश्रुतिः) फल का मिलना रूप (अर्थ वादः) आर्थिक कथन [स्तुति] (परार्थत्वात्) यज्ञ का परोपकार के लिये होने से (स्यात्) है ॥

भावार्थ– यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है न कि किसी के अनुपकार के लिये। जिस से अनुपकार हो वह यज्ञ नहीं ॥

(१००६) द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥

मी० द० अ० ४ पा० ३ सू० ८

अर्थ– (क्रियार्थानाम्) यज्ञ करने के लिये सम्पादन की हुई (द्रव्याणाम्) भेषजों [दवाओं] का (संस्कारः) उत्तम करना अर्थात् उस के अवगुण निकालकर उत्तम गुण भर देना (क्रतुधर्मः) यज्ञ का धर्म [काम] (स्यात्) है।

ऐतरेय ब्रा० अ० २ पञ्जिका १ में कहा है कि–

(१००७) यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति ॥

अर्थ– (यज्ञ) यज्ञानुष्ठान (अपि) भी (तस्यै) उस (जनतायै) जन समुदाय के सुख के लिये (कल्पते) समर्थन करता है (यत्र) जहां (एवम्) इस प्रकार द्रव्यगुणज्ञ संस्कारज्ञ और योगज्ञ (विद्वान्) विद्यावान् (होता) हवन करने वाला (भवति) होता है ॥

(१००८) तद्धैतज्जनको वैदेहः। याज्ञवल्क्यान् पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या३ऽ इति वेद सम्राडिति किमिति पय एवेति ॥ २ ॥ यत्पयो न स्यात्। केन जुहुया इति व्रीही

यवाभ्या मिति यद्व्री ही यवौ न स्यातां केन जुहुया इति या अन्या ओषधय इति यदन्या ओषधयो नस्युः केन जुहुया इति वानस्पत्ये नेति यद्वानस्पत्यं न स्यात्केन जुहुया इत्यद्भिरिति यदापो नस्युः केन जुहुया इति ॥ ३ ॥ सहो वाच । नवा ऽ इह तर्हि किञ्चना सी दथै तदा हूयतैव सत्य ७ श्रद्धाया मिति वेत्थाग्नि होत्रं ॥

शत० ब्रा० ११ । ८ ॥

उपरोक्त ब्राह्मण का आशय यह है कि हव्य वस्तुओं में दूध मुख्य है, इस के अभाव में व्रीही यवों से हवन करे, इन के अभाव में अन्य औषधियां [अन्नों] से यदि ये न हों तो वानस्पत्यों [फूल और फलों के देने वाले वन्य भेषजों] से हवन करे [१०५५] करे, इन के अभाव में जल का दान करे, ज्ञान पूर्वक सत्य को वर्त्तै यही अग्निहोत्र जानों ॥

(१००६) ऋषि यज्ञं देव यज्ञं भूत यज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृ यज्ञञ्च यथाशक्ति न हापयेत् ॥

म० अ० ४ श्लो० २१

अर्थ— १ "ऋषि यज्ञ" इसको ब्रह्म यज्ञ भी कहते हैं । इसमें वेदादिका पठन, पाठन, और ऋषिओं के सदाचार का आदान, वा संगति करना, । २ "देवयज्ञ" इस में हवन क्रियादि से अग्नि वाय्वादि ३३ देवों का वा विद्वानों का पूजन । ३ "भूतयज्ञ" इस में गृहस्थी से नित्य सम्बन्ध वा आजीवनाभिलाप रखने वाले, और सेवा वृति करने वाले, वा दीन, अनाथ दुःखितों को, वा भविष्यत् शुभा ऽ शुभ सूचक जीवों को वा उपकारी पशुओं को, वा गृहस्थ के कृत्यों में स्वतः मरे कृमि उनके दोष निवारणार्थ कृमियां [पिपीलिकादि क्षुद्र जन्तुओं] को यथा विभाग बलिवैश्वदेव के उद्देश से भोजनादि दान करना, । "नृयज्ञ" इसमें अपने स्थान पर आये श्रोत्रियादि विद्वानों को आसन, भोजनादि देकर सत्कार करना "पितृ यज्ञ" इसमें पितृ जनों को श्रद्धा से पिण्ड-दान करना ये पञ्चयज्ञ कहाते हैं, इन पांचों महायज्ञों को गृहस्थ नित्यप्रति करता रहै त्यागै नहीं ।

(१०१०) पञ्चैव महायज्ञाः । तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो
नुष्य यज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति । १ ।

(१०११) अहरह भूतेभ्यो बलिं हरेत् ।
तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति ।

(१०१२) अहरह र्दद्या दोद पात्रा तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति ॥

(१०१३) अहरहः स्वधा कुर्या दोद पात्रा तथैतं पितृयज्ञं
समाप्नोति ॥

(१०१४) अहरहः स्वाहा कुर्या दाकाष्ठात् तथैतं देवयज्ञं
समाप्नोति । २ ॥

(१०१५) अथ ब्रह्म यज्ञः । स्वाध्यायो वै ब्रह्म यज्ञः तस्य वा ऽ
एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहू र्मन उपभृ च्चक्षु र्ध्रुवा
मेधा स्रुवः सत्य मवभृथः स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तं
ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददं ल्लोकं
जयति त्रि स्तावन्तं जयति भूयांसं चाक्षय्यं य
एवं विद्वानहरहः स्वाध्याय मधीते तस्मात्
स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः ॥ ३ ॥

शतपथ ब्रा० का० ११ । प्र० ३ । ब्रा० ८ ॥

अर्थ—पाँच ही महा [बड़े] यज्ञ हैं, वे ही महा सत्र हैं । भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, और ब्रह्म यज्ञ । प्रतिदिन भूतों [प्राणियों] के लिये यथोचित भाग दे यह भूतयज्ञ, । प्रतिदिन जल पात्र अतिथि के लिये देवै, ऐसा करना मनुष्य यज्ञ । प्रतिदिन जल पात्र से पितरों के लिये स्वधा करना, पितृ यज्ञ । प्रति

दिन स्वाहा कहकर हवन करे समिधाओं के भस्म होने तक अर्थात् समिध शेष न रहें यह देव यज्ञ, है,। इससे आगे ब्रह्म यज्ञ कहा स्वाध्याय [वेदादि का नित्य पठन पाठन] ही ब्रह्म यज्ञ है, इस ब्रह्मयज्ञ का वाणी ही जुहू, [स्रुगादि पात्र भेद जो कि ढाक का होता है] है, मन जिसमें उपभृत् [आश्वत्थी स्रुक् है, नेत्र जिसमें ध्रुवा स्रुक् हैं, मेधा जिसमें स्रुवा है, सत्य अवभृथ [यज्ञान्तस्नान] है स्वर्ग लोक जिसका उदय है, धन से परिपूर्ण इस पृथिवी का दान करने वाला जितने लोक को अपने दान के प्रताप से जीतता है, उससे त्रिगुण अधिक अक्षय लोक को पाता है, जो इस प्रकार विद्वान् प्रतिदिन स्वाध्याय को पढता है। इस से स्वाध्याय नित्य पढना चाहिये ॥

(१०१६) पय आहुतयो ह वा ऽ एता देवानां। यहचः स य एवं विद्वा नृचो ऽ हरहः स्वाध्याय मधीते पय आहुतीभि रेव तद्देवां स्तर्प्पयति त ऽ एनं तृप्ता स्तर्प्पयन्ति योग क्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पाद्भि घृतकुल्या मधुकुल्याः पितृन् स्वधा अभिवहन्ति ॥ ४॥

अर्थ—ये दूध की आहुतियां ही देवतों की हैं। जो विद्वान् ऋग्वेद पढता है, वह प्रति दिन ऋग् का स्वाध्यायी बना हुआ दूध की आहुतियों से ही मानों देवतों को तृप्त करता है, तृप्त हुए देवता इस ऋग्वेद पाठी को (योग क्षेमेण) अलब्ध के लाभ से और लब्ध हुए के रखे रहने से (प्राणेन) प्राण के धारण से वीर्य की प्राप्ति से तथा अपनी सम्पूर्ण पवित्र सम्पत्तियों से सर्वथा तृप्त करते हैं और घृतकुल्या मधुकुल्याओं से अर्थात् घृत की और मधु की कृत्रिम नद्युपम धाराओं से पितरों को स्वधा सब ओर से देते हैं ॥ ४॥

(१०१७) आज्या हुतयो ह० । यद्यजूंषि स य एवं विद्वान्यजूं ष्यहरहः स्वाध्याय मित्यादि ॥

अर्थ—इसी प्रकार घृत, की आहुतियों से यजुर्वेद का स्वाध्यायी देवतों को तृप्त करता है वे तृप्त हुए देव पूर्ववत् योग क्षेमादि से उक्त स्वाध्यायी को तृप्त करते हैं ॥

(१०१८) सोमा हुतयो ह वेत्यादि । यत्सामानि यत्०

साम का नित्य अध्ययन करने वाला सोम की आहुतियों से ही मानों देवों को तृप्त करता है, और वे तृप्त हुए देव उक्त प्रकार योग क्षेमादि से साम के पढ़ने वाले को तृप्त करते हैं ॥

(१०१९) मेद आहुतयो ह वा एता देवानाम् । यद थर्वाङ्गि-
रसः स य एवं विद्वा नथर्वाङ्गिरसो ऽहरहः स्वा-
ध्याय मधीते मेद आहुतिभि रेव तद्देवांस्त-
र्पयति त एन मित्यादि ।

अर्थ– अथर्व का स्वाध्यायी मेदा नामक महौषध की आहुतियों से ही मानों देवों को तृप्त करता है जो अथर्व नित्य प्रति पढ़ता है । और वे तृप्त हुए देव उक्त योग क्षेमादि से उक्त वेदपाठी को तृप्त करते हैं । सं० इस में भी मेद शब्द आया है कि जो सोम का सहचारी भेषज ही संघटित होता है कि जिसकी आहुती का फल अथर्व पाठी को होवै, ॥

(१०१९ क) कोई कोई देशी और विदेशी शब्दार्थ मर्मानभिज्ञ लोग ऐसा कहते हैं कि अतिथि के लिये गो अवश्य हिंसन की [मारी] जाती थी क्योंकि गोघ्न नाम अतिथि का है ।

(१०१९ ख) समालोचना-- यह उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि गो शब्द के अर्थ-- कोशकारों ने गो जाति संज्ञक पशु, रश्मि [किरण] वज्र [विद्युत्] हीरक [मणि विशेष] स्वर्ग, चन्द्र, सूर्य, गोमेध यज्ञ, ऋषभ महौषधि, नेत्र, बाण, दिशा, वाणी, भूमि, जल, पशुमात्र, माता, लोभ, वृष राशि, नव संख्या, और इन्द्रिय इतने अर्थों में कहा है । उक्त शब्द पूर्वक "हिंसा और गत्यर्थक", हन् धातु से "दाश गोघ्नौ संप्रदाने" इस सूत्र से संप्रदान [सम्यग्दान] अर्थ में क प्रत्यय निपात होकर "गोघ्न" प्रयोग बनकर वक्ष्यमाण अर्थ का व्युत्पादक हो जाता है । यथा- "गौः" [गो संज्ञक वस्तु] हन्यते [प्राप्यते] अर्थात् सम्प्रदीयते श्रोत्रिया यातिथये सः सम्प्रदान रूप आतिथ्यः गोघ्नः । नतु गोपशू हिंसन मिति ॥ समय और अपनी शक्ति के अनुसार गो संज्ञा वाली संप्रदेय वस्तु जैसी – गोजाति

पशु – स्वर्ग [सुख स्थान]-आश्रम महौषध [१०४२ । १०४३] हित मित मधुरार्थ रूपा निर्दोष वाणी – शयनासनादि के लिये निर्दोष निर्विघ्न भूमि – और यथेष्ट स्वच्छ जल, इनका अतिथि के लिये सम्प्रदान [भले प्रकार देना] गोघ्न कहाता है मनु अ० ३ में अतिथि विषयक स्थल में यही सूचित किया है कि –

तृणानि भूमि रुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नो च्छिद्यन्ते कदाचन॥

अर्थ – अतिथि के वाहनादि पशुओं के लिये (तृणानि) भूसा घास चरी आदि न्यार, विश्राम के लिये भूमि [स्थान] जल और चौथी (सूनृता) सत्य तथा प्रियादि गुण विशिष्ट (वाक्) वाणी अर्थात् अच्छा बोलना ये बातें सत्पुरुषों के घर में से कभी भी नहीं टूटती हैं, अर्थात् सदैव बनी रहती है क्योंकि इन उक्त आवश्यकीय सम्प्रदेय वस्तुओं की अनुपस्थिति अतिथि के सत्कार में बाधक होती है। ये तुरन्त प्राप्त कर लेने के भरोसे पर नहीं छोड़ना चाहिये। यह गोघ्न शब्दार्थ व्यवस्था आतिथ्य विषयक है।

(१०१९ ग) और गो हिंसक [गो हत्यारे] के अर्थ में गोघ्न शब्द है वह कर्त्रर्थ में प्रत्यय करने से हुआ है। जैसा कि –

गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्। मनुः॥

यहां सम्प्रदानार्थ में प्रत्यय नहीं है। यहां "गो [गो पशुं] हन्तीति गोघ्नः"।

अथर्व वेद में स्पष्ट अतिथि के लिये पशु मारना और अतिथि को मांस खिलाना कहा है, देखो कां० ९। सू० ६।

(१०२०) यत्तर्पण माहरन्ति य एवाग्नी षोमीयः पशु र्बध्यते
स एव सः। ६॥

जाङ्गम मांसाहारी जी का अर्थ

अर्थ – अतिथि के लिये (यत्) जो (तर्पणम्) तर्पण (आहरान्ति) लाते हैं (यः) जो (अग्नी षोमीयः) अग्नि तथा सोम के लिये यज्ञ में (पशु) चौपाया (बध्यते) मारा जाता है, (सः) वह (एव) ही (सः) वह यज्ञ है जो पशु बध करने से होता है।

जङ्गम मांसाहार पत्नी का अपार्थ

(१०२१) एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ६। ६। ३६ ॥

अर्थ—(एतत्) वह (वा) ही (उ) पाद पूरणार्थ (स्वादीयः) अत्यन्त स्वादु पदार्थ (यत्) जो (अधिगवम्) गौ का दूध, दधि, मक्खन, घी, जिनका मधु पर्क बनता है, जो कि प्रथम ही शिष्टाचार की रीत्यनुसार अतिथि को दिया जाता है। यह आशय भी ध्वनित होता है, (क्षीरम्) सामान्य क्षीर (वा) भी (मांसम्) मांस (तत्) वह (एव) भी [अतिथेः पूर्वम्] अतिथि से पहले (न) नहीं (अश्नीयात्) खावे, यहां पहले ३७ वें मंत्र से "पूर्व" अर्थात् अतिथि से पूर्व की अनुवृत्ति करलो।

और भी देखिये

(१०२२) स य एवं विद्वान् मांस मुपसिच्योप हरति यावद् द्वादशा हेनेष्ट्वा सुसमृद्धे नावरुन्धे ताव देतेना वरुन्धे। ६। ६। ४३ ॥

अर्थ—(यः) जो (विद्वान्) विद्वान् (मांसम्) मांस को (उप सिच्य) शुद्ध करके (उप हरति) भेट देता है (सः) वह (द्वादशाहेन) द्वादशाह नामी यज्ञ (सुसमृद्धेन) अत्यन्त धन व्यय किये हुए से (इष्ट्वा) यज्ञ से (यावत्) जितना अनिष्ट (अव रुन्धे) रोक सक्ता है, (तावत्) उतना ही अनिष्ठ (एतेन) इस अतिथि को मांस की भेट देने से (अव रुन्धे) रोक सक्ता है। जाङ्गम मांसाहारी जी के अर्थ की समालोचनार्थ ज्यों का त्यों क्रम पूर्वक पाठ नीचे लिखे देते हैं।

(१०२३) इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणा मश्नाति यः पूर्वोऽतिथे रश्नाति ॥ ३१ ॥

पयश्च वा एष रसं च०॥ ३२॥

उर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥ ३३ ॥

* प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥ ३४ ॥
कीर्तिं च वा एष यशश्च० ॥ ३५ ॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणा मश्नाति यः पूर्वो
ऽतिथे रश्नाति ॥ ३६ ॥

(१०२४) एष वा अतिथि र्यच्छ्रोत्रिय स्तस्मा त्पूर्वो नाश्नी-
यात् ॥ ३७ ॥

(१०२५) अशितावत्यतिथा वश्नीया द्यज्ञस्य सात्म्यत्वाय
यज्ञस्या विच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ३८ ॥

(१०२६) एतद्वा उ स्वादीयो यदाधिगवं क्षीरं वा मांसं वा
तदेव नाश्नीयात् ॥ ३९ ॥

(१०२७) सं० प्रथम इस बात को देखिये कि ३९ वें मंत्र का अर्थ "तस्मा त्पूर्वो नाश्नीयात्" इस वाक्य की अनुवृत्ति ३७ वें मंत्र से लाकर अर्थ करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि इसकी अनुवृत्ति ३६ वें तक समाप्त हो चुकी। ३७ वें में अतिथि श्रोत्रियादि विद्वान् होना चाहिये, यह योग्यता सूचित की है। ३८ वें में अतिथि यज्ञ करने का नित्य का व्रत सूचित किया। फिर ३९ वें में अतिथि के लिये भक्ष्याभक्ष्य का विवेक कर दिखाया है, इस अनवकाश में उक्त अनुवृत्ति को अवकाश कैसा ॥

(१०२८) विद्या विनय सम्पन्ने श्रोत्रिये गृहमागते
क्रीडन्त्यौषधयः सर्वा याम्यामः परमां गतिम् ॥
भ्रष्ट शौच व्रताचारे विप्रे वेद विवर्जिते।
रोदित्यन्नं दीयमानं किम्मया दुष्कृतं कृतम् ॥
काशी० सं० ३९ अ० वाच० गृहस्थ ध० शा०

* यदि आह्वान मांस अतिथि को खुलाया जाना कहा होता तो ३४ वें मंत्र में पशूंश्च पाठ न होता

अर्थ--विद्वान् विनय सम्पन्न [शिक्षा के देने वाले] श्रोत्रिय [वेदाध्ययनाध्यापन रत] गृहस्थ के घर अतिथि आने पर व्रीही यवाद्यौषधियां क्रीडा करती हैं और कहती हैं कि अब हम परम गति [मोक्ष] को पहुंचेंगी ॥ जिसका शौच धर्म व्रताचार ब्रह्मचर्य भ्रष्ट हो गया और जो वेद रहित है उसको दिया हुआ अन्न रोता है, और कहता है कि मैंने क्या पाप किया कि जो मैं ऐसे निंदनीय को दिया गया ॥

(१०२९) (उत्तर) अथर्व कां० ९ । ६ । ३ इस में अतिथि के दर्शन की स्तुति। फिर ४ और ५ वें मन्त्र में अतिथि से सम्भाषण और उम को जल देने की स्तुति है, फिर छटा मन्त्र आप के प्रश्न का है। आप को इस के अर्थ में गड़-बड़ हुई है इस कारण ऐसा कहते हो, इस में लेश मात्र भी पशु मारने की वा जाक्रम मांस खाने की चर्चा नहीं, इसका शुद्धार्थ निम्न प्रकार है। ९ । ६ । ६ ॥

(१०३०) पदच्छेद (यत्) तर्प्पणम् । आहरान्ति। ये । एव । अग्नी षोमीयः। पशुः। बध्यते । सः। एव। सः ॥

सान्वय पदार्थ--(ये) जो गृहस्थ अतिथि को (तर्प्पणम्) दुग्धादि तृप्ति कारक आहार (आहरन्ति) खिलाते पिलाते हैं ॥ [तै गृहस्थैः] उन गृही जनों से (एव) ही (यत्) जो (अग्नीषोमीयः) अग्नि के और सोम के गुण वाला (पशु) चौपाया (बध्यते) बांधा जाता है (सः) वह पशु बांधना (एव) ही (सः) पूर्व अनुयुक्त देव यजन है ॥ इसीका नाम पशुबन्ध यज्ञ [१००२] है ॥

(१०३१) सं० आपने जो बध्यते क्रिया का मारना अर्थ किया वह आपकी भूल है, क्योंकि हिंसार्थक कोई भी बध धातु नहीं बध और बन्ध ये दोनों बन्धनार्थक हैं, और हिंसार्थक हन् धातु को जो वध आदेश होता है वह लिङ् और लुङ् में ही होताहै और वहां अन्तस्थ वकार है और बध्यते में, पवर्गी है, यह बध बन्धने धातुसे कर्म में यत् प्रत्यय करने से बध्यते क्रिया बनती है, इस से इस का अर्थ पशु का बांधना ही ठीक है ॥ यही अर्थ अतिथि के सत्कारार्थ मधुपर्क का साधक है ॥

(१०३२) एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ । ६ । ३९ ॥

शुद्धार्थ-- (यँत) जो (अधिगवम्) गवाधिकार से लब्ध हुआ गोरस अर्थात् दूध दधि, नवनीत, घृत तक्र (एतत्) ये सब (वा) अथवा (क्षीरम्) दूध के (वा)

सदृश ‡ अन्य भी हिंसादि दोष रहित (स्वादीयः) सुस्वादु पदार्थ (उ) * अङ्गीकार है, अर्थात् उस को अतिथि खावै, और गृहस्थ खवावै, और (मांसम्) जाङ्गम मांस को (वा) उक्त मांस के तुल्य अभक्ष्य वस्तु (तद्) उस को (न) नहीं (एव) ही (अश्नीयात्) खावै, अर्थात् अतिथि नहीं खावै, और गृहस्थ भी न खवावें ॥

(१०३३) सं० इस मन्त्र में क्षीर शब्द सब भक्ष्य मात्र वस्तुओं के ग्रहण करने के उप लक्षणार्थ और मांस शब्द जांगम मांस और अभक्ष्य मात्रों के वर्जनार्थ सूचित है, इस प्रकार भक्ष्य का विधान और अभक्ष्य का निषेध भी स्पष्ट होता है, यदि इस मंत्र में अधिगवम् पद न होता तो क्षीर शब्द उद्भिजों के दूध का भी बोधक है. उस का भी ग्रहण हो जाता। यदि स्वादीय पद न होता तो आक सेंहड आदि के अस्वादु दुग्धों को भी देने का नेगचार टटोलते फिरते। इससे गौ को उप लक्षण मान जिन जिन पशुओं का दूध सुस्वादु हो, वह आतिथि को देवै। और वा शब्द का अर्थ सदृश भी है इस से क्षीर तुल्य विना हिंसा किये मिले अन्य शष्कुली अपूपादि भी देने कहे। सं० इस अधिगवम् पदने और स्वादीय पद ने जंगमों के दूध की विधि, और जंगमों के ही मांस का निषेध निर्धारित कर दिया, नहीं तो स्थावरों के दूध की भी विधि, और स्थावर जन्य फलादि के मांस का निषेध, मानना पड़ता। इस कारण यहां जांगम ही दूध की विधि और जांगम ही मांस का निषेध चरितार्थ है, स्थावरों के नहीं ॥

अब ६।६।४३ का शुद्धार्थ सुनिये

(१०३४) पदच्छेद– सः ।यः। एवम् । विद्वान् । मांसम् । उप हरति । यावत् । द्वादशाहेन । इष्ट्वा । सुसमृद्धेन । अवरुन्धे ॥

अर्थ–(यः) जो (विद्वान्) अतिथि का यथावत् ज्ञाता विवेकी (एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार अर्थात् अतिथि से पूर्व स्वयं विना खाये (मांसम्) कन्द मूल फलादि के खाद्य स्थावर मांस [गूदे] को (उपसिच्य) शुद्ध करके अर्थात् छीलने, तुकाने , पकाने आदि सु संस्कार से खाने योग्य हो वैसा कर (उपहरति) भेट देता है (सः) वह (यावत्) जितने अनिष्ट [दुःख] को [सुसमृद्धेन] अच्छे सम्पद्युक्त (द्वादशाहेन) बारह दिन में होने वाले द्वादशाह नामक (इष्ट्वा) यज्ञ से (अवरुन्धे) रोकता है (तावत्) उतने दुःख को (एतेन) इस अतिथि

‡ उपमायां विकल्पे वा। इत्यमरः। तथा गणरत्ने पि,

* उ– अव्यय- अंगीकारे, हेमचन्द्र कोश,

सत्कार से (अवरुन्धे) रोकता है ॥

(१०३५) सं० (प्रश्न) अर्बुद रोग के निदान में लिखा है कि "एतद्भवेन्मांस परायणम्य" यहां भी मांस शब्द सामान्य वाचक है और अन्य जंगम मांस का बोधक कोई विशेषण भी नहीं हैं । फिर वहां जंगम मांस क्यों कर लिया जाय (उत्तर) जंगम मांस ही लिया जावेगा क्योंकि सुश्रुताद्या युर्वेदीय ग्रन्थों में मांस वर्ग, दुग्धवर्ग मधुवर्ग, यह सब पृथक् पृथक् लिखे हैं यदि फल वर्ग न होता तब तो मांस शब्द से स्थावर मांस ही आजाता, सो तो मांस शब्द जंगम वर्ग के ही साथ दिया है फल वर्ग के साथ नहीं । वा मांस शब्द पुरुष चिकित्साधिकार में पुरुष का अवयव समझ कर लिखा है वह भी जंगम की ही गणना में है ॥

(१०३६) मांस शब्द स्थावर और जङ्गमों के अवयवों के गूदे [जो कि पेशी नाम] के अर्थ में संघटित होता है, परन्तु योग्यतानुसार ही अर्थ ठीक समझा जायगा अन्यथा नहीं जैसा संस्कृत में प्रथमा के और द्वितीया के प्रयोग और षष्ठी विभक्ति के प्रयोग बहुधा एक से होते हैं परन्तु अर्थ भिन्न २ ही होगा । इसी प्रकार मांस [गूदे] से सर्वत्र जाङ्गम का ही गूदा न लिया जायगा, स्थावरों के फलादि के मांस [गूदे] का भी ग्रहण अवश्य कर्तव्य है, परन्तु जाङ्गम मांसभक्षी अपने ही अभ्यास की ओर अविवेकता के कारण मांस शब्द का अर्थ जांङ्गम मांस ही करने लग गये, और जांङ्गम मांसाहारी लोग बहुत बढ़ जाने से उनमें परस्पर इसके खाने खिलाने का व्यवहार विशेष प्रचालित रहने के कारण जाङ्गम मांस ही को मांस कहने और समझने लगे, इससे औद्भिद् मांस की ओर मांस शब्द के अर्थ करने का वा बोलने का प्रचार साधारण जनों में नष्टप्राय हो गया, और "अहिंसा परमो धर्मः" इस वैदिक कर्म के सेवकोंने हिंसा से लब्ध होने वाले जाङ्गमोंके गूदे के ही नाम पर नाम प्रसिद्ध होजाने से फलादि के गूदे का नाम भी मांस कहना घृणित समझ छोड़ दिया इसी से हमको भी जाङ्गम मांस भक्षियों का नाम मांसाहारी-मांसाशी लिखना पड़ा, ॥

(१०३७) यदि इस अतिथि विषयक प्रकरण में भी कहीं दूसरे स्थान में "फल मुपसिच्यो परहति" और एक स्थान में "मांस मुपसिच्योप हरति" होता तब तो मांस शब्द से जाङ्गम मांस भी आजाता, और जब एक ही स्थान में सामान्य मांस शब्द है तब अनेक उक्त और वक्ष्यमाण वेद के और ऋषि मुनियों के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रमाण शून्य जाङ्गमों का मांस सर्वथा धर्म विपरीत क्यों कर लेलिया जावेगा ॥

[१०३८) सं० हम पूछते हैं कि इस [८ । ६ ।४३] मन्त्र में फल शब्द को वा किसी

अन्य उचित शब्द को मिटाकर मांस शब्द लिख देना क्या असम्भव है, ! क्योंकि, दो अक्षरों का ही तो बदलना था, अस्तु, हिंसक जी एक वाक्य डालने को बड़े चूके। वह क्या ? यही कि–"**अण्ड मुपसिच्योप हराति**" इस में अण्ड शब्द लिख जाने से मजे से अण्डे भी खाया करते क्योंकि, वेद वाक्य प्रमाण ?? ॥

(१०३९) सं० हा शोक ! जिन कन्द, मूल वा फलों के गूदों [मांसों] में अनेक मधुरादि रसों के स्वाद, अनेक गुर्वादि गुण, अनेक प्रकार की आश्चर्य प्रद मनोहर सुगन्धियें, प्राकृत प्रत्यक्ष हैं, उन को अतिथि महामान्य के सत्कारार्थ देने का वेदोपदेश नष्ट किया जाता है, कि जो अभी तक अतिथि महामान्य के आने वा जाने में आम, अङ्गूर, अनार, अञ्जीर, अमृत फल [नाशपाती] अमरूद, खरबूजा तरबूज़ा शर्करा कन्दादि यथर्तु देते लेते हैं (१०४०) तथा विवाहादि कार्यों में भी अनेक प्रकार की मेवा जैसी कि– बादाम, छुहारे, किसमिस, आदि [बरीफुरी गोदके नामसे] दिये लिये जाते हैं। और गृहस्थों में महामान्यों के आने जाने में अतिथ्य सत्कार का लक्षक श्रीफल [गोला] उपलक्षण मात्र अभी तक प्रचलित हैं, कि जो, सदैव से अन्न, जल, कन्द, मूल, फलादि शुद्ध वस्तुओं के देने के व्यवहार का सूचक होरहा है ॥

(१०४१) (प्रश्न) श० ब्रा० कां० ३ । अ० ४ । ब्रा० २ कं० १ २ ॥ में लिखा है कि; बड़ा बैल अथवा बड़ा बकरा राजा के वा ब्राह्मण के लिये पकावै, यह क्यों ? ।

(उत्तर) यह भी तुम्हारे अर्थ करने की गड़बड़ है ॥ अब हम उक्त ब्राह्मण के अर्थ की श्रुति लिख उस का यथार्थ अर्थ दिखाते हैं ॥

(१०४२) अथ यस्मा दातिथ्यं । आतिथि र्वा एष एतस्या गच्छति य त्सोमः क्रीत स्तस्माद् एत द्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं पचे त्तदह मानुषं हवि र्देवाना मेव मस्मा एत दातिथ्यं करोति ॥

अर्थ–जिस आने वाले की कोई तिथि नियत नहीं इस कारण उस को अतिथि कहते हैं, और जो भोजनादि देकर उस का सत्कार किया जाता है, उस का नाम आतिथ्य है,। जो सोम महौषध अजा महोषधि [८१६] से बदला हुआ [६३८] आया है, इस कारण यह आतिथ्य के योग्य है, जैसा कि राजा के लिये अथवा ब्राह्मण के लिये

(महोक्षम्) ऋषभ महौषधी के बड़े से कन्द को अथवा (महाजम्) अजा महोषधी के बड़े कन्द को (तदहः) उस दिन पकावे, (मानुषम्) इस कारण उक्त कन्दादि का दिया मनुष्यों का हविः देवतों का भी होता है, इससे इस सोम का यजमान उक्त महौषधाहार देकर ही अतिथि सत्कार करता है ॥ (१०४३) सं० इस उपरोक्त मंत्र में महोक्ष और महाज शब्द आये हैं इन का अर्थ बैल और बकरा समझना करना अयुक्त है, देखौ- [१४] पदार्थ तन्त्र युक्ति को, तथा-[६४० । ६४१ । ६४२ । ६४३] को यहां उक्ष और अज की आदि में महत् शब्द इस लिये दिया है कि, कन्द जितना अधिक बड़ा होता है, उतना ही अच्छा होता है, और आयुर्वेदोक्त अष्ट वर्ग की भेषज राजाओं को भी मिलनी कठिन होती हैं ।

देखौ— भाव प्र० पूर्व खंड

"राज्ञा मप्यष्ट वर्गस्तु यतो यमति दुर्लभः"

और विशेष पुरुषों का सत्कार जभी समझा जाता है जब उनको उत्तम और दुर्लभ वस्तु देकर किया जावे, उत्तम भेषजोंमें वा आहार योग्य उत्तम कन्दोंमें आहारका भी गुण उत्तम ही होता है, (१०४५) (प्रश्न) क्या कन्दों में भी आहार गुण, है ? (उत्तर) अवश्य, यदि कन्दों में आहार गुण न होता तो, श्रीमान् भर्तृहरि जी ऐसा क्यों कहते ? कि—

"किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगताः"

क्या पर्वतों की कन्दराओं से कन्द प्रलय होगये कि जिस से भोजन न मिलने का सन्देह किया जावै । सोम की, ऋषभ की, और अजा महोषधि की प्रायः उत्पति पर्वतों में ही होती है, इस कारण वहां उन्हीं के कन्दों से अतिथ्य करना यथार्थ घटता भी है । (१०४५) सं० इन उक्त पञ्च महायज्ञों में अतिथि के लिये, तो जाङ्गम मांस अतिथि को खिलाना सर्वथा निर्मूल है ॥ क्यों कि, यज्ञ तो हिंसा पाप दूर करने के ही उद्देश से कहा है, न कि उलटा हिंसापाप बढ़ने चढ़ने के लिये, देखो मनु० अ० ३ । श्लोक ६८ । ६९ ।

(१०४६) पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्यु पस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥

अर्थ— गृहस्थ को पांच हिंसा पाप लगने के पांच स्थान, हैं, १ चूल्हा, भट्टी, तन्दूर, आदि अन्न पकाने का स्थान, इस में इन्धनादि में आये जीव फुक जाते हैं, । २ चक्की इस में अन्न देते वा अन्न में पड जाने वाले सुरसुली आदि जीव अन्न के साथ पिस जाते हैं, । ३ सम्मार्जनी [बुहारी] इस के लगाने में चिउँटी आदि क्षुद्र जन्तु दब कर मर जाते हैं, ४ उलूखल मूशल की चोट से अन्न में आये वा डोलते फिरते क्षुद्र जन्तु दृष्टि दोष से विना बचाये आ मरते हैं, ५ परेंडी में पानी के घड़ों के नीचे दबने से वा पानी में आये जीव प्रायः मरते हैं। इन ऊपर कहे वस्तु-स्थानों को वर्तता हुआ गृहस्थ हिंसा दोष से बंधता है।

(१०४७) तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृह मेधिनाम् ॥

अर्थ— महर्षियों ने उक्त पांच सूना [जीवों के मरने] के स्थान सब पापों से उद्धार होने के लिये गृहस्थों के प्रतिदिन करने को ये पञ्च महायज्ञ क्रम से कल्पना किये हैं ॥ (१०४८) सं० एकतो चूल्हे आदि गृहस्थ के आवश्यकीय कर्म साधन हैं, [illegible] के विना गृहस्थ की बीते ही नहीं, क्योंकि आवश्यक तो विवश करना ही [illegible], उस में क्या पाप ? द्वितीय चूल्हे आदि को कोई ज्ञान से सूना नहीं बनाता है, [illegible] गवादि उपकारी जीव भी उस में नहीं मरता कि जिस से हिंसा की गणना में आ [illegible] पर भी पञ्च सूना के अपराध से गृहस्थी जब अपराधी माना है, तो अतिथि [illegible] जिस से गवादि परम उपकारी जीव जान कर मारने की हत्या क्यों कर महापाप [illegible] और यह महापाप उक्त सूना दोष को कैसे दूर कर सकेगा, देखो—

(१०४९) नहि हस्ता वसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥ मनुः ॥

अर्थ— रुधिर से सने हाथ रुधिर से शुद्ध नहीं होते ॥ तात्पर्य यह है कि महापाप करने से पाप नहीं छूटता है, वह तो प्रत्युत [बल्कि] अनन्त गुणा बढैगा ॥

अतिथि के आतिथ्य में मनूपदेश

(१०५०) संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्या दासनोदके।

अन्न श्चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

अर्थ– आये हुए अतिथि के लिये यथा शक्ति आसन जल और अन्न आदर सहित देवै ॥ तथा वाल्मी० रामा० अयो० कां० स० ५३ का उदाहरण- जैसा राम लक्ष्मण और विश्वामित्र जी का आतिथ्य वसिष्ठ जी ने किया-

(१०५१) नानाविधा नन्न रसान् वन्य मूलफलाश्रयान् ।
तेभ्यो ददौ तप्ततपा वास श्चैवाभ्य कल्पयत् ॥१८॥

अर्थ– तपतपने वाले वसिष्ठ जी ने उन राम लक्ष्मण और विश्वामित्र जी को अनेक प्रकार के बन में उत्पन्न हुए अन्न, पौंड्रूकादिक के रस, मूल, और फल दिये, और ठहरने का स्थान दिया ॥

राम और लक्ष्मण का वन में रहने का आहाराचार

(१०५२) फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्या स्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥

अर्थ– राजा दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण दोनों भाई फलों के और कंद मूलों के आहार, इन्द्रिय दमन, और धर्माचरण करने वाले तपस्वी थे ॥

वाल्मीक बा० कां० स० ४५ ॥

(१०५३) स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।
आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह ॥ २॥
उपविष्टाय च तथा विश्वामित्राय धीमते ।
यथा न्यायं मुनिवरः फल मूल मुपाहरत् ॥ ३ ॥
प्रति गृह्यत ता म्पूजां वसिष्ठा द्राजसत्तमः ।
तपो ऽग्नि होत्र शिष्येषु कुशलं पर्य्यपृच्छत ॥ ४॥

अर्थ– महात्मा भगवान् वसिष्ठ ने विश्वामित्रजी का स्वागत करके आसन दिया और

समीप बैठे हुए बुद्धिमान् विश्वामित्र जी के लिये मुनिवर नें यथोचित फल मूल भेट किये उस सत्कार को वसिष्ठ से ले कर विश्वामित्र जी ने तप, अग्निहोत्र, और शिष्यों की, कुशल पूछी ॥

ताण्डय महा ब्राह्म० अ० ४ कां० ६

(१०५४) कविं सम्राज मतिथिं जनाना मित्यन्नाद्य मेवो-पयान्ति ॥

अर्थ– जो गृही जन (आतिथिम्) अतिथि को (अन्नाद्यम्) अन्न का खाना (उपयान्ति) देते हैं, वे (इति) इस हेतु से (एव) ही (जनानाम्) मनुष्यों में (सम्राजम्) उतम दीप्ति अर्थात् उत्तम प्रसिद्धि को और (कविम्) स्तुति होने की योग्यता को पाते हैं अन्य से नहीं ॥

हवन और होम शब्दों का धात्वर्थ

(१०५५) सं० दानार्थक और अदन [भक्षण] अर्थ वाले "हु" धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय करने से हवन और इसी धातु से मन् प्रत्यय करने से होम, शब्द सिद्ध होता है, ये दोनों शब्द एकार्थ हैं। देवतोद्देश से अग्नि में वेद मंत्र द्वारा घृतादि प्रक्षेपण करने रूप कर्म को, वा सुपात्र के लिये दान देने को, वा, भक्ष्य पदार्थ के आहार करने कराने को हवन, और होम, कहते हैं, जहां कहीं पशु होम वा पशु हवन विधेय हो, वहां पशु दान कर्त्तव्य है, न कि पशु को अग्नि कुण्ड में भस्म कर देना, वा, उसके मास वा चरवी को, जलाकर दुर्गंध फैलाना ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्य कृत्यधिकारे याज्ञिक विषये अतिथि यज्ञादिवर्णने द्वि चत्वारिंशत्तमो विवेकः ॥ ४२ ॥

(१०५६) पशवो हि यज्ञः। श० ब्रा० का० ३। १।४।१४॥

अर्थ -- पशु ही यज्ञ हैं, जहां पशु नहीं वहां यज्ञ नहीं, जहां पशुओं का हिंसन, वहां यज्ञ का हिंसन, जहां पशुओं की रक्षा वहां ही यज्ञ की रक्षा, जहां पशु हैं वहीं देव पूजन वहीं अनेक प्रकार की सङ्गति, वही अनेक प्रकार के सुपात्रों को दान दिये जा सक्ते हैं, जहां पशु नहीं वहां कुछ भी नही ॥ हा शोक ? ऐसे गम्भीरार्थ यजन का नाश हो गया ;; (१०५७) सं० प्रेक्षण [देखने अर्थ वाले "दृशिर" धातु से कु प्रत्यय करने से पशु शब्द सिद्ध होता है, यह शब्द विशेषता से लोम और लाङ्गूल वाले मृगादि चतुष्पद जीवों का वाचक है, यह सबको लौकिक में स्वीकार है, परन्तु वेद में यज्ञ कर्म के निमित्त वक्ष्यमाण पशु सूचित किये हैं ॥

(१०५८) अग्निः पशु रासीत् तेना यजन्त, स एत मित्यादि
वायुः पशु रासीत तेना यजन्त, स एत मित्यादि,
सूर्यः पशु रासी तेना यजन्त, स एत मितादि ॥ यजुः ॥

सं० इस मन्त्र में मनुष्यों के प्रति परमेश्वर का उपदेश है, कि यज्ञ में अग्नि, सूर्य, और वायु, ये ही पशु माने हैं, और इन्हीं में यज धातु का (अयजन्त) प्रयोग किया है, इससे यही सम्बन्ध ठीक है,

(१०५९) और यजुः ० २४ वें अध्यायोक्त अश्वादि के साथ तो यज धातु की चर्चा भी नहीं, और न किसी हिंसार्थक धातु का अश्वादि के साथ प्रयोग वेद में किया है. फिर यज्ञ में अश्वादि का मारना कैसा ? ।

(१०६०) सं० पशु शब्द का यज्ञ. वा, याग, वा, यजन. शब्दों के साथ समास होने से पशु यज्ञ, वा पशुयाग, वा पशु यजन, शब्द सिद्ध होते हैं ये तीनों एकार्थ हैं, इसका निम्न लिखित प्रकार समास हो सक्ता है ॥ इज्यत इति यजनम् यागो यज्ञो वा, पशूनाम् (सर्व पशुभ्यः श्रेष्ठत्वेन विभक्त गवादि पशूनाम्) यजनम् । आहारादि प्रदानेन देव मिव पूजनम् (सत्करणम्) । यत्र वा पशूनाम् रक्षणं तद्विधि तृणादि सुष्ठु गत्या सङ्गति करणं सङ्गति प्रापणं । यत्र वा सुपात्रेभ्यः सम्प्रदान तया उक्त पशूनां दानम् भवेद्यत्र तत्पशु यजनम् पशुयागः, पशु यज्ञो वा । अथवा पशवः इज्यन्ते यज धातो रुक्तार्थ मेवप्राप्यन्ते यत्र । यद्वा पशुभि अग्न्यादय स्त्रयस्त्रिंशत् देवा विद्वांसश्च दुग्धादि सत्करण पदार्थ हेतुभिः इज्यन्ते सत् क्रियन्ते यत्र । वा पशुभि ज्ञान गमन प्राप्ति विविध रूपां सङ्गति कृतिम् प्राप्यन्ते यजमाना यत्र । यद्वा यथेष्ट सम्प्रदानम् प्राप्यन्ते पशुभिः पशु हेतुभिः सुपात्राः यत्र- तत्पशु यजनम्

पशु यागः पशु यज्ञो वा ॥

(१०६१) सं० पशु यज्ञ के पीछे मांसाहार में मनु और शतपथ ब्रा० में विरोध

मनु अ० ४ श्लोक २७ में एक मांसाहारी जी की सम्मति,
बड़ी आयु की इच्छा करने वाला द्विज नवीन अन्न से यज्ञ किये पीछे नया अन्न, और पशु मार कर यज्ञ के पीछे पशु मांस खावै, ॥

इसके विरुद्ध श० ब्रा० ६ अ० २।२।३९। में कहा है कि—

(१०६२) **नैतेन पशु नेष्ट्वो परि शयीत न मांस मश्नीया न्न मिथुन मुपेया त्पूर्व दीक्षा ॥**

अर्थ— (एतेन) इस (पशुना) यज्ञार्थ पशु संज्ञा प्राप्त हुई वस्तु से (इष्ट्वा) यज्ञारम्भ करके (उपरि) पीछे (शयीत) सोवै (न) नहीं (मांसं) हिंसा से लब्ध किये मांस को (न) न (समश्नीयात्) खावै (मिथुनम्) मैथुन को (न) न (उपेयात्) प्राप्त करै यह (पूर्व दीक्षा) प्रथम ही नियम कर्त्तव्य है ॥

यज्ञ शब्द पर्यायी।

(१०६३) देखो यास्क प्रणीत निघण्टु में यज्ञ शब्द के पर्य्यायी १५ नाम कहे हैं, उन में किसी नाम के यौगिकार्थ से यज्ञ में पशु मारना नहीं निकलता है। यज्ञः, वेनः, अध्वरः, मेधः, विदथः, नार्यः, सवनम्, होत्रा, इष्टिः, देवताता, मखः, विष्णुः, इन्दुः, प्रजापतिः, धर्मः ॥

(१०६४) इन यज्ञ पर्य्यायी शब्दों में एक अध्वर शब्द का अर्थ यह सिद्ध करता है कि, जिस में हिंसा न हो वही यज्ञ है, देखो निरुक्त अ० १ नैगम काण्ड,

(१०६५) 'अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरति हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः" ध्वरा हिंसा तदभावो यत्र स अध्वरः। यहां ध्वरा नाम हिंसा का है और उस हिंसा का अभाव हो जहां वह अध्वर कहिये यहां नञ् पूर्वक तत्पुरुष समास है ॥

(१०६६) जब कि अध्वर नाम यज्ञ का है, तो इसका विरोधी अर्थ जिसका हो ऐसा पर्य्यायी शब्द नहीं बनता, कोई कोई यज्ञ कर्म मर्मानभिज्ञ नञ् का अर्थ "अल्प" करते हैं, उन्होंने निरुक्त में ध्वरति का अर्थ हिंसा और अध्वर यज्ञ का

अर्थात् हिंसा रहित है, यह नहीं देखा। सायणाचार्य ने भी 'अग्नेयं यज्ञ मध्वरं'। ऋ० १।१।४। इस मंत्र के भाष्य में अध्वर का अर्थ अहिंसा परक ही किया है, न कि अन्य हिंसा परक। इस प्रकार यज्ञमें जीवमात्र की हिंसा वेदविरुद्ध और वेद निषिद्ध है॥

कोई एक मांसाहारी ऐसे कहते हैं कि जैसे इनही को मनुजी ने मानों उपदेश किया हो,

(१०६७) मधुपर्के च यज्ञेच पित्र्ये दैवत कर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्याः नान्यत्रे त्यब्रवी न्मनुः॥

अर्थ-- मधुपर्क में और यज्ञ में और पितृ कर्म में और देवता के कर्म में ही पशु मारना चाहिये अन्यत्र नहीं ऐसा मनु ने कहा था॥

दूसरे स्थान महाभारत शांति पर्व अ० २६४ × ५ में मनु ने इस के विरुद्ध कहा था वह क्या ? कि--

(१०६८) सर्व कर्म स्वहिंसां हि धर्मात्मा मनु रब्रवीत्।
कामकारा द्विहिंसन्ति बहि र्वेद्यां पशून्नराः॥

अर्थ--सब कामों में अर्थात् जितने लौकिक वा वैदिक कर्म हैं क्या मधुपर्क, क्या अश्वमेधादि यज्ञ, क्या पितृ कर्म, क्या देवता के कर्म में तथा अन्य कर्म, सर्वत्र ही धर्मात्मा मनु ने अहिंसा करना कहा था परन्तु इस के विरुद्ध यज्ञ वेदी में वा बाहिर पशुओं को व्यर्थ मांसाहार की कामना से लोग मारते हैं॥

(१०६९) योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
सजीवंश्च मृत श्चैव नेहासौ सुख मेधते॥

अर्थ-- जो अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीवता हुआ इस लोक में और मरा हुआ भी सुख नहीं पाता। इस श्लोक की अर्थापत्ति हिंसक जीवों को अपने सुखार्थ मारना उभय लोकों में सुख कारक कहती है,

(१०७०) सं० जो लीला स्वार्थ सिद्धि के लिये मांसाशियों ने धर्म शास्त्र में की है वही शत पथादि ब्राह्मण ग्रन्थ तथा कात्यायनादि श्रौत सूत्रों में भी की है कि--

२१ यूपों में ३४६ पशु ग्राम्य [ग्राम वासी] और २६० आरण्य [वन के रहने वाले] सब मिला के ६०६ पशु अश्व मेध नाम का यज्ञ बना कर बाँधने लिखे उन में से ग्राम्यों का तो गला काट दे और आरण्यों को छोड़दे। अब इन ग्राम्य जीवों का क्या अपराध है कि, जो ये मारे जांय और यह भी बात नहीं कि कोई हिंस्य दुःख दाई मारे जांय जहां तक लिखे हैं, वहां तक सर्वोत्तम ही छांट २ कर मारे हैं, ॥

(१०७१) सं० एक कात्यायन श्रौत सूत्र में की हुई लीला देखिये, जिस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाय वह अवकीर्णी संज्ञक हो प्रायश्चित्ताई होता है। उस के लिये कात्यायन श्रौत सूत्र में लिखा है कि–

(१०७२) वाऽऽव कीर्णिनो गर्दभेज्या ॥

अर्थ–अवकीर्णी को गर्दभ याग करना चाहिये, ॥

नैर्ऋतं गर्दभ मालभेत ॥

अर्थ–नैर्ऋत कोन के गर्दभ को स्पर्श करै ॥

(१०७३) यहां आलभेत इसका अर्थ मारना कह कर बिगाड़ दिया, और गर्दभ याग की लीला टीकाकारों नें ऐसी अश्लील लिखी है कि, गधे की जिह्वा क्रोड़ादि काटना, गर्दभ के लिङ्ग से प्राशित्राव दान करना, इत्यादि अनेक घृणित निंदित अर्थ कर करा के शास्त्र को कलुषित करदिया यहांपर करना इतना ही थाकि अव कीर्णी ब्रह्मचारी गधे का स्पर्श करै, यही स्पर्श करना आलभेत का अर्थ समझा जाता है, और लौकिकाग्नि में घृत से हवन करै, यह बात अब तक लोक प्रसिद्ध है कि, अपराधी को गधे पर चढ़ाते थे उसी से अपने किये अपराध का प्रायश्चित होना मानते थे ॥

(१०७४) सं० अवभी सुना और देखा गया है, कि अग्रवाल वैश्यों में अब तक केशांडे [केशमूड़ने] के समय गधे पर चढ़ाते हैं, कोई २ केवल एक टांग ही रखदेते हैं यह वही प्रायश्चित है, जोकि अवकीर्णी का था, और केश मुंडन भी उस समय कराया जाता है, यह भी गर्दभ स्पर्श के साथ ही था; परन्तु अब सब अज्ञान परंपरा गत है, ज्ञान पूर्वक नहीं ॥ अब इसका बदल घोडे पर चढ़ाना करदिया है कि जिसको आज कल घुड़चढ़ी बोलते हैं,

अश्व मेध विषय

(१०७५) सं० देखो— अश्वादि जीव मारने के कृत्य के लिये मांसाहारीयों ने यजु० अ० २४ का सहारा ले अश्वमेध यज्ञ नाम रक्खा कि इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में अश्व शब्द ही है और इसी अध्याय के लिखे जीव अश्व मेध के नाम से हनन करने बता कर यज्ञ का नाम कलङ्कित करदिया, यह सब प्रमाद मांस खाने के लिये ही कल्पना किया है, वेद में कहीं भी ऐसा यज्ञ करना नहीं बताया और इस २४ वें अध्याय में तो अश्वमेध शब्द भी कहीं नहीं आया. इस में अश्व आदि अनेक स्थलचर, कपिञ्जलादि नभचर. शिशुमार आदि जलचर, और हंस आदि उभय चर, अनेक जीवों के गुणों का, स्वभावों का, वर्णों का, शुभाशुभ लक्षण, ज्ञानों देश, अनेक प्रकार से वर्णन किया है, कि जिसको लब्ध करके अनेक जगदुपकारी विद्वज्जन सोचते रहते हैं। ऐसे स्थलों के ही विचार से शालिहोत्र ऋषि ने अश्व शास्त्र बनाया है। तथा पाराशर मुनि ने राजा वृहद्रथ से गौओं के शुभाशुभ लक्षण कहे हैं इसी प्रकार अनेक पशु पक्षियों के गुण ज्ञानार्थ यह यजुर्वेद अध्याय २४ वीज रूप है। वेद के मन्त्रों में अनेक व्यावहारिक और पारमार्थिक विषय भरे हुए हैं, विद्वज्जन ज्यों २ विचार वृद्धि करते हैं, त्यों त्यों ही अनेक आश्चर्यमय विद्याविषय मकरी के सूत्रकी नाईं निकालते रहते हैं।

देखो य० अ० २४ में प्रथम ही मन्त्र कि जिसमें कैसे २ उत्तम उपदेश किये हैं॥

(१०७६) अश्व स्तूपरो गोमृग स्ते प्राजापत्याः, कृष्ण-
ग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्सारस्वती * मेष्य
धस्ता द्धन्वो राश्विना वधो रामौ वाह्वोः
सोमा पौष्णः श्यामो नाभ्या छं सौर्य्य यामौ
श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयो स्त्वाष्ट्रौ लोमश
सक्थ्यौ सक्थ्यो वायव्यः श्वेत पुच्छ इन्द्राय
स्वपस्याय वेह द्वैष्णवो वामनः ॥य० अ० २४। मं० १।

* यह मेष शब्द स्त्री लिंग में इस लिये दिया है कि उक्त अश्वादि पशु पुल्लिंग ही कार्यार्थ लेने का कुछ नियम नहीं समझना स्त्री भी इन की वर्त्ती जा सक्ती हैं जैसी अश्वा तूपरी, गोमृगी, अजा, इति—

अर्थ-परमेश्वर का मनुष्यों के प्रति अश्व आदि पशुओं के गुण ज्ञानार्थ उपदेश है कि, (अश्वः) आशु गामी तुरङ्ग पशु (तूपर) जिस के सींग अन्यों की अपेक्षा सींग निकलने के समय को गत कर के बहुत पीछे निकलें ऐसा वृषभ पशु और (गोमृगः) गौ के सदृश पशु अर्थात् नील गाय (ते) वे (प्राजापत्याः) प्रजापति नाम सूर्य्य के गुण वाले हैं, इनमें जो (रराटे) ललाट पर (पुरस्तात्) आगे से (कृष्णग्रीवः) काली गर्दन वाला हो वह (आग्नेयः) अग्नि देवता वाला अर्थात् अग्नि के गुण के युक्त है। (मेषी) छेरी अर्थात् बकरी (सारस्वती) सरस्वती देवता वाली अर्थात् वाणी के गुण वाली। और (हन्वोः) ठोड़ी के दोनों दायें बायें अवयवों के (अधस्तात्) * नीचे और (बाह्वोः) दोनों भुजाओं के (अधः) नीचे (आश्विनौ) अश्वि देवता वाले अर्थात् आश्विन नाम के दो रोमावर्त (रामौ) रमणीय अर्थात् अश्व के शुभ गुण सूचक होते हैं।

और जो (नाभ्यां) नाभि स्थान में (श्यामः) कृष्ण वर्ण हो (सोमा पौष्णः) सोम और पूषा देवता के गुण वाला है, और जो (पार्श्वयोः) वाम और दक्षिण दोनों भागों में (श्वेतः) सफेद (च) और (कृष्णः) श्याम हो, वह (सूर्य्यायामौ) सूर्य और यम देवता वाले अर्थात् श्वेत से सूर्य्य के गुण वाला और कृष्ण पार्श्व से यम के गुण वाला है। और (लोमश सक्थ्यौ) रोम वाली दोनों सक्थि त्वाष्ट्र देवता के गुण वाले की होती हैं, और जो (सक्थ्योः) दोनों टांगों में (च) और (पुच्छे) पूंछ में (श्वेत) सफेद हो उसका वायु देवता है अर्थात् उस पशु में वायु के अधिक गुण हैं। और (वेहद्) बिना ऋतुकाल बैल से मैथुन करा के गर्भ नष्ट करने वाली गौ तथा बिना ऋतु मती में मैथुन करने वाला (वामनः) नटोरा बैल ये दोनों (वैष्णवः) विष्णु देवता वाले × अर्थात् विष्णुः नाम शुक्र के अधिक गुण वाले हैं, ये (स्वपस्याय) जिस के सुन्दर २ कर्म हों उस (इन्द्राय) ऐश्वर्य युत पुरुष के लिये (आलभते) प्राप्त होवें॥

(१०७७) सं० भावार्थ- जो शीघ्र गामी घोड़े और जिन के बहुत आयु होने पर भी सींग थोड़े निकलें, अर्थात् छोटे २ शृङ्गों वाले जैसे कि नागौड़ देश के होते हैं

*कपोलयो स्तथावर्तौ विद्येते वाजिनो यदि ता वश्विना विति प्रोक्तौ राज्य वृद्धि करौ परौ॥
इत्यश्व शास्त्रे॥

(१०७८) × सर्वांग में व्याप्त होकर शुक्र [७०६] रहता है इस से शुक्र को विष्णु कहते है।

ऐसे बैल, और नील गाय, और इन में से कोई सा जो शिर की ओर काली गर्दन वाला हो, वह और बकरी, और ठोड़ी के नीचे दोनों ओर कपोलों पर वा दोनों ऊरुओं में रमणीय [सुशोभित] रोमावर्त [भौंरी] वाले घोड़े, और नाभि में श्याम रङ्ग वाले, वा दोनों पसवाड़ों में स्वेत वा काले रङ्ग वाले, और दोनों पिछले पैर और पूंछ में सफेद रङ्ग वाले घोड़े वा बैल और शुक के सार के लक्षणों वाली गौ तथा शुक के सार वाला ही नटोरा बैल, जैसा कि मूढ़देश कठैर गङ्गा पार का होता है, ये सब उत्तम होंने के कारण राजे महाराजे ऐश्वर्यवन्त जनों के रखने योग्य हैं, इस उपदेश में सब आवश्यकीय उत्तम पशुओं के रखने की आज्ञा, उन के गुणों का ज्ञान दानादि उपदेश भरे पड़े हैं ॥

(१०७९) इस यज्ञ कर्म में यजमानस्य पशून्पाहि यज्ञ के करने वाले यजमान के अश्व आदि पशुओं की रक्षा रूप स्पष्ट कही वैदिक विधि को न मानकर सैंकड़ों पशुओं के मारने का एक प्रकार का बूचड़खाना प्रवृत्त करना और हिंसा में अहिंसा का मिथ्याभिनिवेश मानना मांसाहारी लोगों की ही कल्पना है, मन्त्रों में लेश मात्र भी नहीं । देखो– यजुर्वेद के अ० १ तथा अ० १३ में कहा है कि–

पशून्पाहि- माम्मा हिंसीः अजांमा हिंसीः- इमं माहसीः द्विपादं पशुम्-माहिंसी रेकशफं-पशुम्- मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि ॥ भावार्थ यह है कि मनुष्यों के प्रति परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम सब पशुओं की रक्षा करो अर्थात गौ, बकरी, भेड़ द्विपादि, तथा एकशफ, [एक खुर वाले] अश्वादि और ऊंट, महिष, आदि किसी जीव को मत मारो

(१०८०) (प्रश्न) कहीं २ मनुष्यों के हिंसक जीवों के मारने की आज्ञा है वह क्यों है (उत्तर) वह मनुष्य की रक्षा के हेतु से हिंसक जीवों को प्राकृत शत्रु समझ कर मारना है, जैसा कि शत्रु रूप बने मनुष्य के ही मारने की आज्ञा स्पष्ट धर्म शास्त्र में लिखी है कि-

(१०८१) गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिन मायान्तं हन्या देवाऽविचारयन् ॥

अर्थ– गुरु हो वा बालक, वा बूढ़ा, वा बहुश्रुत ब्राह्मण हो इन में जो आततायी बन कर आवै उसको राजा बिना विचारे शीघ्र ही मारै ॥

(१०८२) यह सापराधी की हिंसा वैधी हिंसा है, और यज्ञ मिषसे निरपराधी पश्वादि

को मारना अवैदिकी को वैदिकी वैधी बताना सर्वथा अधर्म प्रवृत्त करना है ॥

देखो तैत्तिरीय ब्राह्मण काण्ड ३ । प्रपाठक ९ अनुवाक ८ में लिखा है कि-

(१०८३) अश्व मालभते । प्राजापत्यो वा अश्वः । प्रजापति
मेवा लभते अथो श्री र्वा एकशफम् ।
श्रिय मेवा वरुन्धे ॥

सान्वय भाषार्थ- (अश्व मालभते) इस वाक्य क्रिया का (वा) निर्द्धारण इस प्रकार है कि (अश्वः) आशु गमन शील एकशफ पशु (प्राजा पत्यः) प्रजापति [सूर्य] के गुण वाला (प्रजापतिम्) प्रजा के स्वामी को (आलभते) प्राप्त हो (अथो) [प्रश्न यह क्यों ? [उत्तर] (एक शफम्) एक खुर वाला पशु अर्थात् अश्व, अश्वतर, खर, और गोरखर, ये सब (श्रीः) लक्ष्मी (वा) तुल्य हैं । जो राजा इस एकशफ जाति के पशुओं का यथाविधि पालन पोषण, वर्द्धन और तत्कर्म शिक्षण करता कराता है वह (श्रियम्) लक्ष्मी [अनेक सुख सम्पत्तियां] को (एव) ही अपने यहां (अवरुन्धे) संग्रह करता है ॥ सायण भाष्यकार भी हमारे ही अर्थ की पुष्टि करते जैसे कि-

(१०८४) प्रजा प्रत्यक्ष जन्यत्वात् (अश्वः) प्राजापत्यः तदा लम्भेन
प्रजापति मेव आलब्धवान् भवति । अपिच एक 'शफम्।
अश्वा श्वतर गर्दभ रूपं श्री स्वरूपं धनिकानां गृहेषु मनुष्य
धनादि वहनाया श्वादीनां दर्शनात् । तस्मा च्छ्रिय मेव प्राप्नोति ॥

अब अश्वमेध विधि के पश्चात् उक्त तै० ब्रा० के उक्त पते पर ही गोमेध विधि देखो-

(१०८५) गा मालभते । यज्ञो वै गौः । यज्ञ मेवा लभते ।
अथो अन्नं वै गौः । अन्न मेवा वरुन्धे ॥

सान्वय भाषार्थ- यजमान (गाम्) गो जाति को (आ, लभते) मर्यादा पूर्वक, प्राप्त [सङ्ग्रह] करै क्योंकि (गौः) गोजाति (वै) ही (यज्ञः) यज धात्वर्थ [देव सत्करण, सङ्गति, सद् व्यवहार, और दान] का कारण है अर्थात् जहां वा जिस यजमान के गो जाति [गोधन] है वहीं यज्ञ जहां गौ नहीं वहां यज्ञ नहीं इस से वह (एव) ही गौओं

का धनी यजमान (यज्ञम्) उक्त यजनार्थ को (आलभते) विधि पूर्वक पहुंचता है ॥ (अथो) इस के अनन्तर (गोः) गो जाति (वै) ही गोरस और यव गोधूमादि धान्यों की लब्धि का कारण होने से (अन्नम्) प्राण धारक अर्थात् जीवन है इस से जो गो जाति मात्र का पालन पोषण करता है, वह (अन्नम्) प्राणन [जीवन] को (अवरुन्धे) संग्रह करता है ॥ सायण भाष्य भी हमारे ही अर्थ का पोषक है जैसे कि-

(१०८६) द्वे धेनू भौमी इत्यादौ पशुत्वेन गौ र्विहिता सा च यज्ञ निष्पादकत्वात् यज्ञ स्वरूपा अतो गवालम्भेन यज्ञ एवालब्धो भवति। अपि च क्षीरादि द्वारेण गो रन्नत्वात् अन्न मेव प्राप्नोति ॥

इस के अनन्तर अजा व्यालम्भन विधि भी इसी उक्त पते पर निम्न लिखित प्रकार व्यक्त है।

(१०८७) अजावी आलभते भूम्ने। अथो पुष्टि र्वै भूमा। पुष्टि मेवा वरुन्धे ॥

सान्वय भाषार्थ (अजावी) बकरा और मेष इन दो जाति के पशुओं को (भूम्ने जिसके अधिकार में भूमि अधिक हो उस भुमिया के लिये यजन शील [सङ्गति प्रापक राजा] (आ, लभते) समन्तात् [मर्यादा से] देवे। (अथो) प्रश्नार्थ है, इस से [प्रश्न] उत्पन्न होता है कि उक्त पशु विशेष भूमि वाले के लिये क्यों देवे [उत्तर] (भूमा) अधिक पृथिवी वाला (वै) ही मनुष्य उक्त पशुओं का भूमि के कारण तृणादि पुष्कल मिलते रहने से (पुष्टिः) पोषक [पालक, वा वर्द्धक] है जो उक्त पशुओं को पोषण करता वा कराता है वह (एव) ही अपनी और दूसरों की शारीरिक मानासिक और सामाजिक (पुष्टिम्) पुष्टि [उपचय वा दृढता] को (अवरुन्धे) संग्रह करता है ॥

(१०८८) सं० अजा और भेड़ ये दोनों पशु एक ही वर्ष में अनेक वार अनेक बच्चों से प्रसवित होते हैं, इस से अवश्य अधिक बढ़ने की सम्भावना करते हैं, और बढ़े हुओं का भूमा ही पालक हो सक्ता है अन्य नहीं।

उक्त ब्राह्मण का सायण भाष्य

(१०८९) अग्नये ऽ नीक वत इत्यनुवाके आग्नेयः कृष्णो ऽ जः सारस्वती

मेषी त्यजाव्योः पशुत्व माम्नातं । तदालम्भो "भूम्ने" बाहुल्याय सम्पद्यते। तस्माद् द्वौत्री नजा जनय त्यथावयो भूयसी इतिबाहुल्य संभावनायाः श्रुतत्वात् । अपिच बाहुल्यस्य पुष्टि रूपत्वात् पुष्टि मेव प्राप्नोति ॥

इस भाष्य से भी हमारे अर्थ की पुष्टि होती है ॥

सं० यज्ञों के विधान में मनुष्य पशु की विधि प्रशंसनीय है, इस कारण अब हम तै० ब्रा० के उक्त पते से ही उसे भी उद्धृत करते हैं ॥

(१०६०) पुरुष मालभते। वैराजो वै पुरुषः। विराज मेवा-लभते। अथो अन्नं वै विराट् अन्न मेवावरुन्धे ॥

सान्वय भाषार्थ– (पुरुषः) मनुष्य जाति (वै) निस्संदेह (वैराजः) विराट् [विशेष प्रकाशमान्] का अपत्य है, अर्थात् सब चराचर जगत् में सर्वोत्कृष्ट जाति है, जो इस (पुरुषम्) मनुष्य जाति को यज धातु के देव पूजनादि अर्थों द्वारा अर्थात् विद्वत्पुरुष का अनेक प्रकार मन से वाणी से और शरीर से सत्कार करने, इतर पुरुषों को यथा योग्य सङ्गति पूर्वक शिक्षा करने कराने और देने दिलाने से (आलभते) समन्तात् [सब ओर से] प्राप्त होता [मिलता मिलाता] है, वह (एव) ही (विराजम्) विशेष दीप्ति को (आ, लभते) सब ओर से प्राप्त होता है (अथो) [प्रश्न] वह विराज रूप विशेष दीप्ति क्या है, ? [उत्तर] (अन्नम्) यव गोधूम व्रीह्यादि अन्न (वै) ही (विराट्) विशेष दीप्ति है, जो मनुष्य अपने भाई मनुष्य जाति रूप पशु [दर्शनीय] को पूजता है, सङ्गति देता दिलाता है वा सज्जनों की सेवादि के लिये अन्न को देता दिलाता है, वह (अन्नं) अपने देश में अन्न को (एव) ही (अवरुन्धे) सङ्ग्रह करता है ॥

(१०६१) यजुर्वेद अध्याय ३० में मनुष्यों को मनुष्यों के साथ परस्पर कर्मानुसार यथा योग्य व्यवहारार्थ ब्राह्मणादि जातियों के कर्मों का नाम ले लेकर योग दिखाया है कि, इस कर्म करने वाले को ऐसे के लिये आलम्भन [मेलकरै वा करावै] यहां भी समस्त अध्याय में एक आलभते ही क्रिया है, इसका भी प्राप्ति अर्थ त्याग, मारना ही अर्थ करके ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र, स्मृति, इतिहास पुराणादि के अनेक स्थलों को बिगाड़ दिया, नर हत्या [नर बलि] रूप पाप की सर्वत्र बेल फैला दी, इसको वेद

विधि वत् इसके अनेक अर्थवाद बना २ कर महाभारत वाल्मीकीय रामायणादि में भर दिये ॥

(१०९२) यहां पर महाभारत आरण्य पर्व तीर्थ यात्रा प्रकरण अध्याय २७। तथा २८। जन्तु पाख्यन का लिखते हैं वहां यह इस प्रकार लिखा है कि–

एक सोमक नाम का राजा था, उसकी सौ रानियों के बीच एक ही पुत्र था उसने बहुत उपाय किये पर एक के अतिरिक्त और पुत्र न हुआ, एक दिन एक ऋत्विज चले आये राजा ने उनसे अपना बड़ा दुःख झींका, कि मुझ एक पुत्र वाले को धिक्कार है, एक पुत्र वाले का क्या सपूता है, इससे बिना पुत्र के ही होना श्रेष्ठ है, नित्य प्रति रोगी रहना आदि दुःखों से प्राणी दुःखित होते हैं, इससे एक पुत्र वाले को तो शोक ही है, यह एक पुत्र भी सौ रानियों के होने परभी बड़ी कठिनता से उत्पन्न हुआ कि जिसका नाम जंतु है, सब रानियों के पुत्र होने के लिये मैंने अनेक यत्न किये परन्तु और कोई न हुआ और अवस्था भी सब व्यतीत हो चुकी, यदि कोई काम ऐसा हो कि जिससे सौ पुत्र हो जायं वह काम छोटा हो वा बड़ा, चाहें योग्य हो, वा न हो मुझे सुनाइये। ऋत्विज् बोले, हे राजन्! मेरी रची हुई यज्ञ में इस जन्तु नामक अपने पुत्र से यज्ञ कर, उस के होने से थोड़े ही दिनों में सौ पुत्र होजावेंगे, जिस समय इस जन्तु नामक अपने पुत्र की वपा का होम करेगा उस होम के धूम को सूंघकर इसकी जितनी माता हैं वे सब गर्भवती हो जांयगी, और बड़े बलवान् पुत्र उत्पन्न करेंगी, और उसी अपनी माता के यह जन्तु नामक पुत्र जन्मैगा। राजा सोमक बोला कि हे ब्रह्मन् जो मुझे करना हो वह कहिये, पुत्रों की कामना के लिये मैं आपके वचन को अभी करूंगा, यहां पर लोमश ऋषि बोले कि हे कुरु नंदन उस जन्तु नाम के पुत्र से यज्ञ करना प्रारम्भ किया, जिसकी सब मातायें करुणा रुदन करती हुई अपनी ओर जन्तु को खैंचती हुई कहने लगीं कि इसके बिना हमें मरी हुई समझो, यह कहकर बड़ा शोक करने लगीं उन रोती हुईयों के हाथ से छुटाकर सीधे हाथ से पकड़ सउयाजक ने उस लड़के को खींच लिया, उन कुररी पक्षी की नांई रोती हुईयों से छीन लिया और उसको काट कर उसकी वपा से हवन किया, उस वपा की गन्ध को सूंघ कर सब हाय २ करती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ीं फिर वे सब स्त्रियें गर्भवती हो गईं. दश महीना पीछे उस राजा के पूरे सौ पुत्र होगये, और जन्तु नामक उसका पुत्र अपनी माता के सब से बड़ा जन्मा ॥

(१०९३) प्रतीत है होता कि उक्त ऋत्विग् मनुष्य के मांस को खाता होगा, इसी से

मनुष्य मारनेका उपदेश दिया' और यज्ञ के बहाने से मनुष्य का मांस खाया होगा ऐसे ही आचरण वाले किसी कापालिक अघोरी वाम तन्त्र वाले ने महाभारत में अर्थवाद रूप मिथ्या कल्पना कर कथानक डाल दिया कि, आगे को भी यह धर्म प्रचालित रहा आवै, यह पंथ अभी तक चल रहा है, निर्मूल नहीं हुआ, आशा कि, धर्मात्मा विद्वज्जन ऐसे प्रकरणोंको वेदविरुद्ध समझ सर्वथा त्याग कर देंगे यदि इसको कोई सत्य समझें तो स्त्रियों को गर्भवती करके दिखाना तो बनेगा नहीं परन्तु वर्तमान काल के अजा मेधियों से अज की वपा का धुंआं बिन व्याही हुई गर्भ रहित अजाओं को सुंघा कर गर्भवती कर दिखावें तो ठीक समझें, परन्तु यह सृष्टि क्रम विरुद्ध, सर्वथा असम्भव है ॥

नर सङ्गति प्रापक वैदिक उपदेश

(१०९४) यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में चतुर्थी विभक्त्यन्त पद देवता [दिव्य गुण वाले] अर्थात् "दिवु" धातु के क्रीड़ादि अर्थों को वर्तने वाले, मानकर और द्वितीया विभक्त्यन्तो को नर पशु बताकर आलभ धातु का प्रयोग किया है, यहां भी महीधरादि ने आलभ का अर्थ मारदेना करके नर हत्या फैलादी ॥
जैसे टोकने के एक चावल के देखने से सब गले वा न गले जाने जाते हैं इसी प्रकार अब इसके एक मन्त्र के ही अर्थ को देखकर लभ धातु के हिंसार्थ करने का भ्रम दूर हो जायगा ॥

(१०९५) ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् तमसे तस्करं नारकाय वीरहणम् पाप्मने क्लीव माक्रयाया ऽ अयोगूं कामाय पुंश्चलू मतिक्रुष्टाय मागधम् ॥ ५ ॥

सान्वय भाषार्थ– सङ्गति दायक [स्वामी वा उपदेष्टादिजन] (ब्राह्मणे) ब्रह्म नाम परमेश्वर वा वेद उसके जानने पढ़ने के लिये (ब्राह्मणम्) वेदवेत्ता ब्रह्मवर्चस्वी विप्र को (आ, लभते) मिले वा मिलावै, (क्षत्राय) घाव होने से बचाने वाले अर्थात् रक्षा करने वाले पुरुष के लिये वा क्षत्र (राष्ट्र) प्राप्ति के लिये (राजन्यम्) क्षत्रिय [गुण, कर्म, स्वभावानुसार क्षत्रत्व प्राप्त करने वाले पुरुष] को (मरुद्भ्यः) वायु के तुल्य

सर्वत्र गमागम करने वाले मरु तदैवत पुरुष के लिये (वैश्यम्) व्यापार शिक्षा ग्रहणार्थ वैश्य वृत्ति वाले पुरुष को, (तपसे) शुधा, क्षुधा, शीत, उष्णादि के दुःखों के सहने के लिये (शूद्रम्) कठिन काम करने वाले द्विजेतर मनुष्य को, (तमसे) अन्धकार के अर्थात् काल कोठरी में प्रवेश करने के लिये (तस्करान्) चोरी करने वाले मनुष्य को (नारकाय) दुष्टों को नरक भोग कराने वाले नरकाधीश के लिये (वीरहणम्) वीर [यज्ञाग्निको] हन् [नष्ट करने वाले मनुष्य] को, (पाप्मने) पापी जन के लिये (क्लीवम्) नपुंसक को, (आ, कयाय) सब वस्तु अदले बदल में देने लेने वाले के लिये (अयोगूम्) अयोग्य [अशास्त्रीय] कर्म करने वाले को (कामाय) कामोत्पादन के लिये (पुंश्चलूं) जार कर्म करने वाले को, (अति क्रुष्टाय) अधिक कोशने वाले के लिये (मागधम्) मगध देशोत्पन्न पुरुष को (आ, लभते) मिले मिलावे इनके मि ने मिलाने के कारण सब स्पष्ट हैं कि वेदपाठक वेद वेत्ता ही ठीक होगा ॥

अब इस अध्याय के कुछ मन्त्रोंमें से परस्पर व्यावहारिक सुघटित अर्थ योजना के थोडे से उदाहरण नीचे लिख कर वेद में नर हत्या बताने के पक्षपातियों की आखें खोलते हैं ॥

उदाहरणानि

२--गीताय सूतम् नृत्ताय शैलूषं धर्माय सभाचरम् ।

अर्थ– वेद का उपदेश है कि (गीताय) गान करने के लिये (सूतम्) ब्राह्मणी में क्षत्री से उत्पन्न हुए गायनोपजीवी सूत जाति को (नृत्ताय) नाँचने के लिये (शैलूषम्) नट जाति को (धर्माय) धर्म [न्याय] कहने करने के लिये (सभाचरम्) अनेक सभाओं में जाने आने वाले पुरुष को, (आलभते) मिले मिलावै ।

३ – श्रमाय कौलालम् । (श्रमाय) श्रम [प्रयास] कर्म के लिये (कौलालम्) कुम्भकार के पुत्र को (आ– लभते) मिलै, भेटै वा मिलावै ।

४–मायायै कर्मारम् । (मायायै) चित्र रचना के लिये (कर्मारम्) चितेरे [कमङ्गर] को

५– नदीभ्यः पौञ्जिष्ट मृत्तीकाभ्यः नैषादम् ।

(नदीभ्यः) नदीयों के कार्यार्थ (पौञ्जिष्टम्) कैवर्त [धीमर, मल्लाह] को (ऋक्षीकाभ्यः) जन शून्य स्थलों के अर्थात विजन देश में सहायता लैने के लिये (नैषादम्) निषाद पुत्र को (आलभते) मिलै मिलावै ॥

यदि ज० मां० भ० जी के अनुकूल आलभते क्रिया का अर्थ नरों का यज्ञ में मारना ही

माना, वा किया जाय तो १८८ मनुष्यों का विजन होता है, इन में पंडित, वैद्य, ज्योतिषी आदि विद्वान् भी हैं, मान्य भी, शिल्पी भी, व्यवहारी भी, सेवक भी. गाने नाचने वाले आदि अनेक हैं। कहां तक इनके अनर्थ की लीला कहैं कि, जिनके मिलने मिलाने में ही सर्वथा हित था वे नाश किये जाते हैं, जैसा कि कुमारी पुत्र, कुम्भकार, मणिकार [मनिहार] कर्मगर, इषुकार, [बाण बनाने वाले] धनुषकार, [धनुष बनाने वाले] ज्या कार, [प्रत्यञ्चा बनाने वाले] रज्जु सर्ज्जे, [रस्सी] बनाने वाले मधुर भाषी, हाथीवान्, अश्व पाल, गो पाल अवि पाल, अज पाल इत्यादि अनेक जगदुपकारी पुरुषों का वध सूचित होता है, ॥

प्रतीत होता है कि चाहे इन्हीं के अनर्थ ने इस देश के उपरोक्त महोपकारियों का भक्षण कर लिया हो कि जो आज १४ विद्याओं के और ६४ कलाओं के नाम तक नहीं जानते, यदि पक्षपात त्याग कर हमारे किये आलभते के अर्थ की ओर विद्वज्जन ध्यान देकर विचारेंगे तो आशा है कि अवश्य मांसाहारी जी के हिंसार्थ का पता भी न रहैगा ॥

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढा नड्वाना्शुः सप्तिः पुरन्धि र्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योग क्षेमो नः कल्पताम् ॥

अर्थ - हे (आब्रह्मन्) सर्व व्यापक परमात्मन् (नः) हमारे (राष्ट्रे) देश में वा राज्य में (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्म तेज को धारण करने हारे यज्ञाध्ययन शील (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (जायताम्) उत्पन्न हों। और (शूरः) पराक्रमी (इषव्यः) बाण विद्या में निपुण तथा (अति व्याधी) शत्रुओं को निर्मूल छेदन भेदन करने वाले (राजन्यः) क्षत्रिय लोग (महारथः) महायोधा अर्थात् अकेले ही सहस्रों को जीतने वाले (राजन्यः) क्षत्रिय लोग (जायताम्) उत्पन्न हों। और (दोग्ध्री) दुधारी (धेनुः) सवत्सा गायें, (वोढा) बोझों के ढोने वाले [वहन शील] (अनड्वान्) गाड़ी आदि के खेंचने वाले बैल, (आशुः) शीघ्रगामी (सप्तिः) घोड़े (पुरन्धीः) सर्व गुण सम्पन्न गृहकार्य में कुशल (योषाः) स्त्रियें, (जिष्णुः) शूरवीर जयन शील विजयी (रथेष्ठाः) रथों में बैठने वाले युयुत्सु जन हों (सभेयो) सभा चतुर (युवा) तरुण

उत्पन्न हों (निकामे निकामे) जब जब कामनाहो अर्थात् जब जब चाहना होवै तभी २ (नः) हमारे लिये (पर्ज्जन्यः) मेघ (वर्षतु) बरसौ, (औषधयः) व्रीही यवादिक अन्न (फलवत्यः) फल युक्त होकर (पच्यताम्) पकैं, और (योगः) अलब्ध का लाभ और (क्षेमः) लब्ध का परिपालन अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा की (नः) हमें (कल्पताम्) सामर्थ्य होवै ॥

जब कि इस उक्त मन्त्र में ब्राह्मणों के शूरवीर बाण चलाने वाले शत्रुओं को बेधन करने वाले महारथी क्षत्रिय लोगों के उत्पन्न होनेकी परमेश्वर से प्रार्थना की जाती है तो नरमेध में उक्त पुरुषों के बध करने का अर्थ कैसा ? । तथा गोमेध के नाम से गौ का, अश्वमेध के नाम से घोड़े का मारना कैसे बन सक्ता है ! । यह सब मांसाहारी लोगोंकी अनर्थ कल्पना है ॥

(१०६८) अपित्वा दानमात्रं स्यात् भक्षशब्दा नभि सम्बन्धात् ॥ मीमांसा द० १० । ७ । १५ ॥

अर्थ — भक्षण विधायक शब्द के न पाये जानेसे पशुओं के दान मात्र की ही विधि वेद में है, हिंसा की नहीं । तात्पर्य यह है कि, यजुर्वेद के २४ वें अध्याय में यज्ञार्थ [दानार्थ] पशु कहे हैं वहां मांस भक्षण की गन्ध भी नहीं इससे पशु हिंसन मिथ्या कल्पित है, वहां दान ही देने का आशय स्पष्ट है देखो —

(१०६८) " पृष्ठवाहो विराज उक्षाणो बृहत्या ऋषभाः ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिच्छन्दसे ॥ यजुर्वेद २४ । मंत्र १३ ॥

अर्थ— (पृष्ठवाहः) पीठ से बोझा उठा ले जाने वाले घोड़े, खर खच्चर आदि (विराजे) विशेष राज्य वाले राजा के लिये (उक्षाणः) कृषि को कूप जलसे सींचने के लिये मुख्य साधन रूप पुष्ट बैल (बृहत्यै) जल से वा जल में धान्य होने वाली भूमि के लिये (ऋषभाः) रेत [वीर्य] के वर्षाने में सर्वथा पुष्ट उत्तम जाति के बैल (ककुभे) बड़े २ (ककुद) [टाट] होने के लिये अर्थात् सांड छोड़ने के लिये, और (अनड्वाहः) "अनः शकटं वाहयन्ति ये ते वा अनः वाहते यैः तें, वयो वर्ण बलोत्पत्ति देशादिभिः सर्वथा समान वृषभाः,, गाढी, रथ आदि को ले चलने योग्य अवस्था, रंग,

बल, जन्म, देश आदि से सब प्रकार समान बैल (पङ्क्त्यै) पङ्क्ति बांध कर अर्थात् जोटों से सिद्ध होने वाले हल आदि कृष्यादि साधनों के लिये (धेनवः) थोड़े दिनों की प्रसूता हुई बछड़ों वाली गायें (अति छन्दसे) वेद पारङ्गत विद्वानों के लिये (आलभते) प्राप्त की जावें अर्थात् दान दी जावें।

गोपथ ब्राह्मण उ० भाग प्रपाठक ६ में भी लिखा है कि—

(१०६६) अन्नं वै पङ्क्तिः अन्नाद्यस्या वरुन्ध्यै ॥

अर्थ—यह (वै) निश्चित है कि (पङ्क्तिः) पङ्क्ति नाम (अन्नम्) यव व्रीह्यादि अन्नों का है इससे (अनड्वाह) अनेक गाड़ी आदि के चलाने वाले बैल (पङ्क्त्यै) कृष्यादि द्वारा अन्न की उत्पत्ति के लिये [आलभते] विशेषता से रक्खै॥
सं० जब कि (अति छन्दसे) नाम वेद पारग के लिये गौ लिखी है तब गौओं के हवन का क्या प्रयोजन॥

गोपथ ब्रा० उत्तर भाग ३ तृतीत प्रपाठक

यद्गां ददाति, वैश्वदेवी वै गौः, विश्वेषा मेव देवानां-तेन प्रियं धामोपैति। यदजं ददाति, आग्नेयो वा अजः, अग्नेरेव प्रियं धामोपैति। यदविं ददाति, आव्यन्ते नापजयति। यत्कृतान्न न्ददाति, मांसं तेन निष्क्रीणीते यदनो वा रथो वा, शरीर न्तेन०। यद्वासो ददाति, बृहस्पति न्तेन०। यद्धिरण्यं ददाति, आयुस्तेन वर्षीयः कुरुते। यदश्वं ददाति, सौर्यो वा अश्वः, सूर्य स्यैव तेन प्रियं धामोपैति॥

अर्थ—जो गो पशु का दान देता है वह उस गो दान से सब देवों के प्रिय धाम को पहुंचता है क्योंकि गोजाति निःसन्देह संसार में दिव्य गुण दात्री है॥ जो अज जाति का दाता होता है वह आग्नि के ही प्रिय धाम को पाता है। क्यों कि अज जाति निःसन्देह आग्नि देवता वाला है॥ जो मेष जाति का दान करता है वह उस दान से

मेष की जाति से लभ्य होने योग्य दुग्धादि ऊर्णादि वस्तुओं को पाता है ॥ जो पकाये हुए अन्न का दान करता है वह उस दान के बदले में अपने शरीर के मांस की वृद्धि को पाता है अर्थात् वह पुरुष मोटा होता है ॥ बोझ ढोने वाली गाडी वा रथ का दान करता है वह उस दान से शरीर की पुष्टि पाता है ॥ जो वस्त्र देता है वह उससे वृहस्पतित्व को प्राप्त होता है ॥ जो सुवर्ण का दान देता है वह उस दान से दीर्घ आयु को पाता है ॥ और जो घोड़े का दान देता है वह उस दान से सूर्य्य के ही प्रिय धाम को पहुंचता है क्योंकि घोड़े का देवता सूर्य्य ही है ॥

(११००) सं० इसी प्रकार इस [२९वें] सम्पूर्ण अध्याय के किसी मन्त्र में भी घोड़े आदि किसी जीव के मारने की विधि में एक अक्षर भी नहीं है, और समस्त अध्याय में एक आलभेत ही क्रिया है दूसरी क्रिया ही नहीं, यह क्रिया आङ् उपसर्ग पूर्वक" डुलभष् धातु की है कि जिसका अर्थ प्राप्ति है अन्य नहीं, और आ, अथवा आङ् उपसर्ग का भी मारना अर्थ कहीं नहीं लिखा, कि जिस के साहचर्य से आलभते का अर्थ हिंसा करना हो जाय, यदि उपसर्ग से ही यहां [धातु में] हिंसार्थ घुस गया तो बताइये कौन से सूत्र से कौन से व्याकरण से ! वह कोई नहीं दिखाई पड़ता यदि है तो यहां क्यों नहीं, देखो- सं०— पारस्कर गृह्य सूत्र उपनयन प्रकरण" अथास्य दक्षिणां समधि हृदय मालभे । तथा विवाह प्रकरण "दक्षिणां समधि हृदय मालभते" तथा चरक शारी० अ० ७" एतानि शश्वैव पुंसे पुंस्य स्नान सदाचरैः समालभेत' तथा सुश्रुत कल्पस्थान अ० १ आलभता सक्रुद्दीनः करेण च शिरो व्हान् । तथा [१०८३ से १०९१ तक] के अंकों पर । तथा मीमांसा द० अ० २ पा० ३ सू० १७ पर सुबोधिनी टीकाकार ने भी आलम्भ का अर्थ संस्पर्श किया है, वत्सस्य समीप आनयनार्थे आलम्भः स्पर्शो भवति ॥ इन स्थानों पर भी हिंसार्थक होना चाहिये था सो नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जिन को विद्वज्जन विचार में ला सकेंगे विस्तार उचित नहीं ॥

(११०२) वैदिक निघण्टु में वध [हिंसा] कर्मक तेतीस धातु यास्क मुनिने गिनाई हैं, देखो निघण्टु अ० २ खं० १९ ॥ १ दभ्नोति २ श्नथयति ३ ध्वरति ४ धूर्वति ५ वृणक्ति ६ वृश्चति ७ कृणवति ८ कृन्तति ९ श्वसिति १० नभते ११ अर्दयति १२ स्तृणाति १३ स्नेहयति १४ यातयति १५ स्फुरति १६ स्फुलति १७ निर्वपन्तु १८ अव तिरति १९ वियातः २० आतिरत् २१ ताधित् २२ आखण्डल २३ द्रूणाति २४ श्मणाति २५ शृणाति २६ शम्नाति २७ तृणेढि २८ ताढि २९ निताशते ३० निबर्हयति ३१ मिनाति ३२ मिनोति ३३ धमति ॥

(११०३) सं० इन में भी आ वा आङ् पू क वा बिना आङ् के कैसेही लभ धातु का प्रयोग नहीं दिया फिर भला आलभते का हिंसा अर्थ कहां से कैसे आ कूदा ॥

(११०४) यज्ञ में दुग्ध, दधि, हैय्यङ्गवीन [पूर्व दिन के जमाये दधि में से निकाला मक्खन] तथा नवनीत [तुरत के दुहे दूध से निकाला मक्खन] तथा घृत यज्ञ साधन सामग्रियों के पुष्कल और शुद्ध तथा यथेष्ट समय पर मिलती रहने के लिये गौ बकरी भैंस भेड़ा आदि पशु और यज्ञार्थ भार ढोने वा वाहनार्थ [सवारी] के लिये बैल, घोड़े, नीलगाय, ऊंट आदि पशु इनके यथावस्थित बन्धे रहने के लिये यज्ञ चिन्हाङ्कित हुऐ यूप गाड़ते हैं वे केवल पशु बान्धने को न कि पशु मारने को ॥

देखो महा भाष्य १ आ० १

(११०५) वैल्वः खादिरो वा यूपः स्यादित्युच्यते ।
यूपश्च नाम पश्वनु बन्धार्थ मुपादीयते ।
शक्य श्चानेन किञ्चि देव काष्ठ मुच्छ्रित्या नुच्-
छ्रित्य वा पशु रनुबन्धुम् तत्र नियमः क्रियते ॥

अर्थ— यज्ञ में खैर की वा बेल की लकड़ी का यूप होना चाहिये। और यूप उस को कहते हैं कि, जिस में पशुओं को बान्धते है। वहां यह हो सक्ता है कि, यूप को कुछ ऊंचा नीचा करके पृथिवी में, गाढ़ पशुओं को बान्धे. परन्तु उस में नियम किया जाता है ॥ वहां भी यही अभिप्राय है, कि यज्ञ में पशुओं को बान्ध उन के दुग्ध घृतादि हवन कर जगत् की बड़ी रक्षा की जावै, यदि यज्ञ में पशु बध करते तो यहां "पशु-रनु बन्धु" यूप में पशु बान्धने को ऐसा न लिखते किन्तु "पशुं हन्तुं" पशु मारने को ऐसा लिखते, वह नहीं । द्वितीय महर्षि पतञ्जलि जी अपने रचित महा भाष्य में (११०६) सं० "औत्" अष्टाध्या० अ० १ । १ । सूत्र १५ के उदाहरण में लिखते हैं कि "गौ रनुबन्ध्योऽजो ग्निषोमीयः" अर्थात् अग्नि और सोम जिसके देवता हैं, वह अज और गौ यज्ञशाला के पीछे बान्धने चाहियें, इस विधि वाक्य से भी यही आता है कि, अजा और गौ को बांधकर उन से यथा योग्य यज्ञ सम्बन्धि घृत दुग्ध आदि सामग्री का संचय रखना चाहिये यदि यज्ञ पशु मारना अभीष्ट होता तो अनु-बन्ध्यः ऐसा बन्ध बन्धनार्थक धातु का पवर्गी बकार पूर्वक प्रयोग न लिखते किन्तु किसी हिंसार्थक धातु का प्रयोग देते, इत्यादि अनेक प्रमाणों से यही अभिप्राय निकला

है कि, यज्ञ में पशु मारना वैदिक कर्म नहीं ॥

(११०७) इमं मा हिंसीः द्विपादम् पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुम् पशुं मेध मग्ने जुषस्व तेन चिन्वान स्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४७ ॥ यजुः अ० १३ ॥

अर्थ– (अग्ने) हे कान्तिमन् राजन् (मेधाय) धारणावती बुद्धि के लिये (सहस्राक्षः) अनेक दृष्टि युक्त हुआ अर्थात् अनेक कार्यों को देखने वाला (चीयमानः) बढ़ता हुआ तू (इमम्) इस (द्विपादम्) दो पगवाले (पशुम्) मनुष्य रूप पशु को (मा) मत (हिंसीः) मार अर्थात् मनुष्य मात्र की सर्वथा रक्षा कर। (मेधम्) मेधा युक्त (मयुम्) किन्नर [वन मनुष्य] को भी (जुषस्व) प्रीति कर सेवा कर। (तेन) उस से उपकृत हुआ (चिन्वानः) बढ़ता (ते) तेरा (तन्वः) राजप्रकृति शरीर (निषीद) निरन्तर स्थिर हो (ते) तेरा (शुक्) शोक (ऋच्छतु) दूर हो (यम्) जिस (मयुम्) किम्पुरुष को हम (द्विष्मः) अनुपकारी हो जाने के कारण अप्रीति करें (तम्) उसको (ते) तेरा (शुक्) शोक अर्थात् मानसिक दुःख (ऋच्छतु) पहुंचो ॥

(११०८) इमं मा हि ँ सी रेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनेषु गौर मारण्य मनु ते दिशामि चिन्वान स्तन्वो निषीद। गौर न्ते शुगृच्छतु यम् द्विष्म स्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४८ ॥

अर्थ– हे राजन् (इमम) इस (कनि क्रदम्) अत्यन्त हेषणादि शब्द करते हुए (वाजिनेषु) वेग वालों में (वाजिनम्) वेगवन्त (एकशफम्) एक खुर वाले (पशुम्) देखने योग्य अश्वादि जीव को (मा) मत (हिंसी) मार (अनु) इसके पीछे (आरण्यं) वन के रहने वाले (गौरम्) रोझ नामक मृग की जाति विशेष के न मारने को (ते) तुझे (दिशामि) कहता हूं (तेन) उस रोझ से (चिन्वानः) हर्षित हुआ (ते) तेरा (तन्वः) राष्ट्र प्रकृति शरीर (निषीद) स्थित हो (यम्) जिस (गौरम्) रोझ को और (यम्) जिस पुरुष को दुःख दाई हो जाने के कारण

हम (द्विष्मः) अप्रीति करें उस रोझ को (ते) तेरा (शुक्) शोक (ऋच्छतु) प्राप्त होवै और (तम्) उस मनुष्य को (शुक्) शोक (ऋच्छतु) पहुंचो ॥

(११०९) इमं साहस्रं शतधार मुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये। घृतं दुहाना मदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। गवय मारण्य मनु ते दिशामि तेन चिन्वान स्तन्वो निषीद। गवयन्ते शुगृच्छतु यं द्विष्म स्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४९ ॥

अर्थ— हे (अग्ने) दयालु राजन् (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट स्थान में स्थित (साहस्रम्) सहस्रों के मूल्य के वा सहस्रों उपकारों के करने में सामर्थ्य वाली (शत धारम्) अनन्त दूध की धारा युक्त होने से (उत्सम्) कूए के तुल्य बड़े स्रोत वाली (सरिरस्य मध्ये) संसार के बीच में (व्यच्य मानम्) अनेक प्रकार स्तुति की गई (जनाय) सर्व लोक के लिये (घृतम्) घृत के कारण रूप दुग्ध को (दुहानाम्) प्रपूरित करने वाली (अदितिम्) न मारने योग्य पशु रूप गौ को (मा) मत (हिंसीः) मार (अनु) इस पीछे (ते) तेरे लिये (आरण्यम्) वन के (गवयम्) नील गाय को (दिशामि) ऐसा ही कहता हूं (तेन) उस नील गाय से अर्थात् नील गाय के यान और उसकी संतान की वृद्धि से (चिन्वानः) बढा (ते) तेरा (तन्वः) राज्य प्रकृति शरीर (निषीद) चिरंजीव हो और किसी कारण दुःख होने से (यम्) जिसको हम (द्विष्मः) अप्रीति करैं (तम्) उस (गवयम्) नील गाय को (ते) तेरा (शुक्) शोच (ऋच्छतु) प्राप्त हो और (तम्) उस द्विष्ट पुरुष को (ते) तेरा (शुक) शोच (ऋच्छतु) पहुँचौ ॥

(१११०) इम मूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनाम् द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्र मग्ने माहिंसीः परमे व्योमन्। उष्ट्र मारण्य नुम ते दिशामि तेन चिन्वान स्तन्वो निषीद। उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्म स्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५० ॥

अर्थ– (अग्ने) हे तेजस्वि राजन् (परमे व्योमन्) उत्तम अवकाश में स्थित (ऊर्णायुं ऊन वाली (वरुणस्य) वरने योग्य वस्तु की (नाभिः) संतान के तुल्य प्रिय स्थानी (द्विपदाम्) मनुष्यों के और (चतुष्पदाम्) गौ आदि चौपायों की (त्वचम्) त्वचा की तुल्य कम्बलों के आच्छादन से त्वचा की रक्षक तथा (त्वष्टुः) प्रजापति की (प्रजानाम्) प्रजा के मध्य (प्रथमम्) पहिले (जनित्रम्) उत्पन्न हुई (इमम्) इस अवि को (मा) मत (हिंसीः) मार (अनु) पश्चात् (आरण्यम्) वन के (उष्ट्रम्) ऊंट को (ते) तुझे (दिशामि) उपदेश करता हूं कि यह भी दूध देने से बोझा ढोने से, सवारी देने से, तथा अपनी ऊन भी देने, से भेड़ से भी अधिक जगदुपकारी है, इस को शिक्षा देकर उक्त काम लो (तेन) उस सुशिक्षित हुए व्यापार और स्व सन्तानोत्पत्ति वृद्धि करने वाले ऊंट से (चिन्वानः) बढता हुआ (ते) तेरा (तन्वः) राष्ट्र प्रकृति शरीर (निषीद) बहुत काल पर्य्यन्त ठहरौ (यं) जिसको हम (द्विष्मः) उसके दुःख दायी हो जाने के कारण अप्रीति करैं (तम्) उस (उष्ट्रम्) ऊंट को (ते) तेरा (शुक्) शोच चिन्ता (ऋच्छतु) प्राप्त हो तथा (तम्) उस राज द्विष्ट जन को (ते) तेरा (शुक्) मानसिक रोग (ऋच्छतु) पहुंचौ ॥ ५० ॥

(१११९) अजो ह्यग्ने रजनिष्ट शोका त्सो ऽअपश्य ज्जनितार मग्रे। तेन देवा देवता मग्र मायं स्तेन रोहमायन् नुप मेध्यासः ॥ शरभ मारण्य मनु ते दिशामि तेन चिन्वान स्तन्वो निषीद। शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्म स्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

सान्वय भावार्थ- हे (अग्ने) पूज्य प्रजापति राजन् (इमं) इस अज संज्ञक पशु को (माहिंसीः) न मारना यह (अजः) छाग जाति पशु (अग्नेः) अग्नि के (शोकात्) क्लेद [वाष्प] ‡ से (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है, (सः) वह [अजः] (अग्रे) प्रथम

‡ शुच शोके क्लेदे च । यदा वर्ष त्यौषधयो जायन्त ऽ ओषधी जग्ध्वापः पीत्वा तत एव रसः संभवति रसाद्रेतो रेतसः पशवः ॥ श० ब्रा० कां० ३ । ७ । ४ ।

अर्थ अग्नि में आहुति देने से वर्षा होती है फिर औषधी उत्पन्न होती है औषधी खाने, जल पीने से रस, रस से वीर्य्य, वीर्य्य से जैसे पुरुष होता है इसी प्रकार उक्त वीर्य्य से पशु होते हैं। इस कारण यज्ञ कर्ता अजादि पशुओं का जनिता [उत्पादक] है।

(जनितारम्) अपने उत्पादक को (अपश्यत्) देखता है, (तेन) उस अज जाति ने (देवाः) आज्य [अजोत्पन्नघृत] से हवनादि सात्विक कर्म यजमान (देवताम्) देवत्व पद को (आयन्) प्राप्त किये (तेन) उसी से (मेध्यासः) जहां तहां वस्तुओं के सङ्गमयिता [पहुंचाने वाले] (अग्रम्) आगे पर्वतों की शिखरों के ऊपर (रोहम्) चढ़ने को (उपायन्) उपक्रन हुए, इन ग्राम्यों के (अनु) पश्चात् (आरण्य) वन के पशु (शरभम्) करभ [हस्ती के बच्चे] को (ते) तुझे (दिशामि) दर्शाता हूं कि उसे न मारना तेन) उस के पालन पोषण शिक्षणादि व्यवहारों से (चिन्वानः) बढ़ता हुआ (ते) तेरा (तन्वः) राज प्रकृत्यङ्ग (निषीद) निरन्तर स्थिर रहो (यम्) जिस (शरभम्) शरभ के क्रूर हो जाने के कारण हम (द्विष्मः) अप्रीति करें, शेष पूर्व वत् ॥ इन मंत्रों में उपकारी जीवों की अहिंसा उपलक्षण मात्र परमेश्वर ने सूचित की है ॥

(१११२) स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्य मुच्यते ॥

अर्थ– राजा, मन्त्री, पुर, राजा का निज के निवास का शहर अर्थात् राजधानी कोश [ख़ज़ाना] दण्ड, मित्र, ये सब प्रकृति हैं इन से ही राज का अंग बनता है, इन में से एक के भी बिगाड़ होने से राज्य की हानि होती है कि जिस का अधिकार मनुष्य को राजा का पद देता है ॥ इन की वृद्धि होने में राजा के शरीर [राष्ट्र] की वृद्धि होती है। (प्रश्न)ऋ०६१।१२। निम्न लिखित मंत्र में गौ का विध्वंस सा भान होता है

(१११३) अस्मा इदु प्रभरा तूतुजानो वृत्राय वज्र मीशानः।
कियेधाः गोर्न पर्व विरदा तिरश्चेष्य न्नर्णांस्यपां चरध्यैः॥

अर्थ-- (तूतुजानः) नष्ट करता हुआ (ईशानः) शक्ति मान् (कियेधाः) अपरिमित बल का कर्त्ता [सूर्यः] (अस्मै वृत्राय इस मेघ के लिये (वज्रम्) शस्त्र को (प्र, भर) धारण करै या करता है । (अर्णांसि) जलों को (इष्यन्) बहाता हुआ (अपाम्) जलों के (चरध्यै) बहाने के लिये (पर्व) जोड़ों को (तिरश्चा) तिरछे वज्र से (वि,रद्) विदीर्ण करता है, (न) जैसे (गोः) गौ के (पर्व) पर्वों को ॥ (उत्तर)
तात्पर्य यह है, कि सूर्य मेघों के अवयवों को जोड़ों को छिन्न भिन्न करता है, अपरिमित

बल का धर्ता है, वह पृथ्वी पर जल प्रवाह करने के लिये अपने किरण रूप तिरछे चलने वाले वज्रसे मेघ को ऐसे काटकर पृथक् २ करता है जैसे (गोः) गौ के जोड़ों को कोई काटे, पृथक् २ करै॥ अब विचारणीय यह है कि "गो" का अर्थ क्या है। निरुक्त के अनुसार "गो" शब्द के अर्थ-पृथिवी, साधारण, वाणी, स्तुति कर्त्ता, पद, ये हैं। यदि पृथिवी अर्थ मानें तो यह तात्पर्य्य हुआ कि जैसे पृथिवी के किसी भाग को कोई खोदता वा "डाइना माइट" से उड़ाता है। यदि साधारण अर्थ लें तो यह ध्वनि निकलती है कि जैसे काष्ठादि किसी अवयवी के अवयवों को तोड़ै फोड़ै वा चीरै फाड़ै। यदि वाणी अर्थ माना जावे तो यह आशय हुआ कि जैसे वक्ता, वाणी के अवयव पद वाक्य आदि, वा उसके स्थान ताल्वादि को भिन्न करके उच्चारता है। स्तोता अर्थ में भी यही आशय है। इसी प्रकार पद शब्द के ज्ञान गमन प्राप्ति अर्थों में संगति जानों॥

इस प्रकार निघण्टु में लिखे "गो" शब्द के अर्थों में से मांस की गन्ध भी नहीं आती। और निघण्टु आदि आर्ष सम्प्रदायानुकूल ही वेद के अर्थ की सत्यता प्रामाणिक मानी जाती है। परन्तु थोड़ी देर के लिये सायण भाष्य को भी ठीक मान लें तो भी मांस का भक्ष्य होना सिद्ध नहीं होता है॥ सायण भाष्य का अक्षरार्थ यह है-हे इन्द्र वृत्र मेघ रूपी जोड़ों को तिरछे वज्र से काटो। इसमें दृष्टांत जैसे मांस के काटने वाले लौकिक पुरुष पशु के जोड़ों को इधर उधर पृथक् २ करते हैं तद्वत्।

अब विचारना चाहिये कि "सूर्य मेघ को ऐसे छिन्न भिन्न करता है जैसे चमार आदि लोग मृत पशु के अवयवों को,, भला इस कथन से मांस का भक्ष्य होना क्या सिद्ध होता है। हां सायण लेखानुसार केवल पशु का नाम मात्र आता है फिर क्या नाम आने से भक्ष्य होना सिद्ध हो गया! कदापि नहीं।

महिष शब्द का अपार्थ करना

(१११४) सखा सख्ये अपच त्तूय मग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि त्री साक मिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्र हत्याय सोमम्॥ ऋ० ५।२६।७।

अर्थः-(अस्य) इस सूर्य्य का (सखा) सहायक (अग्नि) ग्रीष्म कालाग्नि (सख्ये) सूर्य मित्र के लिये (त्री) तीन (महिषा) बड़े (शतानि) अतुल (मनुषः)

मनुष्य के उपकारक (सरांसि) जला शयों को (तूयम्) शीघ्र (कृत्वा) अपने कर्म से (अपचत्) पकाता [औटाता] है और उन (त्री) तीनों के वाष्प द्वारा (सुतम्) खींचे (ोनम्) जल को (वृत्र हत्याय) मेघ वर्षाने के लिये (इन्द्रः) सूर्य्य (साकम्) एक साथ ही (पिबत्) पी जाता है ॥

तात्पर्य यह है कि, सूर्य का सहायक मित्र अग्नि सूर्य के लिये तीन (महिषा) बड़े तालावों को जो समुद्र पृथिवी और अन्तरिक्ष में जल भरें उन्हें शीघ्र सूर्य्य अपनी ग्रीष्म कालोष्मा से मेघ वर्षाने के लिये एक ही वार पी जाता है। इसी अभिप्राय से चरक सू० अ० ६ में कहा कि " **मयूखैर्जगतः सारं ग्रीष्मे पेपीयते रविः**,, सायणाचार्य ने (महिष) शब्द से भैंसे पशु विशेष का ग्रहण करके यह अर्थ किया है- कि अग्नि ने, इन्द्र के लिये ३०० भैंसे पकाये और उन तालाबों को इन्द्र ने एक ही वार पी लिया। एक तो इस अर्थ में निघण्टु लिखित (महिषा शब्द के "महत्,' अर्थ का त्याग होना ठीक नहीं क्योंकि आर्ष परिपाटी से अर्थ करना अच्छा होता है। दूषण दोष असंगति का यह है कि मांस के भरे तीन तालावों का पीना कैसा। क्योंकि मांस पेय वस्तु नहीं, इस कारण पृथिवी वायु अन्तरिक्ष में भरे ३ तीन तालावों का विशेषण महिष शब्द है जिससे यह अर्थ होता है कि "महिषा सरांसि" बड़े जलाशयों को ॥ **महिषः महन्नामसु पठितः** ॥ नि० अ० ३ खंड ३ ॥

अपने इस ग्रन्थ की ग्रन्थोत्थानिका में लिखे नवमे श्लोक में जो कहा है — वह व्याख्या पूर्वक यथा शक्ति वर्णन किया गया, जिसकी महाभारत का एक श्लोक सही भरता है-

सुरा मत्स्याःपशोर्मांसं द्विजादीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येत न्नैत द्वेदेषु कथ्यते ॥

महाभारत शां० प० उत्त० मो० ध० अ० ९२ ॥

अर्थ — मद्य, मछली, और पशु का मांस [नकि फल का] और द्विजादिकों की बलि अर्थात् ब्राह्मणादि का शिर काली भैरव आदि की भेट चढाना, यह सब धूर्तों ने प्रचालित किया है, यह वेदों में नहीं कहा ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्यधिकारे यज्ञेषु पशु हिंसन मांस भक्षण खण्डन विषय वर्णनात्मक स्त्रिचत्वारिंशत्तमो विवेकः ॥४३॥

गो स्तवनम्

शतपथ ब्रा० कां० ४ । १ । २ कं० १५ में कहा है कि—

(१११५) पशवो वै रायो गोपाय पशून् ॥

अर्थ– गवादि पशु ही राय [धन] हैं जिस के पशु नहीं वह निर्धन है इससे पशुओं की रक्षा करें ॥

गोस्तुति ॥

(१११६) आ गावो अग्मन्नुत भद्र मक्र न्त्सीदन्तु गोष्ठे रणय न्त्वस्मे । प्रजावतीः पुरु रूपा इहस्यु रिन्द्राय पूर्वी रुषसो दुहानाः ॥ १ ॥

अथर्व– ४ । ५ । २१

सान्वय भावार्थ- (गावः) गौएं (आ, अग्मन्) हम को लख कर आवौ (उत) और (भद्रम्) कल्याण को (अक्रन्) करौ जहां गौएं ठहरती हैं उस हमारे (गोष्ठे) गोहिरे में गाएं (सीदन्तु) निवास करौ (अस्मे) हम को क्षीर आदि के देने से (रणयन्तु) किलोल करावौ, और (प्रजावतीः) बहुत सी सन्तान वाली (पुरु रूपाः) स्वेत कृष्ण अरुणादि अनेक रङ्ग रूप वाली (इह) यहां यजमान के घर में आगे को भरपूर (स्युः) होवैं और (पूर्वी) पहली गौएं (उषसः) उषा काल को उल्लंघन कर के अर्थात् प्रातः काल जैसे दुही जाती हैं ऐसे ही सदैव (इन्द्राय) दैश्वर्य वा ऐश्वर्य्य वान् पुरुष के लिये (दुहानाः) दूध से दोहनी परिपूर्ण करने वाली गौएं होवैं ॥

(१११७) इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति न स्वं मुषायति भूयो भूयो रयि मिदस्य वर्द्धयन्नभिन्ने खिल्ये निदधाति देवयुम् ॥ २ ॥

सान्वय भापार्थ (यज्वने) यज्ञ करते और (गृणते) स्तुति करते हुए मनुष्य के लि-ये (इन्द्रः) परमेश्वर (शिक्षते) शिक्षा करता है कि गौ दान कर्म है, अर्थात् यह सदैव (ददाति) देती है, यज्ञ करते और स्तुति करते मनुष्य को लाभ (उपेद्) उपदेश किया जाता है, गौ (स्वम्) धन को (न) नहीं (मुषायति) हरती है कि-न्तु (अस्य) इस पालन पोषण करने वाले यजमान के और स्तोता के (रयिम्) धन को (भूयोभूयः) अधिक से अधिक (वर्द्धयन्) बढ़ाती रहती है (इत्) यह बात निर्द्धारित है। यह ऐहिक लाभ कहा अब आगे पारलौकिक भी कहते हैं, (देवयुम्) यज्ञ द्वारा स्तुति द्वारा देवों को प्राप्त होने वाले (अभिन्ने) यज्ञ और स्तुति करने वालों से अपृथक् (खिल्ये) यज्ञ के और स्तुति न करने वालों के विना दावे स्वर्ग की पीठ पर (निदधाति) स्थित कर देती है ॥

(१११८) नता नशन्ति न दभाति तस्करो ना सा मा मित्रो व्यथि रादधर्षति । देवाश्च याभि र्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥

सान्वय भाषार्थ– (ताः) वे परमेश्वर की दी हुई गायें (न, नशन्ति) अदृष्ट मत हो और (तस्करः) चोर उन को (न) मत (दभाति) चुरावे (आसाम्) इन गौओं के (आमित्रः) शत्रुओं का किया (व्यथिः) व्यथा जनक अर्थात् शस्त्र (न) मत (आ, दधर्षति) हिंसित करे (च) और (याभिः) जिन गौओं से क्षीर आदि हवि के द्वारा (देवान्) इन्द्रादि देवों को यजमान (यजते) पूजता है, (च) और जिन गौओं को यज्ञ में दान (ददाति) देता है (ताभिः सह) उन गौओं के साथ (गोपतिः) गोपति (ज्योगित्) चिर काल तक (सचते) संयोग को प्राप्त हो कभी मत बिछुड़े ॥३॥

(१११९) न ता अर्वा रेणुककाटो ऽश्नुते न संस्कृतत्र मुप-यन्ति । ता उरुगाय मभयं तस्य ता अनुगावो मर्त्तस्य विचरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥

सान्वय भाषार्थ– (रेणु ककाटः) पैरों के आघातों से पृथिवी की रज को उखाड़ने काटने खोदने वाला अर्थात् खोरी खोदने का स्वभावी (अर्वा) व्याघ्रादि हिंसक पशु

कोई यहां अर्वा घोड़े को भी कहते हैं यह भी कहना युक्त है। उसका भी गौओं में रहना ठीक नहीं और महिष जाति का तो प्राकृत ही विरोध है जैसाकि गौ जाति का और व्याघ्रादि का है (ताः) उन गौओं को (न) न (अश्नुते) प्राप्त होवो तथा (ताः) वे गौएं (संस्कृतत्रम्) मांस पाचक को (अभि) लक्ष कर उसके पास (न) मत (उपयन्ति) पहुंचो और (तस्य) उस (यज्वन) यज्ञ करने वाले (मर्तस्य) मनुष्य के (अभयम्) भय रहित देश को (अनु) लक्ष कर (उरुगायम्) दूर २ तक (ताः) वे (गावः) गौएं (विचरन्ति) विचरें ॥ ४ ॥

(११२०) गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य भक्षः। इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

अर्थ– (गावः) गौएं ही पुरुष का (भगः) धन वा सौभाग्य है, और (मे) मेरे लिये (गावः) गौएं जिस प्रकार से हों उसको (इन्द्रः) परमेश्वर (इच्छात्) चेष्टित करे, सब औषधियों में (प्रथमस्य) मुख्य (सोमस्य) सोम का (गावः) गौएं (भक्षः) आहारोपाय हैं क्योंकि अभिषुत हुआ सोम गौ के दूध दही वा घी के साथ ही सेवन किया जाता है (इमाः) ये (याः) जो (गावः) गौएं दीखती हैं हे (जनासः) मनुष्यो! ये गौएं हमारा (इन्द्रः) परमैश्वर्य, वा परमेश्वर हैं, इस कारण गौओं के दुग्धादि हवि से (इन्द्रम) इन्द्र को यजन करना (हृदा) हृदय के अन्तर वर्त्ति (मनसा) ज्ञानान्तः करण से (चित्) निश्चय (इच्छामि) चाहता हूं ॥

(११२१) यूयं गावो मेदयथा कृशं चि दश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥६॥

अर्थ–हे गौओं (यूयं) तुम हमारे (कृशम्) थके शरीर को (चित्) भी (मेदयथा) अनेक दूध घी आदि से मेद युक्त अर्थात् मोटा करती हो, और तुम (अश्रीरम्) कान्ति हीन अंग को (चित्) भी (सुप्रतीकम्) सुन्दर अवयवों वाला (कृणुथा) करती हो, इस से हे (भद्रवाचः) कल्याण कारी वाणी [रंभाना] युक्त गौओं तुम हमारे

(गृहम्) घरों को (भद्रम्) कल्याण युक्त अर्थात् सुशोभित (कृणुथ) करो क्योंकि जिन घरों में गौ होती हैं, वेही घर कल्याण युक्त [सुशोभित] होते हैं (वः) तुम्हारे (वयः) गो रसात्मक रूप अन्न (सभासु) मनुष्यों के समुदायों में (बृहत्) महिमा युक्त (उच्यते) कहाता है। अहो भाग्य जिस को गोरस लब्ध हो ॥

(११२२) प्रजावतीः सुयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः
सुप्रपाणे पिबन्तीः। मा वस्तेन ईशत माघ-
शंसः परि वो रुद्रस्य हेति वृणक्तु ॥ ७ ॥

अर्थः– (प्रजावतीः) पुत्र पौत्र वाली (सुयवसे) अच्छे तृण सम्पन्न देश में (रुशन्तीः) तृण चरती हुई (सुप्रपाणे) सुन्दर उतरने चढ़ने के मार्ग के तड़ाग आदि में (शुद्धाः) निर्मल (अपः) जलों को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुम को (स्तेनः) चोर हरने को (मा) मत (ईशत) ईश्वर अर्थात् समर्थ हो, (अघशंसः) गोवध रूप पाप करने वाला पुरुष वा सिंहादि दुष्ट जन्तु मारने को समर्थ (मा) मत हो, हे गौओ (रुद्रस्य) ज्वराभिमानी देवका (हेतिः) ज्वरादि रोग रूप आयुध [वः] तुमको (परिवृणक्तु) सब ओर से त्याग देवो ॥ ७ ॥

महादेव से पशुओं की रक्षा होने की प्रार्थना।

(११२३) चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते
नमस्ते। तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वाः
पुरुषा अजावयः ॥ ६ ॥

अर्थ– (चतुर्नमः) चार वार सर्व देव के लिये नमस्कार (भवाय) भवदेव के लिये (अष्ट कृत्वः) आठ वार नमस्कार है हे ! (पशुपते) गवादि पशुओं के स्वामिन् महादेव (ते) तेरे लिये (दशकृत्वः) दशवार नमस्कार हो [इस प्रकार क्यों वार २ प्रणामादि चेष्टा से प्रार्थना करता है, यह कहा जाय तो] हे महादेव (इमे) ये वक्ष्यमाण (विभक्ताः) जाति से भिन्न (गावः) गोत्वजाति सास्नादि युक्त व्यक्ति रूप (अश्वाः) अश्व जाति के एक खुर वाले पशु (पुरुषाः) मनुष्य के जाति वाले (अजावयः) अजात्व और अवित्व ये जाति भिन्न प्रसिद्ध दो व्यक्ति (पञ्च) पांच

(पशवः) पशु (तव) तेरे स्वभूत अर्थात् धनरूप है इन की रक्षा करो इस लिये यह प्रार्थना है ॥

इति प्राणिषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे गवादि पशु स्तुति रक्षण
विषय श्चतुश्चत्वारिंशत्तमो विवेकः ॥ ४४ ॥

वैदिकी वैधी हिंसा के कुछ उदाहरण अथर्व वेद से

(११२४) ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषाद श्चरन्ति । उलं वृकं पृथिवि दुच्छुना मित ऋक्षीकां रक्षो अपवाधया स्मत् ।४९।

अर्थ– (पृथिवि) विस्तृत रूप परमेश्वर, (ये) जो (आरण्याः) वन में पैदा हुए (पशवः) गाय भैंस ऊंट हाथी नील गाय आदि पशु और (वने) वन में (मृगाः) हरिणों के सरल स्वभाव वाले अहिंसक जीव हैं (ते) से वे (हिताः भवन्तु) हितकारी होवें अर्थात् जगत् के उपकारी अपने २ योग्य काम देने से हमारे बन जावें, इन के विपरीत (सिंहा) हिसन शील [शेर] सदृश (व्याघ्रा) बघेरे, तैंदुआ चीते, आदि (वृकम् (भेड़िया (उलम्) वन मार्जार (दुच्छुनाम्) बावला कुत्ता वा शृगालादि पशु। (ऋक्षीकान्) रीछ के तुल्य हिंसक जीव (रक्षः) राक्षस (पुरुषादः) मनुष्यों के खाने मारने काटने वाले जीव (चरन्ति) चरते हैं, उन को (अस्मत्) हमारे (इतः) यहां से (अप – वाधय) दूर भगा दीजिये ॥

**व्याघ्रं दत्त्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदु ष्टेन मथो अहिं यातुधान मथो वृकम् ॥ ४ ॥**

अथर्व कां० ४ अ० १ सू० ४

अर्थ– दंष्ट्रों वाले हिंसक जीवों के मध्य व्याघ्र [बघेरे] को पहले हम नाश करें, तदनन्तर चोर को इस पीछे सर्प को फिर यक्ष रक्ष प्रभृति गृह वर्ति दुष्ट व्याधि की-

शत्रुओं को तथा भेड़िये को हम मारें ॥

(११२५) ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिमा
क्रिमीणाम् ॥

अर्थ-(ये) जो (क्रिमय) कृमि (अस्माकं) हमारे (पर्वतेषु) पर्वतादि निवासादि भूमि प्रदेशों में (वनेषु) वन उपवनादि विहार स्थानों में (ओषधीषु) अन्नादि औषधियों में (पशुषु) गवादि पशुओं में (अप्सु) कूपादि के जलों में (अन्तः) भीतर और (तन्वम्) शरीर में (आविविशुः) प्रविष्ट हो वा उत्पन्न हों (तत्) उन (सर्वम्) सबों को हम (हन्मि) मारें हमारे यहां (क्रिमीणाम्) क्रिमियों की (जनि) उत्पत्ति (मा) मत हो।

(११२६) यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥

सान्वय भाषार्थ (यः) जो (अक्ष्यौ) आंखों में (परिसर्पति) सब ओर फिरता है (यः) जो (नासे) नासिका में पड़ जाता है फिरता है (यः) जो (दताम्) दांत डाढ़ों के (मध्यम) बीच में (गच्छति) पड़ जाता है (तम्) उस (क्रिमिम्) कीड़े को (जम्भयामसि) मारता हूं-अर्थात मारना उचित है ॥

(११२७) यः पौरुषेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन
पशुना यातुधानः । यो अघ्न्याया भरति क्षीर
मग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ १५ ॥

अर्थ-(यः) जो (यातुधान) राक्षस (पौरुषेण) मनुष्य के (क्रविषा) मांस से (यः) जो राक्षस (अश्व्येन) अश्व के मांस से तथा (पशुना) अन्य अजादि पशु के मांस से अपने शरीर को (समङ्क्ते) पोषण करता है, और (यः) जो राक्षस (अघ्न्याया) नहीं मारने योग्य गो जाति के (क्षीरम्) दूध को (भरति) हरता है अर्थात् जगत्

से गो दुग्ध को किसी प्रकार से भी लोप करता है, (तेषाम्) इन उक्त प्रकार के राक्षसों के, हे (अग्ने) परम पूज्य परमेश्वर (शीर्षाणि) शिरों को (अपि) अवश्य (वृश्च) छेदन कर ॥

(११२८) य आमं मांस मदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवा स्ता नितो नाशयामसि ॥ २३॥

अर्थ—(ये) जो मनुष्य (आमम्) अपक्क (मांसम्) मांस को (अदान्ति) खाते हैं (ये) जो (पौरुषेयम्) मनुष्य के पकाये अर्थात् सम्कृत किये को और जो (क्रविः) आंतों को (च) और (गर्भान्) अण्डों को (खादंति) भक्षण करते हैं (तान्) उन सब (केशवाः) बुरे बालों वाले पिशाच रूप दुष्टों को हे परमेश्वर (इतः) यहां से (नाशयामसि) अदर्शित कीजिये ॥

(११२९) यो नो रसं दिप्साति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्। रिपुस्तेन स्तेयकृद् दभ्र मेतु निषहीयतां तन्वा ३ तना च ॥

अर्थ—हे (अग्ने) जो तेजोमय दाहशक्तिमन् परमेश्वर (यः) जो राक्षसादि (नः) हमारे (अश्वानाम्) घोड़ों के (गवाम्) गौओं के और (तनूनाम्) पुत्र पौत्रादिकों के (रसम्) अन्न को [रस इत्यन्न नामसु, निघं०] (दिप्सति) खा जाने की इच्छा करता है वह (रिपुः) शत्रु (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला (स्तेनः) चोर (दभ्रम्) हिंसा को (एतु) पहुंचो अर्थात् मारा जावो (तन्वा) अपने शरीर से (च) और (तना) तनय से अर्थात् पुत्र से (निषहीयताम्) वियुक्त होवो ॥

(११३०) अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कती मुखाः क्रव्यादो वात रंहसः। आसं जन्त्व मित्रान् वज्रेण त्रि सन्धिना ॥

अर्थ—(अयोमुखाः) लोहे के मुख के (सूचीमुखाः) सुई के तुल्य पैनी नोंक के (अथ) और (विकङ्कती मुखाः) कङ्घी के से दांतों वाले शस्त्रों को धारण करने

वाले प्रजा रक्षक जन (त्रिसान्धिना) तीन गांठ के (वज्रेण) वज्र संज्ञक शस्त्र विशेष से (वातरंहसः) वात के तुल्य दौड़ने वाले (क्रव्यादः) कच्चे मांस के खाने वाले सिंहादि प्राकृत हिंसक (अमित्रान्) शत्रुओं को (आंसजन्तु) सब ओर से मारो ॥

(११३१) चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥

अर्थ– हे (अहे) सर्प (चक्षुषा) नेत्र से अर्थात् अपने दृष्टि के विष से (ते) तेरे (चक्षुः) नेत्रों को (हन्मि) हनन करता हूं, और (विषेण) अर्क करवीर आदि के दुग्ध और जड़ आदि के लेपादि के विष प्रयोग से (ते) तेरे (विषम्) विष को (हन्मि) हरता हूं हे सर्प तू (मा) मत (जीवीः) जीवित रहो (त्वा) तुझ को (विषम्) विष (प्रत्यगभ्येतु) उलटा तेरा ही मारक होवै ॥

(११३२) या वेद विहिता हिंसा नियतास्मिं श्चराचरे ।
अहिंसा मेव तां विद्या द्वेदा द्धर्मो हि निर्बभौ ॥
मनुस्मृतिः ॥

अर्थ–इस संसार में जो वेदोक्त हिंसा, चर [जङ्गम] और अचर [औद्भिदों] में विहित विधान की (नियता) निश्चित है उस को अहिंसा ही जाने, यहां चोर जार सिंह सर्पादि की हिंसा में तात्पर्य्य है इसी को अगले श्लोक में आहिंसकों के निषेध से व्यक्त किया है। क्योंकि वेद से धर्म का ही प्रकाश हुआ है ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्त्याधिकारे वैदिकी वैधी हिंसा स्थान हिंस्यप्राणि सूचनायां पञ्च चत्त्वा रिंशत्तमो विवेकः ॥ ४५ ॥

अथ ज्ञान यज्ञोपदेशः

(११३३) यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।

अस्ति नु तस्मा दोजीयो यद् विहव्ये नेजिरे ॥ ४ ॥

अथर्व कां० ७ । अ० १ ।५

अर्थ- (देवाः) यजमान (यत्) जिस (यज्ञम्) यज्ञ को (हविषा) हव्य से (अतन्वत) विस्तृत करते हैं अर्थात् सर्वत्र संसार में उपकारार्थ करते कराते हैं, (तत्) वह यज्ञ (विहव्येन) विना हव्य (पुरुषेण) मनुष्य (ईजिरे) यजन करें (नु) क्योंकि (तस्मात्) उस हव्य के यज्ञ से विना हव्य का ज्ञानयज्ञ (यत्) जो (अस्ति) है वह (ओजीयः) अत्युत्तम यज्ञ है (यद्) जो बिना हव्य के अर्थात् जिस में कोई वस्तु हव्य न बनाये जावें ऐसे को यजमान (ईजिरे) यजन करते हैं, वा करो, वा करें ।

भगवद् गीता में श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन के प्रति यही उपदेश किया है कि-

श्रेयान् द्रव्यमया यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परं तपः ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेय कर्ता और परम तप है ॥ ४ । ३३ ॥

[११३४] मुग्धा देवा उत शुना यजन्तो त गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त । य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोच स्त-मि हेह ब्रवः ॥ ५ ॥

अर्थ- इस प्रकार कर्मयज्ञ से ज्ञानयज्ञ की महिमा अधिक है, क्योंकि (मुग्धाः) कार्य और अकार्य के विवेक शून्य (देवाः) पशु यज्ञ करने वाले यजमान यज्ञ को पशु साध्य समझ और सोमादिकों को वा अजादि महीपशिओं को वा [१०५८] को यज्ञ पशु न समझ (शुना) कुत्ते से (उत) भी चाहें (अयजन्त) यजन करने लगें, और यज्ञ के साधन गौ के क्षीरादि को त्याग कर (गोः) गौ के (अङ्गैः) अवयवों से (उत) भी चाहें (पुरुधा) बहुधा (अयजन्त) देव पूजन, वा सङ्गति, वा दान करने लग जांय ॥ " अस्त भिरत्नार्थं उत्तरार्य चर्या" मन्त्र के उत्तरार्द्ध से ज्ञान यज्ञोपदेश परमेश्वर की ओर से कहा जाता है । (यः) जो विद्वान् (इमम्) इस (यज्ञम्)

यष्टव्य परमात्मा को (मनसा) अनन्य मना होकर (चिकेत) जानता है (तम्) उस गुरु देव को (नः) हमको (प्रवोचः) अवश्य बताओ (इह-इह) इस यज्ञ प्रसङ्ग में इस समय अब ही परमात्म स्वरूप को (ब्रुवः) व्यक्त वाणीसे कहो ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे वेद वाक्य द्वारा ज्ञानयज्ञोप-देशे षट् चत्वारिंशत्तमो विवेकः ॥ ४६ ॥

शत पथ १३ । १ । १० । १ में लिखा है कि—

(११३५) प्रजापति र्देवेभ्यो यज्ञा न्यादिशत् । स आत्म न्नश्वमेध मधत्त । ते देवाः प्रजापति मब्रुव न्नेष वै यज्ञो यदश्वमेधोपि नोत्रास्तु भाग इति । तेभ्य एता नन्न होमा नकल्पयत् यदन्न होमा-ञ्जुहोति देवानेव तत्प्रीणाति ॥ १ ॥ आज्येनजुहोति इत्यादि ॥

अर्थात्— प्रजापति ने देवतों को यज्ञ बताए । उस प्रजापति ने अश्वमेध को आत्मा में ही रक्खा । वे देवता प्रजापति से बोले कि यही अश्वमेध है [जो आत्म ज्ञान है] परन्तु इसमें हमारा भी भाग होना चाहिये । उन देवतों के लिये ये अन्नों [यवादि औषध] के होम रचे, जो अन्न वा घृत से होम करता है, वह देवतों को प्रसन्न करता है, क्योंकि उस में वायु आदि देवों की सदवस्था होती है, इस लिये २३ वें अध्याय के आरम्भ में

(११३६) हिरण्य गर्भः समवर्त्त ताग्रे ० २३, १, २ ॥

(११३७) यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक ० २३, ३, ४ ॥

(११३८) युंजन्ति ब्रध्न मरुषं चरन्तं परि तस्थुषः २३, ६ ॥

इत्यादि मंत्र आत्मज्ञान के कहे हैं। और शतपथ १३। १। ११। १३ में

(११३९) प्रजापति रश्वमेधः ॥

अर्थ– प्रजापति का नाम अश्वमेध है। उसी की महिमा अध्यायारम्भ से की गई है। और उसी अध्याय के-

अग्निः पशु रासीत्। वायुः पशु रासीत्।
सूर्यः पशु रासीत्। २३। १७॥

इत्यादिमन्त्र में अग्नि वायु सूर्य्य का ही अश्व के लिये दृष्टान्त दिया है॥
(११४०) सं० इस से यजुः अ० २३ मं० १६ में अश्वमेध घोड़ा के मारने का बोधक नहीं क्योंकि दूसरा विरुद्धार्थ एक का करना लिखना प्रामाणिक नहीं॥
(११४१) त्रिकाल दर्शी योगाभ्यास शील जनों में कदापि पशु बध विशिष्ट यज्ञ को मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं माना और न मानते हैं देखो पातंजल द० पा० २ सू० ३० में यमों की गणना में प्रथम अहिंसा ही लिखा है और फिर लिखा है कि–

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः॥
पातं० यो० द० प० २। सू० ३५॥

अर्थ– अहिंसा धर्म में स्थिर हो जाने पर योगी जन मन से वाणी से शरीर से वैर भाव त्याग कर देता है। महाभा० शां० मोक्षाधिकार में युधिष्ठिर के प्रति भीष्म पितामह सम्वाद है। राजा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा कि राजा वसु बड़ा राजा अत्यन्त भगवद्भक्त था तो किस हेतु सब प्रकार से भ्रष्ट हुआ पृथ्वी के विवर में प्रवेश हुआ!॥ भीष्म पितामह यह सुन कर बोले कि इसमें एक पुराना इतिहास है कि, जिस में ऋषियों का और देवतों का संवाद है, जोकि आगे कहते हैं।

(११४२) अजेन यष्टव्य मिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।

स च छागोप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ॥

॥ ऋषय ऊचुः ॥

वीजै र्यज्ञेषु यष्टव्य मिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अज संज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तु मर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवाः ! यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येन वै पशुः ॥ ५ ॥

॥ भीष्म उवाच ॥

तेषां संवदता मेव मृषीणां विबुधैः सह ।
मार्गा गतो नृपश्रेष्ठ स्तं देशं प्राप्तवान् वसुः ॥ ६ ॥
अन्तरिक्ष चरः श्रीमान् समग्र बलवाहनः ॥
तं दृष्ट्वा सहसा ऽऽ यान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम् ॥ ७ ॥
ऊचु र्द्विजातयो देवा नेष च्छेत्स्यति संशयम् ।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्व भूत हित प्रियः ॥ ८ ॥
कथं स्विद न्यथा ब्रूया देष वाक्यं महान् वसुः ।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषय स्तथा ॥ ६ ॥
अपृच्छत् संहिताऽभ्येत्य वसु राजान मन्तिकात् ।
भो राजन् केन यष्टव्य मजेना होस्विं दौषधैः ॥ १० ॥
एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः ।
स तान् कृताञ्जलि भूत्वा परि पप्रच्छ वै वसुः ॥ ११ ॥
कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ।
धान्यै र्यष्टव्य मित्येष पक्षो ऽस्माकं नराधिप ! ॥ १२ ॥
देवानान्तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः ।

॥ भीष्म उवाच ॥

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्ष संश्रयात् ॥ १३ ॥
छागे नाजेन यष्टव्य भेव मुक्तं वचस्तदा ॥
कुपिता स्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्य वर्चसः ॥ १४ ॥
ऊचु र्वसुं विमानस्थं देव पक्षार्थ वादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीत स्ते यस्मा त्तस्माद् दिवः पत ॥ १५ ॥

अर्थ - एक समय यज्ञ विषयक संवाद में देवता ऋषियों से बोले कि यज्ञ बकरा मारकर करना चाहिये, ऋषियों ने कहा कि यज्ञ बीजों से अर्थात् अन्न से होता है, क्योंकि अज नाम से यज्ञ में बीज [यव] का ग्रहण किया जाता है, यही वेद की आज्ञा है, हे देव हो सत्पुरुषों का यह धर्म नहीं है कि, यज्ञ में पशु बध [हिंसन] करें, इस प्रकार उन के संवाद समय उसी स्थानपर आकाश मार्ग से विचरते हुए परिचारक सहित राजा वसु आ पहुंचे, उनको देख ऋषि देवताओं से बोले कि श्रीमान् राजा वसु हमारे संशय को दूर कर देंगे, क्योंकि जो यज्ञों का करने वाला, दान देने वालों में श्रेष्ठ है वह क्यों कर अन्यथा वाक्य कहेंगे इस प्रकार न्याय का कर्त्ता वसु को समझ, देवता और ऋषि एकत्र हो राजा वसु के समीप पहुंच, राजा से उक्त संशय पूछा कि हे राजन् आप हमारे संशय को दूर करने योग्य हैं, आप हमारे प्रमाण हैं, इतना सुन वह वसु हाथ जोड़ कर पूछने लगा कि, आप अपने २ पक्ष को ठीक २ कहें, यह सुन ऋषियों ने दोनों के पक्ष कह दिये, राजा ने देवतों का पक्ष बकरे से यज्ञ करने का समझ कर छाग से ही यज्ञ करना चाहिये ऐसा कह दिया, और कुछ निर्णय न किया फिर सूर्य के समान तेजस्वी मुनिजन कुपित होकर बोले कि, तैनैं पक्षपात से देवतों का पक्ष कह दिया, विचार से नहीं कहा है, इस से स्वर्ग से तू गिर जावै, इस मुनीश्वरों के शाप से पृथ्वी की विवार में प्रवेश होगया ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्याधिकारे यज्ञादि सर्व कर्मसु जीव हिंसन निषेध सूचनं नाम सप्त चत्वारिंशत्तमो विवेकः ॥ ४७ ॥

मीमांसा के मतसे पशु यज्ञ में पशुवध निषेध

(११४३) यज मानस्य पशून् पाहि ॥

इत्यादि वाक्य प्रतिपादित पशु रक्षा का विधान कथन करते हैं ॥

(११४४) पशु चोदनाया मनियमो ऽविशेषात् ॥ ३० ॥

मीमांसा द० अ० ६ । पा० ८ ॥

पदानि – पशुचोदनायाम् । अनियमः । अविशेषात् ॥

पदार्थ :– (पशु चोदनायाम्) "पशून्पाहि" इत्यादि मन्त्र द्वारा पशुओं की रक्षा रूप प्रेरणा में (अनियमः) कोई नियम नहीं क्योंकि (अविशेषात्) कोई विशेष न होंने से उक्त वाक्य में किसी पशु विशेष की रक्षा का विधान नहीं किन्तु सामान्य पशु मात्र की रक्षा का विधान किया जाता है । इससे सिद्ध है कि, वेद में पशु मात्र की रक्षा है ।

सं० अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष कहते हैं

(११४५) छागो वा मन्त्र वर्णात् ॥ ३१ ॥

पदच्छेदः । छागः । वा । मन्त्र वर्णात् ॥

पदार्थ :– (वा) शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (छागः) बकरा (मन्त्र वर्णात्) वेद के अक्षरां से पाया जाता है ॥

वेद में लिखा है कि बकरे की वपा का हवन करना चाहिये फिर पशुमात्र की रक्षा का वेद में विधान मानना ठीक नहीं ॥

सं० अब पूर्व पक्ष का समाधान कहते हैं ।

(११४६) न चोदना विरोधात् ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः– न । चोदना विरोधात् ॥

पदार्थः- (न) उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि (चोदना विरोधात्) उक्त वेद मन्त्र के साथ विरोध पाया जाता है ॥

वेद ईश्वरोक्त होने से उस में परस्पर विरोध नहीं हो सक्ता, यदि बकरे को मार कर हवन करना माना जाय तो उक्त (पशून्पाहि) मन्त्र से विरोध आता है, इस लिये पूर्व पक्षी का कथन ठीक नहीं ॥

सं०– अब उक्त अर्थ में और आशंका करते हैं।

(११४७) आर्षेय वदिति चेत् ॥ ३३ ॥

पदच्छेदः– आर्षेयवत् । इति । चेत् ।

पदार्थः- (आर्षेयवत्) आर्षेय के समान (पशून्पाहि) का (चेत्) यदि संकोच माना जाय तो (इति) यह कथन ठीक नहीं इस का अगले सूत्र से सम्बन्ध है ।

"आर्षेयं वृणीते" इस वाक्य में जैसे तीन ऋषियों का वरण संकोच से ले लिया जाता है उसी प्रकार उक्त मन्त्र में भी गौ आदि विशेष पशुओं की रक्षा माननी चाहिये पशु मात्र की नहीं ।

अब उक्त आशङ्का का समाधान

(११४८) न तत्र ह्यचो दितत्वात् ॥ ३४ ॥

पदच्छेदः– न । तत्र । हि । अचोदितत्वात् ॥

पदार्थः- (न) उक्त कथन ठीक नहीं (हि) क्योंकि (तत्र) उस [वेद] में (अचोदितत्वात्) पशु विशेष की रक्षा की विधि नहीं पाये जाने से । वेद में पशु विशेष की ही रक्षा नहीं कही जाती, किन्तु पशु सामान्य की भी रक्षा कथन की गई है इस लिये उक्त मंत्र से कुछ पशुओं की रक्षा अभिप्रेत हो और कुछ पशुओं की न हो ऐसा नहीं हो सक्ता क्योंकि वेद सब के लिये कल्याणार्थ उपदेश कर्त्ता है ॥

(११४९) नियमो वैकार्थ्य ह्यर्थ भेदाद्भेदः पृथक्त्वे नाभि धानात् ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः– नियमः । वा । एकार्थ्ये । हि । अर्थभेदात् । भेदः । पृथक्त्वेन । । अभिधानात् ॥

पदार्थः– "वा" शब्द आशंका के लिये आया है (हि) जिस लिये (एकार्थ्ये) छाग शब्द

का एक अर्थ है, इसलिये (नियमः) उसकी हिंसा का नियम वेदमें पाया जाता है, क्योंकि (अर्थ भेदात्-भेदः) छाग का अर्थ भिन्न होने से अन्य पशुओंसे भेद है. (पृथक्त्वेन) भेद रूप से (अभिधानात्) कथन किये जाने से ॥

जो यह कथन किया गया है कि, पशु रक्षा का कोई नियम नहीं यह ठीक नहीं क्योंकि "छाग,, शब्द के भिन्नार्थ पाये जाने से स्पष्ट है कि, छाग पशु विशेष है, इस से पाया जाता है कि, उक्त मन्त्र में सामान्य पशुओं की रक्षा का विधान है, विशेष पशुओं की रक्षा का विधान नहीं, इस प्रकार सामान्य मन्त्र का बाध हो जाता है,, इस लिये कोई विरोध नहीं

सं० उक्त आशंका का समाधान करते हैं ।

(११५०) अनियमो वार्थान्तरत्वा दन्यत्त्वं व्यतिरेक शब्द भेदाभ्याम् ॥ ३६ ॥

पदच्छेदः- अनियमः । अर्थान्तरत्वात् । अन्यत्वम् । व्यतिरेक शब्द भेदाभ्याम् ।

पदार्थः-(वा) शब्द उक्त आशंका के वारणार्थ आया है (अनियमः) किसी विशेष पशु की रक्षा का वेद में नियम नहीं क्योंकि (अर्थान्तरत्वात्) भेद पाये जाने से अनियम है और (व्यतिरेक शब्द भेदाभ्याम्) भेद तथा शब्द से (अन्यत्वम्) भेद पाया जाता है ।

"गां मा हिंसी. " यजुः । १३ । ४३ । "अविं मा हिंसीः" यजुः १३ । ४४ तथा "मा हिंसी रेकशफम् " यजुः १३ । ४८ इत्यादि वाक्यों द्वारा व्यक्ति और शब्द के भेद से पशु मात्र की रक्षा वेद में पाई जाती है फिर किसी विशेष पशु की रक्षा मानना और छागादि निर्मल व्यक्तियों का बलिदान करना ठीक नहीं ॥

सं० अब उक्त अर्थ में और आशंका करते हैं

(११५१) रूपा ल्लिंगाच्च ॥ ३७ ॥

पदच्छेदः- रूपात् । लिंगात् । च ।

पदार्थः-(रूपात्) रूप (च) और (लिंगात्) लिङ्ग से भी बकरे का वध पाया जाता है ॥

बकरे की व्यक्ति इस बात को सिद्ध करती है कि विना वध से उसका कोई अन्य प्रयोजन ही नहीं और लिङ्ग यह है कि "यागार्थे छियते इति छागः" जो याग के लिये काटा जाय उसका नाम 'छाग, है इस प्रकार रूप और लिङ्ग से पाया जाता है कि छाग यज्ञ में वध योग्य है ॥

सं० अब उक्त आशंका का समाधान

(११५२) छागे न कर्माख्या रूप लिङ्गाभ्याम् ॥ ३८ ॥

पदच्छेदः—। छागे।। न । कर्माख्या । रूपलिङ्गाभ्याम् ॥
पदार्थः—(रूप लिङ्गाभ्याम्) रूप और लिङ्ग से (छागे) छाग में (कर्माख्या) कर्म वाच्यता (न) नहीं ।
छाग की प्रकृति और हिंसा बोधक लिङ्गों से "छिद्यते इति छागः" जो काटा वा फाड़ा जावे वह छाग, यह अर्थ बकरे में नहीं घटता किन्तु यज्ञ के लिये जो छेदन किया जाय उसका नाम छाग है, इस लिये छाग से किसी व्यक्ति विशेष का अर्थ मानना ठीक नहीं ॥

सं० अब छाग के जाति विशेष होने का खण्डन

(११५३) रूपा न्यत्वा न्न जाति शब्दः स्यात् ॥ ३९ ॥

पदच्छेदः—। रूपान्यत्वात् । न । जाति शब्दः । स्यात् ॥
पदार्थः—(रूपान्यत्वात्) रूप के अन्य होने से (जातिशब्दः) छाग जाति वाचक शब्द (न) नहीं (स्यात्) है ॥
'छं गच्छतीति छागः, जो विस्तार को प्राप्त हो उसका नाम छाग है इस व्युत्पत्ति से छाग किसी जाति विशेष का वाचक नहीं किन्तु यज्ञ की सामग्री विशेष का वाचक है, इस लिये 'छाग, शब्द से वेद में बकरे का ग्रहण नहीं ।

सं० अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं

(११५४) विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ॥ ४० ॥

पदच्छेदः—। विकारः । न । औत्पत्तिकत्वात् ॥

पदार्थः—यज्ञ में पशु हनन रूप विकार (न) इष्ट नहीं क्योंकि (औत्पत्तिकत्वात्) वेद ईश्वरीय ज्ञान है ॥
यज्ञ में पशु हननादि विकार इसलिये ठीक नहीं कि वेद ईश्वरीय पुस्तक है वह उक्त विकारों का वर्णन नहीं करता ॥

सं० अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं

(११५५) स नैमित्तिकः पशो गुणस्या चोदितत्वात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेदः—स। नैमित्तिकः। पशोः। गुणस्य। अचोदितत्वात्।
पदार्थः- (सः) छाग शब्द वेद में (नैमित्तिकः) यौगिक है क्योंकि (पशोः) पशु के (गुणस्य) गुणों की (अचोदितत्वात्) विधि नहीं पाई जाती ॥ वेद के जिन मन्त्रों में छाग शब्द आया है वहां उस को यौगिक कथन किया है ॥ अर्थात् "छायते इति छः" जो अपने सुगन्धादि गुणों द्वारा सर्वत्र छा जाय उस का नाम "छ" और "तं गच्छतीति छागः" उस को जो सामग्री रूप द्रव्य प्राप्त होते हैं उन का नाम छाग है। इस प्रकार छाग शब्द योगिक लेना चाहिये क्योंकि पशु मार कर हवन के गुणों को बढ़ाने का कहीं विधान नहीं किया गया इस लिये यौगिक अर्थ लेना ही ठीक है अन्य नहीं ॥

सं० अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं ॥

(११५६) ज्ञाते वा तत्प्राय वचना र्थवत्वाभ्याम् ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः—ज्ञातेः। वा। तत्प्राय वचना र्थवत्वाभ्याम् ॥
पदार्थः (वा) अथवा (ज्ञातेः) छाग शब्द जाति का वाचक है (तत्प्रायवचनार्थवत्वाभ्याम्) जाति वाले शब्दों में पढे जाने और प्रयोजन वाला होने से। जिस वेद वाक्य में उक्त शब्द पड़ा है और वहां अनेकत्र कितने ही औषध वाची भी शब्द पड़े हैं इस से पाया जाता है कि छाग औषध विशेष का वाचक है, और हवन की सुगंधि रूप प्रयोजन भी औषधि से ही सिद्ध होता है, जङ्गमों के मांस से नहीं। इस लिये छाग शब्द से औषध विशेष का ग्रहण करना चाहिये बकरे का नहीं ॥

*वनस्पति र्छागियः। श० ब्रा० ३। २। ७॥

अर्थ—यज्ञ की वस्तु वा यज्ञ के लिये वस्तु वनस्पति है, ॥ यजुर्वेद अ० १२ । मं० ७१ । में आज्ञा है कि— लाङ्गलं पवीर ॥

असंख्यात पशु ओं की हिंसा द्वारा वेद यदि यज्ञ का विधान करता तो—

(११५७) इषेत्वो र्ज्जेत्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावती रन मीवा अयक्ष्मा मावस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वी र्यजमानस्य पशून्पाहि। यजुः १ । १ ।

(११५८) यः पौरुषे त्यादि [११२७]

पशवो वै रायो गोपाय पशून्। श० ब्रा० ४ । १ । २ । १५ ।

इन मंत्रों में पशुरक्षाका विधान कदापि न होता उक्त मन्त्रोंमें गौओं को अघ्न्याँ कथन किया गया है, अर्थात् गौ वध योग्य नहीं है, और यजमान के पशुमात्र की रक्षा की प्रार्थना की गई है, अश्वादि के खाने वाले को राक्षस कथन किया गया है, इत्यादि कथनों से स्पष्ट सिद्ध है कि वेद का तात्पर्य्य पशु हनन में कदापि नहीं॥

मीमांसा द० अ० १ पा० १ । में यौगिकार्थ करने की ही प्रायः आज्ञा है ॥

(११५६) परंतु श्रुति सामान्यम् ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी सूत्र वृत्तिः- यद्यपि बर्बरः प्रावाहणि रित्यस्ति परंतु श्रुतिः प्रावाहण्यादि शब्दः सामान्य मन्यार्थस्यापि वाचकम् । प्रेत्यस्य उत्कर्षाश्रयः वह शब्दस्य गतिः इकारस्य कर्ता तथा च उत्कृष्ट गत्याश्रयः नापत्यार्थः प्रत्ययः तथा च वायुपरः सचानादिः बर्बर इति वायु शब्दानुकरण मिति नानुपपत्ति गन्धो ऽपि ॥ ३१ ॥ यत्परं बर्बरादिकं तत् तत् शब्द सामान्य मेव नतु मनुष्यो बर्बर नाम कोत्र विवक्षितः । बर्बर ध्वनि युक्तस्य प्रवहनशीलस्य वायो रत्र वक्तुं शक्यत्वात् ॥

अर्थ— बर्बर आदि शब्द सामान्य अर्थ को ही सूचित करता है, यहां बर्बर नाम

किसी मनुष्य का नहीं है, बर्बर ध्वनि का नाम है, अतः बर्बर ध्वनि युक्त वायु को बर्बर कहते हैं, इसी प्रकार प्रावाहणि शब्द का अर्थ प्रवहन शील का अर्थात् बहने वाले का है इस कारण दोनों [बर्बर प्रावाहणि] शब्दों का भाव यह हुआ कि बर्बर शब्द युक्त बहने वाला जो वायु उस को बर्बर प्रावाहणि कहते हैं ॥

(११६०) प्रतिषिद्धं चा विशेषेण हि तच्छ्रुतिः ॥

मीमांसा दर्शन अ० ६ पा० ३ सू० २० ॥

अर्थ- (च) और (अविशेषेण) सामान्य रूप से अर्थात् सर्व प्रकार से स्वस्थवृत्ति में जो पदार्थ (प्रतिषिद्धम्) निषिद्ध हैं अर्थात् वर्जित हैं, जैसे कि मद्य, मांसादि, लशुनादि, वे यज्ञ में भी (न) नहीं होने चाहियें, (हि) क्योंकि (तत्) उन के निषेध का वेद और स्मृति में (श्रुतिः) श्रवण विद्यमान है, इस सूत्र में निषेध कृत् नकार की अनुवृत्ति १८ वें सूत्र से आई है। यहां किन्हीं ने माष को वर्जित माना है, यह ठीक नहीं, क्योंकि " माषाश्च मे" [१५१] यजुः के इस मन्त्र से विरोध होगा, फिर यज्ञ के पाक में कचौड़ी माषेण्डरी [इमर्ती] पर्पट [पापड़] आदि उत्तमोत्तम पदार्थों का दर्शन कहां ॥

इति प्राणैषणा निरूपणे स्वस्थ वृत्यधिकारे मीमांसा दर्शन सम्मत्या पशु मारण निषेधे ऽष्ट चत्वारिंशत्तमो विवेकः ॥ ४८ ॥

यज्ञादिकों में पुराणोक्त प्रमाणों से पशु हिंसा निषेध

पार्वत्युवाच

(११६१) ये ममार्चन मित्युक्त्वा प्राणिहिंसन तत्पराः ॥
तत्पूजनं ममा मेध्यं यद्दोषा त्तदधो गतिः ॥ १ ॥

(११६२) मदर्थे शिव ? कुर्वन्ति तामसा जीव घातनम् ॥

आकल्प कोटि निरये तेषां वासो न संशयः ॥ २ ॥

(११६३) मम नाम्ना थवा यज्ञे पशुहत्यां करोति यः ॥
क्वापि तन्निष्कृति नास्ति कुम्भीपाक मवाप्नु-
यात् ॥ ३ ॥

(११६४) दैवे पैत्र्ये तथात्मार्थे यः कुर्य्या त्प्राणिहिंसनम् ॥
कल्प कोटि शतं शम्भो ! रौरवे स वसेद् ध्रुवम् ॥ ४ ॥

(११६५) यो मोहा न्मानसै र्देहिहत्यां कुर्य्या त्सदाशिव !
एक विंशति कृत्वः स तत्तद्योनिषु जायते ॥ ५ ॥

(११६६) यस्तु यज्ञे पशून्हत्वा कुर्यात्शोणित कर्द्दमं ॥
स पचे न्नरके तावद् यावल्लोमानि तस्य वै ॥ ६ ॥

(११६७) हन्ता कर्त्ता तथोत्सर्गकर्त्ता धर्त्ता तथैव च ॥
तुल्या भवन्ति सर्वे ते ध्रुवं नरक गामिनः ॥ ७ ॥

(११६८) ममोद्देशे पशून्हत्वा सरक्तं पात्र मुत्सृजेत् ॥
यो मूढः सतु पूयोदे वसेद्देव ? न संशयः ॥ ८ ॥

(११६९) देवतान्तर मन्नाम व्याजेन स्वेच्छया तथा ॥
हत्वा जीवाँ स्ततो मोहात् नित्यं नरक माप्नुयात् ॥ ९ ॥

(११७०) यूपे बद्ध्वा पशून्हत्वा यः कुर्या द्रक्तकर्दमम् ॥
तेन चेत्प्राप्यते स्वर्गो नरकं केन गम्यते ॥ १० ॥

(११७१) उपदेष्टा वधे हन्ता कर्त्ता धर्त्ता च विक्रयी ॥
उत्सर्गे कर्त्ता जीवानां सर्वेषां नरकं भवेत् ॥ ११ ॥

(११७२) मध्यस्थस्य वधायापि प्राणिनां क्रय विक्रये ॥
तथा द्रष्टुश्च सूनायां कुम्भीपाको भवेद् ध्रुवं ॥ १२ ॥

(११७३) स्वयं कामाशयो भूत्वा यो ऽज्ञानेन विमोहितः ॥
हन्त्यन्यान्विविधान् जीवा न्कुर्या न्मन्नाम शंकर ॥ १३ ॥
तद्राज्य वंश सम्पत्ति ज्ञाति दारादि सम्पदाम् ॥
अचिरा द्वै भवेन्नाशो मृतः स नरकं व्रजेत् ॥ १४ ॥

(११७४) देवयज्ञे पितृश्राद्धे तथा मांगल्य कर्माणि ॥
तस्यैव नरके वासो यः कुर्य्या ज्जीव घातनम् ॥ १५ ॥

(११७५) मद्व्याजेन पशून् हत्वा यो भक्ते त्सह बन्धुभिः ॥
तद्गात्र लोम संख्याब्दै रसिपत्रवने वसेत् ॥ १६ ॥

(११७६) आवयो रन्य देवानां नाम्नाच पर कर्मणि ॥
यः सम्पोष्य पशून् हन्या त्सोंधतामिस्रमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

(११७७) पशून्हत्वा तथा त्वां मां यो ऽर्चये न्मांस शोणितैः ॥
तावन्त न्नरके वासो याव च्चन्द्र दिवाकरौ ॥ १८ ॥

(११७८) निर्वान्हि भस्म तुल्यंतत् बहु द्रव्येण यत्कृतम् ॥
यस्मिन्यज्ञे प्रभो शम्भो ! जीवहत्या भवेद् ध्रुवम् ॥ १९ ॥

(११७९) यज्ञ मारभ्य चेत्शक्तः कुर्य्या द्वै पशुघातनम् ॥

सतदाऽधोगतिं गच्छे दितरेषान्तु का कथा ॥ २० ॥

(११८०) आवयोः पूजनं मोहा द्ये कुर्य्यु र्मांस शोणितैः ॥
पतान्ति कुम्भीपाके ते भवान्ति पशवः पुनः ॥ २१ ॥

(११८१) फलकामाम्तु वेदोक्तैः पशो रालभनं मखे ॥
पुनस्तत्त त्फलं भुत्त्वा ये कुर्वान्ति पतन्त्यधः ॥ २२ ॥

(११८२) स्वर्गकामोऽश्वमेधं यः करोति निगमाज्ञया ॥
तद्भोगान्ते पतेद्भूयः स जन्मनि भवार्णवे ॥ २३ ॥

(११८३) ये हताः पशवो लोके रिह स्वार्थेषु कोविदैः ॥
ते परत्र तु तान्हन्यु स्तथा खड्गेन शङ्कर ? ॥ २४ ॥

(११८४) आत्म पुत्र कलत्रादि सुसम्पात्ति कुलेच्छया ॥
यो दुरात्मा पशू न्हन्या दात्मादी न्घातये त्सतु ॥ २५ ॥

(११८५) जानाति नो वेद पुराण तत्वं
ये कर्मठाः पाण्डित मान युक्ताः ।
लोकाधमा स्ते नरके पतान्ति
कुर्वन्ति मूर्खाः पशुघातनं चेत् ॥ २६ ॥

(११८६) येऽज्ञानिनो मन्दधियोऽकृतार्थाः ॥
भवे पशुं घ्नान्ति न धर्म शास्त्रम् ॥
जानन्ति नाकं नरकं न मुक्तिम्
गच्छन्ति घोरं नरकं नरा स्ते ॥ २७ ॥

(११८७) शुद्धा अकार्ष्णा न विदन्ति शाक्ताः
न धममार्गं परमार्थं तत्त्वम् ॥
पापं न पुण्यं पशुघातका ये
पूयोद वासो भवतीह तेषाम् ॥ २८ ॥

(११८८) जीवानुकम्पां न विदन्ति मूढ़ाः
भ्रान्ता श्च ये सत्पाथिनो न धर्मम् ॥
स्मार्त्ता भवे प्राणिवधं तु कुर्य्युः
ते यान्ति मर्त्या खलु रौरवाख्यम् ॥ २९ ॥

(११८९) ततस्तु खलु जन्तूनां घातनं नो करिष्याति ॥
शुद्धात्मा धर्मवा न्ज्ञानी प्राणान्तेनैव मानवः ॥ ३० ॥

(११९०) यदीच्छे दात्मनः त्तेमं त्यक्त्वाऽ ज्ञानं तदा नरः ॥
जीवा न्कानपि नो हन्या त्सङ्कटापन्न एव चेत् ॥ ३१ ॥

(११९१) सम्पत्तौ च विपत्तौ वा परलोकेच्छुकः पुमान् ॥
कदाचि त्प्राणिनो हत्त्यां न कुर्य्या त्तत्त्ववित्सुधीः ॥३२॥

(११९२) मानवो यः परत्रेह तत्तु मिच्छे त्सदा शिव ! ॥
सर्व विष्णुमयत्वेन न कुर्य्या त्प्राणिनां वधम् ॥ ३३ ॥

(११९३) वधा द्रक्षति यो मर्त्यो जीवा न्तत्त्वज्ञ धर्मविद् ॥
किं पुण्यं तस्य वक्ष्येऽ हं ब्रह्माण्डं सतु रक्षाति ॥ ३४ ॥

(११९४) यो रक्षेद् घातना च्छम्भो जीवमात्रं दयापरः ॥
कृष्ण प्रियतमो नित्यं सर्वरक्षां करोति सः । ३५ ॥

(११६५) एकस्मिन्नक्षिते जीवे त्रैलोक्यं च तेन रक्षितम् ॥
वधात् शङ्कर! वै येन तस्मा द्रक्षन्न घातयेत् ॥ ३६ ॥

(११६६) पशुहिंसा विधि र्यत्र पुराणे निगमे तथा ॥
उक्तो रजस्तमोभ्यां स केवलं मनसाऽपिवा ॥ ३७ ॥

(११६७) नरक स्वर्ग सेवार्थं संसाराय प्रवर्त्तितः ॥
तयो स्तत्कर्म भोगेन गमनागमनम् भवेत् ॥ ३८ ॥

(११६८) सत्वेन सात्वत ग्रन्थे स विधि र्नैव शङ्कर! ॥
प्रवर्तितो निवृत्तिस्तु यत्रापि सात्विकी क्रिया ॥३९॥

(११६९) एवं नानाविधं कर्म पशो रालभनादिकम् ॥
कामाशयः फलाकाङ्क्षी कृत्वाऽज्ञानेन मानवः॥४०॥
पश्चा ज्ज्ञानासिना छित्वा भ्रांत्याशां तामर्गां सदा ॥
यमभीति हरं भक्त्या यदि गोविन्द माश्रयेत् ॥४१॥
पाद्मो त्तर खण्डे १०४ । १०५ । अध्याये

अर्थः—पाद्मोत्तर खण्ड अ० १०४ तथा १०५ में शिवजी के प्रति पार्वती कहती हैं, कि हे शिव ? जो पुरुष मेरा पूजन करना कह कर जीवों की हिंसा करने में तत्पर होते हैं, वह उनका पूजन करना मुझे अपवित्र करता है, जिस अपराध से उन पूजकों की अधोगति होती है ॥ १ ॥ हे शिव ! जो मेरे लिये जीवों का हनन करते हैं, वे तमोगुणी हैं, उनका बसेरा अनेक कल्प तक नरक में होता है, इस में कोई संशय नहीं । २ । मेरे नाम से वा यज्ञ में जो पशु की हत्या करता है, कहीं भी उसका निस्तारा नहीं, वह कुम्भीपाक नरक में जाता है । ३ । देव कर्म में पितृ कर्म में तथा अपने लिये जो प्राणियों की हिंसा करता है, हे शम्भो वह अनेक कल्प तक रौरव नरक में निश्चय बसता है । ४ । जो अज्ञानी मन से भी देहधारियों की हत्या करता है, हे सदा शिव वह इक्कीस वार उसी जीव की योनि में जन्म पाता है । ५ । जो पुरुष यज्ञ में

पशुओं को मार कर रुधिर की कीच करता है वह नरक में तबतक पचता है कि जितने पशु के शरीर में रोम हैं। ६। मारने वाला, उपदेश देने वाला, छोड़ने वाला, पकड़ने वाला ये सब बराबर निश्चय नरक को जाने वाले हैं। ७। मेरे निमित्त पशुओं को मार कर जो रक्त सहित पात्र को छोड़ता है, हे देव वह मूढ़ रात्रि के समुद्र में बसता है, सन्देह नहीं। ८। दूसरे देवताओं तथा मेरे नाम के बहाने से वा अपनी इच्छा से नित्य जीवों को मारकर अज्ञान से नरक को जाता है। ९। पशुओं को यूप में बांध और मारकर जो रुधिर की कीच करै उससे यदि स्वर्ग प्राप्त होवै तो इससे अधिक निन्द्य कर्म अन्य कौनसा है जिससे नरक को जाता है। १०। जीव मारने का उपदेश देने वाला, मारने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला, बेचने वाला, और जीवों को मारने के निमित्त छोड़ने वाला, इन सब को नरक होता है। ११। जीवों को मारने के निमित्त बेचने और मोल लेने ने (मध्यस्थ) बिचौलिया हुए को इसी प्रकार सूना [हिंसा स्थान] में देखने वाले को निश्चय कुम्भीपाक नरक होता है। १२। हे शंकर! आप जिह्वा का लोलुप होकर जो पुरुष अज्ञान से मुग्ध हो अन्य अनेक जीवों को मार कर मेरा नाम करता है। १३। उसका राज, वंश, सम्पत्ति, जाति, स्त्री, पुत्र, सम्पदाओं का शीघ्र ही नाश हो जाता है और वह मर कर नरक को जाता है। १४। देवयज्ञ में पितरों के श्राद्ध में तथा अन्य विवाहादि मंगल कर्मों में जो जीवों का हनन करता है उसका नरक में ही बसेरा होता है। १५। जो मनुष्य मेरे मिस से पशुओं को मार भाई बन्धुओं के साथ खाता है वह उस मारे हुए पशु के शरीर की रोम संख्या के वर्ष पर्यन्त असि पत्र वन [नरक] में वास करता है। १६! हम दोनों के वा और देवताओं के नाम से पराये काम होने के निमित्त पशुओं का पोषण करके मारै वह अन्धतामिस्र नाम नरक को जाता है। १७। जो पशुओं को मार कर तुमको वा मुझको, उनके मांस, रुधिर से पूजता है, उसका तब तक नरक में निवास होता है जब तक कि सूर्य्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं॥ १८॥ हे शंभो हे प्रभो! जिस यज्ञ में जीव की हत्या होती है वह यज्ञ कितने ही द्रव्य के व्यय से किया जाय परन्तु वह निश्चय अग्नि रहित भस्म के तुल्य है॥ १९॥ सामर्थ्यवान् जो पुरुष यज्ञ का आरम्भ करके पशुओं का हनन करे, वह भी अधोगति पाता है, औरों का तो कहना ही क्या॥ २०॥ जो पुरुष अज्ञान से हम दोनों का पूजन मांस और रुधिर से करते हैं वे कुम्भीपाक नाम के नरक में गिरते है और फिर पशु होते हैं॥ २१॥ फल की कामना करने वाले जो पुरुष वेदोक्त मंत्रों से यज्ञ में पशु का आलभन [हिंसन] करते हैं, वे उस२

पश्वालभन का भोग कर नीचे गिरते हैं ॥ २२ ॥ जो स्वर्ग की कामना करने वाला हिंसा रूप अश्वमेध यज्ञ को वेद की आज्ञा समझ कर करता है, वह उस हिंसा का फल भोग कर फिर इस संसारसमुद्र में वार वार जन्म लेकर पतित होता है ॥ २३ ॥ हे शङ्कर ! जो पशु यहां स्वार्थ परायण पुरुषों से मारे जाते हैं वे पशु परलोक में अपने इन हनन करने वाले पुरुषों को उसी प्रकार खड्ग से मारते हैं जैसे कि उन्होंने मारा ॥ २४ ॥ जो दुरात्मा पुरुष अपने पुत्र, स्त्री आदि शोभन सम्पत्ति एवं कुल की इच्छा से पशुओं को मारता है वह उक्त अपने पुत्र कलत्र आदि का नाश करता है ॥२५॥ जो मूर्ख यज्ञ कराने की चेष्टा करने वाले पंडिताभिमानी जन पशुओं को मारते हैं वे अधम हैं, वे मूर्ख हैं, वे नरक में पड़ते हैं, वे वेदों के और पुराणों के मर्म को नहीं जानते । २६ । जो मनुष्य संसार में पशु को मारते हैं वे अज्ञानी, वे मन्द बुद्धि, वे अकृतार्थाः [अनर्थी] हैं, वे न धर्मशास्त्र को जानते हैं, न स्वर्ग को, न नरक को, और न मुक्ति को, किसी को नहीं जानते, वे घोर नरक को जाते हैं । २७ । जो पशुओं के मारने वाले हैं वे शुद्ध शाक्त [शक्ति के पूजने वाले] नहीं, वे अकार्ष्णाः [विष्णु से विमुख] हैं, वे न तो परमार्थ के तत्वरूप धर्म के मार्ग को जानते हैं, न पाप को, न पुण्य को किसी को नहीं समझते, उनका इस संसार में राध के समुद्र में बास होता है । २८ । जो मूढ़ जीवों के ऊपर दया करने को नहीं समझते, प्राणियों का बध करते, और संसार में स्मार्त बनते हैं, वे सन्मार्ग से भ्रष्ट हुए धर्म को नहीं जानते, कि धर्म क्या वस्तु है, ऐसे मनुष्य निश्चय रौरव नाम के नरक को जाते हैं, । २९ । जो मैं जीवों को मारूंगा तब तो मेरे प्राण बचेंगे, नहीं तो नहीं बचेंगे ऐसा निश्चय होने पर भी जो मनुष्य जीवों का हनन नहीं करता वह शुद्धात्मा अर्थात् निष्पाप है, वह धर्म वान् है, वह ज्ञानी है । ३० । जो मनुष्य यदि अपना कुशल चाहै तो कैसे ही संकट में पड़ा हो तब भी अज्ञान को त्याग कर किन्हीं जीवों को न मारै । ३१ । तत्व के जानने वाला सुबुद्धि मनुष्य, परलोक की इच्छा करता हुआ सम्पत्ति वा विपत्ति में कदाचित् प्राणियों की हत्या न करै । ३२ । हे सदाशिव जो इस संसार रूपी समुद्र को इस लोक और परलोक में तरने की इच्छा करै, वह सब को विष्णुमय जान कर प्राणियों का वध न करै । ३३ । जो मनुष्य जीवों को बध होने से रखाता है, वह तत्वज्ञ है वह धर्मवित् है उस के पुण्य का मैं क्या वर्णन करूं, वह तो ब्रह्माण्ड की रक्षा करता है । ३४ ।

हे शम्भो ! जो दया में तत्पर हो कर जीवों को हनन से नित्य प्रति रखाता है, वह कृष्ण का अत्यन्त प्यारा है, क्योंकि वह सब की रक्षा करता है । ३५ । जिस ने वध होने से जीव को एक वार भी रखा दिया उस ने तीनों लोकों की रक्षा की । ३६ । जिस पुराण तथा जिस श्रौत ग्रन्थ में पशुओं की हिंसा की विधि कही है वह रज के गुणों [अहंकार, अनृत, निर्दयता, छलकपट, काम क्रोधादि] से, तम के गुणों [अन्याय अविवेक, अज्ञान आदि] से, वा केवल मन की गढ़न्त से है । ३७ । वह विधि नरक और स्वर्ग भोगने के लिये आवागमन में फंसाने के निमित्त बताई गई है उस के द्वारा किये कर्म के भोग से स्वर्ग नरक में पुरुष का आवागमन होता है । ३८ । हे शंकर ! सात्वत अर्थात् सात्विक शास्त्र [वेद] में वह [पशु हिंसन] विधि पाठमें हो वा किसी भाष्यकार की सम्मति से हो किसी प्रकार सत्य नहीं । ३९ । क्योंकि जैसे वेद में प्रवर्त्तित अर्थात् प्रचालित हुई हिंसाकी निवृत्ति [छुटना] सात्विक ही उपदेश है,(जैसाकि "गां मा हिंसीः" इत्यादि यजु र्वे० १३ मंत्र ४३) भला उस में क्यों कर हिंसा करने की विधि होगी । ४० । ऐसे पशु हिंसनादि अनेक प्रकार के कर्मों का अज्ञान से करके यदि मनुष्य सुख चाहै तो भूल से हुई तमोगुणी आशाओं को ज्ञान के खड्ग से काट कर पीछे यमराज की भय को हरने वाले गोविन्द का सदा भक्ति से आश्रय लेवै ॥ ४१ ॥

महा भा० शा० प० अ० ११३ + ९ में कहा है कि-

(१२००) प्रत्याख्याने च दाने च सुख दुःखे प्रिया प्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाण मधि गच्छति ॥

अर्थ—उत्तर के दैने में वा किसी वस्तु के देने वा लेने में सुख में दुःख में प्यार में कुप्यार में इन में, मनुष्य को आपे में ही भले बुरे कर्म की पहंचान हो जाती है अर्थात् जो वाक्य जो दैना वा लैना जो सुख वा दुःख जो प्यार कुप्यार जिस प्रकार से अपने को जैसा लगै वैसा ही दूसरे को लगना समझना चाहिये। उदाहरण सब अपने में देख सकते हैं ॥

तथाच मनुः

(१२०१) सर्व मात्मनि सम्पश्येत् सच्चा सच्च समाहितः ।
सर्व मात्म सम पश्य न्ना धर्मे कुरुते मतिम् ॥

अर्थ– जो सत् या असत् को एकाग्र चित्त से विचार कर आपे में ही अच्छे प्रकार से देखे, सब को अपना सा ही देखता हुआ अधर्म में मति को न करै ॥

तथा गीता अ० ६ । श्लो०

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदिवा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

अर्थ– अर्जुन के प्रति कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन जो पुरुष सुख को अथवा दुःख को सब जीव मात्रों में अपने तुल्य देखता है वह बड़ा योगी [योग करने वाला] है ॥

(११०२) आत्मवत् सततं पश्ये दपि कीट पिपीलिकान्

वैद्यके

अर्थ– अपने आपे की तुल्य ही सदैव चिउँटी कीड़े आदि में भी सुख को और दुःख को बराबर समझना चाहिये ॥

इति स्वस्थ वृत्यधिकारे वैदिक प्राणैषणायां पुराण मतानुसार याज्ञिक हिंसा निषेधे ऊन पञ्चाशत्तमो विवेकः ॥ ४९ ॥

जन्द वस्ताः पारसियों की धर्म पुस्तक से

(१२०३) समस्त मनुष्य जाति की उन्नति पशु पक्षी इत्यादि के जीते रहने और उन की बढ़वार पर निर्भर है, निश्चय ही नरक लोक सन्ताप और पश्चात्ताप उन लोगों के लिये है जो अपने सुख और पेट के लिये अवाक् जीवों को सताते हैं ॥

इंजील से

(१२०४) नित्य प्रति की प्रार्थना [नमाज़] में यही मांगा जाता है कि हे हमारे

स्वर्गीय पिता तेरा नाम पवित्र हो ०००० ? हमको आज की रोटी दे। इंजील मत्ती अध्याय ६ आयत ६ - ११ ॥

(१२०५) "अहो भाग्य वह है जो ईश्वर के राज्य में रोटी खावेगा,, इंजील लूका अध्याय ११ आयत १५ ॥

" उसका भोजन श्रेष्ठतर है जहां प्रीति है, उसकी अपेक्षा जहां बैल का मांस है परन्तु अपमान है" कहावत १५। आयत १७ ॥

(१२०६) मद पीने वाले और मांस खाने वालों में मत हो क्योंकि शराबी और कबाबी दरिद्र भोगेंगे ॥ कहावत- २३। आयत २० – २१ ॥

(१२०७) 'मुझे हत्यासे बचा, क्योंकि तू बलिदान नहीं चाहता है" (गीत ५१, आयत १४६)

सन्त और विद्वानों के वचन

(१२०८) उस जान को तू मत ले जिसे तू दे नहीं सकता है क्यों कि जीने में सब का समान भाग है ॥

(१२०९)दुखदाई जीवों को मारो कि जिनकी रक्षा करना पाप है परन्तु अपनी प्राण रक्षा शाक और फलों से कर और रुधिर के पाप भरे स्वाद को छोड़ ॥ पिथागोरस (Pythagoras) यूनान देश का बड़ा भारी विद्वान् ॥

(१२१०) हम भेड़िये का आचार और चीते का स्वभाव डालते हैं-नहीं- किन्तु उससे भी अधमतम ॥ ऐस, क्रिसौस्टम् (S. Chrysostom) ॥

(१२११) मैं किसी भेड़ बकरी को जो स्वतन्त्रता से उपत्यका में चरती फिरतीहैं, तुच्छ समझ कर नही मारता हूं. उस दया शक्ति से जो मुझ पर दया करती है मैं इन पर दया करता हूं। गोल्ड स्मिथ (Gold Smith) ॥

(१२१२) शोक हमारी निर्दयता पर कि धनाढ्यों की थालियों में कसाई रसोइयों से, मुर्दों में से बनाया हुआ भोजन सजाया जाय। ल्यूटार्क (Lutarch) ॥

(१२१३) रुधिर बध और मांस चील सर्प्पादि के निमित्त हैं मनुष्य के लिये तो वह अनावश्यकीय भोजन हैं। प्लूटार्क (Plutarch) ॥

(१२१४) फलाहारी भोजन का सम्बन्ध निर्बलता, और भीरुपन से उतना ही न्यून हैं जितना आमिषी भोजन का सम्बन्ध शारीरिक बल और साहस से है। रौफ लौरेन्स ऐफ, आर ऐस् (Rof Lowrence F. R, S.) ॥

(१२१५) यह सत्य करके मानना चाहिये कि अच्छे प्रकार से संगृहीत किया हुआ फलाहार आमिषाहार से पोषक शक्ति में उतना ही अधिक प्रभाव रखता है जितना प्रमाण में अधिक होगा। मैं चाहता हूं कि शाकाहार और फलाहार वृत्ति का प्रचार हो जावै, और मेरा विश्वास है कि अवश्य होगा (Sir Benj. Word Richardson. M. S. F.R. S.) सर बैंज मिन वार्ड रिचर्ड सन् ॥

(१२१६) आमिषी भोजन मनुष्य के लिये आवश्यक नहीं है। लार्ड लेफेयर (Lord Luyfair M. S. C. B.)

(१२१७) मनुष्य का स्वाभाविक भोजन शारीरिक बनावट के लेखे से कन्द मूल फल फूल मालूम होता है। (बैरन क्युवियर) Boron Cuvier ॥

यवन मत

(१२१८) लाईन् यनालू अल्ला हो लहू [illegible] वला दमा ओ हा
वलाकि नयन। लिहुत्तकवा [illegible] ।

[illegible] २६ ॥

अर्थ—नहीं पहुंचता है [illegible] जिबह करते हो, और नहीं [illegible] तुम्हारी परहेज़गारी ॥ सू० ह० आ० ३६ ॥

(१२१९) हज़ार कुंज [illegible] हज़ार [illegible] ।
ता [illegible]
[illegible] हज़ार [illegible]
अगर [illegible] ब आज़ारी ।

अर्थ—हज़ार सन्तोष का ढेर धारण करो, हज़ार तोड़ दान करो हज़ारों रात्रि जाग कर भजन करो हज़ार सिजदा करो [illegible] में हज़ार हज़ार नमाज पढ़ो किन्तु परमात्मा एक भी स्वीकार नहीं करेगा, यदि तुम किसी छोटी चींटी के दिल को भी दुखाओगे ॥

(१२२०) मबाश दरपए आजार हरचे खाही कुन दुर

शरीयते मा़गैर अज़ीं गुनाहे नेस्त ॥

अर्थ – किसी को दुःख मत दो और जो चाहो करो क्योंकि मेरे शास्त्र में इससे बढ़कर कोई पाप नहीं है ॥

इसाया चैपटर नाइन्थ (इसाया अध्याय ९)

(१२२१) टु व्हाट पर्पज़ इज़ दि मल्टीच्यूड आफ़ यौर सै-
[illegible] लॉर्ड आइ ऐम फ़ुल
[illegible] ऐण्ड दि फ़ैट ऑफ़ दि फ़ैट
[illegible] डिलाइट नौट इन दि ब्लड औफ़
बु[illegible], [illegible] औफ़ दि गोट्स ॥ १ ॥

CHAPTER IX

"To what purpose is the multitude of your sacrifices unto me" Said the Lord, "I am full of the offerings and the fat of the beasts, I delight not in the blood of bullocks, lambs or of the Goats.

अर्थ – तुम्हारे बलिदान हमारे किस काम के हैं, उस मालिक ने कहा मेरा पेट तुम्हारे होमों से और खाये हुए पशुओं की चर्बियों से भरा हुआ है, मैं नहीं प्रसन्न होता हूं खून से बैलों के भेड़ के या बकरों के ॥

इति वैदिक प्राणीपणायाम् स्वस्थ वृत्त्यधिकारे अनेक मतानुसार

जीव हिंसन कर्म निषेधे पञ्चाशत्तमो विवेकः ॥ ५० ॥

):O:(

(प्रश्न) उद्भिजों के काटने उखाड़ने तोड़ने में भी हिंसा तो होती होगी क्योंकि ये भी तो सजीव ही बताये जाते हैं, (उत्तर) यह हिंसा नहीं क्योंकि जो जिसका प्राकृत आहार है उसके संपादन करने में उखाड़ने में खाने में हिंसा नहीं मानी जासक्ती, और न उद्भिज हिंसित होने घटते हैं, क्योंकि वे काटने से फिर एक के अनेक फूट २ कर वैसे ही अनेक होजाते हैं, किसी २ में तो इतनी अधिक संजीवन शक्ति है कि जिस के पत्ते के जितने टुकड़े बोदें तो सब उपज आते हैं जैसा कि गुलततैया। और काण्ड [गंडेली] किसी की मूल, तथा किसी का कन्द, अन्यत्र लगाने बोने आरोपित करने पर उसी ज्योंकेत्यों शारीरी अवयवों से तद्रूप होकर फिर से बढ़ते हैं और पूर्ववत् ही फूलते फलते अथवा सहस्रों गुणित उपजने के लिये अपने बीजों को छोड़ कर फल पाकान्त हो जाते हैं, जैसे कि अनेक प्रकार के धान्य। तथा बनों में अग्नि से दग्ध हो फिर भी हरे भरे होते हैं और उद्भिजों को तोड़ने काटने आदि की पीड़ा भी वैसी नहीं होती है जैसी कि जाङ्गमों को होती है, जङ्गम अपने कटने पर मृत्यु को पहुंचैगा, यदि मृत्यु होने योग्य न कटा वा न टूटा तो वह अङ्ग हीन हुआ निकम्मा न अपने काम का रहता है न दूसरे के काम का, क्योंकि जो अङ्ग कट गया वह जङ्गम का फिर से नहीं उपजता जैसे कि किसी की शाखा [टाङ्ग वा भुजा] कट गई तो वह फिर कदापि न होसकेगी परन्तु उद्भिजों के स्कन्द शाखा सब ज्यों की त्यों हो जाते हैं इस से उद्भिजों की वा उनसे लाभ लेने वाले की कोई हानि नहीं होती, कोई२ उद्भिज तो कटने [कलम होने] पर वा गोदने ही से बढ़ते हैं और फूलते फलते हैं, अन्यथा नहीं फिर उद्भिजों की हिंसा कैसी, और उद्भिजों को तोड़ने काटने आदि की पीड़ा नहीं होती क्योंकि उद्भिज तमोगुणाधिक योनि वाले शास्त्रों में बताये गिनाये [६९१] जाते हैं॥ और जहां जिस शरीर में तमो गुण होता है वह मूर्छित सा होता है क्योंकि मूर्छा वा अज्ञता तमोगुण प्रधाना ही है जैसे किसी भेषज के द्वारा वा किसी रोग से किसी का अङ्ग वा अङ्गावयव सजीव भी अचेतन सा हो जाता है वहां शस्त्रादि के छेदन से भी पीडा नहीं होती है, इसी प्रकार उद्भिजों को पीडा न होने से उनकी हिंसा नहीं समझी जाती। यदि उन [उद्भिजों] को विहित कार्यार्थ काटने तोड़ने आदि में दुख भी होता तब भी वह हिंसा नहीं मानी जा सकती है क्योंकि वह भी कार्य कारिणी वैदिकी वैधी हिंसा है, जैसी कि सोमलतादि महोषधों के उखाडने तोड़ने में है। यों तो मनु अ. ११ में ईंधन के लिये भी हरे वृक्षों के काटने में उपपातक, और फल देने वाले वृक्षों के तथा गुल्म वल्ली लता और

बीरूधोंके व्यर्थ छेदन में प्रायश्चित्त लिखा है परन्तु वेदोपवेद विहित कार्यार्थ कहीं भी हिंसा नहीं मानी

इति वैदिक प्राणैषणायाम् स्वस्थ वृत्यधिकारे उद्भि द्धिंसा विकारे
एक पञ्चाशत्तमो विवेकः ॥ ५१ ॥

पशु हिंसा के अन्य विशेष कारण

पशुओं की हिंसा होने के मुख्य कारण दोही हैं एकतो जांगम मांस भक्षण, द्वितीय चमड़े की बनीं अनन्त वस्तुओं के विशेष प्रचार का बढना है। परन्तु इनका प्रचारक निर्धनतो होही नहीं सकता उसको तो रूखा सूखा भोजन भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है और जो पहरने को जूती चाहे तो जो सादा चर्मकी आठ आने में पहरी जाती थी वैसी अब २) रुपये में आती हैं इससे निर्धन सादा जूती भी नहीं पहर सकता इससे यह बात सिद्ध होती है कि जो सधन सेठ साहूकार रईस राजे महाराजे हैं वेही अनन्त वस्तुओं के बर्तने वाले हैं अन्य नहीं अन्य उनकी देखा देखी बुद्धि के शत्रु हुए हैं और होते जाते हैं, कि जो वस्तु सूत की दृढ सुघड़ और थोडे दामों में भी बन सकती हो, उसे अब साधारण जन भी चर्म की ही चाहने बर्तने बनाने लगे और धनिकों का तो कहना ही क्या ? धनिकों ने महायन्त्र प्रवृत्त कर दिये प्रत्येक मनुष्यों के छोटे २ यंत्रों के द्वारा आजीवन करने को और स्वतन्त्रताको नष्ट भ्रष्ट कर दिया करोड़ों के बांट में आने वाले धन को महा यन्त्रों द्वारा अकेले ही बटोर कर धन मदान्धहो उक्त प्रकार चर्म्मकी असंख्य वस्तु खरीदने वर्तने लगे हैं। तथा अन्य साधारणों को भी ऐसा ही करने की हौंस वेही लगाते हैं कोई कोई मद्य मांस और वेश्या गमन के भी व्यसनी होजाते हैं।

सहस्रों लक्षों रुपये अपने कार्यों में हांडी झाड़ फ़ानूसों में मुकदमे बाजी में नांच सांग तमाशों में, बात की बात में उड़ा प्रजासे धन को छीनकर आलम गीर की कहावत बन जाते हैं, कि— सबके कन्ध बटोर कर—लेगये आलमगीर ॥

उन को चाहिये कि जहां से धन को बटोरैं वहीं की भलाई होने में लगादें, वाग्भट में लिखा है कि—

"नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो नच धार्मिकः"

अर्थात्—अकेला सुखशील [सुख भोगी] न होना चाहिये - किन्तु अनेकों के सुख में सुखी होवे ॥

जो कार्य ५० रु० में भी उतना ही होता हो और १०००००) रुपयों से भी उतना ही होता हो तथा जो १० मनुष्यों से और १ लाखों से भी उतना ही हो उस में प्रजा से बटोरे धन को नाश करना पाप ही है ॥

(प्रश्न) महायन्त्र क्या होता है ? (उत्तर) जिस को सर्वसाधारण जन स्वतन्त्रता से अपने घरों में थोड़े धन के व्यय से बना कर उद्योग करते हैं उनका नाम तो यन्त्र, जैसे कि गृहस्थों के यहां छोटी २ चक्की चरख चरखे चरखी तथा दूध बिलोड़ने के मन्थन [रई] आदि होते हैं, और जो जल के प्रबल वेग के प्रवाह से, वा अग्नि जलाने से चलते हैं वे महायन्त्र कल मशीन चाहियें, महायन्त्र एक ही उक्त छोटे २ सहस्रों यन्त्रों का काम कर लेता है, जैसा कि अकेला ही सूर्य अनेक प्रकाशकों का प्रकाश नष्ट कर अपना ही प्रकाश सर्वत्र फैला देता है । यदि महायन्त्र प्रचारक जगदुपकार की दृष्टि से प्रवर्त्तक हो अपने महायन्त्र के उद्योग से मिले हुए अपने आवश्यकीय व्ययसे बचे लाभ को जगत् के प्रत्युपकार में देश की उन्नति के लिये सहर्ष ही नाहीं देवे और लोभ घटावे, तब तो ठीक है कि जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी आदि के जल को खेंचकर ले लेता है, और फिर उसी को वृष्टि द्वारा लौटा देता है कि, जिससे सब का उद्योग यथावत् चलता रहता है क्योंकि अच्छों का सर्वस्व भी परोपकार के ही लिये होता है, इसके विपरीत महायन्त्री जगत् के साधारण यन्त्रों द्वारा होते हुए अनेक व्यापार को छीन सब को उद्योग हीन कर अपस्वार्थी बन अपना और संसार का घातक हो जाता है ॥ इसी कारण से मनु अ० ११ में कहा है कि—

सर्वाकरे ष्वधीकारो महायन्त्र प्रवर्त्तनम् ॥

अर्थ—राजाज्ञा से अर्थात् ठेका लेकर सुवर्णादि धातुओं की खानों को अधिकार करना, तथा महा यंत्रों [बड़ी कलों] का चलाना, उपपातकों में है ॥ तात्पर्य इसका यह है कि मन माना धन पाकर विचारहीन धन मदान्ध का पातकी होना संभव है और विचारवन्त बड़े २ व्यवसायी जन अपने कार्यों की साधन वस्तुओं के यथेष्ट मिल-

ते रहने का पूरा २ भरोसा कर के कार्य का प्रारम्भ करते हैं, वरन अपनी आवश्यकीय वस्तुओं के बढ़ते और श्रोत [नफ़ा] से मिलते रहने का उपाय भी साथ ही प्रारम्भ में लाते हैं, नकि साधनों की लब्धि की उत्तरोत्तर हीन दशा होते हुए वा स्वयं करते कराते हुए करैं ॥

आज कल देखा जाता है कि पशुओं की विना रक्षा किये वा विना रक्षा होने का उपाय सोचे ही इसी हिन्दुस्थान में ऐसे २ महाशयों के महायन्त्र चल रहे हैं कि जो " अहिंसा परमो धर्मः " इस वैदिक परमोपदेश के द्वेष वाले हैं, कि जिनके लिये सैंकड़ों हज़ारों मन चर्म तो कलों की माल और वेतन आदि में ही लग चुका होगा, और अभी लग रहा है, आशा है कि अब इस का प्रबन्ध चाहैं हो जाय क्योंकि लोगों के हृदय में विवेकांकुर उत्पन्न होने लगे हैं, ॥ यदि पशु हिंसा होनी बन्द हो जाय तो पशुओं की बढ़वार में भी दूध की भी कमी न रहे, चाहें जितना मक्खन की कलें चलाकर स्वदेश और विदेश में [illegible] खा खिलाओ। और चाम भी मन माना चाहैं जितना लेवें, क्योंकि सब जीव अपनी अवस्था भोग कर स्वयं भी मरते ही हैं उस समय क्या उन का चमड़ा मांस आदि वस्तु कहीं जाती रहेगी, सब यहीं रहेगी मसालों से जीव मनमाना मांस खालेंगे और अस्थिग्राही चाहें जितने अस्थि बटोर लेंगे कि जो आजकल खेती के लिये पृथ्वी को अत्यन्त उर्वरा करने वाला खाद समझा जाता है ॥ पशुओं की वृद्धि से ही गोबर का खाद होना उस से अन्न-तृण खेती में अधिक होना, [illegible] नहीं तो "मूले नष्टे नैव पुष्पं फलञ्च" गवादि पशुओं की रक्षा विना किये उपरोक्त महायन्त्र सब का नाश शीघ्र ही कर देंगे ॥

जिस महायन्त्र द्वारा सब को प्रत्युपकार यथेष्ट और ऐसा पुष्कल मिलता हो कि जिस का मिलना यन्त्र द्वारा असम्भव हो ऐसे महायन्त्र का न्याय पूर्वक प्रवर्तन सर्व हितकारी होता है, जैसा कि छापे आदि का महायन्त्र, तथा धूमपोतादि भार वाहक मार्गी यानादि। अन्यथा केवल स्वार्थिक महायन्त्र सभी अनर्थक होते हैं ॥

इति वैदिक मार्गैषणायाम् स्वस्थ वृत्ताधिकारे पशु हिंसायां विशेष कारण निर्णये द्विपञ्चाशत्तमो विवेकः ॥ ५२ ॥

(१२२२) अब हम इस बात को युक्तियों से सिद्ध करके दिखायेंगे कि मनुष्य की प्रकृति मांसाहारिणी नहीं है।

(१२२३) संसार में अनेक मत मतान्तर हुए, और हैं, परन्तु सब में प्रायः दो प्रकार के ही मनुष्य होते है ॥ एक तो वे जिनको अपने ऋषि मुनि पगम्बर वा अपने धर्म ग्रन्थ के वचन प्रामाणिक हैं। उनको शब्द प्रमाण वा मनकूल का मानने वाले कहते हैं।

(१२२४) दूसरे वे हैं जो केवल युक्ति प्रमाण को ही मानते हैं, उनको युक्ति प्रमाण वा माकूल को मानने वाले कहते हैं।

(१२२५) दूसरी श्रेणी के लोग पहली श्रेणी वालों की बात को न मानें तो न सही, परन्तु मनुष्य मनन शील होने के कारण अपनी बुद्धि को अवश्य चालन करता है, (१२२६) यदि कभी दूसरी श्रेणी वालों की युक्ति सहित हितकारी वचन को पहली श्रेणी वाले सुनते हैं, और उसे अपने धर्म ग्रन्थ के विरुद्ध किसी अंश में पाते हैं, तो उतना भर उनको अपने पूर्वाभ्यास से अश्रद्धा हो जाती है और क्रमशः उनका अभ्यास छुट जाता है इसका उदाहरण पृथिवी भर के सब देशों के मतवालम्बियों के इतिहासों में पाया जाता है, । और सच भी है कि जो मनुष्य युक्ति लगाना नहीं चाहता वह दुराग्रही है। और जो युक्तियों को सुनना भी नहीं चाहता वह अत्याचारी [ज़ालिम] है। पर कुतर्क करना कि जिससे संसार में दुःख की बढ़ती और सुख की घटती हो और बिना यथार्थ लाभ के प्रचलित विषय पर आक्षेप करना सदा दोष युक्त और घृणित है ॥

(१२२७) जैसे शब्द प्रमाण [मनकूल] के मानने वाले युक्ति प्रमाण [माकूल] को अवश्य थोड़ा बहुत मानते हैं। (१२२८) वैसे ही ऐसा भी कोई ढूंढ़ने से मिलेगा जो कि जिनके बीच में जन्म लेकर पला हो उनके प्रचलित शब्द प्रमाण और रीतियों से अपने को इक दम स्वतन्त्र [आजाद] रक्खे हुए हो, थोड़ी बहुत निकट वाली रंगत चढ़ी ही रहती है अस्तु जोहो इन दोनों श्रेणियों में से किसी का अनादर करना हमारा कदापि अभीष्ट नहीं है वरन दोनो का मान रखना सर्वदा स्वीकार है।

(१२२९) यह प्रत्यक्ष है कि युक्ति प्रमाण सब मनुष्यों में साधारण है क्योंकि जब एक सम्प्रदाय वा मजहब का पुरुष किसी दूसरे सम्प्रदाय वा मज़हब वाले से किसी विषय पर विचार किया चाहता है तो उसे केवल युक्तियों ही का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिये अब मांस के भक्ष्या भक्ष्य के विषय में युक्तियां दिखाई जाती हैं।

(१२३०) युक्ति का लक्षण अंक [५] पर देखो और यहां भी सोदाहरण भावार्थ

उसी के अनुसार लिखते हैं।

(१२३१) मनुष्य चैतन्य और विचार शील होने के कारण यह कभी किसी विशेष घटना [वकूअ] को बार बार होती हुई अपनी नाक, आंख, जीभ, और त्वचा के द्वारा जानता है तब उसका कारण ढूंढने लगता है और सोच विचार कर उस प्रकार की घटनाओं [वकूआत] का एक नियम बांध लेता है। फिर इस प्रकार को उस प्रकार की अनेक घटनाओं में लगा लगा कर देखता है और हर जगह जब ठीक पाता है तब समझ जाता है कि यह प्राकृत वा ईश्वरीय नियम अर्थात् कानून कुदरत वा कायदा है। (१२३२) जैसे बार बार वर्षा होती हुई देखकर इसका किससे सम्बन्ध है यह मनुष्य ढूंढने लगता है। फिर सोचने से उसको मेघ से सम्बन्ध प्रतीत होता है, तब यह नियम बांधता है कि मेघ से वर्षा होती है, और जब इस नियम को बराबर सच पाता है तब समझ लेता है कि' यह प्राकृत नियम [नेचर] अर्थात् ईश्वरीय नियम है कि, "जब कभी वर्षा होती है आकाश में मेघ अवश्य रहता है, इस प्रकार से अग्नि और धूम का सम्बन्ध देख कर जहां कहीं धूम देखता है वहां आग का रहना अवश्य समझ लेता है,

(१२३३) ऐसा होता है कि आकाश में मेघ दीखता है पर वर्षा नहीं होती है पर ऐसा कभी नहीं होता कि वर्षा होती हो और आकाश में मेघ न हो। (१२३४) धूम के बिना अग्नि देखा जाता है जैसे तपे लोहे वा कोयले में, पर आग के बिना धूम नहीं दीखता इस लिये मेघ और अग्नि को व्यापक कहते हैं, और वर्षा और धूम को व्याप्य कहते हैं,

इसी प्रकार से 'गरमी वस्तुओं के परिमाण [कद] को बढ़ाती है, इत्यादि अनेक प्राकृत नियमों का ज्ञान मनुष्य को हुआ है और होता जायगा। (१२३५) एक घटना को देखकर जो नियम बांधा जाता है वह सदा ठीक नहीं होता, जैसे किसी लड़के ने ताली बजाई और देखा कि उस शब्द को सुनकर निकट के ताल वृक्ष के ऊपर से एक काक उड़गया और उसी समय ताल का फल भी गिरपड़ा तब उसने निश्चय कर लिया कि ताली बजाने से काक उड़ जाता है और ताल का फल गिर पड़ता है - पर वह जब इस नियम को जांचेगा तो जानेगा कि ताली बजाने से काक उड़जाय तो उड़जाय पर फल नहीं गिरता। इस लिये यह प्राकृत नियम अर्थात् कानून कुदरत वा कायदा नहीं है (१२३६) अब हम लोग इस बात को ढूंढते जायें कि मनुष्य के भक्ष्या भक्ष्य के विषय में प्राकृत वा ईश्वरीय नियम क्या है, प्रकृति [कुदरत नेचर]

इस महान् विषय में क्या साक्षी देती है। उसने मनुष्य के लिये क्या निर्माण किया है, मनुष्य के खाद्य द्रव्य का प्राकृत नियम क्या है. कोई नियम तो अवश्य रक्खा है। क्योंकि वृक्षों में भी दीख पड़ता है कि जो पौधे रेतीली भूमि में उगते और लहलहाते हुए बढ़ते है वे कड़ी मिट्टी में रोपे जाने पर सूख जाते हैं वा हीन दशा में पडे रहते हैं। जो कड़ी भूमि में उगने वाले हैं उनकी वैसी ही दशा रेत में रोपने से हो जाती है। नारियल का वृक्ष समुद्र के निकट वाली खारी मिट्टी में भली भांति उपजता है अन्य भूमि में वैसा नहीं होता।

(१२३७) अब मनुष्य का प्राकृत खाद्य ठहराने के लिये यदि सब जीव जन्तुओं के भोजन का विचार करने लगें तो बहुत विस्तार हो जाय और हम ऐसे जंजाल में फंस जांय कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं है, और वैसा करने से हम लोगों का काम भी उतना न चलेगा इस लिये उचित हुआ कि हम लोग उन्हीं जन्तुओं के खाद्य के ऊपर विचार करते जायें जो कि मनुष्यों के बहुत सदृश हैं॥

(१२३८) निवास के ऊपर ध्यान देने से सब जन्तु तीन प्रकार के हैं। 'जलचर नभचर स्थल चर। जलचर कच्छ मच्छ आदि जो जल में रहते हैं, इनमें मनुष्य नहीं हैं नभचर पतंग चिड़िया आदि जो आकाश में विचरते हैं इन में मनुष्य नहीं है। तीसरे स्थलचर जो सूखी भूमि पर रहते हैं जैसे घोडे, हाथी, सिंह, व्याघ्र, बन्दर, भालू आदि इन में मनुष्य की गणना है।

(१२३९) उत्पत्ति की गति के ऊपर ध्यान देने से जन्तुओं के तीन भेद हैं। पहला अण्डज, जो अण्डे से उत्पन्न होते हैं जैसे चिड़ियें मछली, सर्प आदि, इस में मनुष्य नहीं। (१२४०) दूसरा ऊष्मज जैसे कि गिजाई खटमल आदि जो गर्मी व शील पाकर बिना माता पिता के उत्पन्न होते हैं (१२४१) तीसरा पिंडज वा जरायुज जो माता के पेट से एक प्रकार की झिल्ली में लिपटे हुए पैदा होते हैं, जैसे गौ. भैंस. घोड़े, व्याघ्र, हाथी, सिंह, बन्दर, भालू, आदि इसी वर्ग में मनुष्य भी है!

(१२४२) फिर शरीर की बनावट पर ध्यान देने से जन्तु दो प्रकार के होते हैं। एक अनस्थि दूसरे सास्थि। अनस्थि वे हैं जिनके हड्डी न हों. जैसे पतंग केंचुए आदि, इनमें मनुष्य नहीं। (१२४३) दूसरे वे जिनके हड्डियां हों। फिर हड्डी वालों के दो भेद हैं, एक दूध न पिलाने वाले दूसरे अपने बच्चों को दूध पिलाने वाले। दूध न पिलाने वाले पक्षी मत्स्य सर्प आदि हैं इन में मनुष्य नहीं। (१२४४) दूध पिलाने वाले गाय भैंस. हाथी, भालू, बन्दर, बिल्ली, कुत्ता, सिंह, आदि हैं इन्हीं में मनुष्य भी है।

(१२४५) हाथ, पैर, मुंह, मल मूत्र के मार्ग, ये जो पांच कर्मेन्द्रियां, और आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा ये जो पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन सब की बनावट और कार्यवाही [कार्रवाही] में भी भालू, बन्दर, गौ, भैंस, बकरी, हाथी, घोड़ा, व्याघ्र, सिंह, कुत्ता, बिल्ली, आदि के साथ ही मनुष्य की सदृशता है। इसका सार यह हुआ कि चाहें जिस रीति से हम विचारें हर ओर से प्रकृति [कुदरत] पुकार पुकार कर कह रही है, कि मनुष्य के निकटवर्ती जन्तु गौ, भैंस, भालू, बन्दर हाथी, घोड़े, सिंह, कुत्ते, बिल्ली, आदि ही हैं। इस लिये इन्हीं सब के शरीर की बनावट और खान पान आदि के प्राकृत नियमों को ढूंढना और जिनके साथ शरीर की बनावट आदि तुल्य ठहरें उनके प्राकृत खान पान को अपना खान पान समझ लेना आवश्यक हुआ।

(१२४६) सब जन्तु अपने मन वचन और शरीर से सदा कुछ न कुछ कर्म करते ही रहते हैं; और प्रत्येक कर्म के करने में शरीर का एक भाग मांस रुधिर आदि व्यय [खर्च] होता रहता है, । इस भाग को शारीरिक अग्नि जलाता रहता है, और इसके जलने में भीतर जाने वाला श्वास सहायता देता है। और इस जले हुए अंश को बाहर निकालने वाला श्वास अपने साथ निकालता रहता है।

(१२४७) अभिप्राय कहने का यह होता है कि, प्रत्येक श्वास प्रति श्वास में शरीर का एक अंश घटता जाता है। इस प्राकृत घटौती को पूरा करने के लिये जो प्राकृत चाह उत्पन्न होती है, उसे क्षुधा तृषा अर्थात् भूख प्यास कहते हैं। और भूख प्यास को दूर करने के लिये जो वस्तु शरीर के भीतर पहुंचाया जाता है, उसे भोजन या खान पान कहते हैं। और जिस खान पान से इसकी निर्विघ्न घटौती पूरी हो जाय, और प्राणों की स्वस्थता अच्छे प्रकार बनी रहे, तथा सब अवयव अच्छे प्रकार खिलते रहें, और प्रसन्नता प्राप्त होती रहे, उसे प्राकृत खान पान कहते हैं।

(१२४८) यह भोजन औदर्य्याग्नि से अर्थात् पेट की अग्नि से पकाया जाता है, और इसका जो स्वच्छांश शरीर के अंश होने योग्य होता है, उसे शरीर सजातीय बना लेता है अर्थात् अपने में मिला लेता है, और शेष मलांश को मल मूत्र के द्वार से निकाल देता है। सिद्धान्त यह निकला कि प्राकृत खान पान करने में घटौती पूरी करना स्वास्थ्य को सदैव बनाए रखता है, और प्रकृति विपरीत अर्थात् उलटा करने से उलटा फल देता है। इस कारण मनुष्य को अपना प्राकृत भोजन जानना बहुत ही आवश्यक है॥

(१२४९) बाहर की वस्तु मनुष्य के शरीर के भीतर दो मार्गों से जाती है, एक नाक दूसरा मुख। फिर शरीर के भीतर जाने योग्य कौन वस्तु है, इसकी परीक्षा करने के

लिये दोनों मार्गों पर दो डेवढ़ीवान बैठे हैं। नाक में तो घ्राणेन्द्रिय और मुख में रसना अर्थात् लज्जत की ताकत। नाक की राह से मनुष्य श्वास खैंचता रहता है, इस श्वास वाली हवा के साथ मिल कर जब कोई अयोग्य वा मलिन वस्तु भीतर घुसना चाहता है तब घ्राणेन्द्रिय चेता देती है। इसी प्रकार जब मुंह की राह से कोई अयोग्य वा मलिन पदार्थ घुसना चाहता है, तब रसनेन्द्रिय चेताने लगती है और मनुष्य उससे बचने का प्रबन्ध करने लग जाता है।

(१२५०) हां यदि ये दोनों डेवढीदार घूस न लेते होते अर्थात् इनका स्वभाव बिगड़ने योग्य न होता तो, इन दिनों भक्ष्याभक्ष्य विषयों पर इन लम्बी चौडी वक्तृताओं की क्या आवश्यकता होती? अथवा इन कागज़ों के लिखने को लेखनी के मुख घिसने की वारी कब आती?।

(१२५१) स्वच्छ वायु में श्वास लेने वाले पहाड़ी मनुष्य किसी मैदान के घन की बस्ती में आ बसते हैं, तब घ्राणेन्द्रिय उन्हें क्षण क्षण अवगत करती रहती है, कि यहां की हवा में कोई अयोग्य, बुरा, और असह्य वस्तु मिला है, यहां से भागो। पर जब जीविका वश वा अन्य किसी कारण से कुछ दिन वहां रह जाते हैं, तब उनको घ्राणेन्द्रिय द्वारा अयोग्य वस्तु का परिज्ञान नहीं होता पर इस के साथ ही उन लोगों की पहले की सी फुरती और आरोग्यता भी चल देती है, फिर उस चहरे पर चमक दमक और हृदय के उल्लास से भेट कहां?।

(१२५२) रसना इन्द्रिय भी वैसी ही है। जो अफीम वा तमाकू पहले ही जीभपर धरने से घिन होती है और थुकथुकी पैदा करते हैं वे थोड़े दिन तक वार वार मुख में धरने से ऐसी चाह पैदा कर देते हैं कि, उनके विना उनके अभ्यासी को चैन मिलना अति कठिन होजाता है अभिप्राय कहने का यह है, कि, रसना इन्द्रिय भी बिगड़ जाने वाली है।

(१२५३) मनुष्यों के घ्राण और रसना का बिगड जाना सम्भव होने से हमको दूसरी रीत पर अपना प्राकृत खाद्य ठहराना पड़ा। अत एव मनुष्यों के निकट वर्ती जो गाय भैंस, हाथी, घोड़े, भेडिया सिंह कुत्ता, बन्दर, भालू आदि जीव हैं उन में से किसकी प्राकृत बनावट सदृश्यतर अर्थात् बहुत एकसा है और उनका प्राकृत खान पान क्या है इस का ढूंढना बहुत आवश्यक हुआ॥

(१२५४) भोजन के भेद से ये जन्तु चार प्रकारके हैं। १ तृणाहारी २ फलाहारी

३ मांसाहारी और ४ सर्वाहारी। तृणाहारी वे हैं जो घास, फूस, पात, भूसा, सूसा, कांटा, भूसी, खाकर जीवन व्यतीत करते हैं जैसे गो, भैंस, हाथी, घोड़े, ऊंट, गधे, आदि। (१२५५) फलाहारी वे हैं जो आम, अमरूद, नासपाती, दाख, छुहारे केला, जौ, गैंहू, चावल, चना आदि धान्य और कन्द मूल आदि खेत और बगीचे के फलों को खाकर रहते हैं जैसे बन्दर। (१२५६) मांसाहारी वे हैं जो दूसरे जानवरों को मार कर उनके रुधिर मांस से अपना गुजरान करते हैं जैसे बाघ सिंह भेकर, चीते, हुंडार कुत्ते बिल्ली आदि। (१२५७) सर्वाहारी वे हैं जो घास पात फल रुधिर मांस जो मिले सबको चट कर जाते हैं जैसा भालू। अब प्रश्न यह रहा कि इन चार प्रकार के जन्तुओं में से स्वभावतः मनुष्य कौन है॥

(१२५८) भोजन इन जन्तुओं के मुख में प्रवेश करनेके पीछे दांतों से चबाया जाता है और दांतों की जड़ से निकले हुए एक प्रकार के रस के साथ सम्मिलित होकर पाक नाडी में घुसता है तत्पश्चात् शरीर में निर्जन योग्य अंश को छोड़ कर शेष मल द्वारा निकल जाता है इस लिये प्रथम इन जन्तुओं के दांतों का कुछ वर्णन करना बहुत आवश्यक है॥ (१२५९) जब कि जन्तुओं के दांत एक प्रकार के नहीं होते हैं और न गिन्ती में बराबर होतेहैं। आहार के भेद से ऐसे विलक्षण होते हैं कि एक विचारशील पुरुष किसी मरे हुए जन्तु की खोपड़ी में दांतों को देखकर ठीक ठीक बता सक्ता है कि, यह जन्तु अमुक प्रकार के आहार का करने वालाथा॥

मनुष्य के दांतों की संख्या ३२ बत्तीस है जैसा कि आयुर्वेद में वर्णित है

(१२६०) दशना रुचकानि स्यु श्चतुर्द्धा ते भवन्ति हि।
छेदनाः शोधना द्व्यग्राः पेषणा स्तेतु संख्यया॥ १॥
अष्टौ चत्वार श्चाष्टौ हि ततस्तु द्वादश स्मृताः।
दन्तानां पतनं जन्म पुनः पाते त्वसम्भवः॥ २॥

अर्थ- दांतों को रुचकास्थि कहते हैं, वे चार प्रकार के होते हैं। १ छेदन २ शोधन ३ द्व्यग्र और ४ पेषण, ऊपर नीचे दोनों पांतियों में सामने के चार चार छेदन. छेदनों के दहने बाएं एक एक करके चार शोधन, शोधनों के बगल में दो दो करके ८ द्व्यग्र और इन से फिर तीन तीन करके पेषण हैं। एक बार दांत गिर कर फिर निकलते

हैं परन्तु फिर गिर कर उनका निकलना नहीं होता ॥ (१२६१) जिन को आयुर्वेद में छेदन शोधन द्वयग्र और पेषण कह कर ऋषियों ने पुकारा है उनको फिरंगी डाक्टर क्रमशः इंसीजर कन्टाइन, वाइक्स पिड्स- और मौलरज़ कहते हैं ॥ (१२६२) सं० छेदन दन्त धारदार होते हैं और गौ, भैंस, आदि तृणाहारी जीवों के अधिक निकले रहते हैं। छेदन दांत मांसाहारी जीवों के बहुत छोटे होते हैं (१२६३) शोधन, दांत, कुत्ता, बिल्ली, बाघ, हुंडार, आदि मांसाहारी जन्तुओं में और दांतों की अपेक्षा इतने अधिक निकले रहते हैं कि उन के बैठने के लिये उनके सामने दूसरी पांती में अवकाश रहता है। ये नोंकदार पैने और कुछ बांके रहते हैं जिन से मांसाहारी जन्तु अपने शिकार को पकड़ते और थाम रखते हैं, और जब चाहते हैं तब मांस के टुकडे नोंच खाते हैं। (१२६४) तृणाहारी जन्तुओं के प्राय: ये नहीं रहते हैं पर किसी किसी के बहुत बडे होकर मुख से ऊपरली ओर को बाहिर निकले रहते हैं, जैसे कि हाथी और बनैले सुअर के ॥ ये बाहिर निकले हुए शोधन दन्त इन जन्तुओं को अपने तईं शत्रुओं से रक्षा करने में काम देजाते हैं। (१२६५) फलाहारी बन्दरों में, छेदनदन्तों की अपेक्षा शोधनदन्त कुछ बडे होते हैं ये इन को गन्ना चूसने में, अपने शत्रुको भय देने आदि में काम देते हैं (१२६६) द्वयग्र दांत और पेषण दन्त चपटे होते हैं। द्वयग्रों में दो दो जगह और पेषणों में एक एक जगह चक्की के पाट की नाईं दाना उठा रहता है। येभोजनको टुकडे टुकडे करने और चाबने में काम देते हैं, (१२६७) मांसाहारी जन्तु और तृणाहारी फलाहारी जीवों के दांतों की रचना में भी विलक्षणता दीख पड़ती है। तृणाहारी और फलाहारी जन्तुओं के पेषण दन्तों के दाने बहुत उठे और दबे नहीं होते और उनकी रचना इस प्रकार की है कि उनकी चाल बड़े सुभीते के साथ चक्की के पाट की नाईं वा घूमती ई सिल लोढ़ी की नाईं आती जाती है और वे ओखली मूसल की सी खड़ी चोटें भी चला सक्ते हैं, जिस से उनका भोजन एक दम पिस जाता है। (१२६८) सं० मांसाहारियों के पेषण दन्त वैसे नहीं होते, इन के दाने चपटे न रहकर नोंकीले रहते हैं और उन नुकीले दांतों के सामने दूसरी पांती वाले पेषण दन्तों में उनके बैठने के लिये खड़े होते हैं, इसी कारण से इन के पेषण दांतों की चाल ऊखली मूसल.कीसी केवल खड़ी हो सक्ती है, चक्की के पाट की भांति घूमती हुई वा सिल लढ़े कीसी आती जाती चाल की कदापि नहीं होसक्ती है.। किसी कुत्ते को एक टुकड़ा

रोटी का डाल कर देख लीजिये कि वह कैसे चबाता है, वह उसे पीस नहीं सक्ता दो चार बार कलों से खड़ी चोट देकर निगल जाता है (१२६९) और मांस के रेशों की ऐसी बनावट है कि वे जैसे तीक्ष्ण हथियार की खड़ी चोट से बिखरे और बीते होते हैं वैसे किसी चपटी वस्तु से बिखरते नहीं। यह बात मांसाहार के अभ्यासियों से निश्चित है।

(१२७०) बन्दर जैसे फलाहारी जन्तु के दांत प्रायः समतल अर्थात् बराबर उंचाई वाले होते हैं छेदनादि चारों प्रकार के दाँतों की ऊंचाई में विशेष भेद नहीं,

१२७१) भालू जैसे सर्वाहरि जन्तुओं के दांतों की बनावट और ही प्रकार की है, उनके छेदन दन्त खिले रहते हैं. कि जिससे घास पात कन्द मूल को कतर सकें, और उनके शोधन भी बडे बडे और बांके होते हैं जिससे अपने शिकार को पकड़ सकें, और थामें रक्खें, उनके पेषण दन्त कुछ तो फलाहारियों और तृणाहारियों की नाईं चपटे दाने वाले होते हैं और कुछ मांसाहारियों की भांति नुकीले दाने वाले और इन की बनावट और चाल इस प्रकार की होती है कि, ये सब वस्तुओं को भले प्रकार खा चबा सक्ते हैं, तृणाहारी फलाहारी मांसाहारी और सर्वाहारियों में से दांत की रचनानुसार मनुष्य कौन है ? इस विषय में प्रकृति [कुदरत] क्या साक्षी देती है ॥

(१२७२) मनुष्य तृणाहारी नहीं, क्योंकि इस के दांत घास आदि के चबाने कतरने वाले गाय भैंस आदि जीवों जैसे नहीं हैं। (११७३) मनुष्य मांसाहारी नहीं है क्योंकि इस के दांत मांस खाने वाले सिंहादि के तुल्य नहीं। (१२७४) मनुष्य सर्वाहारी भी नहीं है, क्योंकि सर्वाहार करने वाले भालू की सदृश इस के दांत नहीं। (११७५) मनुष्य फलाहारी अवश्य है, क्योंकि इस के दांतों का गेहूं, चावल, चने, आम अमरूद, आदि खेत और बगीचे के फलों को खाकर रहने वाले बन्दरों के दांतों के साथ बहुत ही मेल होता है। (१२७६) कोई कोई वैज्ञानिक जन कहते हैं, कि मनुष्य के छेदन और पेषण दन्त हैं इससे यह तृणाहारी और फलाहारी है, और शोधन दन्त हैं इस से माँसाहारी भी है, अतएव मनुष्य सर्वाहारी हुआ।

(१२७७) परन्तु यह कहना उन का तब ठीक होता जब फलाहारी बन्दरों के शोधन दन्त न होते और मनुष्यों के सर्वाहारी भालुओं के से दोचार पेषण दन्त नोंकीले दानों और खड्डों के साथ होते. परन्तु फलाहारी बन्दरों के भी शोधन दन्त हैं और मनुष्यों के सर्वाहारी भालू के कुछ भी पेषण दन्त नोंकीले दानों और खड्डों के साथ

नहीं है इस लिये उन विज्ञानियों का कहना सच नहीं।

(१२७८) दूसरे वैज्ञानिक इस प्रकार से कहते हैं "जब हम मनुष्य के दांतों की रचना के ऊपर ध्यान देते हैं तब यह प्रतीत होता है कि, न तो वह मांसाहारी है, और न तृणाहारी है, वह दोनों के मध्य में है अर्थात् वह दोनों ही है" (१२७९) जब मनुष्य न तृणाहारी है, और न मांसाहारी दोनों के मध्य में हुआ, तब "वह दोनों ही है" यह क्यों ? वह मध्य एक तीसरा क्यों न माना जाय ? विशेष करके जब कि एक तीसरा वहीं फलाहारी विद्यमान है जिसका उदाहरण बन्दर है। यह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। और जिस बन्दर के साथ मनुष्य की केवल दांतो ही की बनावट की सदृशता नहीं वरन अङ्गों की रचना भी दूसरे जन्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक मेल खाती है।

(१२८०) जब किसी खान से एक नई धातु निकलती है, तो विज्ञानी लोग ऐसा थोड़ा ही कहते हैं कि, यह 'चांदी सोना दोनों ही है' वरन उसे तीसरी ही धातु मानते हैं। यदि मनुष्य के दांतों की रचना तृणाहारी और मांसाहारियों की सी नहीं है इस लिये मनुष्य न तृणाहारी है न मांसाहारी वरन उक्त विज्ञानियों के कथनानुसार दोनों अर्थात सर्वाहारी है तो, सर्वाहारी भालू की दन्त रचना की भांति भी मनुष्य के दांतों की रचना नहीं है, तब मनुष्य सर्वाहारी कैसे सिद्ध होसक्ता है, अतएव दांतों की रचना देखने से प्रकृति [कुदरत] की गवाही होती है कि, मनुष्य न तृणाहारी है, और न मांसाहारी, यहतो फलाहारी ही है॥

(१२८१) अब यह ढूंढना चाहिये कि, पाक नाड़ी की रचना द्वारा मनुष्य के भोजन विषय में प्रकृति क्या कहती है।

(१२८२) मुख से लेकर जहां भोजन शरीर में घुसता है गुदा स्थान तक कि जहां से मल निकल जाता है, शरीर में भोजन पकने के लिये कहीं सीधी कहीं ढेड़ी घूमती हुई जो राह है उसे पाकनाड़ी कहते हैं। इसको अंग्रेजी में 'डाईजैस्टिव कैनल, अथवा अल मैन्टेरी कैनल, कहते है;

(१२८३) यह पाकनाड़ी भी सब जन्तुओं में एक सी नहीं होती यदि जानवरों का देह मुंहसे लेकर पूंछ स्थान तक नापा जाय तो कुत्ते बिल्ली बाघ सिंह हुंडार आदि मांसाहारी जन्तुओं में यह पाकनाड़ी शरीर की अपेक्षा तिगुनी से लेकर पांच गुनी तक अधिक लम्बी होती है। और इन जन्तुओं की पाकनाड़ी का वह भाग जिसे आमाशय [मेदा] कहते हैं, जहांकि अन्न हांडी में चावल और पानी के समान पकता है वह छोटा और प्रायः गोलाकार होता है (१२८४) तृणाहारी जन्तु दो

प्रकार के होते हैं एक वे जो जुगाली करते हैं, जैसे गाय भैंस बकरी आदि। दूसरे वे जो जुगाली नहीं करते, जैसे गधे घोड़े आदि। तृणाहारियों में जो विशेष करके जुगाली करते हैं, उन का आमाशय बहुत चौड़ा फैला हुआ और टेढ़ी बनावट का होता है और पाकनाड़ी की लम्बाई शरीर की अपेक्षा २० गुनी से लेकर २२ गुनी तक होती है (१२८५) फलाहारियों के आमाशय मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक और तृणाहारियों की अपेक्षा न्यून होता है। और पाकनाड़ी की लम्बाई शरीर की अपेक्षा दस गुनी से लेकर १२ गुनी तक होती है।

(१२८६) वे ही विज्ञानी लोग जो दांतों की रचना से मनुष्य को सर्वाहारी बतातेथे कहते हैं कि, मनुष्य की पाकनाड़ी मांसाहारियों की तरह शरीर की अपेक्षा तिगुनी से लेकर पचगुनी तक अधिक लम्बी है, अतः एव मांस भोजन के लिये मनुष्य अधिक योग्य है। ऐसा कह कर वे लोग प्रकृति [कुदरत] को प्रत्यक्ष पूर्वापर विरोध [खुदमुखालिफ़ियत] दोष लगाते हैं। वे यह कहते हैं कि दांत के हिसाब से प्रकृति ने मनुष्य को फलाहारी, और पाकनाड़ी के हिसाब से मांसाहारी, बनाया है। पर यह पूर्वापर विरोध प्रकृति में नहीं प्रकृति की कारीगरी [कारीगरी] के समझने में उन विज्ञानियों का यह पूरा पक्षपात है। जब कि अन्य जन्तुओं के शरीर की लम्बाई मुंहसे लेकर पूंछ की जड़ तक उन्होंने नापी और मनुष्य की लम्बाई सिर की चोटी से लेकर पैर के पांव तक नाप डाली यह क्यों? उचितथा कि मनुष्य की लम्बाई मुख से लेकर गुदा तक या पीठ के नीचे की हड्डी [मेरुदण्ड] के अन्त तक जहां कि अन्य जीवों के पूंछ की जड़ है वहां तक नापते। ऐसा करनेसे मनुष्य की लम्बाई प्रायः दो हाथ होगी, और मनुष्य की पाकनाड़ी २० बीस हाथ की होती है। जैसा कि आयुर्वेद विज्ञान जिल्द २ पृ० ९५। २६। (आयुर्वेद विज्ञान, विनोद लाल सेन सम्पादित)

(१२८७) हस्त विंशति सम्माना कला पेशी विनिर्मिता।
ऊर्ध्वांशो मुख नामास्या दधोंशो गुद नामकः॥
कण्ठा दामाशयं याव दन्त्रनाडीति कथ्यते॥

इसका सारार्थ यह है कि चिकनी झिल्ली से बनी हुई अन्न के पचाने के लिये मुंह से गुदा तक २० बीस हाथ लम्बी मनुष्यों की पाकनाड़ी होती है॥ (१२८८) इसी

प्रकार अंग्रेजी डाक्टरों ने भी ३० फिट लम्बी बताई है। सो २० बीस हाथ और ३० तीस फुट बराबर होते हैं, क्योंकि डेढ फुट का एक हाथ माना है॥ (१२८९) जब पशुओं की नाप के मिलाने से मनुष्य के शरीर की लम्बाई दो हाथ और इसकी पाकनाड़ी की लम्बाई बीस हाथ ठहरी तो सिद्ध हुआ कि मनुष्य की पाकनाड़ी दश गुनी है और फलाहारी पशुओं की अपेक्षा दश गुनी से ले कर १२ बारह गुनी तक होती है इस से प्रतीत हुआ कि पाकनाड़ी की बनावट से भी मनुष्य फलाहारी ही है। (१२९०) उक्त विज्ञानियों का जैसा दांत की रचनासे मनुष्य को सर्वाहारी बताना युक्त न था वैसे ही उनका पाकनाड़ी की बनावट से मनुष्य को मांसाहारी मानना भी अयुक्त ठहरता है। और उनके कहने से प्रकृति [कुदरत] की रचना में जो पूर्वापर विरोध भासता था सो नहीं ठहरा। अतएव पाकनाड़ी की बनावट से प्रकृति [कुदरत] की दूसरी वार साक्षी होती है कि, मनुष्य फलाहारी ही है॥

(१२९१) अब घ्राण और रसना इन्द्रियों के ऊपर जो जिसका योग्य भोजन है, उसका विचार कुछ करना चाहिये। मांसाहारी पशु के निकट जब कोई उसका शिकार आजाता है, तब उसकी चेष्टा एक साथ बदल जाती है, उसकी आंखें चमकने लगती हैं, वह चारों ओर चौकन्ना होजाता है अपने शरीर को समेट कर छिपने लगता है और उसे झट पकड़ पंजों और दांतो को चुभा देता है और उस के लोहू को बड़े चाव से चाटता है. पीछे उस के मांस को खाकर पेट भरता है, पर भूखे होने परभी यदि उनके निकट भांति भांति के सुगन्धित और स्वादिष्ट फल और तृण पड़े हों तब भी उनकी ओर ताकता भी नहीं। कहाभी है—

(१२९२) बनेपि सिंहा मृग मांस भक्षिणो।
बुभुक्षिताः नैव तृणं चरन्ति॥

अर्थ— सिंह वनमें हिरन के मांस को भक्षण करते हैं तृण भूखे होने परभी नहीं चरते! (१२९३) इसी प्रकार तृणाहारी जन्तुओं की इन्द्रियां उन्हें मैदान में की हरी घास और सूखे भूसे तूसे की ओर खींचती हैं, और वे रुधिर मांस से घिन करते हैं, बरन अपने स्वाभाविक भोजन हरी घास आदि से भी यदि उन पर रुधिर गिरा होता है तो घिन कर हट जाते हैं। (१२९४) वे किसी जन्तु से उस के मांस खाने के निमित्त झगड़ा नहीं करते, अपनी रक्षाके लिये तो अवश्य लड़ बैठते हैं।

(१२१५) यदि कभी घोड़े और बाघ से भेट हो जाती है तो बाघ उसके चारों ओर घूमने लगता है। और घोड़ा बाघकी ओर सदा अपनी पूंछ रखता है, इस घुमाव में बाघ उस के निकट आता है, और उछल कर घोड़े के कूल्हे पर अपना पंजा मारने का यत्न करता है, और उसी समय घोड़ा दुलत्तड़ चलाता है। यदि बाघ बिना चोट खाये वहां तक पहुंच गया तब तो घोड़े का काम तमाम होजाता है, फिर बाघ उसका रुधिर पी कर यथेष्ट अपनी तृप्ति करता है। और जो घोड़े की दुलत्ती चीते पर जम गई तो चीता चित्त होजाता है फिर घोडा ठहर कर यह नहीं विचारता कि मेरा शत्रु मर गया, या जीता है, किन्तु बहुत शीघ्र वहां से चल देता है। इसी प्रकार अपने अपने ढंग से भैंसा और बनेले सूअर अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये युद्ध करते हैं। (१२१६) प्रायः देखा और सुना गया है, कि जहां मरे पशु की खाल चमार उधेड़ते हैं उस स्थान के निकट ऐसे समय में भी जब किसी पशु की खाल नहीं खैंची जा रही हो, जो किसी के गाय बैल वहां होकर निकलते हैं तो ऐसी एक अद्भुत चेष्टा कर भागने लगते हैं, कि जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें मांस और रुधिर के गन्ध से भी घिन उपजती है। और यह भी देखा है, कि जब कुत्ते वहां पहुंचते हैं, तब बड़े चाव मे नाक लगा लगा कर सूंघते हैं, अपने स्वामी से पुकारे जाने पर भी जल्दी वहां से नहीं टलते। इसी प्रकार फलाहारियों की इन्द्रियां उन्हें खेत और बगीचे के फलों की ओर खींचती हैं॥ (१२१७) अब देखना चाहिये कि मनुष्यों की इन्द्रियां कैसा बर्ताव करतींहै। क्या किसी मोटी ताजी भेड़ बकरियों को देखकर इसके मुंह में पानी भर आता है? वा उसके लहू बहाने की इच्छा इसके हृदयमें जागतीहै? क्या ताज़ा ताज़ा लहू और मांस देखकर उसे आनन्द उत्पन्न होता है? वा मारे आह्लाद के उसकी पुतली नांचने लगती हैं? वा अत्यन्त हर्ष के कारण उसके रोम खड़े होजाते हैं? घ्राणेन्द्रिय आमोद देने लगती है? वा लहू से लिपटे हुए मांस के ताजे लोथड़े को इस हाथ से उस हाथ में लेने देने टटोलने में त्वचा वा चक्षुइन्द्रिय प्रसन्नता देती हैं॥

(१२१८) एक निरपराधी प्राकृत [कुदरती] साफ दिल वाले बालक को किसी मोटे ताज़े भेड़ बकरी के बच्चे को देखकर उसके साथ लिपटने की इच्छा तो अवश्य उत्पन्न होती है, पर उसको मार डालने की नहीं ताजे लहू को देखकर उसे घिन उत्पन्न होती है वरन बहुतों को तो दूसरों के शरीर से रुधिर बहते देखकर आनन्द की तो क्या ऐसा जी बिगड़ता है, कि मूर्च्छा तक आजाती है; और वे अपनी आंखें मूद लेते हैं और यदि उसकी जीभ पर एक बूंद भी लोहू लगादे वा मांस रख दिया जाय तो उसे हर्ष की तो

क्या वरन उबाल और थुकथुकी पैदा हो जावे। (१२९९) जो मनुष्य मांस खाते हैं उन को भी कच्चा मांस और लोहू तनिक भी अच्छे नहीं लगते। ऐसे ही कोई बिगड़ी प्रकृति[स्वभाव]वाला मनुष्य होगा जो कच्चे लोहू और मांस को प्रसन्नता के साथ गटक जाता हो, पर उसे ऐसा करता देखकर सैकड़ों घिनाकर वहां से हट जायंगे और उसे राक्षस, या निशाचर, आदि नाम देंगे॥ (१३००) अब कच्ची अवस्था में ऐसा घिन उत्पन्न करने वाला पदार्थ बहुत से मनुष्यों को पकने पर क्यों स्वादिष्ट बोध होता है? और उन इन्द्रियों की पहली अप्रसन्नता को कैसे दूर कर देता है? क्योंकि पकते समय उसमें मिरच लोंग इलायची जावित्री आदि स्वाभाविक सुगन्धित और स्वादिष्ट पदार्थ खेत और बगीचे के पैदा हुए मिलाये जाते हैं इन्हीं के द्वारा रसना और घ्राणेन्द्रिय को उत्कोच अर्थात् घूंस [रिश्वत] दी जाती है जो कि अपनी प्रकृति के विरुद्ध वस्तु रुधिर मांस को मुख के भीतर जाने देती है, नहीं तो कभी ये काम न होता। (१३०१) यदि मांस और रक्त इन्द्रियों को आनन्द देने वाले होते तो दूसरे देशों में भी बहुत से नगरों में [जहां कि प्राय: वे ही मांसाहारी हैं] सरकार म्युनिसिपलिटी की ओर से कसाइयों को क्यों यह आज्ञा होती है कि वे उन वध पशुओं को बाजार में बिना ढांपे हुए खोल कर न ले चलें। यदि पशुओं का मारना आंख को सुख पहुंचाता तो सब नगरों में पशुओं के लिये वध स्थान बस्ती से अलग निर्माण क्यों होता! ॥

(१३०२) विचार का स्थान है कि जो पदार्थ आंख नाक को ऐसा घिन उत्पन्न करने वाला है वह मनुष्य का स्वाभाविक भोजन कैसे कहा जा सकता है? । अब सोचिये कि आम, अमरूद, केला, नारंगी, शरीफा, नासपाती, अंगूर, छुहारा, बादाम, किसमिस, आदि बाग़ के फलों को देख, सूंघ, चखकर, चित कैसा प्रसन्न होता है। चना गेहू, चावल आदि खेत के फल विना पके भी कैसे सुगन्धित और स्वादिष्ट हैं, यद्यपि इनका गन्ध, और स्वाद, बाग के फलों का सा तीव्र नहीं है और न ये कदापि दुर्गन्धि और मतली पैदा करने वाले हैं तथा इन खेत और बाग के फलों को लाने में और उन से अपना भोजन तैयार करने से कहीं भी घिन नहीं होती, जैसी कि जन्तुओं के मारने में, और मांस लाने में। अतएव मनुष्य की इन्द्रियों की रचना द्वारा प्रकृति [कुदरत] की तीसरी साक्षी है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं है, यह फलाहारी है॥

(१३०३) मांसाहारी जीव जीभ से चाट चाट कर जल पीते हैं, पर तृणाहारी और फलाहारी मुंह लगा चुमकरी घूंट भरते हैं। इससे भी प्रकृति की साक्षी होती है कि मनुष्य फलाहारी है, मांसाहारी नहीं॥

(१३०४) मांसाहारी दिन को सोते हैं और रात को अधिक जागते हैं, यह भी प्रकृति की साक्षी होती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं, फलाहारी है ॥

(१३०५) मांसाहारियों के बच्चे जन्म लिये पीछे कई दिन तक आंखें बन्द रहने वाले होते हैं, इस भांति तृणाहारियों के वा फलाहारियों के नहीं होते, इससे भी प्रकृति यही कहती है कि मनुष्य फलाहारी ही है, मांसाहारी नहीं ॥

(१३०६) फल के साथ निकट सम्बन्ध रखने वाले तृण और पत्ते होते हैं उनको थोड़ा थोड़ा खा लेने से फलाहारी की आरोग्यता [तन्दुरुस्ती] नहीं बिगड़ती. पर भर पेट तृण पत्र ही खा लेने से अवश्य थोड़ी बहुत बिगड़ती है। (१३०७) उसी प्रकार तृणाहारी भी थोड़ा थोड़ा फल खा लेते हैं तो उनकी कुछ हानि नहीं होती है. पर भर पेट खा लेने से बड़ी हानि होती है जैसे बैल, घोड़ा, जब कभी भर पेट चावल, चना, जौ, गेहूं आदि खा लेते हैं, तो, उनका पेट [illegible] जाता है, यहां तक कि प्राणान्त होने तक का भय हो जाता है। (१३०८) मांस [illegible] निकट सम्बन्ध रखने वाले केश होते हैं, मांसाहारी पशु मांस के खाने के साथ थोड़े बहुत केश भी खा जाते हैं तो उनको कुछ हानि नहीं पर वे थोड़ी सी भी घास खावें तो उन्हें वमन हो जाता है, जैसाकि कुत्ते, बिल्लियों को करता हुआ देखते हो। (१३०९) उसी प्रकार यदि तृणाहारी वा फलाहारी जीव किसी प्रकार से दो एक भी केश खा जांय तो उनका पेट फूल जाता है, और वे दुःख भोगने लगते हैं। दो एक केश खा लेने से मनुष्य की [illegible] होती है। और मांसाहारी की भांति केश बिना दुःख के मनुष्य को नहीं पचता ! इससे भी प्रकृति साक्षी देती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं फलाहारी है। (१३१०) मांसाहारी इकफसली मैथुन करते हैं, इस प्रकार फलाहारी नहीं करते।

(१३११) मांसाहारियों के नख टेढ़े अर्थात् अपनी ओर को नवे हुए और नोंकदार चौतर्फा से कुछ गुलाई लिये होते हैं। जिसके नख बन्दर के से हों वह मांसाहारी नहीं क्योंकि बन्दर मांस नहीं खाता, सो ऐसे नखों वाला मनुष्य है इससे भी प्रकृति कहती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं।

(१३१२) मांसाहारियों के शरीर में पसीना नहीं आता, ऐसे तृणाहारी और फलाहारी नहीं, इस से भी मनुष्य मांसाहारी नहीं। (१३१३) मनुष्य के मांसाहारी न होने में जितनी प्राकृतिक साक्षी लिखी हैं, वे सब परीक्षा करके लिखी हैं, जिनको इन में संदेह हो वे प्रत्यक्ष करलें, सब ठीक होंगी तथा अन्य महाशयों ने भी अनेक वार प्रत्यक्ष किया है, अनेक पुस्तकों में और समाचार से पत्रों में छापाहै, परन्तु मेरे इस लेख से

पिष्ट पेषण न समझा जाय क्योंकि सदुपदेश और साविकता जो सर्व काल होती ही रहें तभी इस मनुष्य का कल्याण है, कि जिसमे अपने प्राकृत आहारादि को भूले नहीं ॥ "इन्सानी खुराक का फैसला" नामक पुस्तक में लिखा है, जोकि "कायस्थ विजीटेरियन रिफ़ार्मर सिरीज़" में (खान कुदरत) बाबू सांवल सहाय वर्मा ने लिखी है और (१८८३) ईस्वी में मोहम्मडेन प्रेस अलीगढ़ में छपी है ॥

(१३१४) डाक्टर पॉचेट (Dr. Pauchet) ने अपनी पुस्तक मनुष्य जाति की वृद्धि "(Plurality the Human race) में लिखा है कि "उस के आमाशय का आभ्यन्तर वृत्तान्त सर्वोपर उसके दांतों से सिद्ध है"।

(१३१५) डाक्टर बैल (Dr. Bell) अपनी पुस्तक अनाटमी (Anotomy) में लिखते हैं "मैं ख्याल करता हूं कि यह कुछ मुबालगा नहीं है कि हर बात जोकि मनुष्य के देह की बनावट से सम्बन्ध रखती है, यह बात सिद्ध होती है कि मनुष्य वास्तव में फलाहारी उत्पन्न किया गया है। और यह सिद्धान्त मुख्य कर उसके दांत और पाकाशय सम्बान्धि अवयव, त्वचा, और अवयवों की साधारण बनावट से लिया गया है।

(१३१६) प्रोफेसर लारन्स (Professor Laurence) ने अपनी "फिज़ीयोलोजी" (Lecture on Physeo'ogy) पर दी हुई वक्तृता में पन्ना १८१ से १९१ तक लिखा है कि मनुष्य के दांत मांसभक्षी पशुओं के दांतों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते हैं। मनुष्य के दांतों की बनावट फलाहारी पशुओं से बिलकुल मिलती है ॥

(१३१७) प्रे (Pray) ने लिखा है कि मनुष्य प्रकृति से ही मांसाहारी उत्पन्न नहीं हुआ है और न है। प्रकृति ने उसको तीक्ष्ण दांत और चीडने फाडने के लिये झुके हुए तीक्ष्ण नोंकदार पंजे प्रदान नहीं किये हैं। किन्तु ऐसे नरम और कोमल दांत दिये हैं कि जिन से फल तोडकर ही खासक्ता है ॥

(१३१८) लिनैनियस (Linnaneas) जो प्रसिद्ध पदार्थ वेत्ता Naturalist हैं, कहते हैं कि" यह फल वह आहार है कि जो मनुष्य के लिये सब भोजनों से अधिक उपकारी है, जोकि पशु, बन मनुष्य, और बन्दर के साथ सम्बन्ध रखने से होता है और होठ, पेट, तथा हाथों की बनावट से प्रकट होता है।

(१३१९) मिस्टर गैसेन्डी Mr Gessendi ने अपनी चिट्ठी में, जो उन्होंने "वान हैल्मेट" Van Helmeat को लिखी थी, यह लिखा है कि "मुझको यह बात वाद विवाद से सिद्ध होगई है कि हम स्वभावतः मांसाहारी नहीं उत्पन्न किये गये जैसा कि दांत

आदि से प्रमाणित होता है, । और उन्हों ने अपनी पुस्तक के पन्ना २० में लिखा है कि "मुझ को यह बात यों बार २ कहनी चाहिये कि निर्दोषा प्रकृति ने आरम्भ से हमारे दांत फलाहार करने को गढे हैं । न कि मांसाहार करने को ।

(१३२०) लार्ड मोन बेडो Lord Mon Baddo कहते हैं कि ' मैं खयाल करता हूं कि मनुष्य यद्यपि अहेर करके और फल खाकर दोनों प्रकार से अपनी प्राण रक्षा करसक्ता है । परन्तु यह निश्चय है कि मनुष्य स्वभावतः फलाहारी है मांसाहारी अपनी टेव डालने से बन जाता है ।

(१३२१) डाक्टर मौन Dr. Moun कहते हैं कि "मनुष्य सब जीवों से श्रेष्ठ बनाया गया है, इसी से उसके अवयव भी श्रेष्ठ बनाये हैं, इसी कारण उसका पाकाशय पेचीदा बनाया गया है, जिस से फलादि को अच्छे प्रकार पचा सके, ।

(१३२२) मिस्टर लैम्ब Mr. Lambe और बैरन कुवियर Beron Cuvier की भी यही सम्मति है कि मनुष्य फलाहारी है ।

इति वैदिक प्राणिषणायाम् स्वस्थ वृत्त्यधिकारे मनुष्य प्राकृताहार जिज्ञासायां त्रि पञ्चाशत्तमो विवेकः ॥ ५३ ॥

(१३२३) (प्रश्न) जिन जीवों में मांस तो नाम मात्र भी न हो और कोई उन से उपकार भी किसी का न होता हो प्रत्युत दुःखदाई काट खाने वाले अनेक आहार विहारों में विघ्न करने वाले हों, और भक्ष्या भक्ष्यों की गणना में भी न हों जैसे कि सुरसुली प्रभृतिक किसी कारण खा लिये जांय वा ऐसों के खाने का दुर्व्यसन पड़जाय तब तो कुछ बिगाड़ न होगा ? (१३२४) (उत्तर) अवश्य होगा (१३२५) सूना दोष तो गृहस्थ को ऐसे जीवों के स्वतः ही मर जाने से लग जाता है तो ज्ञान पूर्वक हिंसा करने खाने में क्यों नहीं, अन्य रोगादि भी अवश्य होजाते हैं, इसमें एक समाचार पत्र से एक वृत्त उद्धृत करके पाठकों को अर्पण करता हूं ।

(१३२६) ता० १५ जनवरी सन् १८९९ ईसवी के बङ्गवासी समाचार पत्र से

जाना गया कि "फ्रान्स देश के मेन प्रान्त में चींटी खाने का प्रचार लकड़हारों से प्रचलित हो बड़े आदमियों में भी अभ्यास हुआ है, वहां चींटी खाने के रोग भी होने लगे, मूत्र बन्द होगई, आंख पीड़ा, लाल होना, फटना, और ज्याद. खाने से लकवे केसे मारे कांपने लगते हैं, मूत्र बन्द होजाता है, अनेक मर भी रहे हैं, डाक्टर इलाज करते हैं, पहले डाक्टरों ने बीमारी ही न जानी पर अब बुरी बान छुड़ाना चाहते हैं॥

इति वैदिक प्राणैषणायाम् स्वस्थ वृत्त्यधिकारे अनिष्टा हार
निर्णये चतुः पञ्चाशत्तमो विवेकः । ५४ ॥

—:(❀):—

अथ आहार सम्बन्धि अनेक विषय विचार ।

(१३२७) (प्रश्न) भोजन में कच्चे, और पक्के तथा सखरे, और निखरे का क्या विवेक है॥

(१३२८) (उत्तर) दाल, रोटी, भात खिचड़ी, सदृश कच्चे, और सखरे, माने जाते हैं। और पूरी, कचौड़ी लड्डू, जलेबी, सदृश पक्के, और निःखरे भोजनों के पदार्थों में गिने जाते हैं,

(१३२९) (प्रश्न) अग्नि से पकाये जाने के कारण भोजन का नाम पाक है, और भोजन बनाने वाले का नाम पाचक प्रसिद्ध है, फिर भोजन का क्या कच्चा, यदि पकने में अर्थात् अग्नि से सिकने में अच्छा न सिका हो उसे तो कच्चा कह देना उचित है, अन्यथा नहीं, क्योंकि मनुष्य के लिये भोजन पकाया जाता है। इस कारण वह पक्का ही कहाने योग्य है कच्चा नहीं। जैसे दाल, रोटी, चावल प्रभृति अग्नि से पकाये जाते हैं इसी प्रकार अग्नि से ही पूरी कचौरी और लड्डू जलेबी सदृश भी पकाई जाती हैं फिर तो सभी पक्के भोजन गिने जाने चाहियें॥

(१३३०) (उत्तर) अग्नि से पकने न पकने के कारण से भोजन को कच्चा वा पक्का नहीं कहते यहां तो जो भोजन शीघ्र सड़ बुस वा बिगड़ जाता है वह कच्चा, और जो देरी से बिगड़े बुसे वह पक्का कहा जाता है। दाल, खिचड़ी चावल आदि की अपेक्षा पूरी कचौरी

आदि देर में बिगड़ती हैं इससे पूरी पूआ कचौरी आदि पक्के कहे जाते हैं, और दाल रोटी आदि कच्चे ॥

जैसे गुड़ और शक्कर को एक वर्ष में ही शीघ्र विकृत होजाने के कारण कच्चा मीठा और खांड, बूरा, मिसरी, को शीघ्र न बिगड़ने के कारण पक्का मीठा बोलते हैं, इसी प्रकार शीघ्र बिगड़ने वाला पदार्थ कच्चा और विलम्ब से विकृत होने वाला पक्का यही पक्के कच्चे का यथार्थ लक्षण है

(१३३१) (प्रश्न) पक्के और कच्चे भोजनों के शीघ्र बिगड़ने और देर में बिगडने का क्या कारण है।

(१३३२) (उत्तर) इनमें शीघ्र बिगड़ने का कारण सखरता, अर्थात् सखरापन, और देर में विकृत होने का कारण निःखरता, अर्थात् निःखरापन है। सखरे और निखरे ये दोनों शब्द संस्कृत के सखर निःखर शब्दों का अपभ्रंश है इनका विचार इस प्रकार है कि जितने द्रव्य हैं उनमें आगे कही हुई बातें सब में स्वाभाविक होती हैं ॥

(१३३३) द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्ति रेवच।
पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वंस्वं कुर्वन्ति कर्मच ॥

भाव प्रकाशः ॥

अर्थ – द्रव्य में पांच बातें होती है, मधुरादि रस, गुर्वादि गुण, शीतादि वीर्य, अम्लादि विपाक और प्रभाव, ये सब अपने २ कर्म को करते हैं।

(१३३४) इनमें [१३२] वें अङ्क पर कहे २० बीस गुणों के मध्य एक खरनाम का गुण होता है कि, जिसको खरखरा कहते हैं, कि जिसका विपरीत श्लक्ष्ण वा चिकना है, जिसमें खर गुण प्राकृत विशेष हो और चिकना [स्नेह गुण] जिसमें से निकल गया हो, वा पृथक् हो जाता है. वा न्यून वा नष्ट हो जाता है वह सखर है, इसकी व्युत्पत्ति "खरेण सह वर्तमानो यः सःसखरः" जो खर गुण से युक्त हो वह सखर है, अर्थात् सखरा है, और "निर्गतः अव्यक्ततां वा गतोन्तार्हितः खरो गुणो यस्मात् वा यस्मिन् सो निःखरः" निकल गया हो, वा छिपगया हो, खर अर्थात् रूक्षत्व जिससे, जिसमें, वह निःखरः [निखरा ऐसा लोक में प्रसिद्ध] है ॥

(१३३५) सं० आहार के लिये वक्ष्यमाण प्रकृति आयतन [१४२६] के अनुकूल क... वस्तु ग्रहण करके उसको दूसरे करण आयतन [१४२७] के अनुसार अग्नि जल आदि

के संस्कार देकर आहार के योग्य बनाते हैं, जो पदार्थ केवल अग्नि के ही संस्कार से बनाया जाता है, और जल जिस में किञ्चिन्मात्र भी न पड़े वह पक्का, और निखरा है जैसा कि चर्वण [चबैना] क्योंकि वह चिरकाल तक नहीं बिगड़ता है, यदि कोई पदार्थ प्राकृत ही आर्द्र [सजल] है, जैसा कि नया तुरन्त का खेतसे उखाड़ा हुआ चना, मटरा मकी, आदि हरा अन्न आर्द्र होता है, वह भी केवल अग्नि से भुना हुआ बिगड़ता नहीं, क्योंकि यह नियम है कि, प्रकृति से किसी को बिगाड़ नहीं पहुंचता।

(१३३६) विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम्॥

सुश्रुत शारीर स्थान–

अर्थ-- विष से उत्पन्न हुआ कीड़ा जैसे विष से नहीं मरता है इसी प्रकार प्रकृति मनुष्य को बाधा नहीं कर सक्ती, अर्थात् नष्ट भृष्ट नहीं करती।

(१३३७) सं० यहां मनुष्य केवल उपलक्षण मात्र कहा है वास्तव में निज प्राकृत गुण किसी को हानि नहीं पहुंचा सक्ता। यहां उपरोक्त चणक आदि चर्वण में आर्द्रता प्राकृत है, इस कारण वे बिगड़ते नहीं।

(१३३८) और जिस वस्तु में प्राकृत [कुदरती] जल अधिक हो, और प्राकृत स्नेह [रोगन] न्यून हो वह भी पदार्थ अग्निका पकाया हुआ उसकी अपेक्षा कि जिसमें जल ऊपरसे पड़ा है, पक्का, और निखरा, है क्योंकि प्राकृत जल अपने सहवर्ती स्नेह को अपने से पहले अग्नि को नहीं खाने देता है, जैसा दूध का जल भाग जब सब फुक जाता है तब चिकनाई दिखाई देती है, इसी से केवल दुग्धपक्क भी दाल रोटी की अपेक्षा पका और निखरा है।

(१३३९) (प्रश्न) केवल अग्नि संस्कृत अर्थात् भुना अन्न निखरा कैसे है। क्यों-कि केवल अग्नि के संस्कार से तो अधिक रूखा और खरखरापन अन्न में हो जाता है।

(१३४०) (उत्तर) केवल अग्नि के संस्कार से जो वस्तु में प्राकृत स्नेह होता है वह उचित प्रमाण के संस्कार से नष्ट नहीं होता, यथावत् बना रहता है।

(१३४१) स्नेह और जल दोनों जहां मिले होंगे वहां अग्नि प्रथम जलको खाता है पीछे स्नेह को, इसकारण भुने अन्न में जलांश अल्पशेष वा निःशेष है, और प्राकृत

स्नेह का सर्वांश शेष ही है, इस से निखरा होता है।
(१३४२) यदि कोई कहे कि यव गोधूमादि अन्न तो शुष्क हैं इनमें स्नेह कहां, तो वह परीक्षा करके देखले, पाताल यन्त्र से स्पष्ट सब अन्नों में से स्नेह प्रत्यक्ष निकल जाता है। वा लोहे के हथोड़े को वा किसी अन्य दवाव डालने वाली लोहे की वस्तु को अग्नि में तपा कर लोहे की पृष्ठ वाली अहिरन के ऊपर दबाने से अन्न तो जल जायगा, और स्नेह अहिरन पर लगा हुआ प्रत्यक्ष दीख पड़ेगा।
(१३४३) जिस अवस्था में जलांश नष्ट होकर अन्नका प्राकृत स्नेह किञ्चित् अग्नि से दग्ध होगा, उसी समय अन्न में दुर्गंध [चिड़ांद] आने लगेगी, और उसमें स्वाद तनिक भी न रहेगा, वह अखाद्य [जलगया] समझा जायगा।
(१३४४) और जो अन्न जल डाल कर अग्नि से पकाया जाता है जैसा कि दाल रोटी आदि में, उस अन्न के प्राकृत स्नेह को तो अग्नि और जलका संयोग पृथक् कर देता है, और वह स्नेह वाष्प के साथ उड़ जाता है, इसको किसी अर्क वा इत्र खिचने के समय प्रत्यक्ष देखलो, (१३४५) यदि ऊपर से भी जल मिले अन्न में स्नेह डाला जाय तो उसके अवयवों में घुसा जल स्नेह को नहीं घुसने देता, जब जिस का प्राकृत अवयवी स्नेह वाष्प के साथ निकल गया और ऊपर का डाला उसके अवयवों में घुसा नहीं तो वह आहारान्न विना स्नेह नहीं ठहर सकता। इस से शीघ्र विकृत होने के और रूक्ष होने के कारण उक्त प्रकार का अन्न कच्चा और सखरा कहलाता है। क्योंकि प्रायः वस्तुओं में स्नेह ही चिरस्थायक और न बिगड़ने देने वाला है।
(१३४६) जो पदार्थ स्नेह में प्रविष्ट हुए आग्निसे अर्थात् तपे घृत वा तैल में सेका जाता है और वह यथेष्ट स्नेह को पीकर परिपाक को पहुंचता है, वह भी पक्का भोजन पकान्न [पकवान] कहाता है जैसे पूरी, कचौरी, घेवर, खजला, मट्ठर, आदि इन में से जिसमें जितना जलांश अधिक होगा और स्नेहांश न्यून होगा उसमें उतना ही अधिक कच्चापन है। और जिन में जलांश न्यून और स्नेहांश अधिक होगा वह उतना ही अधिक पक्का समझा जायगा।
(१३४७) यह प्राकृत नियम प्रत्यक्ष है कि जल के साथ घुसा अग्नि तो प्रथम अन्न के प्राकृत स्नेहको, फिर जलको, पीछे अन्नको नष्ट करता है। (१३४८) और स्नेह में घुसा अग्नि प्रथम अन्न के जल को, फिर अन्न को, पीछे स्नेह को, नष्ट करता है।
(१३४९) और दुग्ध में प्रविष्ट हुआ अग्नि प्रथम जल को, पीछे दूध में स्थित द्रव्य को, वा दौग्धिक द्रव्य को, और सब से पीछे स्नेह को, नष्ट करता है।

(१३५०) बस अब इस उपरोक्त विचार से यह प्रत्यक्ष सिद्ध होगया कि आहार के योग्य सिद्ध होने की अवस्था तक जिस वस्तु का प्राकृत स्नेह नष्ट होना सिद्ध न हो वह पक्का, वा पक्वान्न, निख्खर, [निखरा] है इस के विपरीत कच्चा।

(१३५१) सं० जो पक्का होताहै वह गुरु [भारी] बाहर और पेट में भी विलम्बसे विकृत होता है। और जो कच्चा [सखरा] है, वह लघु [हलका] बाहर और पेट में शीघ्र गलने वाला होता है। (१३५२) जिस द्रव्य में लघु गुण प्राकृत होताहै वा अग्न्यादि संस्कार से होजाता है। उसकी आयु थोड़ी होती है, क्योंकि लघु में वायु और अग्नि तत्व विशेष होता है। और गुरु में पृथिवी और सोम [स्नेहादिक] गुण अधिक होता है। देखो चरक सूत्रस्थान अ० ॥ ५॥

(१३५३) लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वग्निबहुलानि भवन्ति। पृथिवीसोमगुणबहुलानीतराणि। तस्मात्स्वल्पगुणादपि लघून्यग्निसन्धुक्षणस्वभावा न्यल्पदोषाणि चोच्यन्ते अपि सौहित्योपयुक्तानि गुरूणि पुनर्नाग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यसामान्या दतश्चाति मात्रन्दोषवन्ति सौहित्योपयुक्तानि अन्यत्र व्यायामाग्निबलात्॥

अर्थ– वायु और अग्नि तत्व के अधिक गुण वाले ही द्रव्य लघु। और पृथ्वी तत्व और सोम [जलात्मक द्रवादि सौम्य] गुण विशिष्ट द्रव्य गुरु होते हैं। इस से अपने गुण से लघुद्रव्य अग्नि को धोंकने के स्वभाव वाले अर्थात् प्रज्वलित करने वाले होते हैं ये इच्छा पूर्वक पेट भरके भोजन कियेभी अल्प दोषजनक हैं, और गुरुपदार्थ अग्नि के असमान होने से अग्नि को धोंकने वाले नहीं होतें, ये व्यायाम करने वाले, और विशेष अग्नि वाले के अतिरिक्त अति भोजन किये हुए दोषकारक होते हैं।

(१३५४) गुरु लाघव चिन्तेयं स्वभाव न्नातिवर्त्तते।
तथा संस्कार मात्रं नकाला श्राप्युत्तरोत्तरम्॥
मन्दकर्मानलारोग्याः सुकुमाराः सुखोचिताः।

जन्तवो येतु तेषांहि चिन्तेय म्परिकीत्तिता ॥
बलिनः खरभक्ष्या ये येच दीप्ताग्नयो नराः ।
कर्मनित्याश्च ये तेषा न्नावश्य म्परिकीर्त्यते ॥

सु० सू० अ० ४६

अर्थ– यह गुरु लाघव विचार इस प्रकार है कि कोई द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता तथा सँस्कार मात्रा और काल इनके भी द्रव्य में प्राप्त हुए उत्तरोत्तर गुण नष्ट नहीं होते ।

संस्कार गुरु का उदाहरण– जैसे व्रीहि गुरु हैं येही संस्कार से खील हुए लघु हैं । शाली लघु है, संस्कार से उसी की पिट्ठी गुरु है ॥

मात्रागुरु का उदाहरण - जैसे गुरु भोजन की आधी मात्रा, लघु की पूरी मात्रा, समान फल देती हैं; बने हुए आहार का उदाहरण-मण्ड, पेया, विलेपी, भक्त, पूपादि उत्तरोत्तर गुरु और यथापूर्व लघु हैं, । कालकृत गुरु लघु का उदाहरण जैसे-नवीन धान्य अभिष्यंदि और संवत्सर का बसा हुआ धान्य लघु होता है । यह गुरु लाघव चिन्ता पुरुष की विशेषता का भी आश्रय लेती है । उदाहरण - थोड़ा काम करने वाले आलसी, मन्दाग्नि वाले, रोगी, सुकुमार, [कोमल शरीर] और सुखिया पुरुष, गुरु और लघु के विचार योग्य हैं । और जो बलवान् आरोग्य हैं, खर [१३३४] भक्ष्य [रूक्षाहारी] हैं, जो दीप्ताग्नि हैं, और काम [व्यायाम] नित्य करते हैं, उन पुरुषों के लिये गुरु लघु विचार चिन्तन करना आवश्यक नहीं ।

(१३५५) भोजन में उपादानकारण वस्तु- अन्न, जल, दूध, घी, तेल, मधुर, लवण, इत्यादि मुख्य हैं । साधारणकारण - महानस, पात्र, अग्नि. इन्धनादि । निमित्तकारण पाचक, भोक्ता ॥ इन में से अन्न के गुण प्रायः वर्णन किये गये, (१३५६) जल के गुण- गुरु शीत, रूक्ष, मन्द, सर. मृदु, सूक्ष्म, और द्रव ये हैं। (१३५७) दूध में गुरु, शीत स्निग्ध, मन्द, सर, मृदु, श्लक्ष्ण; और सान्द्र ये गुण हैं । (१३५८) घृत में लघु, शीत, स्निग्ध, मन्द, सर, मृदु. श्लक्ष्ण, सूक्ष्म, सान्द्र, ये गुण है, (१३५९) तेल में लघु, उष्ण, स्निग्ध, मन्द, सर, मृदु, पिच्छल, सूक्ष्म, और द्रव ये गुण हैं ।

(१३६०) इनमें रस किसी का व्यक्त, किसी का अव्यक्त है । किसी किसी में नैमित्तिक गुण भी होते हैं, जैसे जलमें कठिनत्व, घृत में द्रवत्व, तेलमें सान्द्रत्व, (१३६१) ये उपरोक्त गुणादि बातें उक्त वस्तुओं में प्रत्यक्ष हैं, इसकारण किसी प्रमाण की वि-

शेष आवश्यकता नहीं।

(१३६२) अब विचार यहां यह कर्तव्य है कि वह कौन से गुण वाला पदार्थ है, कि जो दूसरी वस्तु को वा दूसरी वस्तु के अवयव को अपने में अवकाश दे आपे में मिला लेता है, वा दूसरे में मिलकर घुस जाता है. वा दूसरे के किसी अंश को किसी से छुड़ाकर आपे में भर कर अपने साथ कर लेता है। ऐसा नित्य आवश्यकीय कर्म करने में प्रत्यक्ष हुआ द्रव गुण है यह द्रव गुण विशेषता से जल में है, अन्य में नहीं (१३६३) यद्यपि तेल में भी द्रवत्व है, परन्तु स्निग्ध गुण स्वभाव से ही अधिक है, जैसा कि जल में रूक्षत्व द्रवत्व, (१३६४) वह [तेल] अपने समान स्निग्ध गुण वाले में घुस जाता है वा उसे घुसालेता है जैसाकि घृत को। और अपने विपरीत रूक्ष और गुरु गुण वाले को स्नेह आपे में नहीं घुसने देता, जैसे कि जल को। (१३६५) तैलादि स्नेह में और जल में सूक्ष्म गुण भी है, इससे ये किञ्चित् मात्र भी अवकाश पाते हैं तो दूसरे पदार्थ में घुसजाते हैं. परन्तु जल को छोड़ कर स्नेह अपने से भिन्न को अपने में नहीं घुसने देता है।

(१३६६) जिस पदार्थ में उक्त स्नेह अच्छे प्रकार घुस जाते हैं वा जो पदार्थ स्नेह में डुबोदिये जाते हैं वे शीघ्र बिगडने वाले भी हों, तब भी शीघ्र नहीं बिगड़ते। देखो आम आदि के अचारों को, यद्यपि मृदुगुण युक्त आम्रादि सार्द्र भौतिक होते हैं, क्योंकि प्रायः सार्द्रीभूत भौतिक पदार्थों में सूर्य्याग्नि, और वायु वा तद्गत धनञ्जय वायु, प्रतिक्षण उनको अधिक अधिक विकृत करके कृमि उत्पन्न कर नष्ट भ्रष्ट करते है ! तथापि स्नेह उसे नहीं बिगड़ने देता। (१३६७) स्नेहों में स्थिर गुण भी है अर्थात् स्थायी [ठहराये रखने का] गुण है, जहां स्नेह होता है वहां वायु को अवकाश नहीं मिलता, विशेष करके तेल में, क्योंकि तेल में एक वायु विपरीत उष्ण गुण भी है, वह घृतमें नहीं है, इसकारण तेल में पड़ी वस्तु वा तेल जिस में पड़ा हो, वा तेल में सिके पदार्थ, घृत के पड़े वा सिकों की अपेक्षा देरसे विकृत होते हैं।

वायु के गुण

(१३६८) रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोथ विशदः खरः।
विपरीत गुणै द्रव्यै मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥

चरक सूत्र० अ० १ ॥

अर्थ-- मारुत नाम वायु स्वभाव से रूखा, ठण्डा, लघु, सूक्ष्म, अस्थिर, विशद [बिखरा] और खरखरा है। इन गुणों से विपरीत गुणवाली द्रव्य से शान्त अर्थात शमन होता है।

(१३६९) पकवान में वायु से विपरीत गुण होने से वायु उसको शीघ्र बिगाड़ने में असमर्थ है, इससे पकवान अपने असमान और निकटवर्तिनी जाति के स्पर्शसे वा साधारण देश वा वायु आदि के सामान्य दोषसे दूषित हुआ नहीं माना जाता है। और स्थानान्तर में भी लेजाकर इसी कारण से खालेते हैं, परन्तु ऐसा सखरे [कच्चे] के खानेका व्यवहार नहीं है, क्योंकि स्नेहगर्भाभाव से दूसरे के निंद्य परमाणुओं का प्रभाव उसके देखने और हस्तस्पर्श आदि से उसमें घुस जाना सम्भव है, उनसे उसके भोक्ताकी कुलप्रसक्ता प्रकृति [४८] बिगड़ती है, इससे कच्चे [१३३०] भोजनों के लिये पाचक का, देशका, वस्त्रका, और स्पर्शादि का, विशेष विचार करना अत्यावश्यकीय है, ॥ (१३७०) कच्चे भोजन में पाचकादि की अशुचि से यदि न बचै तो वायु अपने समान गुणवाले पदार्थ में अपने सूक्ष्म, चल, योगवाही [१३७८] और उद्ग्राहक गुण से पचाने, सड़ाने, गलाने, दुर्गन्धित करने आदि ऊष्मा के गुणोंको ले उसमें घुस कर उसे विकृत कर देता है' इससे दूषित वायु के परमाणुओं से व्याप्त देश, वा जाति, वा व्यक्ति, वा वृत्ति, वा रोग, वा पसीना युक्त मलिन वस्त्रादि का बिगड़ा वायु, स्नेहरूप बिना ड्योढी वान् के कच्चे सखरे और रूक्ष भोजन में अव्याहत घुसकर शीघ्र भोजन को विकृत कर देता है, उस भोजन के करनेवाले की मेधा नष्ट हो जाती है। इसीसे सुश्रुत चि० अ० २४ में स्नेहहीन भोजन करना निषिद्ध कहा है-

(१३७१) न भुञ्जीतो द्धृतस्नेहम्।

अर्थ- जिसका स्नेह [चिकनाहट] हरा गया हो उसे न खावे। तथा इसको [१४३७] पर देखो। इसीसे भगवद्गीता में विकृत भोजन को अमेध्य लिखा है कि-

(१३७२) यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यम्भोजनन्तामसप्रियम्॥

अर्थ- जिस भोजन को बने एक प्रहर बीत गया हो, जिसका रस बिगड़ गयाहो, जो

दुर्गन्धि से दूषित हो वा दुर्गन्धि युक्त हो, और जो बासी हो, तथा जो जूठा है ऐसा भोजन अमेध्य अपवित्र है। अथवा मेधाके लिये अहित है। यह तमो गुणी कर्म करनेवालों को रुचता है. ऐसे भोजन के खाने वाले निन्द्य हो जाते हैं।

जल ग्रहण विचार

(१३७३) जल में द्रव गुण विशेष है, यह हस्त पात्रादि में घुसे मलिनांश को अपने आपे में घुसा अपने साथ बहालाता है, इस कारण अपने वा अन्य के स्वच्छ हस्त पात्रादि से ही जल ग्रहण करना चाहिये।

यथोक्त अरके

(१३७४) शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुण दोष प्रवृत्तये।
पात्रापेक्षी ण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत्॥

च० सू० अ० ६

अर्थ- (शस्त्रम्) मुक्तामुक्त भेद से दोनों प्रकार के शस्त्र [हथियार] (शास्त्राणि) शासकग्रन्थ, और (सलिलम) जल ये (पात्रापेक्षीणि) अपने धारण करने वाले पात्र, सुपात्र कुपात्रानुसार (गुणदोष प्रवृत्तये) शुभ वा अशुभ फल देने के लिये होते हैं। (अतः) इस कारण से (चिकित्सार्थम्) त्रैकालिक [शारीरिक मानसिक और स्वाभाविक] रोग शमनार्थ (प्रज्ञाम्) सदसद्विवेकात्मिका बुद्धि को (विशोधयेत्) संभाले रहै अर्थात् प्रज्ञापराधी न बनै। जैसे शस्त्र सज्जन शूरवीर पुरुष के हाथ में होगा तो दुःखितों की रक्षा करैगा, और जो दुष्ट के हाथ में होगा तो निरपराधियों का बध करैगा। इसी प्रकार शास्त्रोपदेश यदि बुद्धिमान् सत्पुरुष के मुख से होगा तो संसार को सुख पहुंचावेगा और यदि दुष्ट पक्षपाती के मुख से होगा तो संसार को दुःखप्रद होगा। इसी प्रकार जल भी अशुद्ध मनुष्य वा पात्र हस्त आदि से लिया दिया हुआ रोग कारक वा मारक होगा। और सज्जन मनुष्य और शुद्ध हस्त पात्रादि से लिया दिया हुआ सद्गुणदायी, अग्लानिकर, निर्मल करने और प्यास बुझाने वाला होता है।

पञ्चतन्त्र में भी लिखाहै कि-

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं सलिलं वीणा च नारी च।
पुरुष विशेषं प्राप्य भवन्ति योग्या अयोग्या श्च॥

अर्थ-- घोड़ा, शस्त्र शास्त्र, जल और वीणा. [वाद्य विशेष] और स्त्री, ये पुरुष के गुणावगुण का संग पाकर योग्य और अयोग्य होते हैं ॥ अर्थात् भले के हाथ में पहुंचे भले, और बुरे के हाथ में पहुँचे बुरे होते हैं ॥ इस उक्त निर्द्धारण से जल के ग्रहण में अवश्य विवेक कर्तव्य है ॥,

अब आगे गुड़, बूरा, और मिसरी के पगे पदार्थों का विचार

(१३७६) जो इक्षु रस के बने गुड़ आदि मधुर पदार्थ गुरु, पिच्छिल, स्थिर, मृदु, मन्द, स्निग्ध और उष्ण गुण युक्त हैं ये वायु के विपरीत भाववाले प्रत्यक्ष हैं, इन में भी वायु किसी के अवगुणों को लेकर घुसने का अवकाश नहीं पाता है, और जो कुछ मल स्थूल रूप खांड़ आदि में गिर भी जाता है तो चासनी करने के समय अग्नि उस के सब मलिनांशों को उस की मैली में फेंक देता है जैसे घी के तप्त होने से स्नेह वस्तु के अतिरिक्त उस मेंसे अन्य सब पृथक् हो जाते हैं, घी वा तेल में सिका, और बूरे आदि की चासनी में पगा, भोज्य पदार्थ पूरी कचौरियों से भी पक्का चिरस्थायी हो जाता है,

(१३७७) वायु में एक सूक्ष्म गुण भी है । इस कारण अपने विपरीत गुण वाले के अतिरिक्त सर्वत्र इस का प्रवेश है ।

वायु में एक योगवाही भी गुण है । जैसा कि आयुर्वेद में कहा है ।

(१३७८) योगवाहः परं वायुः संयोगा दुभयार्थकृत् ।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात् ॥

च० चि० अ ३

अर्थ- वायु अतिशय योगवाही अर्थात् जैसा इस को संयोग मिलता है वैसा ही गुणधारी बन जाता है, जब उष्ण के साथ मिलता है तब ऊष्मा करता है, शीत के साथ से ठण्ड करता है इस प्रकार शीत और उष्ण दोनों के अर्थ को करता है ।

(१३७९) यह प्रत्यक्ष भी है कि सुगन्धित पदार्थ के योग से सुगन्धित और दुर्गन्धित के योग से दुर्गन्धित उष्ण के योग से उष्ण और शीतल पदार्थ के योग से शीतल हो जाता है । इस से जहां वायु जाता है वहां अपने और अपने साथ गये हुए के गुणावगुण अवश्य अपने गम्य देश में पहुंचा देता है, इस कारण भोज्य वस्तु, भोजना-

लय, और भोक्ता को वायु दूषक कारणों से अवश्य बचाया जावै।
(१३८०) यह आर्यावर्त देश विशेषता से उष्ण प्रायः है इसी कारण इस देश में स्पार्शिक [छूत छात का] दोष पहले ही से अन्य देशों की अपेक्षा विशेष चला आता है और इसके अन्तर्गत भी जिस प्रान्त में अधिक गर्मी पड़ती है, उस प्रान्त में एक दूसरे का स्पार्शिक [छूत छात का] दोष बहुत ही माना जाता है, जैसाकि पूर्व के देशों में उससे न्यून मध्य देश में उससे न्यून पश्चिमीय देशों में है। यद्यपि पूर्वीय देशों में आहार विहार बहुधा भ्रष्ट प्रचलित हो गये हैं। जैसे कि मांसाहार करना और जिस जलाशय में स्नान करैं उसी में थूकें तथा मूत्रोत्सर्ग तक भी कर देते है. इनमें मांस के दोष तो अत्यन्त सूचित किये हैं, स्नानादि के विषय में भी यह भ्रष्टाचार पूरा है। मनु में कहा है कि—

(१३८१) नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यालिप्त मन्यद्वा लोहितंवा विषाणिवा॥

अर्थ—जलों में मूत्र वा विष्ठा थूक, खकार वा नासामल, अथवा और कोई उक्त मूत्रादि से अपवित्र हुआ वस्त्रादि तथा रुधिर. सींग. आदि वस्तु न डालना चाहियें॥
(१०८२) इत्यादि देशदूषक भ्रष्टाचार हैं. तथापि स्पार्शिक दोष मानने का अभ्यास अभी तक भोजन प्रक्रिया में वहां परम्परा गत है। परन्तु इस विवेक से नहीं है कि अन्य देशों की अपेक्षा हमारा देश उष्ण है यहां सूर्य की खरतर किरणें विशेष पड़ती हैं. इस देश के सार को विशेष खैंचती है, यहां निःसार होने पर सब पदार्थों में विकृतिभाव [सड़ाव] होता है, दुर्गन्धि उठती है, फिर उनके दुष्ट हुए परमाणु वायु में घुसकर एक से दूसरे पर अपने प्रभाव को शीघ्र करते हैं (१३८३) इस दूषित वायु के शरीर में वा आहार में प्रवेश न होने के लिये ही विद्वानों ने अपने वा अपने के वा आचारादि का अपनापन जिसमें अधिक हो उसके हाथ का भोजन करना कहा (१३८४) तथा नित्य स्नान नित्य के धुले वस्त्र पहने हुए ही भोजन बनाना [१४१४] खाना और वह उपाय करना कि जिस से मैले पसीनों के दुर्गन्धित वस्त्र पहरे हुए ही खाने की प्रथा वा बान न पड़ जावै और अपने समानाचार करने वाले के पास भोजन करने को बैठना वा दूसरे ऐसे ही को अपने पास बिठाना और पवित्रता रखने के कर्म और साधन ऐसे साधारण नियत किये कि जिनको सर्व साधारण मनुष्य भी करने की शक्ति वाले सर्वदा हो सकैं जैसे कि इस देश के द्विजों में थे और अभीतक सर्वथा नष्ट भी नहीं हुए जैसे कि स्थान को लीपना पोतना,

वा नित्यप्रति भोजन स्थान का धोना, कुशासन पर बैठना और पत्तलों पर भोजन रख कर भोजन करना इत्यादि आचार को शुद्ध समझना। तथा मिट्टी के पात्र भी नित्य नवीन भोजन करने खाने के लिये अत्यन्त शुद्ध और आरोग्यकर माने हैं। (प्रश्न) कौन २ वस्त्र पहरकर भोजन करलेना चाहिये, (उत्तर) आवश्यकीय [जरूरी] जैसे कि उर्ध्व परिधानीय [नाभि से ऊपर पहरने के- और अधः परिधानीय [नाभि के नीचे पहरने के] यथोचित वस्त्र। इन दोनों से कम नहीं, मनु० ४। श्लोक ४५ में कहा है कि— नाद्यान्मद्या देकवासा। एक वस्त्र पहरे हुए भोजन न करै। (प्रश्न) तो क्या सब पहरे ही करै? (उत्तर) नहीं, शिरके और पैरोंके वस्त्रादि अवश्य दूर करने चाहियै, क्योंकि चरणोंको तो धोकर और शिरको खोल कर इस देश के आचार में भोजन करने की आज्ञा है। यथामनु अ० ४। आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत। तथा सुश्रुत चि० अ० २४। नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो भुञ्जीत।

नच वेष्टितशिरा भुङ्क्ते। यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः॥
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥

मनु अ० ३

(१३८५) इस उक्त प्रकार [१३७८] दूषित वायु के शरीर में तथा आहार में प्रवेश न होने देनेके ही लिये पूर्वीय वङ्ग इत्यादि देशों के वासी तेल को मर्दन में, और भोजन में भी विशेषता से सदैव वर्तते हैं, (१३८६) इस स्पार्शिक दोष दूषित वायु के प्रवेश हो जाने के भय से ही मृतक संस्कार कर्ता के केश, डाढी, मोंछ, नखों का कटवाना. दाह क्रिया घृतादि चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से करना. शवस्पर्शी तथा शवानुयायी जनों का सचैल स्नान, निंबपत्रों का दशन, तथा यथोत्तर न्यून शौचाचार करने वाले ब्राह्मणादि वर्णों का यथोत्तर अधिक दिनों का आशौच स्मृति में वर्णन किया है, कि जो अभीतक कुछ २ प्रचलित भी था परन्तु अब नष्टप्राय होने लग गया। यह आचार देशानुपातिनी [४८+३] प्रकृति का संशोधक था. यह देशानुसार किया जाता था, इसी का नाम देशाचार है, जिस देश में उक्त वायु के दूषित होने के संचार का विचार नहीं किया जाता, उस देश के मनुष्यों की देशानुपातिनी प्रकृति बिगड़ जाती है, वे अनेक रोगाक्रान्त, कुरूप और निर्बुद्धि उत्पन्न होते हैं- फिर वे प्रज्ञापराध करते हैं, जो कि— सब अधर्मों का मूल कारण है॥ (१३८७) (प्रश्न) प्रज्ञापराध किसको कहते हैं। (उत्तर)

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्मयत् कुरुतेऽशुभम् ।
पज्ञापराधंतं विद्यात् सर्व दोष प्रकोपणम् ॥

अर्थ- एक बुद्धि [ज्ञानात्मिका अन्तःकरण शक्ति विशेष] अपने कर्म विशेष से ५ संज्ञाओं में विभक्त है, १ धी, [यथा वज्ज्ञानात्मिका बुद्धि] २ धृति, [इंद्रियों के अहित विषयों में जाते हुए मन को मर्यादा में रखने वाली धैर्यरूपा बुद्धि] ३ स्मृति, [यथावत् तत्व ज्ञान का स्मरण कराने वाली बुद्धि] ४ मेधा, [ग्रन्थ धारण शक्ति रूपा बुद्धि] ५ मति, [मनन कारिका चित्तवृत्तिविशेषा बुद्धि] इन पांचो बुद्धियों के मध्य धी, धृति और स्मृति इन तीनों के बिगड़ने से जो कर्म किया जाय वह सब दोषों का कोप कराने वाला प्रज्ञापराध जानों। इन में से पूर्व बुद्धि के बिगड़ने से नित्य में अनित्य, और अनित्य में नित्य, हित में अहित, और अहित मे हित समझता है, । द्वितीय धृति के नाश से विषयों में आशक्त हुआ मन अहित अर्थों से रुक नहीं सक्ता। तृतीय स्मृति, यह रज और तम से आच्छादित होकर भ्रष्ट हुई कुछका कुछ अहित स्मरण करती है । इन उक्त तीनों बुद्धियों के बिगड़ने से जो निंदित कर्म मनुष्य करता है उस को सब दोषों का अर्थात् तीन शारीरिक दोष— वात, पित्त, और कफ- और दो मानसिक दोष- रज- और तम, इन दोनों प्रकारके दोषों का कोप अर्थात बिगाड़ कराने वाला प्रज्ञापराध कहाता है।

प्रज्ञापराध कर्मों के उपलक्षणमात्र उदाहरण,

अनुदीर्ण गतिमता मुदीर्णानाञ्च निग्रहः ।
सेवनं साहसाना ञ्च नारीणा ञ्चातिसेवनम् ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्म्मणाम् ।
विनयाचार लोपश्च पूज्याना ञ्चाभिधर्षणम् ॥
ज्ञातानां स्वयमर्थाना महितानां निषेवणम् ।
परमौन्मादिकानाञ्च प्रत्ययाना न्निषेवणम् ॥
अकालादेश सञ्चारो मैत्री संक्लिष्ट कर्मभिः ।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ॥

यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोह समुत्थितम् ।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥
बुद्ध्या विषम विज्ञानं विषमञ्च प्रवर्तनम् ।
प्रज्ञापराधं जानीया न्मनसो गोचरं हितत् ॥

च० शा० अ० १ ।

ये भूत विष वाय्वग्नि संप्रहारादि सम्भवाः ।
नृणा मागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति ॥
ईर्षा शोक भय क्रोध मान द्वेषादयश्च ये ।
मनोविकारा स्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥

च० सू० अ० ८

अर्थ– अनुपस्थित वेगों का निकालना, और उपस्थितों का रोकना, साहस [अनैतिक कर्मों] का सेवन [इस्तैमाल] करना, स्त्रियों को अधिक भोगना, काम के समय को बहुत सा गमा दैना, निष्फल कर्मों का प्रारम्भ करना, शिक्षा और आचारों का लोप करना, और पूज्यों [माता, पिता, गुरु, आदि पूजनीय जनों] का अनादर करना, अपने जाने हुए अहित अर्थों का पुनर्वार वर्त्ताव. और विशेष कर बावला करने वाले [भांग, गांझा, सुलफा. मद्य, चंडू, मदक, धतूरा सदृश] हेतुओं का सेवन, और कुसमय और कुदेश में मार्ग चलना, दुखदायी दुष्ट कर्म करने वालों के साथ मित्रता, इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय के कहे सद्वृत्त [सदाचार] का छोड़ना । और भी जो रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न हुए ऐसे ही कर्म हों उन को आप्तजन रोगों का हेतु प्रज्ञापराध कहते हैं ॥ इसका भावार्थ यह है कि बुद्धि से कुछ का कुछ समझलैना और मनसे इंद्रियों के विषयों का अनुचित वर्तना यह प्रज्ञापराध जानों क्योंकि वह मन को प्रत्यक्ष किया गया होताहै ॥ तथा पिशाच श्वान शृगालादि दुष्ट जीव, विष दूषित विकृत वायु, भौतिकाग्नि, और चोट आदि से पैदा हुए आगन्तुक रोगों में भी बुद्धि ही बिगड़ती है ॥ तथा ईर्ष्यादि मन के रोगों में भी प्रज्ञा ही बिगड़ती है ॥

उक्त प्रज्ञापराधके विषय में जो चरकोक्त इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय के सदाचार का छोड़ना प्रज्ञापराध बताया है, उस का लिखना आवश्यक था, परन्तु वह विस्तार भय से

यहां उद्धृत नहीं किया उस को चरक के पुस्तक में ही सविस्तर पढ़ें. विचारें, सुनें समझें। वह सब के कर्तव्य कर्मों की शिक्षा का पूरा भंडार अवश्य देखने योग्य है ॥

सङ्क्रामक रोगों के हेतु और उनके नाम ।

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शा न्निःश्वासा त्सहभोजनात् ।
सहशय्या सनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच ।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

अर्थ– मैथुन करने से, स्त्रीके रोग पुरुषको, और पुरुष के रोग स्त्रीको, शरीर से शरीर मिलने से, दूसरे के मुख की सांस मुख में पहुंचने से, सङ्ग खाने से, एकत्र सोने और बैठने से, दूसरे के मैल पसीना युक्त वस्त्र माला आभूषणादि के धारण करने से, दूसरे का लगा हुआ चन्दनादि लगाने से १८ कुष्ठ के रोगों में से कोईसा कुष्ठ का रोग, ज्वर, खई का रोग, आंखोंका दूखना, और (औपसर्गिक रोगाः) महामारी के सांसर्गिक रोग जैसे कि विशूचिका, शीतला, विसर्प, वा ग्रन्थिविसर्प [प्लेग] आदि स्पार्शिक दोष से हुए रोग, ये उक्त प्रसङ्गादि हेतुओंसे एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर चढ़ जाते हैं इसी कारण से लिखा है कि–

(१३८८) उपानहौच वासश्च धृत मन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीत मलंकारं स्रजं करक मेवच ॥

मनु अ० ४ ।

अर्थ– जूते, कपडे, यज्ञोपवीत, आभूषण तथा पुष्पों की माला, कमण्डलु ये उक्त वस्तु दूसरे की पहरी ओढ़ी हुई धारण न करै ॥

(१३८९) इस से स्पार्शिकादि दोष दूषित आहार विहारों से और इन के होने के हेतुओं से सर्वथा सर्वदा बचना उचित है । यदि अपने और दूसरों के प्राणों की कुशल चाहैतो, क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय को सर्व शरीर में व्यापकता है [१५७५] इस से स्पार्शिक [छूत छात] का विवेक आवश्यकीय है (१३९०) महर्षियों ने नीच अपवित्र आहारादि करने वालों का दृष्टिदोष, और पाङ्क्तदोष तक माना है, भला स्पर्शदोष क्योंनहीं

माना जाय, वहतो अवश्य ही मानना पड़ैगा ॥

भोजने दृष्टि दोषः

(१३६१) दीनहीनक्षुधार्त्तानां पापिपाषण्डरोगिणाम्
कुक्कुटादि शुनो दृष्टि र्भोजने नैव शोभना ॥

भाव प्रकाशः ॥

अर्थ- अति शोकार्त, निन्द्यकर्मा, भूखा, पापी, दम्भी, रोगी, मुर्गा आदि; इसी के तुल्य मलिन आहार करने वाले, और कुत्ता इनकी दृष्टि भोजन की ओर पड़ीहुई शुभ नहीं। इसी कारण से मनु० अ० २ में कहा है कि-

(१३६२) नोच्छिष्टं कस्य चिद्दद्या न्नचैवाद्या त्तथान्तरा।
नचैवाध्यशनं कुर्य्या न्नचोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥

अर्थ- जूंठा किसीको नदे, तथा किन्हींके बीच में बैठकर भोजन न करै, और अशन [भोजन] के (अधि) ऊपर भोजन न करै, और उच्छिष्ट मुख कहीं को जावै नहीं ॥

दृष्टि दोष में वैदिक प्रमाण

(१३६३) पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घ जिह्व्यम् ॥

साम० छन्द आ० अ० ५। द० १। मं० १ ॥

पदानि- पुरोजिती। वः। अन्धसः। सुताय। मादयित्नवे। अप। श्वानम्। श्नथिष्टन सखायः। दीर्घ जिह्व्यम् ॥

सान्वय भाष्य- हे (सखायः) सुहृद् जनहौ (वः) तुम्हारे (मादयित्नवे) हर्षदायक होने के (पुरोजिती) आगे जय करानेके लिये (सुताय) सिद्ध हुए (अन्धसः) तृप्ति के कारण अन्न से (दीर्घजिह्व्यम्) लम्बी जीभ वाले (श्वानम्) कुत्ते को (अपश्नथिष्टन) दूर ठहराओ ॥ **तथा च मनुः**

(१३६४) चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैवच।

रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥
घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षपातेन कुक्कुटः ।
श्वा तु दृष्टि निपातेन स्पर्शेणा वरवर्णजः ॥
(मनु० अ० ३ श्लोक २३९)

अर्थ– चाण्डाल [भङ्गी] और शूकर और मुर्ग, कुत्ता, रजस्वला स्त्री, हिजड़ा ये भोजन करते हुए द्विजोंको न देखें । शूकर नासा से, मुर्ग पंखोंसे, श्वान दृष्टि के डालने से और शूद्र स्पर्शसे भोक्तव्यान्न को दूषित करता है ॥

शुभ दृष्टिः

पितृ मातृ सुहृद्वैद्य पाक कृद्धंस बर्हिणाम् ।
सारसस्य चकोरस्य नवानां दृष्टि रुत्तमा ॥

अर्थ– माता, पिता, मित्र, वैद्य, रसोइया, हंस, मयूर, सारस, और चकोर, इन नौ की दृष्टि भोजन पै पड़ी हुई उत्तम है ॥
बहुधा मनुष्यादि जीवों की दृष्टि में दो प्रकार का प्रभाव [असर] होता है. पहला अपने गुणावगुण को अपने दृश्य विषय में पहुँचा देना और दूसरा उस से आकर्षण कर लेना । देखो सुश्रुत शारीर स्थान अ० २–

ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेहन्यहत वासस मलङ्कृतां
कृत मङ्गल स्वस्ति वाचनां भर्तारं दर्शयेत् । तत् कस्य हेतो

पूर्व पश्ये दृतुस्नाता यादृशं नर मङ्गना ।
तादृशं जनयेत्पुत्र म्भर्तारं दर्शयेदतः ॥

अर्थ--रज प्रवाहकाल के दिवस बीतने पर चौथे दिन शुभ वस्त्रालंकार धारण और मङ्गलाचार स्वस्ति वाचन करी हुई स्त्री को नवीन वस्त्र धारण किये पति का दर्शन करावै । यह किस कारण से कि–
ऋतु से स्नान करने वाली स्त्री जैसे पुरुष को प्रथम ही देखती है वैसे ही पुत्र को

जाती है, इसी कारण पति का ही दर्शन वैद्य करावे ॥

ऋतु काल में स्त्री की दृष्टि में अपने दृश्य के गुणावगुण को आकर्षण कर लेने का प्रभाव हो जाता है ॥ मिस्मरेजम क्रिया में प्रायः दृष्टि द्वारा बहुत कुछ प्रभाव होता देखा और सुना गया है, इसी से दृष्टि का विचार अवश्य कर्तव्य है ॥ अब आगे विष परीक्षा में भी दृष्टि विषयक उदाहरण बुद्धिमन्त पुरुष विचार दृष्टि से देख सकेंगे तथा लौकिक जनश्रुति भी "नजर लग गई" ऐसी देखने सुनने में आती है तथा उपाय भी प्रचलित हो रहे हैं जैसा कि दृष्टि विषयक नई बनी हुई वस्तु में वा रूपवान बालक के माथे पर स्याही का चिन्ह लगा देते हैं, यह प्रथा अभी तक सर्वथा नष्ट नहीं हुई, अन्य भी बहुत सी बातें इस में यथा समय प्रचलित होती रही हैं,

भोजन विष परीक्षा

(१३९५) नृप भक्ता द्बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये ।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिका वायसादयः ॥
हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायेत ।
मयूर कण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च नचिराच्चोपशाम्यति ।
चकोरस्याक्षि वैराग्यं जायते क्षिप्रमेवतु ॥
दुष्टान्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः ।
कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति ।
हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुक शारिके ।
हंसः क्ष्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति ॥
पृषतो विसृजत्यश्रु विष्ठां मुञ्चति मर्कटः ।
सान्निकृष्टांस्ततः कुर्य्याद्राज्ञस्तान्मृगपक्षिणः ॥
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा ॥

सुश्रु० कल्प० अ० १ ॥

अर्थ—राज भोजन में से वलिवैश्वदेवोद्देश से दी हुई सविष अन्न की बलि को जो काक

मक्षिकादि जीव खाते हैं वे वहीं मरजाते हैं। और अग्नि उस सविषान्न की आहुतिसे अतिशय चटर चटर शब्द करता है, मोर के कण्ठ का सा उसका वर्ण और दुःसह होजाता है, फटी लपट तीक्ष्ण धूम होता है, और शीघ्र शान्त हो जाता है। यह सविषान्न की परीक्षा रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, और शब्द इन से तो कहदी, अब आगे अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष कराते हैं। विषान्न को देख कर चकोर पक्षी के नेत्र तुरन्त अरुण होजाते हैं, कोई २ राग रहित वैराग्य का अर्थ करते हैं, इसमें प्रत्यक्ष कर्त्तव्य है। जीव जीवक [घिरोरी] दूषित अन्न विषैले को देखकर मर जाती है कोकिल [कोयल] को स्वरभंग होजाता है क्रौंच [कुंज] मद [नशा] को पहुंचता है। मोर विषान्न को देख विह्वलहो प्रसन्न होता है। तोता और मैंना देख कर चिल्लाते हैं। हंस अत्यन्त शब्द करता है। और भृङ्गराज [भ्रमर] गूंजता है. चित्तलमृग अश्रुपात करता है, और बन्दर विषान्न को देखकर विष्ठा करदेता है॥ राजा इस कारण उक्त पशु पक्षियों को अपने स्थान की शोभाके और आत्मरक्षा के लिये सदा अपने पास रक्खै॥

(१३६६) विरोधी धर्म के आहाराचारों से बन कर दृढ हुई कुलप्रसक्ता प्रकृति वाले मनुष्यों का आहाराचारों में सहचार सहज नहीं हो सक्ता, वह प्रज्ञापराध से, वा भय से, वा बलात्कार से होता है, विशेषता से उन्हीं धर्म कर्मों के करने में कि जिनके करने से कुलप्रसक्ता प्रकृति विरोधिनी बनी है। उदाहरण—जैसा मांस भक्षक का, और मांस के देखने छूने में भी घृणा करने वाली प्रकृति वाले का। हिंसक प्रकृति वाले का, और रक्षक प्रकृति वाले का। सबके मल मूत्रादि उठाने के आजीवन वाले का और शुद्ध परम पवित्र दर्शस्पर्शजीवी प्रकृति वाले का। इत्यादि अनेक प्रकार विपरीत कुल प्रसक्ता प्रकृति के मनुष्यों का एकत्र करने खाने में यह कब सम्भव है कि, उनको अनिष्ट का लाभ और इष्ट का अलाभ न हो कि जो मानसिक रोगों के होने का प्रबल कारण है। देखो च० सू० अ० ११।

(१३६७) मानसः पुन रिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते।

अर्थ—और मन के [उन्मादापस्मारादि तथा क्रोध भय शोकादि] रोग, इष्ट [चैंहिते] के न मिलने से और अनिष्ट [न चैंहते] के मिलने से होता है। ये मन के रोग शारीरिक ज्वरादि रोगों के भी कारणीभूत हो उनको भी उत्पन्न कर देते है॥

(१३६८) वास्तव में कुलप्रसक्ता प्रकृति, मनमें वाणी में और शरीर में इन्द्रियों के विषयों के वर्तने वा न वर्तने का विशेषाभ्यास समाजाने का नाम है, यही मनुष्य का इष्ट

हो जाता है, उक्त मन आदि में समाये अर्थात् इष्टबने हुए पूर्वाभ्यास अर्थात् [पहली आदतों] का निकाल देना और नवीन का इन मन वाणी और शरीर में भरना सुगम बात नहीं, यदि होगा भी तो अनभ्यासाभ्यास के छोड़ने और ग्रहण करने के अत्यन्ताभ्यास से ही होगा ॥ (१३९९) इस उक्त विचार से यह सिद्ध हुआ कि अपने अभ्यस्त के प्रतिकूल अभ्यासी के हाथ की छुई वा करी आहार वस्तु के खाने करने में उक्त मानसिक और शारीरिक रोग अवश्य होता है, क्योंकि यह त्याद्विरुद्ध [१९६] हैं, (१४००) यदि किसी कारण से अपने अनिष्ट में इष्टत्व और इष्ट में अनिष्टत्व जी में समाजाय कि जिसको मिथ्याभिनिवेश कहते है कि जो मनका एक पाप है तो उक्त मानसिक रोग भी होते चाहें न सूझें, जैसा कि कोई द्विज ईसाई वा मुसलमान होकर अपने पहले अनिष्ट [लशुनादि गोमांसादि अभक्ष्यों] को इष्ट समझ कर खाने लगता है, उसे नहीं सूझते । परन्तु जो स्वस्थ वृत्ति का नाश लशुनादि के और आक्रम मांस के खाने में होता है, वह तो अवश्य ही होगा, और जहां इष्टानिष्ट का परिवर्तन काम क्रोध लोभ मोह बलात्कारादि रागादि मानसिक रोगों से होगा वह अस्थिर और अविश्वसनीय है, क्योंकि जब कभी मानसिक रोगों की शान्ति स्वतः ही वा उसके ज्ञानादि चिकित्सा से हो जाती है, तभी फिर ज्यों का त्यों हो जाता है,परन्तु प्रकृति में समाकर दृढ हुआ छुटना कठिन होता है, जैसे बलात्कारादि से मुसलमान हुए उक्त बलात्कारादि के अभाव में भी मांस लशुनादि अभक्ष्य पदार्थों का छोड़ना और वैदिक द्विजत्वाचरण करना स्वीकार सहज नहीं करते ॥

॥ इत्याहारानेकविषय वर्णने पञ्च पञ्चाशत्तमो विवेक. ॥ ५५ ॥

भोजन बनाने वालों का निर्णय

(१४०१) सं० (प्रश्न) भोजन बनाने वाले कौन और कैसे होने चाहियें, (उत्तर) (१४०२) आप, वा जहां तक हो सके अपने निकट सम्बन्धी, वा अपने समान उत्तम आहाराचार करने वाले अपने सजातीय, वा अपने से उत्तम वा समान आहाराचार करने वाले अपने से श्रेष्ठ उच्च जाति के, कच्चे अर्थात् सखरे भोजन के बनाने वाले होने

चाहियें, (१४०३) और पक्के अर्थात् निखरे भोजन के बनाने वाले ऊपर कहे सब, और अपने से निकट वर्तिनी अपने समान वा उत्तम आहाराचार करने वाली हीन जाति के भी हों तो कुछ दोष नहीं (१४०४) इस सबका मूल उद्देश यह है कि जहां तक बनें भोजन बनाने वालों में परायापन न हो, आप वा अपनापन अधिक हो ॥ (१४०५) सं० जिस में जितने अपनेपन के अधिक और निकट सम्बन्ध मिलैं वह उतना ही भोजन बनाने का अधिक अधिकारी है। उक्त विषय में पाराशरादि मुनियों की सम्मति–

(१४०६) पितु रन्तःपुरं दद्यान्मातु र्दद्या न्महानसम्।
गोषु चात्मसमं दद्या त्स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥

अर्थ–अपने पिता के अधिकार में (अन्तःपुरम्) अन्दर घर के प्रबन्ध दे, माता के अधिकार में रसोई का प्रबन्ध दे, गौओं के प्रबन्ध में भाई को वा भाई के समान को रक्खे, और खेती को देखने आदि के लिये स्वयं [खुद] जावै, ॥

(१४०७) यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशन्तुस्या त्तत्सेवेत यत्नतः ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्व मात्मवशंसुखम्।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

अर्थ– जो जो काम दूसरे के आधीन हों उन उन को जहां तक बने यत्न से छोड़ देवै। और जो जो अपने अधिकार में हों उन को यत्न से करें। पराये आधीन होने से ही सम्पूर्ण दुःख हैं और स्वाधीनता ही पूरा सुख है। यही सुख और दुःख का संक्षिप्त लक्षण है॥ "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" ॥ (१४०८) सं० कामों में भी काम कैसा कि जो सब को अत्यावश्यकीय और जिसके आधीन शारीरिक मानसिक और सामाजिक सब सुख दुःख जीवन और मरण हैं, भला उस के लिये पराये वश में होना कौन बुद्धिमत्ता है। (१४०९) सं० इस की पराधीनता के कारण अनेक विद्यासिन्धु राजेमहाराजे दुर्लभजन अकाल मृत्यु के पञ्जे में आगये सुने, और देखे भी, इससे भोजन बनना तो कदापि परायेपन में न

होना चाहिये, इस से इस के बनाने में सुशिक्षित होना मनुष्यमात्र को अत्या. वश्यकीय है, कि जिस से उत्तम आहार की लब्धि सदैव अपने हस्तगत रहे। (१४१०) सं० यदि किसी कारण अपने हाथ से करने का सुभीता न मिलै तो किसी अपने से कराना चाहिये। और इस भोजन कर्म में अपना वह समझा जायगा कि जिस के हाथ का बनाया हुआ भोजन अपने प्राणों के और कुल प्रसक्ता प्रकृति के अनुकूल हो। ऐसा पूर्वोक्त ही होगा अन्य नहीं। (१४११) और जो प्राण का और कुलप्रसक्ता प्रकृति के बिगाड़ का ध्यान न कर सर्वथा सर्वदा सब के हाथ का सब कुछ खालेता है, वह स्वात्मघाती [खुद कुशी करने वाला] अपराधी होता है, क्योंकि– उस को प्राण और कुलप्रसक्ता प्रकृति के बिगाड़ का अवश्य फल मिलता है। और जिन को कुलप्रसक्ता प्रकृति का ध्यान करना उचित नहीं, उन को उक्त प्रकार करने में कुछ बिगाड़ भी चिन्त्य नहीं जैसे कि अवधूत लोग। (प्रश्न) अवधूत किन को कहते हैं॥ (उत्तर)

(१४१२) यो विलंघ्या श्रमान् वर्णान् आत्मन्येवस्थितः पुमान्।
अति वर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते॥

अर्थ= जो पुरुष ब्रह्मचर्य्यादि आश्रम और ब्राह्मणादि वर्णों को त्याग कर परमात्मा के ही ध्यान में ठहरा, संसारी बन्धनों से मुक्त हुआ हो वह अतिवर्णाश्रमी, योगी, अवधूत कहाता है॥ पाक करने के अधिकारियों की सूचना में आश्वलायन,॥

(१४१३) समान प्रवरैर्मित्रैः सपिण्डैश्च गुणान्वितैः।
कृतोपकारिभिश्चैव पाककार्यं प्रशस्यते॥

अर्थ– अपने तुल्य, और अपने से श्रेष्ठ आहाराचार करने वाले मित्र, और जिन का उपकार किया गया हो ऐसे गुणवान् अपने सपिण्ड के पुरुष पाक कार्य करने वाले होने चाहियें॥

पाक करण संस्कार में आपस्तम्ब सम्मति

(१४१४) आर्याः प्रयता वैश्वदेवे ऽन्न संस्कर्तारः स्युः॥ १॥
भाषा काशं क्षवथु मित्यभिमुखो ऽन्नं वर्जयेत्॥ २॥

केशा नङ्गं वासश्चालभ्याप उपस्पृशेत् ॥ ३ ॥
आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः× संस्कर्तारः स्युः ॥ ४ ॥
तेषां स एवाचमनकल्पः ॥ ५ ॥ अधिकमहरहः
केशश्मश्रु लोमनख वापनम् ॥ ६ ॥ उदको-
पस्पर्शनञ्च सहवाससा ॥ ७ ॥ अपि वाष्टमी-
ष्वेव पर्वसु वा वपेरन् ॥ ८ ॥ परोक्ष मन्नं
संस्कृत्याद्भिः प्रोक्षयेत् तद्देव पवित्र मित्या
चक्षते ॥९॥ सिद्धेऽन्ने तिष्ठन् भूतामिति स्वा-
मिने प्रब्रूयात् ॥ १० ॥ तत्सुभूत विराडन्नं तन्मा
क्षायीति प्रतिवचनः ॥ ११ ॥ गृहमेधिनो-
र्यदर्शनीयस्य होमा बलयश्च स्वर्ग पुष्टि संयुक्तम्
॥ १२ ॥ आपस्तंब २ । प्र० ३ प० ॥

अर्थ- (आर्याः) ब्राह्मण ,क्षत्रिय, और वैश्य ये तीनों वर्ण (प्रयताः) स्नानादि शौचादि कर्मों के करने से शुद्ध हुए (वैश्वदेवे) अपने अपने घर गृहस्थ के खाने के निमित्त आप (अन्न संस्कर्तारः) भोजन के बनाने वाले (स्युः) होवें ॥ १ ॥ और पाक करने वाला (अन्नम्) अन्नकी ओर (अभिमुखः) मुखकरके (भाषम्) वार्तालाप (काशम्) खांसना (क्षवथुम्) छींकना (इति) इनको (वर्जयेत्) छोड़दे ॥ २ ॥ (च) और (केशान्) शिर के बालों को (अङ्गन्) शरीर को (वासः) वस्त्रों को (आपः) जल (आ- लभ्य) समन्तात् [खूब] लगाकर अर्थात् जल से विशेष शुद्ध करके (उपस्पृशेत्) स्नान करै ॥ ३ ॥ (वा) अथवा (आर्याधिष्ठिताः) * आर्यों के यहांके ही अर्थात् उन के घर के ही गुण कर्मानुसार शूद्रका अधिकार

× शूद्रा इति पाठान्तरम्

* अधि [समीपे] स्थिताः अधिष्ठिताः [अध्युषिताः] सान्निध्ये वर्तमानाः
आर्याणां [द्विजानाम्] अधिष्ठिताः आर्याधिष्ठिताः सूदाः ।

पाये हुए (शूद्राः) आर्यत्व के गुण और कर्मों से रहित पुरुष (संस्कर्तारः) भोजन बनाने वाले (स्युः) होवें ॥ ४ ॥ (तेषाम्) उन आर्य्यों के घर के सूदों का (आचमनकल्पः) आचमन करने का विधान (सः) वह (एव) ही है कि जो उस आर्य्य का है कि जिसका अन्न वह पकाता है ॥ ५ ॥ (अधिकम्) विशेष उक्त आर्यों से इतना ही है कि (अहरहः) प्रतिदिन (केश श्मश्रु लोम नख वापनम्) शिर के बाल डाढ़ी मोंछ नख कटवाना ॥ ६ ॥ (च) और (उदकस्पर्शनम्) जल का ग्रहण स्नान क्रिया (वाससा) वस्त्रों के (सह) साथ करना अर्थात् वस्त्रों को धोना ॥ ७ ॥ अब आगे केशादि मुंड़ाने का दूसरा पक्ष कहते हैं। (वा) अथवा (अष्टमीषु) अष्टमी तिथियों में (अपि) भी (वा) अथवा (पर्वसु) अमावास्या पूर्णमासी तिथियों में (एव) ही (वपेरन्) केशादि कटवावें ॥ ८ ॥ परोक्ष के बने अन्नको जल से छिड़कले उसको देवपवित्र कहते हैं ॥ ९ ॥ जब अन्न सिद्ध होजाय तब स्वामी से यह कहे कि भोजन बन गया ॥ १० ॥ स्वामी यह प्रत्युत्तर देवै कि वह सिद्ध हुआ अन्न विराट् भगवान् है वह कभी क्षय मत हो ॥ ११ ॥ गृहस्थ के भोक्तव्य अन्नका होम और बलिवैश्व सुख की पुष्टि करता है ॥ १२ ॥ इसीसे बलिवैश्वदेव और हवन की आज्ञा भोजन काल में सिद्ध है।

(प्रश्न) इस उक्त आपस्तम्बीय वाक्य में "आर्याधिष्ठिता शूद्रा, इस पद से स्पष्ट होताहै कि पाककार्य आर्योंको अपने यहां शूद्रों से कराना चाहिये तथा 'समानी प्रपा" इत्यादि अथर्व की ऋचाओं में भी ईश्वराज्ञा है कि मनुष्य मात्र भोजन पान इत्यादि सब में समान वनैं (उत्तर) उन ऋचाओं में कुटुम्बी जनों को आपस के खान पानादि में समान व्यवहार करने की ईश्वराज्ञा है। उन ऋचाओं का शुद्धार्थ निम्न लिखित प्रकार है।

अथर्व– कां० ३। स० ३०

(१४१५) सहृदयं सांमनस्य मविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्य मभि हर्यत वत्सं जात मिवाघ्न्याः ॥ १ ॥

अर्थ– (अघ्न्याः) गौका (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बच्चे को और बच्चे का गौको (अन्यो ऽन्यम्) परस्पर (अभिहर्यत) एक दूसरे को चाहने वाला प्रेम (इव) जैसा होता है ऐसा हे गृह में रहने वाले कुटुम्बि जनों ! (अविद्वेषम्) अप्रीति

नहो यथा तथा (वः) तुम्हारे (सहृदयम्) समान चित्तवृत्ति युक्त (सांमनस्यम्) समान ज्ञान हेतु रूप प्रेम भाव को मैं (कृणोमि) करता हूं ॥

प्रेमोत्पादक प्रकार

अनुव्रतः पितुः पुत्रोमात्राभवतु सम्मनाः ।
जाया पत्येमधुमतींवाचंवदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

अर्थ– (पुत्रः) तनय [बेटा] (पितुः) पिताका (अनुव्रतः) अनुकूलवर्त्ती और (मात्रा) माता के साथ पुत्र वा पुत्रादि के साथ माता, (सम्मनाः) समान मनस्का (भवतु) होवै ॥ (पत्ये) भर्ता के लिये (जाया) भार्या (मधुमतीं) मीठी (शान्तिवाम्) सुखयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) बोलै अर्थात् समान मनस्का [एक मन] होवै ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसार मुतस्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रताभूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

अर्थ–(भ्राता) सहोदर भाई (भ्रातरम्) भाई को (मा द्विक्षत्) अप्रिय (मा) न होवै, अर्थात् दायभागादि के कारण विरोध न करै । (उत) और (स्वसारम्) बहनको (स्वसा) बहनभी अप्रिय नहो । ये सब भाई आदि (सम्यञ्चः) समान बर्ताव वाले, (सव्रता) समानकर्मा (भूत्वा) होकर (भद्रया) कल्याणकारिणी निर्दोष अर्थात् अपारुष्य,सत्य, अपैशून्य और पूर्वापर के अविरोध से (वाचम्) वाणी को परस्पर (वदत) बोलैं ॥

येन देवा न वियन्ति नोच विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

सान्वय भाषार्थ-- (येन) जिस प्रियभाषणोपदेश से (देवाः) पूज्य जन (न) न(वियन्ति) बिगड़ें अर्थात् विरुद्धमति नहों, (च) और (मिथः) परस्पर (विद्विषते) विद्वेष (नो) न करें (इति) ऐसा (ब्रह्म) वर्द्धन रूप अर्थात् उन्नति कारक (तत्) वह (संज्ञानम्) समान ज्ञान का कारण (वः) तुम्हारे (गृहे) घरमें (पुरुषेभ्यः) मनुष्यों के लिये मैं (कृण्मः) करता हूं ॥

जायस्वन्त श्चित्तिनो मा वियौष्ठ संराधयन्तः
सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त
एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

सान्वय भाषार्थ- (ज्यायस्वन्तः) बड़प्पन के गुण युक्त बड़े छोटों के साथ और छोटे बड़ों के साथ अपने २ भाव से बर्तें, (चित्तिनः) समान चित्त वाले होकर (संराधयन्तः) समान संसिद्धि वाले (सधुराः) समान कार्यों की धुर के ले चलने वाले इस प्रकार चलते हुए तुम (मा) मत (वियौष्ठ) बिछुरो, अर्थात् पृथक् पृथक् न होवो, मिले रहो। (अन्यो अन्यस्मै) परस्पर एक दूसरे के लिये (वल्गु) शोभन प्रिय वाक्य (वदन्तः) भाषण करते हुए तुम (एत) रहो सहो जावो आवो,। मैं भी हे मनुष्यो (वः) तुम को (सध्रीचीनान्) सङ्ग २ कार्यों में प्रवृत्त हुओं को (संमनसः) समान मनवाले अर्थात् एकही विचारने करने वाले (कृणोमि) करता हूं ॥

समानी प्रपा सह वोन्न भागः समाने योक्त्रे सहवो
युनज्मि। सम्यञ्चोग्निं सपर्यता रानाभि मिवाभितः ॥ ६ ॥

सान्वय भाषार्थः-- हे सांमनस्य कर्म हो, एकता होने की कामना वाले कुटुम्बि जनों ! (वः) तुम्हारी (समानी) तुल्या अर्थात् एकसी सब के लिये समानोदक प्रदा (प्रपा) पानीयशाला होवे, और (अन्नभागः) अदनीय वस्तु विभाग भी (वः) तुम्हारा (सह) सदृश [एकसा] होवे, अर्थात् न्यूनाधिकत्व और अच्छे बुरेके भेद रहित सब का होवै, किसीको पूरी मात्रा, किसीको अधूरी किसी को सुस्वादु किसी को अस्वादु न दिया जावै, तदर्थ मैं (वः) तुम को (समाने) एक दूसरे का तुल्य हित करने वाले (योक्त्रे) स्नेहरूप एक पाश [बन्धन] में (सह) साथ (युनज्मि) जोड़ता हूं, (सम्यञ्च) एक फलके अर्थी हुए अर्थात् समान ज्ञानवन्त बने (अग्निम्) वद्युस्थित अग्नि . . . तार्थ (अभितः) चारों ओर से (नाभिम्) रथ के चक्र की नाभि [मध्य भाग . . .] के (अराः) चक्रावयव [अरा सलाई] (इव) जैसे लगे होते हैं वैसे बैठ कर (सपर्यत) पूजें ॥

सं० आपस्तम्ववचन[अङ्क १४१५]में भोजन पकाने वालेका मुण्डन कराने का कारण यह प्रतीत होता है कि उस का बाल कोई भोजन में टूटकर न गिरे कि जो दूषीविष का हेतु है तथा मैल लीक वा जूं बालों में न रहने पावै और बालों में कण्डू उत्पन्न नहो। इससे यह उपदेश निकलता है कि, चाहै स्त्री हो वा पुरुष सब को केशस्थली शुद्ध रखने का ध्यान रहै विशेष कर पाक बनाने वाले को। इसी से चरक इन्द्रियोपक्रमणीयाध्याय में लिखा है कि "प्रसाधित केशः" बालकङ्घा से कढ़े हुऐ रक्खै॥ तथाच मनुः "नच स्नायात् विना ततः' शिर के विना स्मान न करै॥

इति वैदिक प्राणैषणायाम् स्वस्थ वृत्यधिकारे आहारपाचक निर्णये षट्पञ्चाशत्तमो विवेकः॥ ५६॥

॥ रसोई का स्थान और उस के कर्मचारि वर्गों का निर्द्धारण॥

(१४१६) प्रशस्तदिग्देशकृतं शुचि भाण्ड म्महच्छुचिः।
सजालकं गवाक्षाढ्य मात्मवर्ग निषेवितम्॥
विकक्षसृष्ट संमृष्ट सवितानं कृतार्चनम्॥
परीक्षितस्त्री पुरुष म्भवेच्चापि महानसम्॥
सुश्रु० अ० ४६॥

अर्थ- रसोई का घर (प्रशस्तदिग्देशकृतम्) अच्छीदिशा [आग्नि कोण] और प्रशंसनीय [पाककरणार्ह गुण सम्पति युक्त] देश में बना हो (महत्) सङ्कुचित न हो, लम्बा चौड़ा (शुचिः) शुद्ध हो (सजालकम्) जालियों सहित (गवाक्षाढ्यम्) झरोकाओं से युक्त, (शुचिभाण्डम्) भोजन सिद्ध करने की सामग्री रक्खे रहने के लिये जिस में शुद्ध पात्र रहते हों। (विकक्षसृष्ट संसृष्टम्) घास फूंस से और फूंस के बने घरों से मिला न हो (सवितानम्) अग्निहोत्र करने के साधन कुण्ड आदि से युक्त,

वा सायेदार (कृतार्चनम्) अग्नि पूजन होते रहने वाला, (आत्मवर्ग निषेवितम्) अपने बन्धु वर्गों के वा अपने से धर्माचार के करने वाले तथा मनसे वाणि से शरीर से अपने हुए समुदाय के जनों से वर्त्तमान. (च) और (परीक्षित स्त्रीपुरुषम्) पाक वा पाककार्य्य करने की योग्यतामें परीक्षोत्तीर्ण हुए स्त्री और पुरुष हों जिस में ऐसा (महानसम्) रसवती [रसोई] गृह (भवेत्) होवै ॥

(१४१७) तत्राध्यक्ष न्नियुञ्जीत प्रायो वैद्यगुणान्वितम् ॥

(१४१८) तस्य चाज्ञाविधेयाःस्यु र्विविधाः परिकर्मिणः ।
आहारस्थितयश्चापि भवन्ति प्राणिनो यतः ।
तस्मा त्महानसे वैद्यः प्रमादरहितो भवेत् ॥

(१४१९) शुचयो दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शनाः ।
संविभक्ताः सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः ।
स्नाता दृढं संयमिनः कृतोष्णीषाः सुसंयताः ॥

(१४२०) महानसि कवोढारः सौपौदनिक पौपिकाः ।
भवेयु र्वैद्यवशगा ये चाप्यन्येतु केचन ॥

अर्थ– (तत्र) उस महानस में (प्रायः) विशेष कर (वैद्यगुणान्वितम्) वैद्य के कुलीन धार्मिकत्वादि गुणों से युक्त (अध्यक्षम्) कार्याधिकारी (नियुञ्जीत) नियुक्त करै । (तस्य) उस की (आज्ञाविधेयाः) आज्ञा के मानने वाले (विविधाः) अनेक प्रकार के (परिकर्मिणः) सूपकार आदि परिचारक (स्युः) होवैं ॥ (यतः) क्योंकि (प्राणिनः) प्राणधारी (आहारस्थितयः) आहार से जीवित (भवन्ति) होते हैं (अपि) यह निश्चित है, (च) पादपूरणार्थः (तस्मात्) इससे (महानसे) रसोई में (प्रमाद रहितः) करने योग्य कार्य को न करना और न करने के योग्य काम को, करना इसको प्रमाद वा असावधानता कहते हैं इससे शून्य (वैद्यः) आयुर्वेदज्ञ (भवेत्) होवै ॥

(महानसिक वोढारः) रसवती [रसोई] के कार्यों के चलाने वाले अर्थात् जल के लाने

[पात्रादि के मार्जन करने वाले ...गादि (सौपोदनिक पौरिकाः) सौप- दाल, भाजी, बनाने वाले, पौपिक – पूआ पूरी कचौरी आदि सिद्ध करने वाले, (च) इनके अतिरिक्त (केचन) कोई से (अन्ये) और (अपि) भी जो मशाले पीसने वाले सब (शुचयः) बाह्याभ्यन्तर से पवित्र, (दाक्षिणाः) चतुर कुलीन, (दक्षाः) तुरन्त जानने और करने को समर्थ [मुस्तैद] (विनीताः) विनय युक्त नम्र, (प्रिय दर्शनाः) प्यार की दृष्टि वाले, अथवा मनोहर दृष्टि वाले (संविभक्ताः) भिन्न २ कार्यों में नियुक्त किये हों, न कि एक ही अनेक कार्यों के करने वाला हो (सुमनसः) शुद्ध मन के (नीच केश नखाः) बाल और नख कतरे हुए (स्थिराः) चपलता रहित (स्नाताः) स्नान किये हुए (दृढम्) दृढ (संयमिनः) लोभ को जीतने वाले (सुसंयताः) सुप्रयत्नी (कृतोष्णीषाः) पगड़ी के बांधने वाले अर्थात् बालत्व रहित, (वैद्य वशगाः) वैद्य के आधीन (भवेयुः) होवें ॥

भोजन बनाकर कैसे न में और किस प्रकार से रखना चाहिये ॥

(१४२१) तत्राप्तै गुणसम्पन्न मन्नम्भक्ष्यं सुसंस्कृतम् ।
शुचौदेशे सुसङ्गुप्तं समुपस्थापयेद्भिषक् ॥
विषघ्नै रगदैः स्पृष्टं प्रोक्षितं व्यजनोदकैः ।
सिद्धैर्मन्त्रै र्हतविषं सिद्धमन्नन्निवेदयेत् ॥

अर्थ – (तत्र) उस महानस में (आप्तैः) सत्यवक्ताओं से (सुसंस्कृतम्) अच्छा बनाया हुआ (गुण सम्पन्नम्) इष्ट- रस, गन्ध, स्पर्श, वर्ण, [रङ्ग] युक्त (भक्ष्यम्) अभक्ष्य रहित खाने योग्य (अन्नम्) आहार को (शुचौ) पवित्र (देशे) स्थान में (सुसंगुप्तम्) अत्यन्त अदृश्य (भिषक्) चिकित्सक (समुपस्थापयेत्) अच्छे प्रकार रखवादे ॥ फिर (विषघ्नैः) विषनाशक [शिरीष आदि] (अगदैः) औषधों से (संपृष्टम्) स्पर्श किया गया (व्यजनोदकैः) ताल पत्रों के जलों से, अथर्व के मन्त्रों से (प्रोक्षितम्) छिड़का गया (सिद्धैः) सिद्ध हुए, कुरु कुल्ला प्रभृतिक (मन्त्रैः) मन्त्रों से (हत विषम्) विगत हुआ विष जिसका ऐसे- (अन्नम्) भोजन को राजा के लिये वैद्य (निवेदयेत्) परसवावै ॥

(१४२२) वक्ष्याम्यतः परं कृत्स्न माहारस्योपकल्पनाम् ॥ १ ॥
घृतं कार्ष्णायसे देयं पेया देयातु राजते ।

फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्या द्वैदलेषुच॥ २ ॥
परिशुष्क प्रादिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत्।
प्रद्रवाणि रसांश्चैव राजतेषूप हारयेत् ॥ ३ ॥
कट्वराणि खड़ांश्चैव सर्वान् शैलषु दापयेत्।
दद्यात् ताम्रमये शीतं पानीयं सुशृतं पयः ॥ ४ ॥
पानीयं पानकं मद्यं मृण्मयेषु प्रदापयेत्।
काचस्फटिक पात्रेषु शीतलेषु शुभेषुच।
दद्याद्वैडूर्य पात्रेषु राग षांडव सट्टकान् ॥ ५ ॥

भोजनार्थ पात्र रक्षण दिग्वर्णन

पुरस्ता द्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे।
सूद सूपौदनं दद्यात्प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ॥ ६ ॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानिच।
तानि दक्षिणपार्श्वेतु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ॥ ७ ॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव पानीयं पानकं पयः।
षडान् यूषांश्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत् ॥ ८ ॥
सर्वान् गुड़विकारांश्च राग षांडव सट्टकान्।
पुरस्तात्स्थापयेत्प्राज्ञो द्वयो रपिच मध्यतः ॥ ९ ॥

अर्थ- घृत कालेलोहे [यशद] के पात्र में देवै, (पेया) चांदी के पात्र में देनी चाहिये, आम्रादि फल और लड्डू आदि सब भक्ष्यपदार्थ [illegible] बेंत के बुने हुए पात्रों में देवै, (परिशुष्क प्रदिग्धानि) मोमन मिली [illegible] [मैदा] के घी में खूब सिके खसखसे शुष्क बने और सितामें पगे पदार्थ [illegible] सदृश पदार्थ परिशुष्क प्रदिग्ध कहाते हैं, इनको सुवर्ण के पात्र में धरे, (प्रद्रवाणि) विशेष द्रव [पतले] मण्डादिक और (रसान्) मधुरादि रसों को [illegible] पात्र में परोसै, (कट्वराणि) तक्र वा काञ्जिक, और (खड़ान्) तक्र सिद्ध शमीधान्य यूष, [हमारे विचार से जिस

को लोक में कढ़ी कहते हैं । इन सब को पाषाण के पात्रों में धरै, ठण्डे पानी और अच्छे औटे दूध को तांबे के बर्तन में रक्खै, (पानीयम्) पीनेयोग्य (मद्यम्) हर्ष कारी (पानकम्) इमली नींबू आदि के बने पन्नाओं को मिट्टी के पात्रों में अथवा काच वा बिल्लौर पत्थर के, शुद्ध पात्रों में देवै, (राग षाडव सट्टकान्) मिसरी, काला नमक और सैंधानमक, इमली, फालसे, जामुन, इन में से किसी का रस और राई इस योग को "राग" कहते हैं, इसी प्रकार "षाडव" मधुर अम्ल लवण इनके योग से अनेक प्रकार के होते हैं, और "सट्टक" दधिको मथ छान कर लौंग त्रिकुटा खांड़, कपूर, और अनार के बीजों का रस इन सबको यथोचित प्रमाण से एकत्र करके बनाया जाता है, इसको प्रमोदभी कहते हैं इनको वैडूर्य मणि के पवित्र पात्रों में दे ॥ अब सिद्ध हुए भोजन के आधार विशेष कहकर आगे देश विशेष में आहारविशेषों का रखना सूचित करते हैं ॥ सूपकार को चाहिये कि भोक्ता के आगे निर्मल और मनोरम बड़ेपात्र में दाल, चावल, और अवलेह, धरे। फल और शुष्क पदार्थ जितने हों वे सब भोक्ता के दाहिने पार्श्व में धरै। विशेष द्रव, तथा, रस, पानी, पन्ना, दूध, षड़, यूष, और पेया इन को वाम भाग में परोसना चाहिये। राग, षाडव, और सट्टक इनको और गुडके बने पदार्थों को, दोनों ओर के मध्य में रखवावे ॥

(१४३३) एवं विज्ञाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम् ।
भोक्तारं विजने रम्ये निः सम्पाते शुभे शुचौ ॥
विशिष्ट मिष्टसंस्कारैः पथ्यै रिष्टै रसादिभिः ।
मनोज्ञं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्र मशनं हितम् ॥

अर्थ-- इसप्रकार बुद्धिमान् भोजन की उपकल्पना [परोसने धरने की तरकीब] को भोक्ता के लिये जनाकर (विजने) एकान्त [क्योंकि जहां दृष्टि दोष निपात न हो] (रम्ये) सुन्दर रमणीय देश में (निः सम्पाते) जहां धूल मिट्टी तृणादि कोई वस्तु न गिरतीहो (शुभे) वास्तुदोष रहित (शुचौ) पवित्र स्थान में (इष्टसंस्कारैः) मनचाहे संस्कारों से (पथ्यैः) सेवनयोग्य (इष्टैः) प्रिय (रसादिभिः) रस तथा गन्ध वर्ण स्पर्शों से (विशिष्टम्) विशेष (मनोज्ञम्) मनोहर (शुचिः) पवित्र (नात्युष्णम्) किञ्चिद् उष्ण (प्रत्यग्रम्) अभिनव [ताज़ा] (हितम्) जिस प्रकार

हितकारी हों उस प्रकार रसोइया (अशनम्) भोजन को (शुचिना) पवित्रता से दे ॥

इति वैदिक प्राणैषणायाम् स्वस्थ वृत्यभिकारे आहारोपयोग्य नेक-
विधानकल्पनासु सप्तपञ्चाशत्तमो विवेकः ॥ ५७ ॥

भोजन बनाने और खानेके चरकोक्त प्रकार

(१४२४) सर्वाण्याहारविधिविशेषायतनान्यभिसमीक्ष्य हित मेवानु रुद्धयते ॥ चरक वि० अ० १

अर्थ– (सर्वाणि) समस्त (आहारविधि विशेषायतनानि) भोजन बनाने के वक्ष्यमाण आठ असाधारण प्रयत्नों को (अभिसमीक्ष्य) अच्छे प्रकार देखकर (हितम्) जिस प्रकार भोजन हितकारक सुस्वादु हो ऐसा (एव) ही (अनुरुद्धयते) पाक करने वाले बर्तें ॥

आहार के आठ आयतन

(१४२५) तत्रखल्वे मान्यष्टाहार विधि विशेषायतनानि भवन्ति ॥

अर्थ– (तत्र) उस आहार में (इमानि) ये (खलु) ही निम्नलिखित (अष्ट) आठ (आहारविधिविशेषायतनानि) भोजन बनाने के विशेष उपाय (भवन्ति) होते हैं ॥

तद्यथा- प्रकृति करण संयोग राशि देश कालोपयोगसंस्थो पयोक्तृष्टे मानिभवन्ति ॥

अर्थ– वे जैसे १ प्रकृति २ करण ३ संयोग ४ राशि ५ देश ६ काल ७ उपयोगसंस्था और ८ उपयोक्ता ये आठ हैं ॥

१ प्रकृति आयतनविचार

(१४२६) तत्र प्रकृति रुच्यते स्वभावो यः। सपुनराहारौषध द्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोग्यः। तद्यथा-- माषमुद्गयोः ॥

अर्थ– (तत्र) इन में (आहारौषध द्रव्याणाम्) भोजन के लिये ब्रीहियवादि औषध द्रव्यों का (यः) जो (स्वभावः) अपने सङ्ग उपजा रस गुण वीर्यादि रूप विद्यमान भाव (सः) वह (प्रकृतिः) प्रकृति (उच्यते) कहाती है (पुनः) और (गुर्वादि गुणयोग्यः) गुरु आदि बीस गुणों का योक्तव्य विचार (स्वाभाविकः) स्वभाव का विचार समझा जाता है, (तद्यथा) वह जैसा (माषमुद्गयोः) उड़द और और मूंग के रस गुण वीर्य्यादि का विचार, कि इन में किसका कौन रस है, कौन गुण है, और कौन वीर्य्यादि है, इन के मिलने में रस वा गुण वीर्य्यादि का विरोध तो नहीं है, इत्यादि का विचार प्रकृति आयतन कहाता है, ॥

२ करण आयतन विचार

करणम्पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणा मभिसंस्कारः। संस्कारोहि गुणान्तराधान मुच्यते ॥ तेगुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्ष शौच मन्थन देश काल वास भावनादिभिः कालप्रकर्ष भाजनादिभि श्चाधीयन्ते ॥

अर्थ– (स्वाभाविकानाम्) उक्त स्वभाव वाली (द्रव्याणाम्) आहार की वस्तुओं का (अभि संस्कारः) सब प्रकार से उत्तम करना (करणम्) करण नाम का दूसरा आयतन है ॥ (संस्कारः) क्रिया से [तरकीब से] उत्तम गुणों का वस्तु में भर देना और मलरूप अवगुण का उन में से निकाल देना संस्कार कहाता है (हि) यही (गुणान्तराधानम्) जो उन में गुण नहीं है उन अन्य गुण का भरदेने वाला [illegible] त है (च) और (ते वे (गुणाः) गुर्वादि भाव (तोयाग्निसन्निकर्ष शौच मन्थन देश काल वास भावनादिभिः) १ जल वा अग्नि के सम्पर्क से, २ शौच से, ३ मन्थन से ४ देश से, ५ काल से, ६ वास से, ७ भाव से, आदि शब्द से जहां जैसा इन के अतिरिक्त उचित हो उस का ग्रहण है, (च) और (कालप्रकर्ष भाजनादि-

भिः) ८ काल की प्रकर्षता से, ९ भाजन से, (आदि) इनके अतिरिक्त अन्य यथोचित युक्ति से आहार की वस्तुओं में (आधीयन्ते) करे भरे वा धरे जाते हैं॥ उदाहरण "जलका सम्पर्क"— आटे आदि का जल में गूंदना, घोलना आदि। अग्नि का सम्पर्क,- रोटी आदि का सेकना पकाना आदि। शौच- पात्र और पाक करने वाले की बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि,। मन्थन- मथना, यहां यह शब्द उपलक्षण मात्र है, इससे मलना; मीडना, कूटना, निचोड़ना, पीसना, छानना, आदि अनेक संस्कार सूचित कियेगये समझ कर जहां जो उचित हो- वह किया जाय। "देश-" तुष, केश, शर्करा. मल, मूत्र, छींक, श्मसान, अनिष्ट गन्ध आदि से रहित स्थान। "काल संस्कार- जो पदार्थ जितने समय में आहार के योग्य हो उतना ही समय उसमें लगाना अर्थात् काल का हीनयोग वा अतियोग न हो,। "वास" - बसाना, अर्थात् किसी उचित युक्ति से आहार वस्तु को कपूर, केवड़ा, हींग आदि के यथेष्ट गन्ध से सुगन्धित करना। "भावना-" किसी नीबू अनार आदि के यथोचित रस में भिगोकर सुखाना मरकोना आदि - आदि शब्द से यथोचित युक्ति। "काल प्रकर्ष"- समय की खेंच अर्थात् कुछ काल तक रखने से [illegible] करना, जैसे कि फल, मूल, कन्द, आदि के सन्धान [अचार आदि [illegible] गोड़ी, काञ्जिक बटकादि। भाजन संस्कार-सौना, चांदी, लोहा, तांबा, [illegible], काचादि के पात्रों में पकाना, खाना, पीना, रखना, अर्थात् जिन २ में पकाने [illegible] से वा रखने से अधिक गुणदायी आहार होजाय, यह भाजन संस्कार है। इस प्रकार करण आयतन कहा गया॥

३ संयोग आयतन का वर्णन

(१४२८) संयोगस्तु द्वयो र्बहूनां द्रव्याणां संहतीभावः। स विशेष मारभते यन्नैकशो द्रव्याणि आरभन्ते। यथा मधुसर्पिषोः मधुमत्स्यपयसांच संयोगः॥

अर्थ – (द्वयोः) दो (वा) अथवा (बहूनाम्) बहुत से (द्रव्याणाम्) द्रव्यों का (संहतीभावः) एकत्र होना (संयोगः) संयोग कहाता है. (सः) वह संयोग कुछ (विशेषम्) संयोगिद्रव्यों के गुणों से भिन्न तीसरे किसी असाधारण गुण को (आरभते) उत्पन्न कर देता है, (यथा) जैसे (मधु सर्पिषोः) माक्षिक और घृत का समान भागों से (च) और (मधुमत्स्यपयसाम्) मधु, मत्स्य; और दुग्ध इन सबका (संयोगः) मेल, तीसरे

विरुद्धाहार रूप अवगुण को उत्पन्न कर देता है ॥ इससे जिन वस्तुओं का संयोग विरोधी हो जाय, ऐसा मिलान भोजन में न हो जाय, इस विचार का नाम संयोग आयतन है ॥

४ राशि आयतन वर्णन

(१४२६) राशिस्तु सर्वग्रह परिग्रहौ मात्रा मात्राफल विनिश्चयार्थः प्रकृतः। तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहण मेकपिण्डेन सर्वग्रहः। परिग्रहश्च पुनः प्रमाणग्रहण मेकैकांशेनाहार-द्रव्याणाम्। सर्वस्यहि ग्रहः सर्वग्रहः सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते ॥

अर्थ — (सर्वग्रह परिग्रहौ) राशीके दो अर्थ हैं एक सर्वग्रह [समुदाय का ग्रहण] दूसरा परिग्रह [पृथक् २ का ग्रहण] । यह राशी आयतन, (मात्रा ऽ मात्रा फलविनिश्चयार्थः) प्रमाण और अप्रमाण के फलका निश्चय करने के लिये (प्रकृतः) किया है, (तत्र) उस राशि में (सर्वस्य) सब (आहारस्य) आहार के (प्रमाण ग्रहणम्) प्रमाण का ग्रहण (एक पिण्डेन) एक ग्रास के अर्थात् इकट्ठे हुए से करना (सर्वग्रहः) सर्वग्रह कहाता है, (च) और (आहार द्रव्याणाम्) भोजन की वस्तुओं के (एकैकांशेन) एक २ अंश से [जुज़ से] (पुनः) फिर (प्रमाण ग्रहणम्) तोल ग्रहण करना (परिग्रहः) परिग्रह कहाता है। सर्वग्रह, और परिग्रह, इन दोनों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि (सर्वस्य) सबका (हि) ही (ग्रहः) ग्रहण करना (सर्वग्रहः) सर्वग्रह और (सर्वतः) सब से (ग्रहः) ग्रहण करना (परिग्रहः) परिग्रह है। उदाहरण - जैसे नुकती के मोदकों में जब सर्वग्रह नाम कुल का प्रमाण ऽ१ एक सेर है और परिग्रह नाम पृथक् २ मोदक की वस्तु जैसे नुकती बेसन ऽ। घी ऽ≡ मीठा ऽ॥ है तब ऐसे स्वादु अमुक २ गुण करने वाले होते हैं ॥ भावार्थ – यह है कि भोजन के लिये जो २ पदार्थ इकट्ठे करे जायँ उन सबको बिना प्रमाण किये न डालने चाहियें। क्योंकि फलका निश्चय भी प्रमाण के बिना नहीं होगा इससे इकट्ठे बने हुए की तोल और उस बने हुए में सब अलग२ पड़ी हुई मिली चीजों की तोल करना अत्यावश्यक है, यह विचार राशि आयतन है ॥

५ देश आयतन का वर्णन

(१४३०) देशः पुनः स्थानं द्रव्याणा मुत्पत्तिप्रचारो देशसाम्य माचष्टे ॥

अर्थ– (देशः) जीवात्मा का और सब चराचर भूतों का आधार देश कहाता है (पुनः) और (द्रव्याणाम्) वही आहार की वस्तु ब्रीहि यवादि की उत्पत्ति का भी (स्थानम्) घर है (च) और (उत्पत्तिप्रचारः) जहां जिस अन्न की उत्पत्ति हो वहीं उसका प्रचार अर्थात् खान पान में विशेष बर्त्ताव (देशसाम्यम्) उक्त देश को साम्य [स्वास्थ्य] को (आचष्टे) कहता है। अर्थात जहां जो अन्न, उत्पन्न होता हो वहां उसी का खान पान जैसा स्वास्थ्यप्रद होता है ऐसा अन्य नहीं ॥

६ काल के आयतन का वर्णन

(१४३१) कालोहि नित्यगश्चा वास्थिकश्च ।
तत्रावस्थिको विकार मपेक्षते ॥
नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः ॥

अर्थ– (कालः) समय दो प्रकार का होता है (नित्यगः) एक क्षणादि रूपसे नित्य गामी (च) और दूसरा (आवास्थिक) आयु सम्बन्धी (तत्र) इन में (आवास्थिकः) अवस्थाका (विकारम्) बिगड़ने को (अपेक्षते) दिखाता है, अर्थात् एकसा नहीं रहता। यह बिगड़ता [बदलता] रहता है, (तु) और (नित्यगः) प्रतिदिन गामी काल (ऋतु सात्म्यापेक्षः) ऋतु [मौसम] के सात्म्य [अनुकूल] अन्न का इच्छुक है, ॥ भावार्थ यह है कि अन्न की अवस्था बिगड़ती रहती है, जो अब है वह फिर नहीं। इससे अन्न के नये पुराने घुने गले आदिका आवास्थिक विचार अवश्य कर्तव्य है, दूसरा जिस ऋतु में जो अन्न अनुकूल हो वह खाना ॥

७ उपयोग संस्था आयतन का वर्णन

(१४३२) उपयोग संस्था तूपयोगनियमः सजीर्णलक्षणापेक्षः ॥

अर्थ– (उपयोग संस्था) उपयोग नाम भोजन उसके लिये ठहरना (उपयोग नियम) उपयोगनियम कहाता है, अर्थात् भोजन कब करना चाहिये यह निश्चय (सः) वह (जीर्णलक्षणापेक्षः) भोजन के परिपाक होजाने के चिन्होंके दिखाई देनेकी

प्रतीक्षा करता है, अर्थात् जब उदर में आहार के पचजाने के चिन्ह पाये जांय तब भोजन करे ॥

८ उपयोक्ता आयतन का वर्णन

(१४३३) उपयोक्ता पुनः य स्तमाहारमुपयुंक्ते यदायत्त मोकसात्म्यम् ॥

अर्थ– (यः) जो (पुनः) पाद पूरणार्थ (तम्) उस निर्दिष्ट (आहारम्) भोजन को (उपयुंक्ते) खाता है वह (उपयोक्ता) उपयोजन करने वाला अर्थात् आत्मा का यथावत् तृप्तिकर्त्ता कहाता है कि (यदायत्तम्) जिस के अधीन (आत्म्यम्) जीवात्माका (ओकस्) घर है ॥

(१४३४) इत्यष्टा वाहारविधि विशेषायतनानि भवन्ति। एषां विशेषाः शुभाऽ शुभफलप्रदाः परस्परोपकारका भवन्ति। तान् बुभुत्सेत बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यात् नच मोहा त्प्रमादाद्वा ऽप्रिय माहितमसुखोदर्क मुपसेव्यमान माहारजात मन्य द्वा ॥

अर्थ– इस प्रकार, भोजन के विधान में विशेष प्रयत्न आठ होते हैं। इनके भेद अच्छा वा बुरा फल देने वाले और परस्पर एक दूसरे के उपकारी सुधारने वाले हैं, इन सब को जानले, और जान कर हितकारी आहार करने की इच्छा करै, और अविवेक से वा असावधानी [गफ़लत] से अप्रिय वा परिणाम में अवगुण करने वाले आहार मात्र का सेवन न करै ॥

(१४३५) तत्रेद माहारविधि विधान मरोगाणा मपि चातुराणां हितम्। केषाञ्चित्काले प्रकृत्यैव हिततमं भुञ्जानानांभवति ॥

अर्थ– यहां यह आहार की विधिका विधान स्वस्थों को और किसी समय किन्हीं

भोजन करते हुए रोगियों को भी अत्यन्त हित कारक होता है ॥

भोक्ता के लिये आवश्यक कर्त्तव्य विचार

(१४३६) उष्ण स्निग्ध मात्रा वज्जीर्णे वीर्या विरुद्धम् ।
इष्टे देशे इष्ट सर्वोपकरणम् नाति द्रुतं नाति
विलम्बित मजल्पन्नहसं स्तन्मना भुंजीत आ-
त्मान मभिसमीक्ष्य सम्यक् । तस्य साद्गुण्य मु-
पदेक्ष्यामः ॥

अर्थ– (उष्ण) गरम (स्निग्धम्) चिकना अर्थात् घृतादि स्नेहसिक्त वा पक्क (मात्रावत्) प्रमाण युक्त भोजन करना चाहिये (जीर्णे) पहला भोजन पच जाने पर (वीर्य्या ।विरुद्ध) वीर्य्य के अविरुद्ध भोजन करना चाहिये, (इष्टदेशे) ऐसे स्थान में भोजन करै जहां मन प्रसन्न रहै. (इष्ट सर्वों पकरणम्) भोज्य वस्तु मनचाही सब सामग्री युक्त हो (अति द्रुतम्) बहुत जलदी २ भोजन (न) नहीं करै (अति बिलाम्बितम्) बहुत देर में न करै तथा (अजल्पन्) बात चीत न करता हुआ (अहसन्) न हंसता हुआ (तन्मना) भोजन में ही मन लगा कर (सम्यक्) अच्छे प्रकार (आत्मानम्) अपने आपे को (अभि समीक्ष्य) अनेक प्रकार से देख विचार कर - कि यह मुझको सात्म्य है, और यह असात्म्य है – (भुञ्जीत) भोजन करै । (तस्य) इस उक्त प्रकार भोजन किये भोजनों के (साद्गुण्यम्) उत्तम गुणों को (उपदेक्ष्यामः) हम उपदेश करैंगे । ॥

(१४३७) उष्ण मश्नीया दुष्णं हि भुज्यमानं स्वदते ।
भुक्तं चाग्नि मौदर्य मुदीरयति । क्षिप्रंच जरा
ङ्गच्छति वात ञ्चानुलोमयति श्लेष्माणञ्च
परिशोषयति तस्मादुष्ण मश्नीयात् ।

अर्थ – उष्ण भोजन करै उष्ण भोजन किया हुआ ही स्वादु लगता है. उष्ण भोजन जठराग्नि को उत्तेजित करता है, शीघ्र ही पच जाता है, और वात को अनुलोमन करता है, कफ को सुखाता है, इन हेतुओं से उष्ण भोजन करना चाहिये ॥

(१४३८) स्निग्ध मश्नीयात् स्निग्धं हि भुज्यमानम् स्वदते।
भुक्त मग्नि मौदर्य मुदीरयति क्षिप्रं जराङ्गच्छति
वात मनुलोमयति दृढ़ी करोति शरीरोपचयं
बलाभिवृद्धि ञ्चोपजनयति बलप्रसाद मपि
चाभिनिर्वर्तयति तस्मात् स्निग्ध मश्नीयात् ॥

अर्थ – स्निग्ध अर्थात् चिकनाई युक्त भोजन करै, स्निग्ध ही भोजन स्वाद लगता है, और जठराग्नि को उत्तेजित करता है, शीघ्र ही पचजाता है, वात को अनुलोमन करता है, शरीर को दृढ करता है, बल को बढाता है, देह का रंग भी उत्तम बना देता है, इन हेतुओं से स्निग्ध भोजन करना उचित है ॥

(१४३९) मात्रावद श्नीयात्। मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्त
कफा न्प्रपीडयदायुरेव विवर्द्धयति केवलम्।
सुख सम्यक्पक्वं विड्भूतं गुद मनुपर्य्येति
नचोष्माण मुपहन्ति। अव्यथञ्च परिपाक मेति।
तस्मान्मात्रावदश्नीयात् ॥

अर्थ – भोजन मात्रावत् नाम प्रमाण से करै, प्रमाण से किया वात को, पित्त को, और कफ को, नहीं बिगाड़ता है. अर्थात् प्रकृति पर स्थिर रखता है, यह प्रमाण का खाना ही एक आयु को सुख पूर्वक बढाता है, बिना किसी व्यथा को पैदा किये ही पक जाता है, और जठराग्नि को नष्ट नहीं करता, यह अच्छा पकाहुआ रसरूप सार से पृथक् हो मल बन कर गुदा द्वारा फिर निकल जाता है, इससे मनुष्य को उचित है कि प्रमाण से भोजन करै, ॥

(१४४०) जिर्णें ऽश्नीयात् । अजीर्णेहि भुञ्जानस्य पूर्व
स्याहारस्य रस मपरिणत मुत्तरेणाहाररसेनो
पसृजन्सर्वान्दोषा न्प्रकोपयति आशुजीर्णेतु
भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषे ष्वग्नौ चोदीर्णे
जातायाञ्च बुभुक्षायां विवृतेषु च स्रोतसां
मुखेषु चोद्गारे विशुद्धे हृदये विशुद्धे वा-
तानुलोम्ये विसृष्टेषुच वातमूत्रपुरीषवेगेषु
जीर्णे ऽ भ्यवहृत माहारजातं सर्वशरीर
धातून प्रदूषय न्नायुरेवा भिवर्द्धयति केवलम्।
तस्मा ज्जीर्णे ऽश्नीयात् ॥

अर्थ— पहले किये भोजन के (जीर्णे) पक जानेपर (अश्नीयात्) खावे (हि) क्योंकि (अजीर्णे) अजीर्ण में (भुञ्जानस्य) भोजन करने वाले के (पूर्वस्य) पहले (आहारस्य) आहार का (अपारिणतम्) बिना पका (रसम्) रस (उत्तरेण) पिछले (आहाररसेन) भोजन के रस के साथ (उपसृजन्) मिलता हुआ (सर्वान्) सब (दोषान्) वातादि दोषों को (आशु) शीघ्र (प्रकोपयति) प्रकुपित अर्थात् विकृत करता है, (तु) और (जीर्णे) अन्न पचजाने पर (भुञ्जानस्य) भोजन करने वाले के (दोषेषु) दोषों के (स्वस्थानास्थितेषु) अपने स्थानों में स्थित होने पर (अग्नौ) जठराग्नि के (उदीर्णे) प्रदीप्त होनेपर (बुभुक्षायाम्) भूख (जातायाम्) लगने पर (च) और (स्रोतसाम्) स्रोतों (मासामार्गों) के (मुखेषु) मुखों (सूराखों) के (विवृतेषु) खुलने पर (च) और (उद्गारे) डकार के (विशुद्धे) शुद्ध आने पर (हृदये) हृदय के (विशुद्धे) विशेष शुद्ध होने पर (वातानुलोम्ये) वायु के सीधे गमागम होनेपर (च) और (वातमूत्रपुरीष वेगेषु) अधोवायु मूत्र और मल के वेगों [हाजतों] के (विसृष्टेषु) विसर्ग होनेपर (जीर्णे) जीर्ण में (अभ्यवहृतम्) खाया हुआ (आहार मात्रम्) भोजन मात्र (सर्वशरीरधातून्) सब शरीर की रसादि धातुओं को (अप्रदूषयन्) विकृत न करता हुआ (केवलम्) एक जीर्ण भोजन (एव) ही (आयुः) उमर को (वर्द्धयति) बढ़ाता है, (तस्मात्) इस कारण (जीर्णे)

अन्न पचने पर (अश्नीयात्) भोजन करै, ॥

(१४४१) वीर्याऽविरुद्ध मश्नीयात्। अविरुद्ध वीर्य मश्नन्
हि न विरुद्धाहारजै र्विकारै रय मुपसृज्यते।
तस्मा द्वीर्य्याविरुद्ध मश्नीयात्॥

अर्थ– जिनके वीर्य [तासीर] परस्पर विरुद्ध [खिलाफ] हों उन का मेल कर के न खावे क्योंकि अविरुद्धवीर्य खान पानों को खाता पीता हुआ, विरुद्धवीर्य्यों के खान पान से उत्पन्न हुए रोगों से यह [उपयोक्ता] आक्रान्त नहीं होता इस कारण अविरुद्धवीर्य भोजन को खावै पीवै विरुद्ध को नहीं जैसा कि तक्र और उष्णोदक ये परस्पर विरुद्धवीर्य हैं।

(१४४२) इष्टे देशेऽश्नीयात्। इष्टे देशेहि भुञ्जानो
नानिष्ट देशजै र्मनोविघातकरै र्भावै र्मनो
विघातं प्राप्नोति। यथेष्टैः सर्वोपकरणै स्त-
स्मादिष्टेदेशे तथेष्ट सर्वोपकरण आश्नीयात्॥

अर्थ– (इष्टे) जहां मन प्रसन्न हो ऐसे मन चाहे (देश) स्थान में (अश्नीयात्) अशन करै। (हि) क्योंकि (इष्टे) इष्ट (देशे) देश में (भुञ्जानः) भोजन करने वाला (अनिष्ट देशजैः) जहां [illegible] ऐसे अनचाहे घिनौने स्थान में उत्पन्न हुए. (मनोविघात करैः) मन [illegible] वाले भावों से (मनोविघातम्) मनके वीकार कों (न) नहीं (प्राप्नोति) [illegible]ता है, (तथा) इसी प्रकार (इष्टैः) मन चाही (सर्वोपकरणैः) सब भोजन बनाने की और खाने की सामग्रियों से भी मनोविघात नहीं होता, (तस्मात्) इस कारण से (इष्टे) मनोनुकूल (देशे) स्थान में (च) और (तथा) इसी प्रकार (इष्ट सर्वोपकरणम्) मनोनुकूल सब भोजन करने खाने की साम्ग्री [सामान] हो जैसे वैसे ही (अश्नीयात्) भोजन करै॥

इस आज्ञासे भोजन करने खाने के स्थान का और भोजन करने खाने के व्यवहार में आने वाले पात्र और वस्त्रादि का नित्यप्रति यथोचित शुद्ध करना सिद्ध है॥

(१४४३) आहार निर्हार विहार योगाः सदैव साद्धि र्विजने विधेयाः । ग्रन्थान्तरात् ॥

अर्थ — भोजन - मल मूत्रोत्सर्ग - मैथुन - और प्राणायामादि योग क्रिया संध्योपासनादि कर्म सदा ही सत्पुरुषों को निर्जन स्थान [एकान्त स्थान] में करने चाहिये ॥

(१४४४) नाति द्रुत मश्नीयात् । अतिद्रुतंहि भुञ्जानस्य उतस्नेहन मवसादनं भोजनस्या प्रतिष्ठानम् । भोज्य दोष साद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता । तस्मान्नातिद्रुत मश्नीयात् ॥

अर्थ — (अति द्रुतम्) बहुत शीघ्र अर्थात् जल्दी २ गड़प सड़प (न) न (अश्नीयात्) खावै (हि) क्योंकि (अतिद्रुतम्) बहुत शीघ्र (भुञ्जानस्य) भोजन करने वाले के (भोजनस्य) भोजन का (स्नेहनम्) चिकनापन होना, (अवसादनम्) कोष्ठ में जाना (आप्रतिष्ठानम्) अच्छे प्रकार कोष्ठ में ठहरना (च) और (भोज्य दोष साद्गुण्योपलब्धिः) भोजन की वस्तु का दोष [अवगुण] [साद्गुण्य] सद्गुणत्व की (उपलब्धि) ज्ञान (नियता) निश्चित (न) नहीं क्योंकि यह ज्ञान (उन) वैकल्पिक है, अर्थात् होभी और नभी हो, ॥

भावार्थ — यह है कि जल्दी २ भोजन करने से भोजन का चबाया जाता है, इससे चिकनाहट होभी नभी हो, कण्ठनाड़ी में होकर पेट में सुखारी से पहुंचे वा दुःखारी से, अच्छी तरह पेट में ठहरे वा नभी ठहरे, इसमें द्विविधा है, क्योंकि वमन होने का एक कारण जल्दी २ खाना भी है कि जो वमन होने के निदान में कहा है, "तथापि द्रुतमश्नतः" और अन्न के गुण वा अवगुण काभी निश्चय नहीं होता है कि, भोज्य वस्तु ने किया, वा शीघ्र २ खानेने, इस कारण शीघ्र भोजन न करे ॥

(१४४५) नाति विलम्बित मश्नीयात् । अति विलम्बितंहि भुञ्जानो न तृप्ति मधिगच्छति । बहुभुंक्ते शीती-भवति चाहारजातम् विषमपाकश्च भवति । तस्मान्नाति विलम्बित मश्नीयात् ॥

अर्थ—बहुत धीरे २ भी न खावै क्योंकि बहुत धीरे २ खाने वाला तृप्ति [भोजन करने की इच्छा निवृत्ति] को यथावत् नहीं प्राप्त होता है, बहुत खाजाता है, और आहार ठण्डा और विषम पाक [कुछ शीघ्र और कुछ देर से पकने वाला] हो जाता है, इससे भोजन को बहुत देर लगा २ कर भी न खावै ॥

(१४४६) अजल्प न्नहसं स्तन्मना भुञ्जीत जल्पतो हसतो
ऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एवहि दोषा भवन्ति
य एवातिद्रुत मश्नतः । तस्मा दजल्प न्नहसंस्त-
न्मना भुञ्जीत ॥

अर्थ—भोजन करते समय बोलना और हंसना छोड़ भोजन में चित्त लगा कर भोजन करै। क्योंकि बोलने हंसने और अन्यत्र मन रखनेसे वही दोष होते हैं जो अति द्रुत भोजन करनेमें होते हैं, इससे बिना बोले बिना हंसे और भोजनमें ही चित्त लगाकर भोजन करै।

(१४४७) आत्मान मभिसमीक्ष्यभुञ्जीत सम्यक् । इद
म्ममोपशेते इद न्नोपशेते । इति विदितं
ह्यस्यात्मना आत्म्यसात्म्यम् भवति । तस्मा-
दात्मान मभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति ॥

अर्थ—(आत्मानम्) आपे को (सम्यक्) भली भांति (अभि समीक्ष्य) देख भालकर कि (इदम्) यह अन्न (मम) मुझको (उपशेते) सात्म्य है और (इदम्) यह (न) नहीं (उपशेते) सुख देता है, (इति) ऐसा (अस्य) इस उपयोक्ता के (आत्मना) आपे से (विदितम्) जाना हुआ (आत्म्यसात्म्यम्) अपने लिये सात्म्य [मुआफिक] (भवति) होता है (तस्मात्) इस कारण (आत्मानम्) आपे को देख विचार कर खाना चाहिये ॥

भोजन विषयक सिद्धान्त मत

(१४४८) तच्च नित्य म्प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्त्तते ।
अजातानां विकाराणा मनुत्पत्तिकरञ्च यत् ॥

अर्थ—वह भोजन नित्यप्रति करना उचित है कि जिससे स्वास्थ्य [१०२] बना रहै और जो अनुत्पन्न हुए रोगों को उत्पन्न न होने दे।

॥ कुछएक वस्तुओं का स्वाभाविक फल कथन ॥

(१४४६) त त्स्वभावा दुदकं क्लेदयति लवणं निष्यन्दयति क्षारः पाचयति मधु सन्दधाति सर्पिः स्नेहयति क्षीरं जीवयति मांसं बृंहयति रसं प्रीणयति सुरा जर्जरी करोति शीधु अवधमति द्राक्षासवं दीपयति फाणित माचिनोति दधि शोफं जनयति पिण्याकशाकं ग्लपयति प्रभूतान्तर्मलो माषसूपः दृष्टिशुक्रघ्नः क्षारः। प्रायः पित्तल मम्ल मन्यत्र दाडिमाऽमलकात्। मधुरम्प्रायः श्लेष्मल मन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालियवगोधूमात्, प्रायः कटुकं वातल मवृष्यं चान्यत्र पिप्पली विश्वभेषजात् ॥

अर्थ—आद्य और पेय वस्तुओं में जल स्वभाव ही से क्लेद [तरी] करता है, लवण रस (विष्यन्दयति) व्रणादि में विशेष स्राव करता है, क्षार पचाता है, मधु [माक्षिक] (सन्दधाति) व्रण रोपक है, घृत चिकनाई पहुंचाता है, दूध प्राणदाता है, (१४५०) (मांस) [गूदा] गुदारा करता है, अर्थात् मोटा करता है, गूदे के दो भेद हैं,। १ स्थावरों का अवयवी, २ जङ्गमों का अवयवी, यहां मनुष्यार्थ ही उपदेशाधिकार होने से मनुष्यों की स्वस्थवृत्ति में स्थावरों के फूल फल मूल नाल कन्दादि का गूदाही आहारोपयोगी सर्वथा सिद्ध होंने से जाङ्गम के गूदे [मांस] का ग्रहण करना कदापि उचित नहीं, तात्पर्य्य यह हुआ कि स्थावरों का गूदा स्थावरों के मांस खाने वाले मनुष्य जाति जैसों को (वृंहयति) मोटा करता है, जङ्गमों का गूदा जङ्गमों के गूदे के खाने वाले सिंहादि जैसे जीवों को मोटा [गुदारा] करता है।

इसी प्रकार (रसः) स्थावरों का रस धातु जैसा कि - अनार, नारङ्गी, सन्तरा, चकोतरा, नीबू आदि का तथा इक्षु पौंडूकादि का, चूसा खाया स्वरस (प्रीणयति)

आहार में प्रीति अर्थात् रुचि करता है (सुरा) शराब (जर्जरी करोति) जरातुर-[बुढ़ापे के रोगों से ग्रसित] करती है (शीधु) आग्नि में पकाये ईख के रसका सिरका जठराग्नि को (अवधमति) धौंकता [बढ़ाता] है (द्राक्षासव) मुनक्काओं को जल में औटा कर बनाया अर्थात् सन्धित किया द्रव (दीपयति) दीपन कारक है (फाणितम्) राब (आचिनोति) स्रोतों में दोषों को मर्य्यादा से सञ्चय करता है, दही सूजन करता है, (पिण्याकशाकम्) तिलकल्क और पत्रशाक ग्लानि कारक हैं, उड़द की दाल पुरीष को बढ़ाती है, पुरीष क्षय में इस का विशेष बर्ताव करै, (क्षारः) जैसा कि सोडा सज्जी आदि इन का अधिक खान पान करना दृष्टि का और शुक्र का नाशक है। अनार और आमले के अतिरिक्त अम्ल [खट्टा] द्रव्य प्रायः पित्तल [पित्तकारक] होता है। मधुर द्रव्य मात्तिक और पुराने शालि यव गेहूं इन के अतिरिक्त प्रायः श्लेष्मल [कफप्रद] है। वेत्र की कोंपल और परवल को छोड़ सब तिक्त [कड़वे] द्रव्य प्रायः वायु कारक और अवृष्य हैं, कटुक (चरपरे द्रव्य) पीपल को और सोंठ को छोड़ प्रायः सब वातजनक और अवृष्य होते हैं ॥

इति वैदिक प्राणपणायाम् स्वस्थ वृत्त्यधिकारे आहार निर्माण हरण करण प्रकार कथने ऽष्टपञ्चाशत्तमो विवेकः ॥ ५८ ॥

(१४५१) काले सात्म्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम्।

(१४५२) सुखमुच्चैः समासीनः समदेहो ऽन्यमानसः।
क्षुधितो ऽश्नीयात् मात्रावद्विदितागमः ॥

अर्थ— (सुखम्) जिस प्रकार अन्नग्रास के लैने उठाने खाने में सुख रहे उस प्रकार (उच्चैः) ऊंचे [चौकी आदि] पर (समासीनः) असङ्कोच से बैठा हुआ (समदेहः) समान शरीर रख कर अर्थात् असमान आसन से न बैठ कर जैसा कि एक जानु रख कर और दूसरी उठा कर बैठते हैं [तथा दायें बायें झुककर के वा तिरछे बैठ कर-

के भोजन न करै, देखो चरक सू० अ० ८ में लिखा है कि- ना नृजु क्षुयात्राचा न्न शयीत- वक्र होकर अर्थात इधर उधर को मुख टेढ़ा करके न तो छींके न भोजन-करै और न शयन करै] (अन्नतत्परः) भोजन करने की ओर ही मन लगाये रहै, कामादि में व्यग्रमना होकर भोजन न करै। (काले) काल दो प्रकार का होता है एक नित्यग, दूसरा, आवस्थिक। नित्यग वह है जो आर्तव है उस में दिन और रात्रियों के बड़े और छोटे होने में भोजन करने के काल का नियम किया है। आवस्थिक यहां यह है कि जो अन्न के जीर्ण हो जाने की अपेक्षा से भोजन करने का काल स्थिरहै उसमें भोजन करै। कैसा भोजन करै यह आगे कहतेहैं ॥

सात्म्य, लघु, स्निग्ध, [इनके अर्थ होचुके हैं] (क्षिप्रं) अतिद्रुत [अति विलम्बित दोष रहित] उष्ण और द्रवोत्तर अन्न, भूख लगने पर (विदितागमः) हिताहित सम करने वाला होकर मात्रासे भोजन करै ॥

मात्रा का लक्षण ॥

(१४५३) अपीडा न भवेत्कुक्षौ पार्श्वयो रविपाटनम् ॥
प्रीडन अक्षुरादीनां शमनः क्षुत्पिपासयोः ॥
उच्छ्वासश्वास हास्यादि कथासु सुखवर्तनम् ।
सुखेन परिणामः स्या दन्ने भुक्ते दिवानिशि ॥

अर्थ- भोजन करने की मात्राका यह प्रमाण है कि जितने भोजन की मात्रा से कुक्षि को पीड़ा नहो, दोनों पार्श्वों में तनाव नहो, चक्षु आदि इन्द्रियों को अपने २ विषय ग्रहण करने में प्रवृत्ति होना, भूख और प्यास का शान्त होना, ऊपर को नीचे को श्वास लैने में, हास्यादि कथाओं में सुख से वर्ताव रहना, तथा दिन के और रात्रि के अन्न खाने परभी सुख से परिणाम अर्थात् रसादि धातुओं का बनना होजावै. इतने खाने को मात्रा से खाना कहते हैं ॥

अब कालादि के फल की प्रशंसा लिखते हैं ॥

(१४५४) काले भुक्तं प्रीणयति सात्म्य मन्नं न बाधते ।
लघुशीघ्रं व्रजेत्पाकं स्निग्धोष्ण म्बलवह्निदम् ॥

क्षिप्रं भुक्तं समं पाकं यात्यदोषं द्रवोत्तरम् ।
सुखं जीर्यति मात्रावद्धातुसाम्यङ्करोतिच ॥

अर्थ— समय पर भोजन किया तृप्ति करता है, सात्म्यान्न- पीड़ा नहीं करता, लघ्वशन- शीघ्र पक जाता है, स्निग्ध और उष्ण भोजन बलको और अग्नि को बढ़ाता है, क्षिप्र भोजन किया हुआ समपाक होता है, द्रवभोजन अधिक वा पीछे खाया पीया निर्दोषकर होता है, मात्रा से खाया हुआ सुख से पचता है, धातुओं को समान करता है ॥

॥ अथ आर्तव काल के भोजन करने के काल का नियम करते हैं ॥

(१४५५) अर्तावायत यामास्तु क्षपायेष्वृतुषु स्मृताः ।
तेषु तत्प्रत्यनीकाढ्यं भुञ्जीत प्रात रेवतु ॥
येषुचापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः ।
तेषु तत्कालविहित मपराह्णे प्रशस्यते ॥
रजन्यो दिवसा श्चैव येषु चापि समाः स्मृताः ।
कृत्वा सम महोरात्र न्तेषु भुञ्जीत भोजनम् ॥

अर्थ— जिन ऋतुओं में रात्रि बड़ी होती है, उन ऋतुओं में काल के, बल के, और प्रवृत्त दोष के, विपरीत प्रातः अर्थात् सवा प्रहर दिन चढ़े भोजन करै, और जिन ऋतुओं में दिन बड़े होते हैं, जैसे ग्रीष्म और प्रावृट् उस समय समयानुकूल विहित- द्रव स्निग्ध मधुर प्राय आहार अपराह्ण काल में करना कहा है, और जिन ऋतुओं में रात्रि और दिन बराबर होते हैं, जैसे शरद्, बसन्त, इनमें मध्याह्न में भोजन करै, यह विधि एक ही वार भोजन करने वाले की है, और दो वार भोजन करने वाले के लिये प्रातः भोजन मात्रा, अर्द्धमात्रा, वा त्रिभागरूप अर्थात् चौथाई मात्रा कम करकै खावै, लघु और शुद्ध खावै, दूसरीवार साढ़े चार प्रहर के अनन्तर खावै ॥

(१४५६) नाप्राप्ता तीत कालं वा हीनाधिक मथापिवा ।

अर्थ– भोजन का समय विना आये वा उस के वीतजाने पर न्यून वा अधिक भोजन न करै ॥

(१४५७) अप्राप्तकाले भुञ्जानः शरीरं ह्यलघौ नरः ।
तांस्तान्व्याधी नवाप्नोति मरणं वा सयच्छति ॥
अतीत काले भुञ्जानो वायुनोपहते ऽनले ।
कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयञ्च न कांक्षति ॥
हीनमात्र मसन्तोषङ्करोति च बलक्षयम् ।
आलस्यगौरवाटोप सादांश्च कुरुते ऽधिकम् ॥

अर्थ– अप्राप्त काल में भोजन करने से शरीर में भारापन होनेपर उन उन शिरो रोगादि व्याधियों को वा मृत्यु को प्राप्त होजाता है, भोजन का समय बीत जानेपर भोजन करने वाले का भोजन वायुसे अग्नि दूषित होने के कारण कठिनता से पचता है, और फिर दूसरी वारकी इच्छा नहीं करता है ॥ अल्पमात्रासे असन्तोष अतृप्ति, और बलक्षय होता है, और अधिक से आलस्य, शरीर में भारापन, पेट फूलना और अङ्गग्लानि होती है ॥

(१४५८) तस्मा त्सुसंस्कृतं युक्त्या दोषै रेतै र्विवर्जितम् ।
यथोक्त गुण सम्पन्न मुपसेवेत भोजनम् ।
विभज्य काल दोषादीन् कालयो रुभयोरपि ॥

अर्थ– इस कारण युक्तिसे अच्छे संस्कार कियेहुए और उक्त दोषों से रहित तथा उक्त गुणों से संयुक्त अन्नके समय और दोषोंके अनुकूल विभाग करके दोनों कालों में खावें ॥

भोजन के समय का विधान

(१४५९) सायम्प्रातर्मनुष्याणा म्भोजनं श्रुतिबोधितम् ॥
नान्तरा भोजनङ्कुर्य्या दग्नि होत्रसमो विधिः ॥
याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्म न्न लङ्घयेत् ।

यामसध्येऽ रसोत्पत्तिः यामयुग्मा द्बलक्षयः ॥
(१४६०) क्षुत्सम्भवति पक्वेषु दोषधातु मलेषु च ।
कालेवा यदि वाकाले सोन्नकाल उदाहृतः ॥
(१४६१) उद्गारशुद्धि रुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः ।
लघुता क्षुत्पिपासाच यदा कालः स भोजने ॥

अर्थ– मनुष्यों का भोजन प्रातः काल, और सायं काल में वेदके उपदेशानुसार है, । बीच में भोजन न कर इसका अग्निहोत्र के ही तुल्य सायं प्रातः विधान है । पहर भर के बीच में न खाना चाहिये और दो पहरको लांघना नहीं चाहिये । पहर के बीचमें भोजन करने से रस की ठीक उत्पत्ति नहीं होती है । और दो प्रहर पीछे बलका क्षय होता है ॥ क्षुधा की उत्पत्ति दोषों के धातुओं के और मलोंके पक जाने पर अर्थात् अपनी यथावत् अवस्था को आहार रस के पहुंच जाने पर होती है, वह क्षुधा जबही तभी अन्न का काल है ॥ डकार शुद्ध हो, उत्साह हो, मलमूत्र का त्याग यथासमय सुखसे हो, शरीरमें हलकापन, भूख और प्यास जब ठीक ठीक हों तभी भोजन करने का समय समझो ॥

अखाद्य अन्न का विवरण

(१४६२) अचोक्षं दुष्ट मुच्छिष्टम्पाषाण तृण लोष्ठ वत् ।
द्विष्टं व्युषित मस्वादु पूति चान्नम् विवर्जयेत् ।
चिरसिद्धं स्थिरं शीत मन्न मुष्णीकृत म्पुनः ॥
अशान्त मुपदग्धञ्च तथा स्वादु न लक्ष्यते ॥

अर्थ– (अचोक्षम्) अपवित्र, वा मलिन, (दुष्टम्) विष आदि से दूषित, (उत्सृष्टम्) भुक्तोत्सृष्ट अर्थात् खाकर छोडाहुआ जूंठा (पाषाणतृणलोष्ठवत्) कङ्करी पथरी तिनका और मिट्टी मिला हुआ (द्विष्टम्) मनके बिगाड़ने वाला, (व्युषितम्)बासी, (अस्वादु) बेस्वाद, [बदज़ायक़] (पूति) सटित, [सड़ा] (च) और शत्रुगण गणिकादिका (अन्नम्) अन्न (विवर्जयेत्) त्यागदे। (चिरसिद्धम्) देरके बने, (स्थिरम्) कठिन (शीतम्) ठण्डेहुए, (पुनः) फिरसे (उष्णी कृतम्) उष्ण किये, (अन्नर्) अन्नको तथा

(अशान्तम्) अत्युष्ण अर्थात् बिना ठण्डेहुए, (च) और (उपदग्धम) जलेहुए को तथा जो (स्वादु) स्वाद [रोचक] (न) नहीं (लक्ष्यते) दीख पडे ऐसे (अन्नम्) अन्नको न खाना चाहिये ॥

भोजन करने की विधि

(१४६३) यद्यत्स्वादुतरं तत्तद् विदध्या दुत्तरोत्तरम् ।

अर्थ– जो २ भोजनार्थ बने पदार्थों में (स्वादुतर) अधिक स्वादुहों उनको पीछे पीछे खाने को रक्खै, अर्थात् एक सुस्वादु देकर फिर उससे भी अधिक स्वादु दिया जावै।

(१४६४) प्रक्षालये दद्भि रास्य म्भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः ।
विशुद्ध रसने तस्मै रोचते ऽन्न मपूर्ववत् ॥

अर्थ– भोजन को खाने वाला एक पदार्थ को खाकर जलसे गंडूष [कुल्ला कर मुख को वार वार धोकर खावै तो जिह्वा के विशेष शुद्ध होने से उसको भोजन अपूर्ववत् [नवीन के तुल्य] रुचता है ।

(१४६५) स्वादुना तस्य रसनं प्रथमेनापि तर्पितम् ।
नतथा स्वादये दन्यं त्तस्मा त्प्रक्षाल्यमन्तरा ॥

अर्थ– पहले स्वाद रससे उसकी तृप्तहुई रसनाको अन्य रस स्वादित नहीं करता, इस कारण भोजन के मध्य में मुख प्रक्षालन करके द्वितीय आहरण करना चाहिये ।

(१४६६) सौमनस्यं बलम्पुष्टि मुत्साहं हर्षणं सुखम् ।
स्वादु संजनयत्यन्न मस्वादुच विपर्ययम् ॥

अर्थ– इस प्रकार स्वादुरस सुमनस्कता, बल, शरीर की मोटाई, उत्साह हर्ष सुख इन सबको उत्पन्न करता है, और अस्वादु इनभावों को नष्ट करता है ।

(१४६७) भुक्त्वाच यत्प्रार्थयते भूयस्त त्स्वादु भोजनम् ॥

अर्थ— जिसको खाकर बार बार मांगे वह स्वादु भोजन होता है।

(१४६८) पूर्वम्मधुर मश्नीया न्मध्ये ऽम्ललवणौ रसौ।
पश्चा च्छेषान् रसा न्वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत् ॥

अर्थ— भोजन करने वाले को वैद्य प्रथम मधुर रस खवावे, बीच में अम्ल, लवण, फिर शेष रसों के व्यञ्जनों को खिलावै ॥

(१४६९) आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान्।
बिना मोचाफलं तद्व द्वर्जनीयाच कर्कटी ॥

अर्थ—भोजन की आदि में दाडिमादिक फल खावे। कदलीफल और ककड़ी इनको भोजन की आदि में न खावे।

(१४७०) निरत्ययं दोषहरं फले ह्यामलकं नृणाम्।
मृड़ाल विस शालूक कन्देक्षु प्रभृतीनिच॥
पूर्वं योज्यानि भिषजा नतुभुक्ते कथञ्चन ॥

अर्थ— आदि वा मध्य वा अन्त में आमले का खाना (निरत्ययम्) कोई बाधाकारी नहीं, प्रत्युत दोषों का हरने वाला चक्षुष्य है, कमल की नाल का शाक वा उसकी जड़ [विस] नीलोत्पल की जड़ [शालूक] कन्द [शकरकन्द] (इक्षु प्रभृति) ईख वा ईखकी बनी वस्तु भोजन करने से पहले खावै भोजन किये पीछे कभी न खावै ॥

(१४७१) गुरु पिष्टमयन्द्रव्य न्तण्डुला न्पृथुकानपि।
न जातु भुक्तवान् खादे न्मात्रां खादेद् बुभुक्षितः ॥

अर्थ— भारी, पिट्ठी मिली द्रव्य, चावलों के चौला, इनको भोजन किये पीछे कभी न खावे, यादि भूखा होतो थोडी मात्रा में खावै ॥

(१४७२) घृतम्पूर्वं समश्नीयात् कठिनंप्राक् ततोमृदु।

अन्ते पुन र्द्रवाशीतु बलारोग्य म्प्रयच्छति ॥

अर्थ– भोजन में प्रथम घृत भोजन करे, भोजन की वस्तुओं में जो कठोर हो पहले उसे फिर मुलायम फिर अन्त में द्रववस्तु खावे पीवे, इस प्रकार खाना पीना बल और आरोग्य देता है ॥

(१४७३) न चैकरस सेवायां प्रसज्येत कदाचन।

अर्थ– एकही रस सेवन करने में प्रसक्त कभी न रहे, क्योंकि एकही रसका सेवन निर्बल कारक है, चरक में भी लिखा है कि–

सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्।
एकरसाभ्यासो दौर्बल्य कराणाम् ॥

अर्थ– बल कारक प्रयोगों के मध्य सब रसों का अभ्यास, सर्वोत्कृष्ट है। और निर्बल करने वालों में एक रसका अभ्यास उत्कृष्टतम है।

(१४७४) शाकावराम्भूयिष्ठ मम्लंच न समाचरेत् ॥

अर्थ– पत्रादि शाक और (अवरान्न) शमीधान्य तथा अम्ल रस बहुत न खावै ॥

(१४७५) नैकैकशः समस्तान्वा नाप्यश्नीया द्रसान्सदा ॥

अर्थ– एक एक रसके अथवा सबको मिलाकर सदैव अधिक न खावै। दोष रोगापेक्षा से एक एक रसकी आज्ञा है, और स्वस्थवृत्ति की अपेक्षा से सर्वरस सेवन विधि है, परन्तु अधिक नहीं ॥

(१४७६) प्राग्भुक्ते त्वविभिक्ते ऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेत् ॥

अर्थ– प्रातः काल के भोजन किये पीछे यदि जठराग्नि चैतन्य नहो, मन्द रहती हो तो दूसरी खाक भोजन न करै।

पूर्वभुक्ते ऽविदग्धे ऽन्ने भुञ्जानो हन्ति पावकम्।

अर्थ- पहला खाया हुआ अन्न कुछ पचे और कुछ कच्चे रहनेपर दुवारा भोजन करने वाले का भोजन जठराग्नि को नष्ट करता है ॥

(१४७७) मात्रागुरु म्परिहरे दाहारं द्रव्यतश्च यः ।
पिष्टान्नं नैव भुंजीत मात्रया वा बुभुक्षितः ।
द्विगुणञ्च पिबे त्तोयं सुखं सम्यक् प्रजीर्यति ॥

अर्थ-- गरिष्ठ भोजन की अधिक मात्रा त्यागै, पिट्ठी के [बटकआदि] अन्न को न खावै, और पिष्टान्न खाने पर अन्य आहार की अपेक्षा जल अधिक पीवैतो सुख से अन्न पचजाता है ॥

(१४७८) पेयलेह्याद्यभक्ष्याणां गुरु विद्या यथोत्तरम् ।
गुरूणा मर्द्धसौहित्यं लघूनान्तृप्ति रिष्यते ॥

अर्थ- पेय (पीने योग्य) लेह्य (चाटने योग्य) आद्य (भोज्यवस्तु) और भक्ष्य [शुष्क नीरस पदार्थ] ये यथोत्तर गुरु (भारी) हैं इनकी यथोत्तर न्यून मात्रा सेवनकरै, और जो सब से अधिक गुरु है उसै आधी (सौहित्य) तृप्ति से खाना, अर्थात् आधा भूखा रहना योग्य है, और जो लघु है, उसै भरपेट तृप्त होकर खाना चाहिये ॥

(१४७९) द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरु रिष्यते ।
द्रवाढ्य मपि शुष्कन्तु सम्यगेवोपपद्यते ॥

अर्थ- और जिस आहार में द्रवत्व अधिक है वा जो द्रवही है, जैसै कि दूध आदि पदार्थ हैं उन की मात्रा भर पेट भी खाई पीई हुई गुरुमात्रा नहीं समझी जाती, द्रव मिला शुष्क भी भले प्रकार पचता है ॥

(१४८०) विशुष्क मन्न मभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति ।

अर्थ- और विशेष शुष्क भोजन अभ्यस्त [अभ्यास किया] भी अच्छा नहीं पकता ॥

(१४८१) पिण्डीकृत मसांक्लिन्नं विदाह मुपगच्छति ॥

अर्थ—और जो अन्न (पिण्डीकृतम्) ईंट सा कठिन बांधा हुआ और अच्छा आर्द्र नहीं होता है वह विदाही होजाता है ॥

(१४८२) स्रोतस्यन्नवहे पित्तम् पक्तौवा यस्यातिष्ठति ।
विदाही भुक्त मन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ॥

अर्थ—वह [पिण्डीकृत अन्न] अविदाही भी विदाही हुआ और दूसरा प्राकृत विदाही अन्न भी खाया हुआ (अन्नवहे) आहार पहुंचाने वाले (स्रोतसि) आशय में अर्थात् आमाशय में और अग्निस्थान में जाकर जलन पैदा करता है ॥

(१४८३) शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापद मावहेत् ॥

अर्थ—शुष्क विरुद्ध और विष्टम्भि भोजन, अग्नि को बिगाड़ता है ॥

(१४८४) अत्युष्णान्नं बलं हन्ति शीतं शुष्कंच दुर्जरम् ।
अतिक्लिन्नं ग्लानिकरं युक्तियुक्तंहि भोजनम् ॥

अर्थ—जो द्रव्य वीर्य से, वा स्पर्श से, अत्युष्ण है. वह बलको नष्ट करता है, तथा अचक्षुष्य भी है । "अत्युष्ण मचक्षुष्य मित्युक्तत्वात्" अतिशीत और अति शुष्क दुर्जरहै, अति आर्द्र ग्लानि करता है ॥

(१४८५) मन्दानलो नरो द्रव्यं मात्रागुरु विवर्जयेत् ।
स्वभावतश्च गुरु यत् तथा संस्कारतो गुरु ॥
मात्रागुरु च मुद्गादि माषादिः प्रकृते र्गुरु ॥
संस्कारगुरु पिष्टान्नं प्रोक्त मित्युपलक्षणम् ॥

अर्थ—जिस पुरुष की जठराग्नि मन्द हो वह मात्रा [प्रमाण से] गुरु को, स्वभाव से गुरु को, तथा संस्कार से गुरुत्व हुए पदार्थ को त्याग दे ।
मात्रा गुरुत्व मुद्गादि में होता है, और माषादि में प्रकृति से गुरुत्व है और पिष्टान्न संस्कार से गुरु कहा है, यहां यह उप लक्षण [इशारे] मात्र इतनाही लिखा है ॥

(१४८६) आहारः षड्विध श्चूष्य म्पेयं लेह्य न्तथैवच ।
भोज्यं भक्ष्य न्तथा चर्व्यं गुरु विद्या द्यथोत्तरम् ॥

अर्थ – आहार छः प्रकार का होता है। १ चोष्य - जो चूंसा जाय, जैसा - ईख वा अनार आदि। २ पेय- दुग्ध शर्करोदकादि, ३ लेह्य - रसाला कथित [कढ़ी] आदि। ४ भोज्य- भक्त सूपादि। ५ भक्ष्य- माषेन्डरी मोदकादि। चर्व्य - चिपिट चणकादि ये यथोत्तर गुरु हैं ॥

(१४८७) न भुक्त्वा न रदैश्छित्वा न निशायान्न वा बहून्।
नजलान्तरिता न्नद्भिः सक्तूनद्या न्न केवलान् ॥

अर्थ -- भोजन करके, और दांतों से चबाकर, सत्तू न खावै और न रात्रि में, और न बहुत, और न जल बीच में पीकर, न दो वार, और न केवलों को खावै अर्थात् न अकेले सत्तू ही खावै ॥

(१४८८) अत्यम्बुपाना द्विषमाशनाद्वा संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
काले ऽपिसात्म्यं लघु चापिभुक्त मन्न न्न पाकं भजते-
नरस्य॥

अर्थ – अत्यन्त जल पीने से, विषम भोजन से, मल मूत्रादि के रोकने से स्वप्न के उलटे होने [रात्रि को जागने और दिनको सोने] से समय पर भी खाया हो और लघु तथा सात्म्य भी अन्न हो तब भी मनुष्य को नहीं पचता है।

उक्त कायिक कारणों को कहकर आगे भोजन न पकने के मानसिक
[मनके] कारणों को कहते हैं

(१४८९) ईर्षा भय क्रोध परिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेनच सेव्यमान मन्नं न सम्यक् परिणाम मेति ॥

अर्थ -- ईर्षा [पराई सम्पत्ति को देखकर न सहने] से, भय [दूसरे शत्रु आदि से त्रास पाने से, क्रोध से, लोभ से, रोग से, दीनता [दरिद्रता] की पीड़ा से, और प्रद्वेष युक्त मन के होने से, सेवन किया अन्न, अच्छी तरह नहीं पचता है ॥

(१४६०) हिताहितोप संयुक्त मन्नमनशनं स्मृतम् ।

अर्थ – हितकर अन्न अहित के संयोग से अनशन कहाता है ।

(१४६१) बहु स्तोक मकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम् ॥

अर्थ — बहुत वा थोड़ा वा कुसमय में खाया हुआ विषमाशन कहाता है ॥

(१४६२) साजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशन मुच्यते
त्रयमेतान्नि हन्त्याशु बहून् व्याधी न्करोतिवा ॥

अर्थ — और जो भोजन अजीर्ण में खाया जाता है वह अध्यशन कहाता है ॥

(१४६३) कुक्षेर्भागद्वयं भोज्यै स्तृतीये वारि पूरयेत् ।
वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थ मवशेषयेत् ॥

अर्थ– कोष्ठके दोभागों को भोज्यवस्तुओं से भरना चाहिये, तीसरे भागमें जलको भरै, और चौथे भागको वायु फिरने के लिये छोड़ना चाहिये ॥

(१४६४) विदाहीन्यन्नपानानि यानि भुंक्तेहि मानवः ।
तद्विदाह प्रशान्त्यर्थं भोजनान्ते पयः पिबेत् ॥

अर्थ– मनुष्य जितने वा जो कुछ विशेष दाहकारक अन्न पान खाता पीता है, उनके दाहकी शान्ति के लिये भोजन के अन्त में दूधपीवै । यदि विदाह जनक भोजन न कियाहो, पायसादि भोजन ही किया हो तो, दुग्धपान करने की आवश्यकता नहीं ॥ इतिध्वनिः ॥ कोई २ अनभिज्ञ ऐसा कहते हैं कि, भोजन किये पीछे धूमपान करके भुक्तोत्पन्न कफ को दूर करै, यह ठीक नहीं, क्योंकि वातादि तीनों दोष और रसादि सातों धातु सब भुक्ताहारोत्पन्न ही हैं और अपने २ समय पर सब बढते हैं उत्पन्न होते हैं परन्तु प्राकृतों का निकालना सर्वथा अनुचित है, योंतो अन्न पचने के समय पित्त भी बढता है उसको भी निकालना चाहिये फिर प्राकृत कफके सान्धि संस्नेहनादि पञ्च कर्म और प्राकृत पित्त के रागपक्त्यादि पञ्च कर्म कौन करेगा ॥ इतनेपरभी भोजन के ऊपर दूधपीने

की आज्ञा है तो फिर धूमपान कैसा। क्योंकि चरक सू० अ० ५ में लिखाहै कि—

(१४६५) न मद्यदुग्धे पीत्वाच न स्नेहं नच माक्षिकम्।

अर्थ— आसव, दूध, दधि, घृत आदि स्नेह और मधु [शहद] पीकर धूमपान न करै ॥

भोजनान्तर कृत्य

(१४६६) भोजने दन्तलग्नानि निर्हृत्या चमनंचरेत्।
दन्तान्तरगत मान्नं शोधने नाहरे च्छनैः ॥
कुर्या दनिर्हृतं तद्धि मुखस्या निष्टगन्धताम्।
दन्तलग्न मनिर्हार्यं लेप म्मन्येत दन्तवत्।
नतत्र बहुशः कुर्या द्यत्न न्निर्हरण म्प्रति ॥

अर्थ— भोजन करने में जो उच्छिष्ट दांतों में चिपटा हो उसे जलके गण्डूषादि से दूर करके और दांतों के बीचमें पहुंचे अन्न को किसी शोधन कारक उपायसे धीरे २ दूर करे ॥ क्योंकि न निकालाहुआ वही अन्न मुखमें दुर्गन्धता करता है ॥ और जो लेप दांतों में दांतसा चिपटाहो, वह दूर करने योग्य नहीं उसके निकालने के लिये बहुतसा उपाय नाकिया जाय ॥

(१४६७) आचम्य जलयुक्ताभ्यां पाणिभ्यां चक्षुषी स्पृशेत्।
भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषो र्यदि दीयते।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥

अर्थ— फिर आचमन करके जलयुक्त दोनों हाथों से नेत्रों को स्पर्श करै। भोजन करके हाथों को घिसकर यदि नेत्रों को लगायाजाय तो थोड़े ही दिनों में वह पानी तिमिरों को दूर करदेता है ॥

भुक्त्वा शतपदं गच्छे च्छनै स्तेनतु जायते।
अन्नसङ्घात शैथिल्यं ग्रीवा जानु कटी सुखम् ॥

भुक्त्वोपविशत स्तंद्रा शयानस्य तु पुष्टता ।
आयु श्चंक्रममाणस्य मृत्यु र्धावति धावतः ।
श्वासा नष्टौ समुत्तान स्तान्द्विः पार्श्वेतु दक्षिणे ।
तत स्तद्द्विगुणा न्वामे पश्चा त्स्वप्याद्यथासुखम् ।
वामदिशाया मनलो नाभेरूर्ध्वे ऽस्ति जन्तूनाम् ।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्त प्रपाकार्थम् ॥

अर्थ– भोजन किये पीछे शत १०० पद [कदम] धीरे२ चले, उस चलने से भोजन किये अन्न का सङ्घात [समूह] ढीला होता है, ग्रीवा [गर्दन] घुटने और कमर में सुख होता है, भोजन करके बैठने वाले को तन्द्रा, शय्यापर लेटने वाले को पुष्टि: और डोलने वाले को आयु और दौड़ने वाले को मृत्यु दौड़ती है, । आठ श्वास समुत्तान [चित्त] लेटकर लेवै उस से दूने सोलह श्वास दाहिने पगवाड़े से लेटे और सोलह से दूने बत्तीस श्वास वाम पार्श्व से लेटै, पीछे जिस प्रकार सुख समझै उस प्रकार शयन करै । जीवों की नाभि के ऊपर बायीं ओर अग्न्याशय है, इस कारण भोजन पचने के लिये वाम पार्श्व से शयन करै, ॥

इति वैदिक प्राणैषणायाम् स्वस्थवृत्त्यधिकारे आहार वैषयिक व्यवस्थाया
मूनषष्ठितमो विवेक' ॥ ५९ ॥

अन्नपाक करनेके लिये उपयुक्त पात्रादि का वर्णन

भोजन के बनाने और खाने में पात्रों [बर्तनों] की आवश्यकता अवश्य होती है इस कारण पात्र और पात्रों की शुद्धि का विचार आवश्यकीय है ॥

॥ पाकभाण्डानि हेमाद्रौ नागरखण्डे उक्तानि तानि लिख्यन्ते ॥

(१४६८) सौवर्णा न्यथरौप्याणि कांस्य ताम्रोद्भवानिच ।

मार्तिका न्यपि भव्यानि नूतनानि दृढ़ानिच ॥

अर्थ-भोजन बनाने के पात्र सुवर्ण के अथवा चांदी के, कांसी [मिश्रितधातु] अर्थात फूल के, और तांबे के भी नवीन और दृढ़ योग्य होते हैं ॥

अन्यदपि ग्रन्थान्तरात्

(१४९९) पचेदन्नानि सुस्नातः पात्रेषु शुचिषु स्वयम् ।
स्वर्णादि धातुजातेषु मृण्मयेष्वपि वाद्विजः ॥

अर्थ-द्विजधर्मी पुरुष अच्छे प्रकार स्नान करके स्वर्णादि धातुओं के अथवा मृण्मय मिट्टी के बने पवित्र पात्रों में अदनीय पदार्थों को पकावै ॥

(१५००) सच्छिद्रे ष्वपि लिप्तेषु तथा चोपहतेषु च ।
नायसेषु नभिन्नेषु दूषितेष्वपि कर्हिचित् ।
पूर्वं कृतोपयोगेषु मृण्मयेषु नतु क्वचित् ॥

अर्थ- छिद्र सहित बर्त्तनों में वा कोई प्रकार का मैल लिपटे हुए पात्रों में तथा फूटे हुओं में । और लोहे के पात्रों में, फूटे टूटे मैल आदि से दूषित हुए पात्रों में कभी न पकावै, और मिट्टी के पहले एक वार वर्ते हुओं में भी कभी भोजन न बनावै ॥

(१५०१) विवाहे प्रेतकार्येच मातापित्रोः क्षये ऽहनि ।
नवभाण्डानि कुर्वीत यज्ञकाले विशेषतः ॥

अर्थ- विवाह के वा प्रेत के कार्यों में और माता पिता की मृत्यु के दिन, नवीन पात्र बदलने चाहिये विशेष कर यज्ञ समय में ॥

(१५०२) यदा मृण्मयपात्रे तु पक्वं वै सर्वकालिकम् ।
मासे पक्षे तथाष्टाहे तत्पात्रं विसृजेद् गृही ॥

अर्थ= जिस मिट्टी के बर्त्तन में सर्व काल अर्थात् प्रत्येक काल में भोजन पकता रहा हो तो महीना पीछै वा पखवाड़े में अथवा आठ दिन पीछै गृहस्थ उस पात्र को त्याग दे ॥

(१५०३) दोषहृद् दृष्टिद म्पथ्यं हैमं भोजनभाजनम् ।
रौप्यं भवति चक्षुष्यं पित्तहृ त्कफवातकृत् ।
कांस्य म्बुद्धिप्रदं रुच्यं रक्तपित्त प्रसादनम् ।
पैत्तलं वातकृ द्रूक्ष मुष्णङ् कृमिकफप्रणुत् ।
आयसे काचपात्रे च भोजनं सिद्धिकारम् ॥
शोथपाण्डुहरं बल्यं कामलापह मुत्तमम् ।
शैलजे मृण्मये पात्रे भोजनं श्रीनिवारणम् ॥
दारूद्भवं विशेषेण रुचिदं श्लेष्मकारितु ।
पात्रं पत्रमयं रुच्यं दीपनं विषपापनुत् ॥

भाव प्रकाशः

अर्थ—भोजन बनाने करने का सुवर्ण का पात्र बड़े दोषों को हरने वाला दृष्टि को देने वाला और पथ्य [सेवन-योग्य] है । चांदी का पात्र नेत्रों को हित है पित्त को हरने वाला है तथा कफ वात को करने वाला होता है । कांसी [फूल] का पात्र बुद्धिप्रद, रोचक, और रक्तपित्त को अच्छा करने वाला है । पीतल का पात्र वात करने वाला है, रूखा है, उष्ण है कृमि का और कफका नाशक है । लोहे के और काच के पात्र में भोजन का होंना सिद्धि का कारण है, शोफ को पाण्डु को और कामला को दूर करता है । पत्थर के, अथवा मिट्टी के पात्र में, भोजन बनाना करना खाना श्री निवारण अर्थात् दरिद्री बनाने बाला है । काष्ठ का पात्र विशेषता से रुचि को देने वाला और श्लेष्म कारी है । पत्र का पात्र रुच्य, दीपन है, विष और पाप को दूर करने वाला है।

(१५०४) तैजसानां मणीनां च सर्वस्या श्ममयस्य च ।
भस्माद्भि मृदा चैव शुद्धि रुक्ता मनीषिभिः ॥

अर्थ—(तैजसानाम्) सार्वदेशीय प्रसिद्धाप्रसिद्ध चमकीली धातुओं के पात्रों की, (मणीनाम्) मरकतादि [पन्ना आदि] रत्नों की, वा उनके पात्रों की, और (सर्वस्या श्ममयस्य) सब प्रकार के अर्थात् कृत्रिम और प्राकृत दोनों पत्थरों के पात्रों की, कृत्रिम

पत्थर चीनी मारबेल आदिक, और प्राकृत–सङ्गमर्मर स्याहमूसा आदि के पात्रों की शुद्धि बुद्धिमानों ने मिट्टी लगाकर जलसे धोने से कही है ॥

(१५०५) निर्लेपं काचजम्भाड मद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
आब्जं रुक्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥

अर्थ – जिसमें कुछ चिकना न हो ऐसा काच का पात्र (आब्जम्) मोती शुक्ति, शङ्ख आदि जलोद्भव, और सुवर्णमय पात्र, और चांदी का (अनुपस्कृतम्) अकृत पाक संस्कार वा अन्य किसी प्रकार से न बिगड़ा बर्तन जलसे ही शुद्ध हो जाता है ।

(१५०६) ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुषः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदक वारिभिः ॥

अर्थ – तांबे के लोहे के कांसी के पीतल और (त्रपुषः) रांग के पात्र की वा रांग [कलई] चढ़े हुए की और सीसा के बर्तन की शुद्धि क्षार के अथवा खटाई के पानी से वा केवल पानी से होती है, जहां जिससे उचित हो वहां उसी से करना चाहिये ।

(१५०७) सौवर्ण राजताब्जाना मूर्ध्वपात्रग्रहाश्मनाम् ।
शाक रज्जू मूल फल वासो विदल चर्मणाम् ॥
पात्राणां चमसानाञ्च वारिणा शुद्धि रिष्यते ॥
चरु स्रुक् स्रुव सस्नेहपात्रा ण्युष्णेन वारिणा ॥
याज्ञवल्क्यः ॥

अर्थ – [सौने चांदी के पात्र (आब्ज) शंखादि (ऊर्ध्वपात्र) [यज्ञ पात्र विशेष] (ग्रह) चिमटा आदि तथा पत्थर के सिल लोढ़ा कूंडी आदि की शुद्धि और (शाक) पत्रशाक, (रज्जू) रस्सी डोर, मूल, फल, वस्त्र, दाल, मृगचर्म, तथा अन्य चमस [चमचा] आदि की शुद्धि पानी के धोने से होती हैं । और चरु आदि के पात्र, स्रुक स्रुव जो घृत से चिकने होजाते हैं उनकी शुद्धि गरम जल से धोने पर होती है ॥

(१५०८) भोजन करने और खाने के लिये जो पात्र उक्त हुए हैं । उनमें तैजस, सौना चांदी रांग सीसा जस्त इनके पात्रों में कोई रस नहीं बिगड़ता और कांसी तांबा लोहा

ये उत्तरोत्तर प्राय: किसी २ रस से विकृत होने वाले और किसी २ रस को विकृत कर ने वाले होते हैं। यशद [जस्ता] रांग (त्रपु) सीसा अग्नि में पिघल जाने और नम्र होने के कारण इनके पात्र भोजन बनाने के लिये नहीं इनका तो पित्तलादि के पात्रों पर अवगुण निवारणार्थ लेपन कलई होना समीचीन है ॥

(१५०९) जिस वस्तु के पात्र भोजन के रस को वा वर्ण को आपे में प्रविष्ट करलें और शोधन विधि से भी जो प्रविष्ट हुए को छोड़ न सकें उसके पात्र सबके लिये पृथक् पृथक् होने चाहियें. और उनमें पुनर्वार भोजन खाना उचित नहीं, क्योंकि उनमें उच्छिष्ट का संसर्ग लगा हुआ होता है। जैसाकि मिट्टी के वा काष्ठ के पात्रों में और पत्तलों में हरिद्रादि के वर्ण, लवणादि रस, घृतादि स्नेह ये घुसजाते हैं इसी से इनको उच्छिष्ट अपवित्र और अग्राह्य समझ कर, इनमें एक वार भी उच्छिष्ट लगजाने पर इस देश के उत्तम श्रेणी के गृहस्थी जन सदैव से फेंकते रहे हैं देखो मनु अ० ६ ॥

(१५१०) वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ।

अर्थ — गृहस्थी जनों के यहां (शराव सम्पाते) शकोराओं का फेंकना (वृत्ते) बीत जाने पर अर्थात् उनके भोजन कर लैने पर सन्यासी भिक्षा को जावै । यहां मिट्टी के बने पात्रों का तथा उनके साथ काष्ठ के अवयवी पत्तों के बने दोंना पत्तलों का भी इसी कारण फेंकदेना सिद्ध होता है ॥

(१५११) द्रवाणाञ्चैव सर्वेषां शुद्धि रुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानाञ्च दारवाणांच तक्षणम् ॥

अर्थ— सामान्यतासे सब द्रव वस्तुओं की शुद्धि (उत्पवनम्) उष्ण करके छानना है और (संहतानाम्) बेत झाऊ आदि के संहत [गुहे] अर्थात् बने हुए जैसे छबड़े टोकरी टिपारे आदि पात्रों की अपवित्रता हो जाने पर (प्रोक्षण) जल से छिड़क कर पौंछने से शुद्धि होती है। और काष्ठ के कठौटी आदि पात्रों की शुद्धि अस्पृश्य के स्पर्श हो जाने वा लगजाने पर छीलने से होती है ॥

(१५१२) मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणांच शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥

अर्थ- यज्ञ के कार्य में यज्ञ के बर्तनोंकी शुद्धि हाथ लगाकर मांजना धोना है छिड़कना नहीं, और (चमसानाम्) घृतादि की आहुति देने के लिये पलाशादि काष्ठ निर्मित चमचों का (ग्रहाणाम्) अग्नि आदि उष्ण वस्तुओं के पकड़ने के चीमटे आदि की शुद्धि जल से धोने से होती है ॥

(१५१३) प्रोक्षणात् तृणकाष्ठंच पलालं चैव शुद्ध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनै वेंश्म पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥
मद्यै मूत्रैः पुरीषै र्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥

अर्थ- घास फूंस काष्ठ इन्धनादि और (पलाल) पुराल नरई कड़व आदि धान्य रहित पशुओं का भक्ष्य ये जल छिडकने से शुद्ध होते हैं ॥ (मार्जनो पाञ्जनैः) बुहारने और लीपने पोतने से घर निर्दोष होता है मिट्टी का बर्तन पुनर्वार अग्नि में पकाने से निर्दोष होता है । परन्तु मद्य, मूत्र, विष्ठा, थूक, खकार, सिनक, राध, और रक्त इन से दूषित हुआ फिर के पकाने से भी शुद्ध नहीं होता है ॥

(१५१४) सम्मार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवांच परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पंचभिः ॥

अर्थ- घर के अतिरिक्त विकृत हुआ अन्य भूमिस्थलभी बुहारने, लीपने से, जल से सींचने [गरक करने] से उपर से (उल्लेखनेन) खुरचने खोद लेने से, और गौओं के विशेष वास कराने से, इन पांच प्रकार से निर्दोष शुद्ध [आरोग्य दायक] होता है ॥

(१५१५) पक्षिजग्धं गवाघ्रात मवधूत मवक्षुतम् ।
दूषितं केशकीटैश्च तत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥

अर्थ-- पक्षी का खाया, गौका सूंघा, पद से हिला, छींक का लगा, वा बाल पड जाने से वा कीड़ों से दूषित हुआ, जितना भोज्यांशहो, उतना मात्र निकाल कर फेंक देने से शेष शुद्ध होता है ॥

(१५१६) यावन्नापै त्यमेध्याक्ता द्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥

अर्थ– सब द्रव्यों की शुद्धि के विषय में यह कर्तव्य है कि, जबतक मल मूत्रादि अमेध्य का लेप और दुर्गन्ध दूर नहो तब तक मिट्टी लगा लगाकर जल से धोना चाहिये ।

(१५१७) शुद्धि विषयक जो २ बात शेष हैं जैसे कि शारीरिक मानसिक तथा वस्त्रादि की शुद्धि, वे सब शास्त्रानुसार, कुलाचारानुसार, देशानुसार विचार पूर्वक करनी बर्तनी चाहिये, विस्तार भयसे यहांपर सब नहीं लिखीं ॥

(१५१८) ज्ञानं तपोऽग्नि राहारो मृन्मनो वार्युपांजनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौच शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥

अर्थ– मनुष्यों के मन के शरीर के और वर्तने में आने वाली वस्तुओं के शुद्ध करने वाले ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मृत्तिका, मन, जल, लेपन, वायु, कर्म, सूर्य. और काल हैं ॥ जैसे–

(१५१९) ज्ञान से बुद्धि, तप से जीवात्मा, अग्नि से मारक रोगाक्रान्त देश, आहार [जैसा कि सान्तपन कृच्छ्र व्रत में पञ्चगव्य और कुशोदकादि] से मानसिक दोष शुद्धि जोकि अपस्मारोन्मादके हेतु के शान्त्यर्थभी होती है, मट्टी से पात्रादि मार्जन, मन से आत्मग्लानि, जल से शरीर के और पात्र वस्त्रादि के मल, लेपसे घर, वायु से असाध्य शुद्धि जैसी की मक्षिकादि की, कर्म [आजीवन] से अर्थ [धन] की शुद्धि, सूर्य से पञ्चादि में दुर्गन्धता आदि, और काल से शव और जन्म आदिकों की शुद्धि होती है । अर्थात् अपवित्रता दूर होती है, सामान्यता से यह सबकी शुद्धि कहकर इस प्रसङ्ग की समाप्ति की जाती है ॥

इति वैदिकप्राणेषणायाम् स्वस्थ वृत्त्यधिकारे आहारोपयोगिपात्रशुद्धि वर्णनादि नाम षष्ठितमो विवेकः ॥ ६० ॥

भोजनानन्तर जलादि पेय वस्तुओं का पानकर्त्तव्य विषय

(१५२०) अत्यम्बुपानान्नविपच्यतेऽन्न मनम्बुपानाच्च सएवदोषः।
तस्मान्नरो वह्निविवर्द्धनाय मुहुर्मुहु र्वारि पिबेदभूरि॥

अर्थ—जल के अधिक पीने से और न पीने से भी आहार नहीं पचता है इस कारण मनुष्य जठरानल के बढ़ने के लिये थोड़ा २ पानी अनेक वार कर के पीवै॥

(१५२१) भुक्तस्यादौ जलम्पीतं कार्श्यं मन्दाग्नि दोषकृत्।
मध्येऽग्नि दीपनं श्रेष्ठ मन्ते स्थौल्य कफप्रदम्॥

अर्थ भोजन की आदि में पानी पिया हुआ कृशता और मन्दाग्नि के दोष को करता है। बीच में पानी श्रेष्ठ है वह अग्नि का संदीपक है। और भोजन के अन्त में पीया स्थूलता को और कफ को विशेष करदेता है।

(१५२२) तृषितस्तु न चाश्नीयात् क्षुधितो न पिबेज्जलम्।
तृषितस्तु भवेद्गुल्मी क्षुधितस्तु जलोदरी॥

अर्थ—प्यासा तो आहार न करै, उस को पानी पीना चाहिये, और भूखा पानी न पीवै, उस को प्रथम भोजन करना चाहिये। विना प्यास न तो कभी जल पीवै, और न विना भूख कभी भोजन ही करै, यह सिद्धान्त हुआ। तृषा में भोजन करने वाला तो गुल्मी, और क्षुधा में पानी पीने वाला जलोदरी हो जाता है॥

शुद्ध और पेय जल के लक्षण

(१५२३) निर्गन्ध मव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघुच हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते॥

सुश्रुत सू० अ० ४५।

अर्थ—जो जल गन्ध रहित हो, जिस का रस विदित नहो, तृषा का नाशक हो पवित्र और शीतल हो, निर्मल हो, हलका हो, और हृदय को प्रिय हो, वह जल अपने गुणों से युक्त कहाता है, वह पीने योग्य है॥

(१५२४) पिच्छलं कृमिभिः क्लिन्नं पर्णशैवाल कर्दमैः।
विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धि न हितं जलम् ॥
दुर्देशज मसंस्पृष्टं सौर चान्द्रमसांशुभिः।
अनार्तवं वार्षमपि प्रथमं तच्च भूमिगम् ॥
व्यापन्न म्परिहर्त्तव्यं सर्वदोषप्रकोपणम्।
तत्कुर्या त्स्नानपानाभ्यां तृष्णाध्मानोदरज्वरान् ॥
कासाग्निमांद्याभिष्यन्द कण्डुगण्डादिकां स्तथा ॥

अर्थ– जो पिच्छल [घृतकुमारी के स्वरस तुल्य स्पर्श वाला] हो, कृमियुक्त हो, पत्ता, सिवार, कीच आदि में (क्लिन्न) तरीको पहुंचा हो, वायुक्त हो, जो अपने वर्ण से रहित बिगड़े रसहो, गाढ़ा, दुर्गन्ध युक्त हो, वह जल हितकर नहीं, जो दूषित स्थानोत्पन्नहो, जो सूर्य और चन्द्रमा की किरणों से स्पर्श न किया जाता हो, अनार्तव [बेमोसमका] वर्षाकाभी और जो प्रथम ही पृथिवी पर वर्षा हो, वह और (व्यापन्न) बिगड़ाहुआ हो ऐसा जल त्यागना चाहिये। यह वातादि सब दोषों का विशेष कुपित करने वाला होता है ॥ वह स्नान से बाहिर त्वचा के कण्डु दद्रु आदि रोगों को और पीने से तृषा अफरा उदर रोग, ज्वर प्रभृतिक कास मंदाग्नि आदि को करता है, इस से उक्त प्रकार का जल त्याज्य है ॥

(१५२५) कीट मूत्र पुरीषाण्ड शव कोथ प्रदूषितः।
तृण पर्णोत्कर युतं कलुषं विषसंयुतम् ॥
यो ऽवगाहेत वर्षासु पिबेद्वापि नवं जलम्।
सबाह्याभ्यन्तरान्रोगान्प्राप्नुयात क्षिप्रमेवतु ॥

अर्थ– कीडोंके, मूत्र के, मलके, अण्डों के, और शव [मुर्दों] के, (कोथ) सड़ने से विकृत हुआ, घास अथवा पत्तोंके समूहसे युक्त, मलिन और स्थावर, जङ्गम, पार्थिव, और कृत्रिम इन चारों प्रकार के विष मिले जल को, जो अवगाहन करता है वा वर्षाकाल में नवीन जल को पीता है। वह बाहिर के कण्डु कुष्ठादि रोग और अन्तर के उदरादि रोगों को शीघ्र ही प्राप्त होजाता है ॥

(१५२६) भौमाना मम्भसां प्रायो ग्रहणं प्रातरिष्यते ।
शीतलत्वं निर्मलत्वं यत स्तेषां महागुणाः ॥

अर्थ—भूम्युद्भव जलों का ग्रहण प्रायः प्रातःकाल ही करना चाहिये क्योंकि शीतलता और निर्मलता येही जलों के बड़े गुण हैं

सर्वतन्त्रसिद्धान्तात जलपात्रम्

(१५२७) सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमयेतथा ।
स्फाटिके मृण्मये काचे पात्रे रक्ष्यं सदा जलम् ॥

अर्थ— सुवर्ण के, चांदी के, तांबे के, कांसी [फूल] के, मणिके, स्फटिक पाषाण के, मिट्टीके, और काचके बर्त्तनों में, जल सदा रखना चाहिये ॥

जल शुद्धिः

(१५२८) तत्र सप्त कलुषस्य प्रसाधनानि भवन्ति ।
तद्यथा - कतक गोमेदक बिसग्रंथि शैवाल-
मूल वस्त्राणि मुक्तामणि श्चेति ॥ सुश्रुत सू० अ० ४५

अर्थ— जल विषयक गदलापन के मिटाने के सात उपाय हैं। १ निर्मलीफल २ पुष्पराग मणि ३ कमलकीजड़ ४ सिवार की जड़ ५ वस्त्र ६ मोती ७ स्फटिकमणि। इन उक्त वस्तुओं का जलसे कुछ काल तक सम्पर्क होना और वस्त्रसे छानना जलको निर्मल करता है ॥

जल रखने के उपाय

(१५२९) पंच निक्षेपणानि भवन्ति । तद्यथा - फलकं
त्र्यष्टकं मुञ्जवलय उदकमञ्चिका शिक्य श्चेति ।

अर्थ— जलके पात्र रखने के पांच प्रकारके आधार होते हैं। वे आगे गिनाये हैं १ (फलकम्) काठ का पटड़ा, २ (त्र्यष्टकम्) तिपाई वा अठपाई काष्ठकी, ३ (मुञ्जवलय) मूंजकीरज्जू के ईंदरा, ४ (उदकमञ्चिका) पानीके घड़े रखने के लिये बनी हुई बेत्रकी वा

बांसकी पृथिवी से ऊंची मंचिका, और ५ (शिक्यम्)। छींका, इनके ऊपर जलके पात्र रखने चाहिये इससे कीच आदि से जलपात्र न सनेंगे।

जल शीतल करने के उपाय

(१५३०) सप्त शीतीकरणानि भवन्ति। प्रवातस्थापन मुदक-प्रक्षेपणं यष्टिका भ्रामणं व्यजनं वस्त्रोद्धरणम् बालुका प्रक्षेपणं शिक्यावलम्बन ञ्चेति॥

अर्थ-- जल ठण्डा करने के लिये सात उपाय हैं, । १ (प्रवातस्थापनम्) सुखदायक विशेष वायु लगते रहने के देश में रखना, २ (उदक प्रक्षेपणम्) पीने योग्य जल से कण्ठ तक भरेहुए पात्र को वस्त्रादि से लपेट उस के ऊपर दूसरे शीतल जल को छोड़ना वा उस में पात्र को रखना जैसा कि आज कल बर्फ के जल में रखते हैं॥ (यष्टिका भ्रामणम्) जैसे यष्टिका भ्रामण [बनेंती फिराना] होता है तत्तुल्य चक्कर देने वाले यन्त्रपर जल पात्रों को रखकर या बांधकर शीघ्र २ घुमाना, यष्टिका भ्रामण कहिये ४ (व्यजनम्) बीजना [पंखा] से हवा करना, ५ (वस्त्रोद्धरणम्) वस्त्र के द्वारा आते हुए जल को ग्रहण करना, अर्थात् एक निर्मल मोटा कपड़ा कम से कम २ गज अधिक से अधिक ३ गज लेकर जहां वायु लगती हो, और धूप नहो, वहां किसी प्रकार वृक्षादि पर छींका बांधकर उसपर एक मिट्टी के घड़ेके पैंदे में छेद कर के उक्त कपड़े के एक छोर के ऊपर पानी की धार पड़ै इस प्रकार छीके पर जल भर कर घड़ा रख कपड़े को घड़े के नीचै बांध कर लम्बा लटका दे कि कपड़े का नीचे का छोर पृथिवी से एक हाथ ऊंचा रहै उस के नीचे मिट्टी का घड़ा रख दे और उस घड़े के नीचे जल से भीगा हुआ रेत भी बिछा हो। इस प्रकार से जल का शीतल होकर आना वस्त्रोद्धरण कहाता है। ६ (बालुका प्रक्षेपणम्) जल के पात्र में बालू [रेत] का डालना और ७ (शिक्यावलम्बनं) वृक्ष के एक ऊंचे गुद्दे पर नीचे को एक लम्बी रस्सी में छींका लटकादे और छींके में एक टोकरा रखदे उस में घास फूंस से ढक कर जल का भरा पात्र रक्खै और मुख पर ढकना लगा पानी छिड़क कर लम्बे २ झोटा देना शिक्यावलम्बन कहाता है॥

दुग्धपान विधान

(१५३१) तत्वनेकौषधिरस-प्रसादं प्राणदं गुरु।

मधुरंपिच्छलं शीतं स्निग्धंश्लक्ष्णं सरंमृदु ॥
सर्वप्राणभृतां तस्मा त्सात्म्यंक्षीरमिहोच्यते ।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीर मुक्तं रसायनम् ॥
सुश्रुत सू०

अर्थ — क्षीर औषधियों के रसका (प्रसाद) सार, प्राणद [जीवन दाता] मीठा, पिच्छल [विषद विपरीत] शीतवीर्य, चिकना श्लक्ष्ण (सर) अनुलोमन (मृदु) मुलायम है, इस कारण सब प्राणधारियों को सात्म्य [मुआफिक] कहा है, जीवनीय वस्तुओं के मध्य क्षीर उत्तम जीवनीय और रसायन कहा है ॥

दुग्धपान समय

(१५३२) वृष्यं बृंहण मग्निवर्द्धनकरं पूर्वाह्णपीतं पयः ।
मध्याह्ने बलदायकं रतिकरं कृच्छ्रस्य विच्छेदनम् ॥
बाल्ये वन्हिकरं ततो बलकरं वीर्यप्रदं वार्द्धके ।
रात्रौ क्षीर मनेक दोषशमनं सेव्यं ततः सर्वदा ॥
वदन्ति पेयं निशि केवलं पयो ।
भोज्यं न तेनेह सहौदनादिकम् ।
भव त्यजीर्णे निशि क्षिप्तशर्करम् ।
क्षीराल्पपानस्य न शेष मुत्सृजेत् ॥

अर्थ — दिवस के पहले भाग में पीया हुआ दुग्ध [दूध] वृष्य है, मांसल है, अग्नि को बढाता है, मध्याह्न में पीया बलदेता है। प्रीति को करता है। मूत्र कृच्छ्र को दूर करता है, बाल्यावस्था में अर्थात् बालकों की जठराग्नि को करता है (ततः) तदनन्तर अर्थात् तरुणावस्था में पीया हुआ बल करता है, और वृद्धावस्था में वीर्य को पैदा करता है, रात्रि में पीना अनेक दोषों को शान्त करता है, इस कारण से सदा ही दूध सेवन करना चाहिये। आप्त लोग रात्रि में केवल [अकेले] दूध ही पीने को कहते हैं। उसके साथ ओदन आदि भोजन को नहीं, अन्न के (अजीर्ण) अपच (भवति) होने पर रात्रि में

(क्षिप्त शर्करं क्षीराल्प पानस्य) पड़ी हुई शर्करा [चीनी] जिस दूध में हो उसका थोड़ा सा पान करने वाले को (शेषम्) अवशिष्टाजीर्ण का शेष (न) नहीं (उत्सृजत्) छोड़ता है. अर्थात् चीनी पड़ा दूध रात्रि में पीया सब अजीर्ण को खा देता है यदि उ.. साथ कुछ भोजन न किया हो तो ॥

(१५३३) क्षीरं मुहूर्तत्रितयोषितं यत् अतस्तेनतद्विकृतिं प्रयाति ।
षण्णान्तुदोषंकुरुते तदूर्ध्वं विषोपमंस्या दुषित दशानाम् ॥

अर्थ — बिना पका दूध तीन मुहूर्त अर्थात् २ घण्टा २४ मिनट में (उषितम्) ऋतु की ऊष्मा पहुंचा बिगड़ने के पास का पहुंच जाता है। उससे ऊपर छः मुहूर्त अर्थात् १२ घड़ी पीछे दोष [जिस दोष का जौनसा दूध प्रकोपक होता है उस] को करता है और दश मुहूर्त के पश्चात् विष के तुल्य होता है ॥

(१५३४) चतुर्थभागं सलिलं निधाय यत्ना द्यदावर्तितमुत्तमं तत् ।
सर्वामयघ्नं वलपुष्टिकारी वीर्यप्रदं क्षीर मतिप्रशस्तम् ॥

अर्थ— दूध में चौथाई जल डाल कर (यत्नात्) निरन्तर से वों, वह उत्तम है, सब रोगों को हरता है, बलका पुष्टि का करने वाला है, वीर्य का पैदा करनेवाला अत्यन्त प्रशस्त है

(१५३५) गव्यं पूर्वाह्नकाले स्या दपराह्ने तु माहिषम् ।
क्षीरं सशर्करं पथ्यं यद्वा सात्म्यञ्च सर्वदा ॥
क्षीरन्नभुञ्जीत कदा प्यत्तप्तं ।
तप्तञ्च नैतल्लवणेन सार्द्धम् ।
पिष्टान्न सन्धानक मापमुद्ग -
कोशातकी कन्द फलादिकैश्च ॥

अर्थ— गोदुग्ध पूर्वाह्न समय और भैंसका दूध मध्याह्न में शर्करा सहित सेव्य है, अथवा जिसको जो सदा (सात्म्यम्) मुआफिक हो उसे सेवन करै। दूध कच्चा वा

औटा हुआ कैसाभी हो उसे लवण के साथ कभी न पीवै, और न लवणमय भोजन के साथ पीवै। और खिट्टी का भोजन, अचार, उड़द, मूंग, तोरई, कन्द, और बेल [बल्ली] के फलादिकों के साथ भी न पीवै खावै ॥

(१५३६) मत्स्य मांस गुड मुद्गमूलकैः कुष्ठमावहति सेवितम्पयः।
शाकजाम्बवरसैश्च सेवितम् मारयत्यबुध माशुसर्पवत् ॥

अर्थ— मछली मांस गुड मूङ्ग मूली इन के सङ्ग में दूध का सेवन कुष्ठ रोग को करता है। पत्रशाक, और जामुन के रस के साथ दूध का सेवन अज्ञानी पुरुष को सर्प की तुल्य शीघ्र मरता है ॥

(१५३७) स्निग्धं शीतंगुरु क्षीरं सर्वकालं न सेवयेत्।
दीप्ताग्निंकुरुते मन्द म्मन्दाग्निं नष्ट मेवच ॥

अर्थ— दूध चिकना है ठण्डा है भारी है इसकारण इसको सबकाल में सेवन न करै। क्योंकि दीप्ताग्नि को मन्द और मन्दाग्नि को नष्ट करता है ॥

(१५३८) नित्यं तीव्राग्निनासेव्यं सुपक्वं माहिषंपयः ॥
पुष्यान्ति धातवः सर्वे बलपुष्टि विवर्द्धनम् ॥

अर्थ — तीव्राग्नि वाले को अच्छा औटा हुआ भैंस का दूध नित्य पीना चाहिये। उससे सब धातुपुष्ट होतीं हैं, बलकी पुष्टि होती है ॥

(१५३९) क्षीरं गवाजकादे र्मधुरं क्षारं नवप्रसूतानाम्।
रूक्षं च पित्तदाहं करोति रक्तामयं कुरुते ॥
मधुरं त्रिदोषशमनं क्षीरमध्ये प्रसूतानाम्।
लवणं मधुरं क्षीरं विदाहजननं चिरप्रसूतानाम् ॥
गुणहीनं निःसारं क्षीरं प्रथमप्रसूतानाम्।
मध्ये रासायनिक म्प्रोक्तं दुर्बलन्तु वृद्धानाम् ॥

तासां मासत्रयादूर्ध्वं गुर्विणीनाञ्च यत्पयः।
तद्धाहि लवणं क्षीरं मधुरं पित्त दोषकृत् ॥

अर्थ— नवीन ब्याई हुई गौ बकरी आदि का दूध खारी और रूख' है पित्तको दाहको तथा रुधिर के रोगों को करता है, प्रसूत हुए गवादिकों के मध्यमकाल का दूध मीठा तीनों दोषों का शमन करने वाला होता है। बहुत दिनों की [प्रसूत ब्याई] हुई गवादिकों का दूध लवणरस मिला मीठापन लिये होता है यह विदाह करता है। पहलौन ब्याई हुईयों का दूध न्यून गुणकारी निः सार [निर्बल] इससे पीछे मध्यम अवस्था वालियों का रसायन और बूढ़ीओंका दुर्बल होता है ॥

गर्भिणी गवादिकों का तीन महीना पीछे लवण और मधुररस वाला दाह और पित्त के करने वाला होता है ॥

(१५४०) देशेषु देशेषु च तेषु तेषु तृणाम्बुनी यादृशदोषयुक्ते ।
तत्सेवनादेव गवादिकानां गुणाहि दुग्धादिषु तादृशत्वम् ।

अर्थ— जिस २ देश में जैसे गुण वा अवगुण युक्त तृण और जल होते हैं, उनके सेवन से गवादि पशुओं के दुग्धादि में भी तत्तुल्यही गुण वा अवगुण समझने चाहियें ॥

(१५४१) बालवत्स विवत्सानां गवां दुग्धं त्रिदोषकृत् ।
वष्कयिण्या स्त्रिदोषघ्नं तर्पणं बलकृत्परम् ॥

अर्थ— बाल [नादान] बच्चे वाली गौ का और बिना बच्चे वाली गौ का दूध त्रिदोष करता है, बाखरी का त्रिदोष को नष्ट करता है तृप्तिका और बलको विशेष करता है ॥

(१५४२) जाङ्गलानूपशैलेषु चरन्तीनां यथोत्तरम् ।
पयो गुरुतरं स्नेहो यथाहारं प्रवर्त्तते ॥

अर्थ— जाङ्गल देशमें, आनूप देशमें और पहाड़ों में, चरने वालियों का दूध यथोत्तर अतिशय गुरु, और स्नेह [नवनीतादि] जैसा आहार हो वैसाही होता है ॥

(१५४३) स्वल्पान्न भक्षणा ज्ञातं क्षीरं गुरु कफप्रदम् ॥
तत्तु बल्यं परं वृष्यं स्वस्थानां गुणदायकम् ॥
पलाल तृण कर्पास वीजजं रोगिणां हितम् ॥

अर्थ–थोड़ा अन्न खाने से पैदा हुआ दूध भारी और कफप्रद है। वह अति बलदायक और वृष्य है, स्वस्थों को गुणकारी है, और पुराल [चरी आदि] तृण [घासादि] बिनोलों के खाने का दूध रोगियों को हितकर है ॥

दधि गुण वर्णनम्

(१५४४) रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्द्धनम् ।
पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृंहणं दधि ॥

अर्थ– दुग्धके पश्चात् दही कामी कुछ वृत्त लिखना आवश्यक है। दही खाना रुचि करता है दीपन. जठराग्नि को बढ़ाने वाला। वृष्य, चिकनाई लाने वाला, बल वर्द्धक पकने में खट्टा, उष्णवीर्य, वातनाशक, मङ्गल [शुभकारक शुभदायक] और मांस वर्द्धक है ॥

(१५४५) आदौ मन्दं ततः स्वादु स्वाद्वम्लञ्च ततः परम् ।
अम्लं चतुर्थं मत्यम्लं पञ्चमं दधि पञ्चधा ॥
भावप्रकाशः

अर्थ– दधि पांच प्रकारका है १ मन्द [कुजम] २ स्वादु, [मीठा] ३ स्वाद्वम्ल, [खटमधुरा] ४ खट्टा ५ अतिखट्टा, इनमें मन्द अल्पगुण दायक है। स्वादु दधि अभिष्यन्दि [स्रोतोंका रोकने वाला] और वृष्य है. मंद और कफप्रद, है, वातघ्न, मधुरपाकी रक्तपित्तका शुद्धिकर्ता है। स्वाद्वम्लके गुण ऊपर कहे सामान्य दही के समझने। खट्टा दधि- दीपन पित्तका रक्तका कफका वर्द्धक होता है, और अत्यम्ल दधि– दन्तहर्ष रोमहर्ष कण्ठ में दाह इनके करने वाला, दीपन, और रक्तपित्त का दूषक होताहै ॥

(१५४६) सशर्करं दधिश्रेष्ठं तृष्णा पितास्र दाहजित् ।

' सगुडं वातनुद् वृष्यं बृंहणं तर्पणं गुरु ॥

भावप्रकाशः

अर्थ– बूरापड़ा हुआ दही प्यासको और रक्त पित दाह इनका जीतने वाला होता है। गुड़सहित वातको दूर करता है, वृष्यहै, तर्पणहै और गुरु है, ॥

(१५४८) कुर्या द्भक्ताभिलाषञ्च दधि यत् सुपरिस्नुतम् ॥
स्नुता त्क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद् दधि तत्स्मृतम् ॥

अर्थ– जो दधि औटे हुए दूधका जमा हो और पानी उसका टपका दियागयाहो वह गुणकारी होता है और भोजनकी इच्छा को करता है, ॥

(१५४९) शरद् ग्रीष्म वसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।
हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ॥

अर्थ– शरद् [कन्या तुल] ग्रीष्म [वृष मिथुन] और बसन्त [मीन मेष के सूर्य्य] में दधिका सेवन प्रायः अनुचित और हेमन्त [वृश्चिक धन] शिशिर [मकर कुम्भ] और वर्षा [कर्क सिंह के सूर्य] में दधि सेवन उचित कहा है। अभिप्राय यह है कि- जहांतक होसके दधिको पितके और कफके राज्य में न खावे, वातके राज्य में खावे यह प्रायक विधि निषेध है ॥

(१५५०) न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम् ।
ना मुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकै र्विना ॥

अर्थ– रात्रिमें दही न खावे यदि खायनीतो घी या बूरा मिलाहुआ खावै, अथवा मूंग की दालके वा क्षौद्र [देशी छोटीमक्खी के संग्रह किये] शहद के साथ मिलाकर खावे, उष्ण [गरम] के साथ न खावे, बिना आमले के नखावै। तात्पर्य्य यह है कि– रातमें दही को घी बूरा मूंगकी दाल शहद आमला इन में से किसी एक द्रव्यके बिना मिलाये नखावै ॥

(१५५१) ज्वरासृक्पित्त वीसर्प कुष्ठ पाण्ड्वामय भ्रमान् ।
प्राप्नुया त्कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः ॥

अर्थ– जो मनुष्य विना विधिके दही का प्रिय, अर्थात् दधिको सेवन करता है, वह ज्वर, रुधिर, पित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु रोग, भ्रम, और उत्कृष्ट कामलारोग को प्राप्त होता है ॥

(१५५२) दध्नस्तूपरि योभागो घनः स्नेह समन्वितः ।
स लोके सर इत्युक्तो दध्नो मण्डस्तु मास्त्विति ॥

अर्थ– दही का ऊपरला भाग [मलाई रूप] जो गाढ़ा चिकना होता है उसको लोकमें सर कहते हैं, और दहीका (मण्डः) निचोड़ मस्तु कहाता है ॥

(१५५३) सरः स्वादु गुरु वृष्यो वातवह्नि प्रणाशनः ।
साम्लो बस्तिप्रशमनः पित्तश्लेष्म विवर्द्धनः ॥
मस्तु क्लमहरं बल्यं लघु भक्ताभिलाषकृत् ।
स्रोतोविशोधनं ह्लादि कफतृष्णानिलापहम् ॥
अवृष्यं प्रीडनं शीघ्रं भिनत्ति मलसञ्चयम् ॥

अर्थ– मीठासर [दही की मलाई] भारी वीर्य वर्द्धक और वायु तथा जठराग्नि को कम करता है यदि वह खट्टा होतो वस्ति [मसाने] को शुद्ध करने वाला और पित्त कफ को बढाने वाला होता है । वह मस्तु ग्लानिको दूर करने वाला, बल्य, लघु, भोजन में प्रीतिको करने वाला स्रोतों को विशेष शोधन कर्त्ता, सुखकारी कफ, प्यास, वायु, इनका, नाशक अवृष्य, प्रीडन [तर्पक] और मलके सञ्चय को शीघ्र फोड़ तोड़ करदेता है ॥

तक्र गुण वर्णनम्

(१५५४) घोलन्तु मथितं तक्र मुदश्विच्छच्छि कापि च ।
ससरं निर्जलं घोलं मथितं त्वसरोदकम् ॥

तक्रं पादजलं प्रोक्तं मुदश्वि दर्धवारिकम् ।
छच्छिका सारहीनास्या त्स्वच्छा प्रचुरवारिका ॥
घोलन्तु शर्करायुक्तं गुणै र्ज्ञेयं रसालवत् ।
वातपित्तहरं ह्लादि मथितं कफपित्तनुत् ॥
तक्रं ग्राहि कषायाम्ल स्वादुपाकरसं लघु ।
वीर्योष्ण न्दीपनं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम् ।
ग्रहिण्यादिमता म्पथ्य म्भवे त्संग्राहि लाघवात् ।
किञ्चि त्स्वादुविपाकित्वा न्नच पित्तप्रकोपणम् ।
अम्लेनवातं मधुरेणपित्तं कफंकषायेण निहान्तिसद्यः ।
न तक्रसेवी व्यथते कदाचित्
न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः ॥
यथा सुराणा ममृतं सुखाय
तथा नराणां भुवि तक्र माहुः ॥
उदश्वि त्कफ कृद्बल्य मामघ्नं परमं मतम् ॥
छच्छिका शीतला लघ्वी पित्तश्रमतृषाहरी ।
वातनुत् कफकृ त्सातु दीपनी लवणान्विता ॥

अर्थ– तक्र [मट्ठा] ५ प्रकार का होता है । १ घोल २ मथित, ३ तक्र, ४ उदश्वित ५ छच्छिका । जो सर [मलाई] सहित बिलोया हो, और घी जिस में से न निकला हो, और पानी भी न पड़ा हो, वह घोल कहिये । जो मलाई निकाल कर और किञ्चित पानी डालकर मथा हो वह मथित होता है ।

चौथाई पानी डालकर बिलोया हुआ तक्र, और आधा पानी सहित मथा हुआ उदश्वित् है, और जिस में पानी बहुतहो, सारहीन हो, वह स्वच्छ छच्छिका अर्थात् छाछ कहाती है । अब इनके गुण कहते है, ।

घोल-- जो बूरा पड़ा हुआ होता है वह रसाला [सिखरन] के तुल्य गुणकारी है।

वात का पित्त का हरने वाला सुखद मथित होता है। तक्र [मठा छाछ] कफ का पित्त का दूर करने वाला है, ग्राही, कषाय और अम्ल रसवाला, मधुर रसपाकी, लघु, उष्ण वीर्य दीपन, वृष्य, प्रीणन- वात शमनकर्ता, ग्रहणी, अर्श और मन्दाग्नि के रोगों में पथ्य है। संग्राही और लघु होने के कारण सेवन करने के योग्य है ॥

और मधुरपाकी भाव होने से पित्त प्रकोपक नहीं है। मध्वम्ल, दीपन, वृष्य और प्रीणन होने से वात का नाशक है। कषाय रस वाला, उष्ण वीर्य, और उष्ण विपाक होने के प्रभाव से तथा रूक्ष गुण होने से तक्र कफ को दूर करता है॥ अम्ल से वात को, मधुर से पित्त को, और कषाय रस से कफ को शीघ्र दूर करता है। मट्ठे का पीने खाने वाला कभी दुःखी नहीं होता, और तक्र के खोये हुए रोग पुनर्वार नहीं होते। स्वर्ग लोक के निवासी सुरों को जैसा अमृत सुख के लिये है, वैसा ही इस पृथ्वी पर मनुष्यों के लिये तक्र कहा है। उदश्वित् कफ के करने वाला बल्य और अपच का परम नाशक है और छाछ ठण्डी हलकी पित्त के श्रम के और तृषा के हरने वाली वात को खोने वाली कफ को करने वाली और लवण युक्त दीपनी है ॥

समुद्धृतघृतं तक्रं पथ्यं लघु विशेषतः।
स्तोकोद्धृतघृतं तस्माद् गुरु वृष्यं कफावहम् ॥
अनुद्धृतघृतं सांद्रं गुरु पुष्टिकफप्रदम्।
वातेऽम्लं शस्यते तक्रं शुण्ठीसैन्धवसंयुतम् ॥
पित्ते स्वादु सितायुक्तं घोलं क्षारयुतं कफे।
हिङ्गुजीर युतं घोलं सैन्धवेन सुसंयुतम् ॥
भवेदतीव वातघ्न मर्शोऽतीसार हृत्परम्।
सुरुच्यं पुष्टिदं बल्यं वास्तिशूल विनाशनम् ॥
मूत्रकृच्छ्रे तु सगुडं पाण्डुरोगे साचित्रकम् ॥

अर्थ— घी निकला हुआ तक्र सेव्य है वह विशेष लघु होता है थोड़ा घृत निकाला हुआ तक्र गुरु तथा वृष्य है और कफको करता है। घी न निकाला तक्र गाढ़ा, भारी, पुष्टि कारक और कफद है। वात में खट्टा तक्र सोंठ सैंधानमक मिलाकर सेवन

करै। पित्त में मीठा घोलनठा में मिसिरी मिला हुआ पीवै और कफ में क्षार [यवक्षारादि] मिला हुआ सेवन करै। वात में हींग जीरा सैंधालवण मिलाकर बर्तना चाहिये वह अर्श और अतिसारको विशेष दूर करना है, मुखरुचिको पुष्टिको और बलको करता है। वस्ति शूल को हरता है। मूत्रकृच्छ्र में गुड़ मिलाकर और पाण्डु में चीता मिलाकर सेवन करना चाहिये॥

(१५५५) नैव तक्रं क्षते दद्या न्नोष्णकालेन दुर्बले।
नमूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके।

अर्थ– तक्र को घाव में, उष्ण काल में, दुर्बलता में, मूर्च्छा में, भ्रम में, दाह में और रक्तपित्त के रोग में कभी न देना चाहिये।

इति वैदिक प्राणिपणायाम् स्वस्थवृत्तनिकारे दुग्धादि पान विषय वर्णने
एकषष्टितमो विवेकः॥ ६१॥

नवनीतादि के गुण

(१५५६) नवनीतम्पुनः सद्यस्कं लघुसुकुमारं मधुरंकषायमीष-
दम्लं शीतलं मेध्यम्। दीपनंहृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं
वृष्य मविदाहि क्षयकास श्वास व्रणार्शो ऽर्दितापहं गुरु
कफ मेदो विवर्द्धन म्बलकरं वृंहणं शोषघ्नं विशेषतो
बालाना म्प्रशस्यते। क्षीरोत्थ म्पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहं
माधुर्ययुक्त मतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यंसंग्राहि रक्त-
पित्तरोगहर म्प्रसादनञ्च। सन्तानिका पुनर्वातघ्नी तर्प-
णी बल्या वृष्या स्निग्धा रुच्या मधुरा मधुरविपाका

रक्तपित्त प्रसादिनी गुर्वी च ॥

अर्थ- (सद्यस्कम्) सद [ताजी] लोनी [मक्खन] लघु (सुकुमारम्) शरीर को मर्दन करने से मृदु करने वाला, मधुररस, कुछेक कषाय और अम्लरस, शीतल, मेध्य, [मेधाजनक] दीपन, हृद्य, संग्राहि, पित्त का वात का हारक, वृष्य, अविदाहि, क्षय, कास श्वास, व्रण, अर्श, अर्दित, [लकवा] इनको दूर करता है, गुरु है। कफ को और मेद को बढाता है। बलकारी, बृंहण, शोष नाशक, विशेषतासे बालकों को हितकर है। दूध से निकला नवनीत अधिक चिकना मिठास युक्त, अतिशीत, सुकुमार कर, चक्षुष्य, संग्राहि रक्तपित्तके रोगों का हर्त्ता, और स्वच्छ करने वाला है॥ और दूधकी मलाई वातके हरने वाली, तृप्ति करी, बलप्रदा, चिकनी, रुचिमें आने वाली, मीठी, मधुर विपाका, रक्तपित्त को शुद्ध करने वाली, और भारी है॥

विकल्प एष दध्यादिः श्रेष्ठो गव्यो ऽभिवर्णितः।
विकल्पा नवशिष्टांस्तु क्षीरवीर्यात्समादिशेत्॥

अर्थ- यह दधि आदिके भेद गौके दूधके कहे गये क्योंकि सब में गव्यही प्रधान और श्रेष्ठ है। शेष अजादि पशुओं के दध्यादि के भेद उन के दूध के वीर्य [तासीर] के समान समझना॥

(१५५७) घृतन्तु सौम्यं शीतवीर्यं मृदुमधुरमल्पाभिष्यन्दि स्नेहन मुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमन मग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्य सौकुमार्य्यौजस्तेजोबलकर मायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयः-स्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्द्धनम्। पाप्मालक्ष्मी प्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नञ्च॥

अर्थ- घृत (सौम्यम्) आग्नेयेतर गुण अर्थात् सोम [चन्द्रमा के वा जल के वा सोमलतौषधि] के गुण युक्त (शीतवीर्यम्) शीतलस्पर्श, (मृदु) कठिनेतर, [मुलायम] (मधुरम्) अव्यक्त माधुर्ययुक्त, (अल्पाभिष्यन्दि,) थोड़ा बढ़ने वाला, इस

कफ्म से हानादि दोष, रसादिधातु, पुरीषादिमल, और स्रोतों का थोड़ा छेदन [तर करने वाला, कहा गया, (स्नेहनम्) चिकना करने वाला (उदावर्तोन्माद्यपस्मार शूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनम्) उदावर्त [अर्थात् मल मूत्र के मार्ग के उपद्रवों के रोकने से उत्पन्न हुआ रोग विशेष,] उन्माद [खफगान] अपस्मार [मिर्गी] शूल [उदराशय में तीव्र वेदना रूप रोग विशेष] ज्वर, आनाह, वातका पित्त का शमन करने वाला अग्नि का दीपन (स्मृति मति मेधा कान्ति स्वर लावण्य सौकुमार्य्यौजस्तेजो बलकरम्) व्यतीत वार्ता का स्मरण - अनागतस्मरण - ग्रन्थधारण शक्ति- शोभा- रूपातिशयता - कोमलता-हृदिस्थशुक्रान्त धातुओं का परमसार- प्रभा- और बल इनके करने वाला (आयुष्यम्) आयुष्कर (वृष्यम्) शुक्रोत्पादक (मेध्यम्) पवित्र, (वयःस्थापनम्) अवस्था का ठहराने वाला, अर्थात् अनेक आपत्तियों से रक्षा कर पूर्णायु तक पहुंचा देने वाला, (गुरु) भारी (चक्षुष्यम्) नेत्रों के लिये हित (श्लेष्माभिवर्द्धनम्) कफ का बढ़ाने वाला (पाप्मा लक्ष्मी प्रशमनम्) बुद्धि प्रापक होने के कारण दुष्कर्म और अलक्ष्मी [दरिद्रता] का विशेष शमन करने वाला (विषहरम्) विष के हरने वाला है। और घृत में सौम्य मृदु गुण होने से, और स्मृति मति, मेधा, ओज, तेज, पवित्रादि सात्विक गुण होने से, (रक्षोघ्नं) घृताहार करने वालों की सन्तान राक्षस स्वभाव नहीं होती, इस कारण घृत रक्षोघ्न है। इसी से गर्भाधान में घृत अवश्य खाना [६६१ । ६६६ । ६६८] सबने कहा है। सात्विकाहार से सात्विकी प्रकृति [५७ । ५८ । ५९ । ६०] का मनुष्य जन्मता है और शेष रजोगुण तमोगुण के आहार विहारों के करने से राजसी प्रकृति [६१ से ७२ तक] के मनुष्य जन्मते हैं इस से घृत रक्षोघ्न है, तथा रक्षः उन क्षुद्र जन्तुओं का नाम है कि, जो स्त्रियों के कटिवस्त्र में उत्पन्न होतेहैं वे स्त्रियों के कटिदेश देश में चोंटुआ लेने वाले होते हैं ॥

देखो अथर्व का० ८ । ३ । ६ । १३ ।

यआत्मान मतिमात्र मंस आधाय विभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥

अर्थ—(ये) जो जन्तु (अतिमात्रम्) अतिशय (अंसे) सूक्ष्मावयव में (आत्मानम्) शरीर को (आधाय) धारण करके (विभ्रति) अपना पोषण करते हैं. और (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (श्रोणि प्रतोदिनः) नीवी बन्धन कटि देश में विशेष व्यथन [नों-

वने] वाले हैं, उन (रक्षांसि) राक्षसों को हे (इन्द्र) परमेश्वर तू (भाशय) नष्ट कर भावार्थ यह है कि - स्त्रियों के श्रोणि [कटि भाग] में जो वस्त्र धारण किया जाता है, उस वस्त्र के नित्य प्रति प्रायः न धुलने से, स्वेद मल युक्त होने से उस वस्त्र में प्रायः रुधिर पीने नोंचने वाले जन्तु जिनको कि लिक्षा [लीक] यूका [जूं] ढीकर कहते हैं वे शरीर से उक्त वस्त्र के विशेष कर स्त्रियों के संलग्न रहने से पड़ जाते हैं, उनको राक्षस कहते हैं। और जो उनकी उत्पत्ति का नाशक हो उसका नाम रक्षोघ्न है। ऐसा पदार्थ घृत है, इसके खाने वाले जो स्त्री वा पुरुष होते हैं, उनके उक्त जन्तु नहीं पड़ते यदि किसी के अधिक मलिन रहने के कारण से ये जन्तु पड़ भी जाते हैं, तो घृत खाने वाले की अपेक्षा थोड़े पड़ते हैं ॥

पेय वस्तु प्रसङ्ग वश तैलके गुण

(१५५८) यत्र तैल मनुक्तं स्या त्तिलतैलं हि गृह्यते ।

अर्थ – जहां कोई प्रकार का तैल विशेष न कहा गया हो, वहां तिलका तेल लिया जाता है, स्थावर स्नेहों में श्रेष्ठ होने से ॥

(१५५९) तैलं त्वाग्नेय मुष्णं तीक्ष्णं मधुर मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं मेधामार्दव मांसस्थैर्य वर्णबलकर ञ्चक्षुष्यं बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरस म्पाचन मनिलबलासक्षयकरं क्रिमिघ्न मशीतं पित्त जननं योनिशिरःकर्णशूलप्रशमनं गर्भाशय शोधनञ्च तथा छिन्न भिन्न विद्धो त्पिष्ट च्युत मथित क्षत पिच्चित भग्न स्फुटित क्षाराग्निदग्ध विश्लिष्ट दारिताभिहत दुर्भग्न मृगव्यालविदष्ट प्रभृतिषु च परिषेकाभ्यङ्गावगाहेषु तिलतैलं प्रशस्यते ॥

अर्थ — तेल आग्नेय, उष्ण, तीक्ष्ण, मधुर, मधुर विपाक, बृंहण, प्रीणन, (व्यवायि) मैथुनोत्साहक, अथवा अपरिणत हुआ ही शरीर की रक्षा करता है (सूक्ष्म) सूक्ष्म स्रोतों में पहुंचने वाला, (विशद) विमल, भारी (सर) अनुलोमन, (विकासि) सन्धियों के बन्धनों [जोड़ों] का खोलने वाला, वृष्य, त्वचा को स्वच्छ करने वाला, ग्रन्थ धारण शक्ति का, मृदुता का. मांस की स्थिरता का, वर्ण का, बल का करने वाला, चक्षुष्य [भोजन करने से न कि नेत्र पूरण से] मूत्र रोधक, (लेखनम्) उत्सारण. [मेदोहर] (तिक्तकषायानुरसम) चखने पीछे कड़वा कसैला, रसके स्वाद वाला. (पाचनम्) पचाने वाला, मिले हुए वात कफका नाशक, अथवा वात के कफ के स्रोतों का शोधक, क्रिमिनाशक, (अशीतम्) अल्पोष्ण, पित्तका जनक. योनि के, शिर के, और कान के [दर्द] को दूर करने वाला, और गर्भाशय का शुद्ध करने वाला है। तथा (छिन्न) दो टुकड़े हुआ (भिन्न) विदीर्ण हुआ अर्थात् फटा हुआ (विद्ध) सूची आदि का बींधा (उत्पिष्ट) चकना चूर हुआ (च्युत) स्थान से नीचे गिरा (मथित) मसला हुआ (क्षत) उरःक्षत सदृश, (पिच्चित) पिचा (भग्न) टूटा हुआ कारड का वा सन्धि का, (स्फुटित) फटना कपाल रक्तशों का (दग्ध) अग्नि वा वा क्षार का जला, (विश्लिष्ट) सन्धि मुक्त, (दारित) - चीरा हुआ, (आहत) - लाठी आदि की चोट (दुर्भग्न) [दुष्ट बुरे प्रकार का टूटा] (मृग व्याल विदष्ट) दुष्ट जन्तुओं का डसा. इत्यादि में परिषेक तरड़े (अभ्यङ्ग) मलना (अवगाह) तैलपूर्ण कटाहादि में बैठाने आदि कार्यों के लिये तिल का तेल हित कहा है ॥

(१५६०) तद्वास्तिषुच पानेच नस्ये कर्णादिपूरणे ।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ॥

अर्थ — यह तिलका तेल वस्ति [पिचकारी] में पीने में और नस्य [सुंघने] में कान के भरने में (अन्नपान विधौ) भोजन के खाने पीने की प्रक्रिया में और वात की शांति के लिये विशेषता से योजना कराना चाहिये ॥

इति वैदिक प्राणैषणाख्याम् स्वस्थ वृत्यधिकारे आहार पानोपयोगि नवनीतादि स्नेह गुण वर्णने द्विषष्ठितमो विवेकः ६२ ॥

अथ परोक्षोपक्रम [अप्रत्यक्ष व्याधि चिकित्सा] विवरण

(१५६१) (प्रश्न) जो २ पेयवस्तु सब के बर्ताव में आरही हैं जैसी कि पी जल, दूध, दही, घृत, तैलादि हैं, उन की स्वस्थवृत्ति में आवश्यकता जिन २ कारणों से है वा होती है वह तो सब को विदित है। परन्तु पञ्चगव्य का पान करना प्रायः गृहस्थों के नामकरण आदि संस्कारों में तथा प्रायश्चित्तों में बहुधा करते कराते देखते सुनते हैं, और स्मृतियों में तथा गृह्य सूत्रों में भी इस की विधि भी लिखी हैं, संस्कारों के समयों में तो कोई रोगवृत्ति का भी प्रसङ्ग नहीं है, पञ्चगव्य की तीन वस्तु तो सभी पीते खाते हैं, एक गोमूत्र और गोबर इनही को खाने पीने के नाम में घिन आती है, यदि हमारे भाई मांसाहारी ऐसा करते होते तब भी कुछ दुलखाव न था क्योंकि ये तो जीव के मल मूत्र के रहने के निकलने के अङ्गों को भी खा जाते हैं, फिर भला उन से क्या शेष रहने योग्य है, हां वे लोग यह कह सक्ते हैं, कि दूध दही घृत ये तो सभी को प्रिय हैं। और मांसाहारियों को मांस, परन्तु गोबर और गोमूत्र ये तो किसी को भी प्रिय नहीं, और न किसी इन्द्रिय का भोग है प्रत्युत दुर्गन्धित विरस प्रसिद्ध मलों की गणना में है फिर इन से परहेज क्यों नहीं किया जाय इनका तो छूने तक का भी परित्याग होना चाहिये था, और खाना पीना तो कैसा, ? (उत्तर) यह सब ठीक है कि मन को लुभाने वाला इन में, कोई स्वादु विषय नहीं है और मल मूत्र तो हैं ही, परन्तु कहने का यहां पर यही है कि हमारे पूर्वज महर्षि ऋषिमुनियों के आगे से ही इस के पीने की क्यों प्रवृत्ति है। कुछ आधुनिक नहीं और सर्वथा अभीतक नष्ट भी नहीं हुई है इस से पाया जाता है कि पञ्चगव्य के पीने पिलाने की प्रवृत्ति में कोई बड़ा ही प्रबल कारण हितकर सोचा समझा गया है कि जो ऐसी अग्राह्य वस्तु का भी ग्रहण अत्यावश्यकीय हुआ, वह कारण परोक्षोपक्रम [अप्रत्यक्ष चिकित्सार्थ] है,

चरक किकित्सा स्थान अ० १५ में लिखा है कि—

(१५६२) गोशकृद्रसदध्यम्ल क्षीर मूत्रैश्च तत्समैः।
पंचगव्य मितिख्यात म्महत्तदमृतोपमम् ॥
अपस्मारे तथोन्मादे श्वयथा वुदरेषुच ।
गुल्मार्शः पाण्डु रोगेषु कामलासु भगन्दरे ॥
अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थिक विनाशनम् ॥

अर्थ- यह तो सभी लोग जानते हैं कि गौका गोवर, गोमूत्र, गोक्षीर, गोदधि, और गोघृत, इन पांचों के एकत्र संयुक्त होन का नाम पंचगव्य है। इस पंचगव्य से वा इस के बने हुए प्रयोग [नुसखे] के सेवन से क्या २ लाभ होता है। वह सुनिये, अपस्मार [मिरगी] का रोग तथा उन्माद [खफगान] सूजन, उदर के रोग , गुल्म, अर्श पाण्डु रोग, कामला, भगन्दर, इन सब को और (अलक्ष्मी) दरिद्रता अर्थात् कुरूपता वा दुर्बुद्धिता, बालग्रह, चातुर्थिक ज्वर , इनको पंचगव्य का सेवन नष्ट करता है।

(१५६३) (प्रश्न) यह तो रोगवृत्ति में करना चाहिये, स्वस्थवृत्ति में रोगों के बिना हुए ही किसी रोग नाशक प्रयोग [नुसखे] का सेवन क्यों करें और संस्कारों में तथा प्रायश्चित्तों में करने का क्या प्रयोजन ? ।

(उत्तर) सुश्रुत सू० अ०२४ में। धन्वन्तरि जी ने कहा है कि॥

(१५६४) तच्च दुःखं त्रिविध माध्यात्मिक माधिभौतिक माधिदैविकमिति। तत्तुसप्तविधेव्याधावुपनिपतति। तेपुनः सप्तविधा व्याधयः। तद्यथा- आदिबलप्रवृत्ता जन्मबल प्रवृत्ताः दोषबलप्रवृत्ताः संघातबलप्रवृत्ताः कालबल प्रवृत्ताः दैवबलप्रवृत्ताः स्वभावबलप्रवृत्ता इति । तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शः प्रभृतयः तेऽपि द्विविधा मातृजाः पितृजाश्च। जन्म बलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्गु जात्यन्ध बधिरमूक मिन्मिनत्व वामन प्रभृतयो जायन्ते। तेऽपि द्विविधा रसकृता दौर्हृदापचारकृताश्च। दोषबलप्रवृत्ता ये आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारभवाश्च। तेऽपि द्विविधा आमाशयसमुत्थाः पक्वाशयसमुत्थाश्च पुनश्च द्विविधाः शारीराः मानसाश्च। तएत आध्यात्मिकाः।

अर्थ-वह दुःख [व्याधि] तीन प्रकार के होते हैं। १ आध्यात्मिक, २ आधिभौ-

तिक, ३ आधिदैविक । ये तीनों दुःख सात प्रकार के भेदों में विभक्त हैं. वे सप्त प्रकार आगे गिनाते हैं । १ (आदि बलप्रवृत्ताः) सहज बल से हुए, २ (जन्मबलप्रवृत्ताः) माता के अपचार [अहिताहार विहार] से हुए, ३ (दोषबलप्रवृत्ताः) शारीरिक मानसिक दोषों से हुए, ४ (संघातबलप्रवृत्ताः) भूत [जीव] विषवाय्वग्नि संप्रहारादि से हुए ५ (कालबलप्रवृत्ताः) आनैत्यिक और आर्तव दोनों प्रकार के समय के कारण हुए, ६ (दैवबलप्रवृत्ताः) देव- विद्वान्, गौ, गुरु, सिद्ध, वृद्ध, आचार्य, इन से वैर करने के कारण शाप से पैदा हुए, ७ (स्वभावबलप्रवृत्ताः) स्वाभाविक बलि पलित खालित्यादि [जरावस्था की शक्ति से पैदा हुए] रोग, इन में आदि बलप्रवृत्त वे रोग हैं जो (शुक्रशोणित दोषान्वयाः) पिता के शुक्रस्थ और माता के रक्तस्थ शारीर तथा मानसिक दोषों से पैदा हुए, जैसे कुष्ठ अर्शः, प्रमेह, क्षयी आदि, तथा अपस्मारोन्मादादि मानसिक, ये भी दो प्रकार के होते हैं । १ (मातृजाः) मातृज अवयवों [६८१] से उत्पन्न हुए २ (पितृजाः) पितृज अवयवों से पैदा हुए, अथवा माता के वा पिता के बीजदोष से जन्मे होते हैं । जन्म बल प्रवृत्त- वे रोग कहाते हैं कि जो माता के ही अपचार [अहिताचरण] से पङ्गु, जन्मान्ध, बधिर, मूक, [अवाक] मिमिमण [सानुनासिकोच्चारी] और वामन [अति ह्रस्व शरीर] इत्यादि माता के अहिताहार जन्य रस से और माता के दौर्हृद के अपचार से होते हैं । दोष बल प्रवृत्त उन रोगों को कहते हैं कि, जो वातादि शारीरिक, और रज और तम इन मानसिक दोषों की बल [शक्ति] से प्रवृत्त [जन्मते] हैं, वातादि से प्रतिश्याय कास क्षयादिक — और मानसिक दोष रज और तम इनसे उन्मादापस्मारादि रोग होते हैं, आदि बल प्रवृत्त से लेकर तीन अध्यात्मिक कहाते हैं। उक्त अध्यात्मिक व्याधियों में जो माता पिता के शारीरिक मानसिक दोषों से दूषित बीज [शुक्र रज] का भाग उसमें उत्पन्न हुए सन्तानों में कुष्ठ, अर्श, प्रमेह, क्षयी, उन्माद अपस्मारादि रोग होते हैं इसी कारण बीजदुष्टि शोधनार्थ गर्भाधानादि संस्कारों में, और प्रज्ञापराधजन्य पापों से छूटने के लिये प्रायश्चित्तों में पंचगव्य अवश्य पेय है। यह पंचगव्य द्वारा उक्त महारोगों के सचयकालीन प्रथम ही कर्तव्य भविष्यद पस्मारादि महाव्याधि शमनार्थ चिकित्सा का उद्देश है, माता पिता के बीजदोष से वा जन्मोत्तर काल में पैदा हुए उक्त महारोगों की प्रकोप प्रसरादि परम्परा गति को रोकने के लिये ही मनु अ० ३ में निम्न लिखित आज्ञा है-

(११३५) हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्

क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रि कुष्ठि कुलानिच ॥

अर्थ– (हीन क्रियम्) संस्करण क्रिया रहित (निष्पुरुषम्) पुरुषोत्पत्तिरहित (निश्छन्दः) वेद के पठन पाठन वा उस के उपदेश से रहित (रोमशार्शसम्) शरीर में अधिक बालों वाले, और अर्श के रोग वाले, क्षयी के रोग वाले, (आमयावि) आम के रोग वाले, अपस्मार [मिरगी] के रोग वाले, श्वित्री [श्वेत कुष्ठके और गलित कुष्ठ रोग वाले, कुलों की कन्या को न ले ॥

तथ दैवी मारक रोग के प्रचर [फैलने] को रोकने के लिये ॥

(१५६६) गोमूत्रंगोमयंक्षीरं दधिसर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ मनु

अर्थ– गोमूत्र और गोमय दूध, दही घृत और कुशाकी जड़ का काथ इन सबको इकत्र करके पीवे, और एक दिन का निराहार व्रत करै ॥ इसको सान्तपन कृच्छ्र व्रत कहते हैं ॥ ऐसे व्रत करने जब कभी महामारक रोगाक्रान्त देश होजाता है, उससमय के लिये आवश्यक आयुर्वेद में भी लिखे हैं। देखो– सुश्रुत सू० अ० ६

(१५६७) विषौषधिपुष्पगन्धेन वायुनोपनीतेनाक्रम्यते
यो देश स्तत्र दोष प्रकृत्य विशेषेण कासश्वास
प्रतिश्याय गन्धाज्ञान भ्रम शिरोरुग्ज्वर मसूरिका
दिभि रुपतप्यन्ते ॥

अर्थ– वायु के लाये हुए विषकी औषधियों के फूलों के विषेले गन्ध से जो देश पूरित होजाता है वहां मिथ्यायोग होने के कारण प्रकृति और वातादि दोषों के चिन्हों की विशेषता रहित खांसी, श्वास, प्रतिश्याय, [जुकाम] गन्ध के अज्ञान का रोग, भ्रम, शिरकी पीड़ा, ज्वर, मसूरिका आदि त्वग्दूषक रोगों से मनुष्य (उपतप्यन्ते) उपतप्त [तबाह] होते हैं अर्थात् मरते हैं, तब आगे इसका उपाय यह लिखा है कि–

(१५६८) तत्र स्थानपरित्याग शान्तिकर्म प्रायश्चित्त

मङ्गल जपहोमोपहारेज्याञ्जलि नमस्कार तपो
नियम दया दान दीक्षाभ्युपगम देवताब्राह्मण
गुरुभिः भवितव्यम् एवंसाधु भवति ॥

अर्थ– उस समय जहां उक्त प्रकार से उक्त रोग होवें तो उस स्थान को तुरन्त छोड़दे. वेदके शान्ति विधायक मन्त्रों का पाठ करना, (प्रायश्चित्त) पहले किये दुष्कर्मों के शमनार्थ सान्तपनादि कृच्छ्र व्रत करना (मङ्गल) कल्याणकारिणी दर्भ अपामार्गादि श्रेष्ठ औषधियां और मणि आदि माङ्गलिक वस्तुओं का धारण करना, ओङ्कार पूर्वक गायत्र्यादि मन्त्रों का जपना । आरोग्य कारक समयोचित सुगन्धित द्रव्यों का हवन करना, सद्वैद्यों को भेट देना, यज्ञ करना, देव' द्विज, गुरु, इनके लिये कायसे, वाणी से, और मनसे, नमस्कार करना, तप करना, योगके अङ्ग नियम को धारण करना, दुःखितोंपर दया करना, शक्त्यनुसार सुपात्रों को दान करना, गुरुमन्त्रग्रहण करना, गुरु वाक्य अङ्गीकार करना, देवता ब्राह्मण गुरु इनका आज्ञाकारी होना चाहिये ।
इसप्रकार करने से कुशल होती है, जिस दर्भ का योग पञ्चगव्य के साथ लिया गया है, उस की महिमा अथर्व का० १६ । अ०४ । सू०३२ । में देखो ॥

अग्राह्य गोमय और गोमूत्र ॥

(१५६६) त्याज्यानि दूषितानाञ्च शकृन्मूत्रपयांसि वै ।
चैलकेशास्थिभक्षाणा मभक्ष्यैः सम्पृक्तान्तथा ॥
रोगार्तानांच यूकार्त्ति भृतारुडाना ममङ्गलम् ।
निष्फलत्वेन वन्ध्यानां कृतानां कृमिभिस्तथा ॥
अमान प्रतिदत्तानि सान्धिनी प्रभवाणि च ।
शुद्धभाण्डेमनोज्ञेच भूमावपतितानिच ॥
ग्रहीतव्यानि विविधं खेदं तासां न कारयेत् ।
अत्यन्तजीर्णदेहाया बन्ध्यायाश्च विशेषतः ।
रोगार्तायाः प्रसूताया न गोर्गोमय माहरेत् ॥

अर्थ– पंचगव्यमें दूषित गौओं के गोवर गोमूत्र दूध दधि घृत ये सभी त्यागने चाहिये जैसा कि, वस्त्र, केश, गुठिली खाने वाली, अभक्ष्यों [लशुनादि तथा पुरीषादि] का सम्पर्क [खान पान] करने वाली, रोगिणी, शरीर में जूं पड़ी हुई, गर्भ नष्ट हुई, निष्कर्ष के कारण बन्ध्यायें, कृमियों की खाई हुई, इन गौओं का पंचगव्य (अनर्हत्) अभीष्टार्थ सिद्धि का दायक नहीं है। तथा पंचगव्य के पदार्थ (अमान प्रतिदत्तानि) गौओं के निरादर से लियेगये (सन्धिनी प्रभवानि) धन चढ़ती हुई के, लिये हुए, चकार से विना बच्चे वालीके भी, माङ्गलिक नहीं सुन्दर और शुद्ध पात्र में पृथिवी पर न गिरेहुए ग्रहण करने चाहियें। और जिस प्रकारसे गौओं को दुग्ध पहुंचे वह न करे करावे॥ अगले श्लोक में वृद्धा की और प्रसूता की ही सूचना विशेष है। शेष सब सविशेष उक्तार्थ होगा

सुश्रुत सूत्र स्थान अध्याय २१ में लिखा है कि–

(१५७०) संचयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिभेदञ्च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥
सञ्चयेपहृतादोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥

अर्थ–जो वैद्य दोषों [वात पित्त कफ इन शारीरिक दोषों के और रज तम इन मानसिक दोषों] के (संचयम्) संचय [जमा होने को,] अर्थात् जमने को, (प्रकोपम्) कुपित [गलवा] होने को और (प्रसरम्) फैलने को. (स्थान संश्रयम्) किसी स्थान में आश्रय करने को (व्यक्ति भेदम्) रोगोंके संज्ञाविशेष और आकार को. जानता है वह भिषक् [रोग निवारक चिकित्सक] है। संचय काल में दूर कियेगये दोष पिछली गतियों [प्रकोप प्रसर स्थानसंश्रय, और व्यक्ति भेदों] को नहीं प्राप्त होते हैं, वे फिर उक्त प्रकोपादि पिछली गतियों को प्राप्त हुए अत्यन्त बलवन्त हो जाते हैं। इस कारण दूषक भावों का संचय काल में निकाल देना प्रथम चिकित्सा करने का अवसर है। प्रकोप काल में दूसरा क्रिया काल. अर्थात् चिकित्सावसर है। इसी प्रकार प्रसर में तीसरा, स्थान संश्रय में चौथा, फिर आगे चिकित्सा करने का अवसर हाथ से निकल जाता है। इससे महा रोगों की चिकित्सा का महर्षियों ने कारणावस्था से ही लेकर कार्य रूपावस्था के परिणाम तक सुगम प्रयोग पंचगव्य कैसा उत्तम सूचित कर दिया मानों शरीर में छिपे

रोगोत्पादक अग्नि के ढेर के ऊपर नदी का प्रवाह ही चला दिया हो। इसमें पञ्चगव्य जहां विधान हो वहां अवश्य पेय है

(१५७१) (प्रश्न) सन्ध्याआदि कार्यों में विनाप्यास आचमन द्वारा जल क्यों पीते हैं, इसका क्या कारण है,

(उत्तर) जहां जहां जब जब सन्ध्यादिकों में जो आचमन किया जाता है वह प्राणायाम करने से कहीं पूर्व कहीं पीछे किया जाता है। यह उससमय प्राणों के श्रम दूर होने के लिये वा श्रम न होने पावै इस हेतु से किया जाता है, क्योंकि प्राणायाम के करने में प्राण वायु को व्यायाम करना पड़ता है इससे प्राण को श्रम होता है, उस श्रम का निवारण आचमन के विना नहीं समझाजाता, देखो च० सू० अ० २५।

(१५७२) "उदक माश्वास कराणाम्

अर्थ— जितने प्राणवायु धारक प्रयोग हैं उन सबके मध्य जल सर्वोत्कृष्टतम प्राणधारक है

(१५७३) सं० इस कारण जलका आचमन करना अवश्य उचित है। अधिक और विना तृषा जल पीना रोग कारक है, इससे आचमन मात्र ही ठीक है आचमन के जल का प्रमाण मनु में लिखा है कि—

(१५७३) हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः॥

अर्थ— आचमन का जल हृदय में पहुंचने तक विप्र, और कण्ठ में पहुंचने तक क्षत्री और मुख में पहुंचने तक से वैश्य, और जलके स्पर्शमात्र से शूद्र पवित्र होता है इनका उत्तरोत्तर प्राणायाम के अल्प कर्मी होने के कारण उत्तरोत्तर जलक आचमन में न्यूनता है,

इति वैदिकप्राणैषणायाम् स्वस्थ वृत्त्यधिकारे पेय प्रसङ्गे पंचगव्य प्राशन जलाचमन विषय निरूपणे त्रिषष्ठितमो विवेकः॥६३॥

अथ रोगादि अनेक दुःखोत्पादक तीन कारण

(१५७५) त्रीण्यायतनानीति- अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः ॥ चरक सू० ११/३६

अर्थ- (अर्थानाम्) शब्दादि पञ्च इन्द्रियों के विषयों का (कर्मणः) वाणी, मन और शरीर की प्रवृत्तिरूप कर्म का (च) और (कालस्य) ऋतु समय का अतियोग अयोग, और मिथ्यायोग (इति) ये (त्रीणि) तीन (आयतनानि) रोगों के कारण होते हैं ॥ वास्तव में जितने सांसारिक कार्य हैं उनका बिगाड़नेवाला यही अतियोगादि त्रिक है, देखो अतियोग में किसी कवि का वचन-

अतिरूपा हृता सीता अतिगर्वेण रावणः ।
अतिदानी बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्जितः ॥

स्पष्टार्थः

तथा अजग निदान में भी कहा है कि-

दोषकोपो रुजां हेतुस्तत्प्रकोपे तु कारणम् ।
प्रत्येकं हीनमिथ्यातियोगः कालार्थकर्मणाम् ॥

अर्थ- (दोषकोपः) दोषों [४६] का कोप अर्थात् वैषम्य होना (रुजाम्) रोगोंका (हेतु) कारण होता है (तु) और (तत्प्रकोपे) उन दोषों के प्रकोप [बिगाड़] होने में (कालार्थकर्मणाम्) काल [ऋतु] का अर्थों [ज्ञानेन्द्रियों के विषयों] का और कर्म [वाणी, मन, और शरीर की प्रवृत्ति] का (हीनमिथ्यातियोगः) हीन [अल्प] मिथ्या [अन्यके स्थान में अन्य] अति [मर्यादासे अधिक] योग (प्रत्येकम्) हरएक का (कारणम्) हेतु है अर्थात् ऋतु का हीन- मिथ्या अति लक्षण होना, तथा शब्दादि विषयों का उक्त प्रकार संयोग होना, जैसा- कानों से अल्पश्रवण हीन योग, परुष इष्ट का नाशक उपघातक प्रधर्षक [झिजकार ललकार] भीषणादि शब्दों का सुनना मिथ्या योग, तथा अतिशय असह्य त्रास दायक गर्जन विद्युत्पात विक्रोशादि शब्दों का सुनना तथा संगीत वादित्र आदि प्रियका भी अतिशय सुनना श्रवणातियोग कहाता है । इसी

प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गन्धों का योग मात्रा से न्यून होना वा न होना हीनयोग, वा अयोगहै और शब्दादिकों की अन्य की आवश्यकता में अन्य का योग होना मिथ्या-योगहै उचित मात्रा से अधिक योग होना प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थों [विषयों] का अति-योग कहाता है। इसी प्रकार हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों के कर्मरूप विषयों का भी अल्प- मिथ्या- अतियोग रोगकारक होता है ॥

बुद्धिका मिथ्या योग

टि– जिनकी गणना निःखरों में हो, वेभी, सखरों के छूजाने वा सखरो के चौके में बनाने धरने आदि में संसर्ग होजाने से सखरे होगये कहे जाते हैं ॥ यह बुद्धि का मिथ्यायोग है। यदि सखरेसे स्पर्श देहोना निखरे को सखरा बना देता है तो इसी प्रकार निखरे का संसर्ग सखरे को निखरा क्यों नहीं करता। वास्तव में उक्त सखरा निखरा न होना तब समझा जाताहै जब विलम्ब से बिगड़ने वाला निखरा शीघ्र ही बिगड़ने लगता हो वा शीघ्र विकृत होजानेवाला सखरा विलम्बसे कहीं बिगड़ता, सो ऐसा नहीं होता। यदि भोक्ता इन दोनों को एकही समय में भोजन करे तो मन्दाग्निवाले को विषमपाक अवश्य होजायगा इससे उक्त असात्म्यत्रिक को नहोने देने का ध्यान अवश्य रखना योग्य है ॥

स्पर्शनेन्द्रिय की सर्व शरीर व्यापकता

(१५७६) तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतः
समवायि स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतस्तस्मात्
सर्वेन्द्रियाणां व्यापकःस्पर्शकृतो यो भावविशेषःसोय
मनुपशयात् पञ्चविध स्त्रिविध विकल्पो भवत्यसा
त्म्येन्द्रियार्थ संयोगः ।

अर्थ- स्पर्श गुण [विषय] ग्रहण करने वाली शक्ति (तत्र) इनमें (एकम्) एक (स्पर्शनेन्द्रियम्) त्वगिन्द्रिय (इन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों के मध्य (इंद्रियव्यापकम्) सब इन्द्रियों में व्यापक है, (चेतः समवायि स्पर्शनव्याप्तेः) मनके नित्य सम्बन्ध की स्पर्शन में व्याप्ति होने से (च) और (चेतः) मन (अपि) भी (व्यापकम्) विद्यमान हो जाता है (तस्मात्) इससे (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों का

(व्यापकः) विशेषता से प्राप्त होंने वाला (यः) जो (स्पर्शकृतः) स्पर्श से किया हुआ (भाव विशेषः) विशेष व्यापार (सः) वह (अनुशयात्) आत्मा के लिये असात्म्य होंने से (अयम्) यह (पञ्चविधः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध इन भेदों से पांच प्रकार का (असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः) असात्म्य इन्द्रिय विशेष संयोग हीनयोग मिथ्यायोग, और अतियोग होंने से (त्रिविधविकल्पः) तीन प्रकार के भेदों [किस्मों] वाला (भवति) होता है ॥

भावार्थ- यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय सब इन्द्रियों में विद्यमान होती है, इसलिये जब जब द्रव्यों का स्पर्श वा संयोग इन्द्रियों से होता है तब तब क्रिया का सम्पादन होता है जैसा कि- जब नेत्र के तारे से प्रकाश की किरण स्पर्श करती हैं तब नेत्र से दीखता है, ढोल का शब्द वायु के साथ जब कर्ण इन्द्रिय को स्पर्श करता है तब कान सुनता है, जब वायु द्वारा किसी द्रव्य का गन्ध घ्राणेन्द्रिय से स्पर्श करता [छूता] है तब नाक गन्ध ग्रहण करता है, जब स्वाद्वम्लादि रस रसनेन्द्रिय से स्पर्श करता है तब जिह्वा स्वादु लेती है। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि स्पर्शेन्द्रिय सब इन्द्रियों में व्यापक है। मन और स्पर्शेन्द्रिय के नित्य सम्बन्ध से यह तात्पर्य है कि इन में से जिस काम को एक करता है उसी को दूसरा करता है। परन्तु सूक्ष्म है इस लिये सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को एक ही समय में सम्पादन नहीं कर सका, किन्तु जहां स्पर्शेन्द्रिय जाती है वहीं मन भी चला जाता है क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय से मन का समवायि संबन्ध है। इस लिये मन भी व्यापक है और यह बात भी प्रसिद्ध है कि स्पर्शेन्द्रिय वायु प्रधान है अर्थात् वायु त्वगिन्द्रिय का अधिदैव है। इस लिये वायु भी व्यापक है क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय पांचों इन्द्रियों में परिपूर्ण है इसकारण स्पर्श ज्ञान पांच प्रकार का होता है, यही पांच प्रकार का असात्म्य [हीन- मिथ्या- अति] इन्द्रियोंके विषयों के योग से तीनतीन प्रकारका होता है। इस कारण स्पार्शिक दोष दूषित उक्त रोगायतन सर्व शरीरगामी होंने से बलवान है। इस का ध्यान सर्वथा सर्वदा सर्वदेश और सर्वावस्थाओं में सबको अवश्य कर्तव्य है॥ इस के नकरने का फल [७१३ और ७१४] अङ्कार देखो।

इति वैदिक प्राणैषणायाम् स्वस्थ वृत्त्यधिकारे रोगायतन निरूपणे चतुः षष्ठितमो विवेकः ॥ ६४ ॥

अथ अनागता बाध (आगे को दुःख नहोने) का उपाय

(१५७७) आरोग्य बने रहने की इच्छा करने वाले बुद्धिमान् स्वस्थ [१०२] पुरुष को प्रतिदिन उठ उठ कर जो निरन्तर अनुष्ठान [आचार] करना चाहिये वह सब भले प्रकार से कहा जाता है। ब्राह्म मुहूर्त [अरुणोदय से पहले रात्रि के पिछले प्रहर] में जागे, फिर धर्म [चोदना लक्षणात्मक विधि, अपने कर्त्तव्य कर्म और अर्थ [सुखसाधन सामान्यों के सम्पादन] को विचारे कि आज अमुक २ धर्म कार्य और अमुक २ अर्थ सिद्धि अमुक २ प्रकार से अमुक २ समय में करनी चाहिये। पश्चात् शयन शय्या से उठकर (आवश्यकम्) मल मूत्र का त्याग करके जिसको जिस प्रकार शुद्धि करनी चाहियें उस प्रकार शौच किया हुआ पुरुष तदनन्तर दन्तधावन करे, (१५७८) वह दातुन बारह अङ्गुल लम्बी और कनिष्ठिका अङ्गुली के बराबर मोटी हो, सीधी, बिना गांठ, बिना कोटर के हो। ऋतु को और बल आदि दोष को देखकर दन्तधावन के रस को तथा वीर्य को बर्ताव में लावे। रसों में यहां अम्ल और लवण को छोड कषाय, मधुर, कड़वा और चरपरा ये चार रस ही लिये हैं। तिक्त [कटु] रस के वृक्षों में नीम श्रेष्ठ है, नीम के अभाव में कनेर वा अर्क प्रभृतिक। कड़वे और कषाय रस के वृक्षों में खदिर [खैर] श्रेष्ठ है खदिर के अभाव में किङ्किणी [किकर] ले। मधुर रस वाले वृक्षों में मधूक [महुआ] श्रेष्ठ है। न मिलने में अन्य क्षीरवृक्ष जैसे गूलर, वट, पिलखन, सदृश ले। और कटुक [चरपरे] रस वालों में करञ्ज अच्छा है उस के ही सदृश अन्य रस का वृक्ष हो वा चमेली की ले।

(१५७९) अब आगे दन्त शोधन कहते हैं, सोंठ मिरच पीपल तज [दालचीनी] पत्रज [तेजपात] नागकेशर सेंधालवण इनको समान समान भाग लेकर इनके चूर्ण को क्षौद्र [छोटी मक्खी का सञ्चित किया सहद] और इसी के तुल्य मान से तिलका तेल ले इनको मिलाकर दांतों में मले। तेजोवती [तेजबल] के पत्ता के चूर्ण से मले। जिस प्रकार से दांतों के मसूड़े न छिलें इस प्रकार एक एक दांत को मुलायम कुची से और दन्त शोधन चूर्ण से घिसे। उक्त वृक्षों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक वीरुध वा वृक्ष दन्तधावन सूचित किये हैं। जैसे बदरी [बेरी] बेल-कदम्ब चम्पा, शिरीष, अपामार्ग, असार, अर्जुन, कुटज, जाती, तगर, आदि इनके गुण प्राकृत गुणानुसार वर्णन करे हैं। और दन्तधावन मुख की दुर्गन्धता को मुख के लेप [मैल चिकनाहट] को कफ को दूर करता है, निर्मलता को करता है, अन्न में रुचि और मन के अच्छेपन को करता है ॥

दन्त धावन के अयोग्य— गले के, तालु के, ओष्ठ के, जिह्वा के, रोग में, हिक्का में, श्वास में, कास में, वमन, हिचकी में दातुन न करे। तथा दुर्बल अजीर्ण

भक्त [भोजन न पचने वाला] मूर्च्छित, मदपीड़ित, शिरका रोगी, क्षुधार्त, हारा, थका, पाकश्रम [रसोई बनाने की थकान] युक्त, अर्दिती [लकवे वाला] कर्णशूली, दांतका रोगी, मनुष्य भी दातौन न करे ॥

अब जिह्वा मल की शुद्धि सुनिये, —

जीभ का निर्लेखन [खुरचना] चांदी या सुवर्ण का अथवा उसी उक्त वृक्षों की दातुन को चीर कर बनाया हुआ हो जैसा कि प्रायः हिन्दु लोग दातुन को ही चीर कर करते हैं, उक्त जिह्वा निर्लेखन मृदु [नम्र] श्लक्ष्ण [खर स्पर्श] रहित दश अङ्गुल का उक्त जिह्वामल को हरने वाला अच्छा होता है, ॥

यह जिह्वा निर्लेखन करना मुख की विरसता को दुर्गन्धता को शोथ को जड़ता [रसाज्ञानता] को विशेष हरने वाला है ॥

गंडूष विधि

(१५८०) गण्डूष [कुल्ले] भी ठण्डे जलसे वार २ करना तृषा को शान्त करता है, मुखके भीतर के मैल को दूर करता है, शुद्धि कारक होता है ॥

शीतल जलसे गंडूष करना नीलि का [मुख रोग विशेष] मुख शोष, पिडिका [मौंहासे] व्यङ्ग [झांई] रक्तपित्त के लिये रोगों को तुरन्त ही खोता है ॥

आञ्जन विधि

(१५८१) नेत्रों में नित्यप्रति विशेष प्रकार से शुद्ध किया हुआ सिंधु देश का स्रोतोञ्जन [सुरमा] लगाना श्रेष्ठ माना है। इससे सुखपूर्वक छोटी वस्तु को भी नेत्रों से यथावत् देख लेता है ॥ नेत्रों के दाह [जलन] खुजली और मलको दूर करता है. दृष्टि के क्लेद [नजले के रोग को खोता है, नेत्रों का रूप देता है, नेत्र वायु को तथा धूपको सह लेते हैं, और नेत्रों के रोग भी नहीं होते, इससे अञ्जन अवश्य और नित्य लगाना चाहिये ॥

(१५८२) भोजन किया हुआ, सिर से न्हाया हुआ, वमन होने से और सवारी से थका, रात का जागा और ज्वरित पुरुष इस नित्याञ्जन को न आंजे ॥

ताम्बूल सेवन विधि

रक्तपित्त के, उरक्षत के, तृषा के, मूर्छा के रोगी को तथा रूक्षाङ्ग को, दुर्बल को, और मुखशोषी को पान न खाना चाहिये। यदि किसी को पान खाने का व्यसन ही हो तो दिन में सोने से उठकर, भोजन के, स्नान के, रात्रि के पीछे खावे, वार २ न खावे।

शिर में तेल मलना

(१५८३) शिरमें तेल लगाना शिर के रोगों को निकाल देता है, बालों को मुलायम लम्बे अधिक चिकने और काले करता है शिर की मज्जा भरती है और मुख की त्वचा को अच्छा करता है, और शिर की श्रोत्रादि इन्द्रियों को तृप्त करता है, और शिरा की मज्जा भरजाती है, सदैव शिर में तेल ठण्डा मलना चाहिये, किसी विशेष आज्ञा के बिना उष्ण करके बर्ताव में न लाना चाहिये क्योंकि उष्ण अचक्षुष्य है ॥

(१५८४) बाल कङ्घे से कढे हुए हों बालों को हितकारी धूल, जन्तु, और मैल को दूर करते हैं, इस से बाल कढे हुए रक्खे ॥

कर्ण पूरण (१५८५) कान में तेल गुनगुना करके रात्रि में भरना, ठोड़ी, मन्या [गर्दन] शिर, कान, इन की पीडा को दूर करता है ,॥ सर्षप तेल वर्तना चाहिये। (१५८६) सर्व शरीर में तेल का मलना शरीर को मुलायम करता है कफ के और वात के रोगों को पैदा होने से रोकता है ॥ धातुओं की पुष्टि करता है, शुद्ध वर्ण और बल को विशेषदेता है ॥

तेल का सेचन[तरड़ा] वा अवगाहन वा मज्जा करना श्रम का नाशक, वायु का हारक, टूटी अस्थि का जोड़ने वाला, घाव, अग्निदग्ध, अभिहत [चोटलगे] की पीड़ा घसीट लगने का दर्द इन रोगों का खोना है। जैसे वृक्ष की मूल में जल के सींचे हुए वृक्ष के अङ्कुर बढते हैं, तैसे ही स्नेह से सिंचे हुए मनुष्य की धातुओं की बढवार होती है। युक्ति पूर्वक स्नेह का अवगाहन करना सिराओं के मुख अर्थात् रोम कूपों के और धमनीयों के द्वारा शरीर को तृप्त करता हुआ बल को देता है ॥

(१५८७)इन अभ्यङ्ग और सेचनों में बुद्धिमान् पुरुष प्रकृति-सात्म्य-ऋतु-देश-दोष-और विकार- इन का ज्ञाता तेल को वा घृत को यथोचित योजित करै ॥ एक आम [विनाप-के] दोषों में किसी प्रकार से भी तेल को वा घृत को न वर्ते। तरुणज्वरी, और अजीर्ण का रोगी, तथा विरेचन हुआ, वामित, निरूहण वास्ति लगा हुआ, कदाचित् अभ्यङ्ग और स्नेह सेक न करै। पहले दोनों को स्नेह सेक, व्याधि की कृच्छ्रता वा असाध्यता करता है रोगों को उसी दिन के कढे अग्निमांद्यता आदि के रोग होजाते हैं ॥ सन्तर्पण [अति तृप्तहोने] के रोगों वाले को भी स्नेहाभ्यङ्गादि न किया जावे ॥

(१५८८) स्नान का करना [४६२] हृद्य, मैल के दूर करने में श्रेठ, सब इन्द्रियों का विशोधक, तन्द्रा का —पाप [दरिद्र] का - दूर करने वाला, तुष्टि का दाता पुंस्त्व [पुलिंगत्व] का बढाने वाला, रक्त का स्वच्छ करने वाला और जठराग्नि संदीपन है।

उष्णोदक मे शिर से न्हाना नेत्रों को सदा अहित होता है। और ठण्डे जल से शिर से स्नान करना नेत्रों को हितकारी होता है, यह ऋतु के अनुसार शीतोष्ण जल का ग्रहण उचित होगा।

(१५८९) अतिसार-ज्वर-कर्णशूल-और वात की वेदनाओं में और अरोचक अफरा-अजीर्ण-और भोजनोतर में स्नान करना निन्दित है।

स्नान करे पीछे अनुलेपनोपदेश

(१५९०) जिनको स्नान करना निषेध किया है उन ही को अनुलेपन [चन्दनादि लेपन] करना भी वर्जित किया है। यह चन्दनादि का अनुलेपन लगाना सौभाग्य का वर्ण का करने वाला, प्रीति-ओज-और बल इनका बढ़ाने वाला, पसीना दुर्गन्धि विवर्णता और श्रम का दूर करने वाला है।

शीतकालोचित अनुलेपन द्रव्य

(१५९१) कुङ्कुमं चन्दनञ्चापि कृष्णागरु विमिश्रितम्।
उष्णं वातकफध्वंसी शीत काले तदिष्यते॥

भा० प्र०

अर्थ-केशर, स्वेत चन्दन, और काला अगर मिला हुआ उष्ण वात और कफ नाशक अनुलेपन शीतकाल में लगाना कहा है॥

उष्ण कालोचित अनुलेपन द्रव्य

(१५९२) चन्दनं घनसारेण वालकेन च मिश्रितम्।
सुगन्धि परमं शीत मुष्णकाले प्रशस्यते॥

अर्थ-सफेद चन्दन, कपूर, और खस इन का मिला अति सुगन्धित शीत अनुलेपन उष्ण [ग्रीष्म] काल में करना कहा है॥

वर्षा कालोचित अनुलेपन द्रव्य

(१५९३) चन्दनं घुसृणोपेतं मृगनाभि समायुतम्।
न चोष्णं नच वा शीतं वर्षाकाले तदिष्यते॥

अर्थ-स्वेतचन्दन, केशर, और कस्तूरी मिला मंदोष्ण अनुलेपन वर्षा काल में करना उचित है॥

(१५६४) (प्रश्न) कषाय लेपयोर्ग्राह्यं चन्दनं रक्तचन्दनम् ।

इति वैद्यक परिभाषायाम् ॥

अर्थ – क्वाथ और लेप के प्रयोगों में, चन्दन शब्द के लिखने से लाल चन्दन का ग्रहण करना चाहिये, श्वेत का ग्रहण परिभाषा के विरुद्ध है । (१५६५) (उत्तर) जहां कहीं लेप, आलेप, लेपन, और लिप्त शब्द आवे वहां तो चन्दन के कथन से रक्त चन्दन ही लेना चाहिये, और उसकी विधि भी विशेष है, और इसका नाम – अनुलेपन है यह स्नान के ही अनु [पश्चात्] करना कहा है, अन्यत्र नहीं, इस कारण उक्त परिभाषा यहां निष्फल है, । अनुलेपन करने के स्थान – मस्तिष्क, [माथा] हृदय, और और कुहनी से ऊपर दोनों भुजा, इनके ऊपर श्वेत चन्दन लगाना चाहिये । क्योंकि मनुष्य की दृष्टि शीतसात्म्य [ ] आदि में कही है इससे मस्तिष्क में लगाने से नेत्रों को शीतलता और नासिका को सुगन्धि का सुयोग पहुंचने से दृष्टि को और मास्तिष्क [दमाग] को हितकारी होता है, हृदय पर धारण करते हुए, और भुजाओं के ऊपर लगाने से जब २ कुजा नासिका के ओर उठेगी तभी २ अनुलेपन का सुगन्ध उच्छ्वास के साथ खिंचा अम्बर पीयूष [ ] होकर मस्तिष्क को सर्व शरीर को और जठराग्नि को अच्छा करता है ।

इस अनुलेपन से अल्पायु वा दीर्घायु का ज्ञान, तथा आसन्न में होने वाली मृत्यु का ज्ञान होजाता है, देखो– सुश्रुत सू० अ० ३५ ।

(१५६६) स्नातानुलिप्तं मूर्द्धानुपूर्व्या विशुष्यमाणशरीरम् पश्चाच्च विशुष्यमाणहृदयं पुरुषं जानीयाद्दीर्घायुः खल्वयमिति ।

अर्थ– (स्नातानुलिप्तम्) न्हाये और स्नान के पीछे चन्दनादि से अनुलिप्त हुए (मूर्द्धानुपूर्व्या) मस्तकादि के क्रम से (विशुष्यमाणशरीरम्) सूखते हुए शरीर वाले (च) और (पश्चात्) पीछे हृदय सूखते हुए (पुरुषम्) मनुष्य को (इति) ऐसा, वैद्य (जानीयात्) जाने कि– (अयम्) यह (खलु) निःसंदेह (दीर्घायुः) बड़ी अवस्था [उमर] होने वाला होगा ॥

(१५६७) प्राग्विशुष्यमाणहृदय आर्द्रशरीरो यश्च ॥

सु० सू० अ० ३२

अर्थ— हृदय जिसका प्रथम शुष्क होजाय और उसके मस्तकादि का आर्द्र बना रहना यह मरने के लिये होता है। तथा चरक इन्द्रियस्थान अ० १२ में कहा है कि—

(१५९८) यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम्।
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्द्धमासं न जीवति॥

अर्थ— जिस स्नान किये हुए और अनुलेप किये हुए मनुष्य के सब शरीर के आर्द्र रहने पर प्रथम हृदय अत्यन्त सूखजाय वह पंद्रह दिनसे अधिक नहीं जी सका॥ चरक चि० अ०५ में लिखा है कि—

(१५९९) व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु नसन्ति मेहाः॥

अर्थ— अनेक प्रकार [कायिक—वाचिक— प्राणायामादि आभ्यन्तरिक] के अत्यन्त कठिन व्यायाम [परिश्रम] करने से, उबटनों से, खश, दालचीनी, इलायची, अगर, और चन्दनादि के विलेपनों से प्रमेह नहीं होते हैं॥ (१६००) सं० इस उपरोक्त अनुलेपन का स्नान करने में ही सम्बन्ध होने से स्नान करलेने का एक प्रकारका चिन्हभी नियत होगया, जो२ जाति वा व्यक्ति नित्यस्नान संध्यादि करने के नियम वाली बनी रहीं हैं-उनके द्वारा यह अनुलेपन कर्म आयुर्वेदानुसार प्रचलित रहा आया, पश्चात् जब से आधुनिक पन्थ मनमाने अनेक चलपड़े तब से वेदविरुद्धमार्गियों ने उक्त अनुलेपन कर्म का नाम तिलक रख दिया, और इसकी चन्दनादि द्रव्यों के स्थानमें बिना भस्म, रोली, सिंदूर, पोता, खरिया, वा मुलतानी मिट्टी आदि अनेक प्रकारकी वस्तु बिना किसी कारण के लगानी नियत करलीं, अपनी २ सम्प्रदायके सूचक चिन्ह मान कर त्रिपुण्ड्, ऊर्ध्व पुण्ड्, तिर्यक्पुण्ड्, आदि अनेक तिलकाकृति चित्र विचित्र करलीं, मानों अनेक मन घड़ंत सदाचाराभासों की कलों के कारखाने ही चलादिये, और बताया जाय इस का नाम सनातन धर्म का चिन्ह।

इन तिलकों के धारण करने वालों ने आपस में विद्वेषाग्नि फैलाने के कारण एक दूसरे के तिलकों की निन्दा के श्लोक भी बनाकर पुराणों में भरदिये, जो महानुभाव उन श्लोकों को देखना चाहें वे पुराणों में देख सक्ते हैं। तिलकों के विवाद ने अनुलेपन का सदाचार नष्ट करदिया, और कर्म के कारण का यथार्थ ज्ञान लुप्त होजाने से रहा

सहा विदेशियों की आचार प्रणाली के अनुगमन ने छुटा दिया। इसका छुटना वा अन्यथा कुछ का कुछ होना अत्यन्त हीं स्वस्थवृत्ति का नाशक हुआ है ॥

(१६०१) (प्रश्न) चमेली, बेला, केवड़ा, आदि के पुष्प वासित सुगन्धित तेलों के शरीर में मलने से अनुलेपन का कार्य न हो सकेगा क्या ?

(१६०२) (उत्तर) कदापि नहीं, यदि तैल के मर्दन का काम अनुलेपन देता वा अनुलेपन का तैल मर्दन देता तो स्वस्थवृत्ति में दोनों के करने की नित्यचर्या में आज्ञा न होती तैल मर्द्दन का गुण कर्म भिन्न, और अनुलेपन का भिन्न है। और स्नान के पीछे तो तेल का स्पर्श भी करना मना किया है।

(१६०३) शिरः स्नातश्च तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत्।

मनुः

अर्थ – शिर से स्नान किया हुआ मनुष्य तनिक भी अङ्ग को तेल से स्पर्श न करे ॥

(१६०४) कोई २ वेदोपदेश से अनभिज्ञ यह पूछने लगते है कि – बलि वैश्वदेव में काकबलि नित्यप्रति देना वा प्रति वर्ष कन्यागत मास में देना किस कारण है।

(१६०५) (उत्तर) काकबलि नित्यप्रति तो इस कारण से दी जाती है कि काक गृहस्थ के घर पर अपनी बलि को खाने के लोभ से नित्य प्रति आकर अपने शब्द द्वारा गृही के वा उस समय वा भविष्यत् में उस देश के होने वाले वृत्तान्त को कहजावै, यदि बलि न दी जावै और वहां कोई काक के बसेरे वा फल खाने का वृक्षादि का आश्रय न होगा तो वहां काक कदापि न आवैगा, उसके न आने पर जो वह काक अपने शब्द संकेत से विज्ञापन देता है, उससे गृहस्थी वंचित रहैगा। इससे काकबलि देना आवश्यक है। विद्वानों ने पक्षियों के बोलने को और पशुओं के शब्दादि संकेतों को भी परीक्षा करके उसके फलादेश को लिखा है। देखो वसन्त राज में काकरुत फल –

प्रातः प्रतीच्यां यदि रौति काको
ध्रुवं तदा वर्षति वारिवाहः।

अर्थ – यदि प्रातःकाल गृहस्थ के पश्चिम दिशा में और वर्षा काल में काक बिना भय के बोलै तो निश्चय ही उसीदिन वर्षा होती है। यह हमारी भी परीक्षा में ठीक रहा है।
तथा–

यूका ललाट मायान्ति बलिं नाश्नन्ति वायसाः।
येषां वापि रति र्नास्ति यातारस्ते यमालयम् ॥

सुश्रु० सू० अ० ३२

अर्थ– माथे पर जमजूं पड़ें वा काक जिन की बलि को न खावें वे यमालय को जावेंगे। इत्यादि अनेक लाभ काक बलि के प्रत्यक्ष हैं ॥

अथ व्यायाम वर्णनम्

(१६०६) शरीर में आयास [श्रम] उत्पन्न करने वाले काम का नाम व्यायाम है, सर्व प्रकार से शरीर में मर्दन करना इसमें मुख्य व्यापार है । इसको करके शरीर को सब ओर से मलै, इससे शरीर का मुटाप, सम्यक् पुष्टिः, अंगों का फरबै होंना, मुख पर कान्ति, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, आलस्य न होंना, शरीर में स्थिरता हलकापन शुद्धि, श्रम - क्लम पिपासा- गरमी - सर्दी आदि की सहनशक्ति होना और अधिक आरोग्य भी व्यायाम से उत्पन्न होता है ॥ और व्यायाम की बराबर चरवी के मुटाप को दूर करने वाला अन्य कोई उपाय नहीं और व्यायाम के करने वाले मनुष्य के डरसे शत्रु लोग नहीं पीडित करते हैं और न व्यायामी को सहज ही बुढापा आता है । व्यायाम में लगे रहने वाले के शरीर का मांस स्थिर हो जाता है और व्यायाम से पसीना शरीर में पैदा करने वाले के और पैरों का उवटन करने वाले के पास व्याधियां ऐसे नही आती जैसे सिंह के पास छोटे२ हरिणादि जीव नहीं आते ॥

अवस्था के और रूप के गुणों से रहित पुरुष को भी व्यायाम करना सुदर्शन [खूबसूरत] करता है । व्यायाम नित्यप्रति करने वाले का विरुद्धाहार भी चाहेंवह विदग्ध हो वा अविदग्ध विना किसी पीड़ा किये ही परिपाक होजाता है। व्यायाम स्निग्ध भोजन करने वाले बलवानों को तो सदा पथ्य [सेवन] के योग्य ही है । और वह [व्यायाम] शीत काल में और बसन्त ऋतु में स्निग्ध भोजियों को अत्यन्त ही सेवन के योग्य कहा है। अन्य सब ऋतुओं में अपना हित चाहने वाले पुरुषों को प्रति दिन आधे बल से करना चाहिये अन्यथा प्राणों को हरता है ।

अर्ध बल का प्रमाण

(१६०७) जब हृदिस्थ प्राण वायु व्यायाम करने वाले के मुख में होकर शीघ्र आने लगे अर्थात् क्षुद्रश्वास प्रवृत्त होंने लगे तभी अर्धबल होंने का प्रमाण समझ लेना चाहिये। अवस्था - बल - शरीर - देश - समय और भोजन इन सबको विचार में लाता

हुआ व्यायाम करै, अन्यथा रोगी होता है। क्षय - तृषा - अरुचि - वमन — रक्त पित्त — भ्रम - क्लम - कास - शोष - ज्वर — और श्वास इन रोगों का अति व्यायाम से होना सम्भव है। रक्त पित्त के रोग वाला, कृष, शोषी, श्वास, कास क्षयका रोगी, पेट भरा हुआ और स्त्रियों में क्षीण हुआ और भ्रम पीडित व्यायाम न करै॥

(१६०८) सं० इस व्यायाय के उपदेश को यह न समझ लेना कि — इसको पुरुष ही करैं स्त्रियां न करैं स्त्रियां अपने करने योग्य समयोचित अपनी गार्भिक अवस्था की रक्षा का ध्यान रखती हुई अवश्य करैं।

चरक सूत्रस्थान अध्याय ११ में कहा है कि—

(१६०९) त्रिविधं बलमिति" सहजं कालजं युक्तिकृतञ्च"
सहजं यच्छरीरसत्व वयःप्राकृतम्। कालकृत मृतु
विभागजं वयःकृतञ्च। युक्तिकृतं पुन स्तदाहार
चेष्टा योगजम्॥

अर्थ— बल तीन प्रकार का होता है जैसे सहज, कालज, और युक्तिकृत इन, में से सहज अर्थात् स्वाभाविकबल उसे कहते हैं जो शरीर, मन आयु और प्रकृति के अनुसार होता है। कालकृतबल उसे कहते हैं जो ऋतु विशेष [शिशिर, वसन्त ग्रीष्मादि] और अवस्था विशेष [शैशव, यौवन, वार्द्धक्य] के अनुसार होता है। युक्तिकृतबल उसे कहते हैं जो आहार [घी, दूध आदि बल कारक द्रव्य] और चेष्टा [व्यायामादि दण्ड कसरत] के युक्ति पूर्वक योग करने से होता है॥

इन में जो प्राकृत बल है। उसका बढ़ाना अपने आधीन नही, वह गर्भाधान के समय माता पिताओं के शरीर, मन, अवस्था और प्रकृति के अनुसार मिल चुका है। कालकृत ऋतुओं के विभाग से और अवस्था से स्वयं ही लब्ध होता रहता है। उसमें भी कोई उद्योग करना उचित नहीं। रहा तीसरा युक्तिकृत बल इसी का बढ़ाना और बढे हुए को रखाना यही एक अपने आधीन है, यदि इसका भी वर्धन और सुरक्षण कर्म यथावत् न किया जाय तो बल का हीनयोग वा अयोग होना ही सम्भव होगा और कुछ नहीं इससे युक्तिकृत बल लब्ध करते रहना अत्यावश्यकीय सभी के लिये है।

चङ्क्रमण गुण

(१६१०) जो चङ्क्रमण [चहल क़दमी] शरीर के पीड़ा करने वाला न होवै वह

आयुः बल, मेधा [बुद्धि विशेष] जठराग्नि का दाता और इन्द्रियों का चैतन्य रखने वाला होता है ॥

शय्यासन गुण

(१६११) सुख की शय्या [बिछौना तकिया युक्त शयन वा आसन] श्रमको वात को हरता है, वृष्य है, पुष्टि निद्रा और धृतिको देता है। इसके विपरीत दुःख का करता है।

निद्रा के गुण

(१६१२) उचित समय पर और उचित प्रमाण से निद्रा का सेवन पुष्टि, वर्ण, बल' उत्साह, अग्नि दीपन, और तन्द्रा का न होना इनको देता है ॥ इस उक्त नित्यचर्या में प्रायः सुश्रुत के मूलको छोड़ कर अर्थ मात्र लिखा है और वक्ष्यमाण सदाचारभी अर्थ मात्र ही विस्तार भयसे लिखा जाता है।

अथ सदाचार

(१६१३) इस सदाचार में प्रथम ही से निसंशय होकर नख, रोम [शरीर के बड़े २ रोंगटे] इन को कतरवाये हुए, शुद्ध हुए, स्वच्छ वस्त्र पहने हुए, हलकी पगड़ी [सरपोश] छत्र जूती धारण किये, दंड [लकुट] हाथ में लिये, समयानुसार, हित मित [परिमित] मधुर और दूसरे के प्रथम नमस्कार आदि भाषण करने की प्रतीक्षा न कर भाषण करते हुए, सब जीवों को भाई समझते हुए, गुरु और बृद्धों की सलाह में रहते हुए, सुसहाय लेते और मन लगाये हुए रहना सहना जाना आना वर्त्तना चाहिये।

(१६१४) वह भी रात्रि में नहीं हड्डी कांटे कंकर पत्थर तुष [भुस] भस्म [राख] ठीकरे अंगार इत्यादि का अशुद्ध स्थान और बलिभूमि [पूजा करने बालिवैश्वदेव करने का स्थान] और विषम [ऊंचे नीचे] इन्द्र कील [हर्म्य वा मंदरादि के कंगूरे] चौराहा श्वभ्र [गढेला] इन के ऊपर डोलना फिरना खड़ा होना न करे। (१६१५) राज-द्विष्ट [राजा से द्वेष कराने वाले] कठोर पैशुन्य [चुगली] के और झूंठे वाक्य न कहै। देव- [विद्वान्] ब्राह्मण [ब्रह्मवेत्ता वेदवेत्ता] पितृ [जनक अर्थात् माता पि-ता,] तथा प्रायश्चित विवेक धृत वचनोक्त पितर यथा—

जनक श्चोपनेता च यश्च कन्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥

अर्थ— माता पिता, उपनेता, [उपनयन कारायिता गुरु विशेष] और जो अपने के

कन्या देता है अर्थात् स्वसुर, और भय से बचाने वाला, ये पांच पिता कहाते हैं। इन उक्त देव आदि का अपवाद [तिरस्कार] न करै।

(१६१६) नरेन्द्र द्विष्ट [राजा का द्वेषी] उन्मत्त [खफगानी] पतित [स्वाचार भ्रष्ट] क्षुद्र [हलका किसी बात की गुंजायश न रखने वाला] नीचाचार [निंद्यकर्मा] इन के पास न बैठै, और न इनको अपने पास बिठावै।

(१६१७) वृक्ष, पर्वत का झिरना, विषम स्थल, वल्मीक[बमही] और विगड़े हुए घोड़े हाथी आदि के चढ़ने को दूरसे छोड़े। जल से पूर्ण नदी, समुद्र, अथाहपानी वाले पोखर, तलैया, गड्ढा, कूआ आदि छोटे जलाशयों में न धसै।

(१६१८) फूटा टूटा और जनों के निवास रहित घर, मरघट. और निर्जनवन में वास, अग्नि सम्भ्रम [आग्नि के उत्पात का प्रदीप्त करना] व्याल [सिंहव्याघ्रादि हिंसक पशु] साधारण सर्प, कीट [वृश्चिकादि] की सेवा [पालना] ग्रामाघात [महामारी के आगन्तुक रोग से मरता हुआ ग्राम] कलह [लड़ाई] शस्त्रसन्निपात बाण आदि अस्त्रशस्त्रों का - सन्निपतन -वर्षना] इतनों के निकट सम्बन्ध को छोडै। और अग्निसम्भ्रम पूर्वोक्त अग्न्युत्पात [आतिश बाजी आदि] का शीत कालमेंभी निषेध है, और ग्रीष्म मेंतो सान्निध्यभी वर्जितहै।तथा व्याल [काले सर्प का पालना पोसना तो पहले ही निषेध किया अब सींगों वाले पशुओं के और उक्त सिंहादिकों [हिंस्रों] के पास में होना भी वर्जित किया। (१६१९) अग्नि– गौ– गुरु–ब्राह्मण– प्रेङ्खा[झूला] स्त्री और स्त्री का पति इनके बीच में होकर न निकले ॥

(१६२०) शव * के पीछे कांधियों के अतिरिक्त अन्य जन न जावै। देव- [विद्वान्] गौ- ब्राह्मण-- चैत्यध्वज-- [श्मशानके वृक्षकी पताका] रोगी-- पतित– और पाप करने वाले इतनों की परछांई को उल्लंघन न करै। अस्त होते और उदय होते हुए सूर्य को न देखै।

(१६२१) चोंखाती हुई को वा पराये खेत को खाती हुई गाय को किसी दूसरे से न कहै और उल्कापात [किसी बड़े तेजः पुंज रेखाकार पदार्थ के आकाश से गिरने] को और इन्द्र धनुष इनको भी किसीको न दिखावै।

(१६२२) अग्नि को मुख से न धोंकै। हाथ पैरों से जल को और पृथिवी को न पीटै मल मूत्रादिक वेगों को न रोकै। बहिर्वेग [दूर करने के योग्य मूत्र और पुरीष] के वेगों [प्रवाहों] को ग्राम- नगर- [कसबा] पूज्य स्थान- मरघट- चौराहा– जलाशय– और मार्ग, इनके सान्निकृष्ट [पास] और प्रकाश- [उजागर] और वायु- अग्नि-

---

* मृत प्राणि शरीर ॥

जल– चन्द्रमा– सूर्य- गौ- और गुरुजन, इन के सम्मुख कदापि त्याग न करै। भूमि को न कुरेदे। (१६२३) सभा में मुख को बिना ढके जंभाई-- डकार की श्वास– और छींक इन को न छोड़े। पल्यङ्कपर, आगे, पीछे, वा पार्श्व में कमला आदि का तकिया की तरह सहारे से लगाकर वा पाद फैलाकर बैठना पड़ना गुरु की सन्निधि में न करे। (१६२४) बाल- कान- नाक इनके स्रोतों को और दांतों की विकारों का कुरेदे नहीं। बालों के अग्रभाग को शरीर नख और मुख का वादित्र [बाजा] न करै। लकड़ी, ढले तृणादि को ठाली बैठा २ व्यर्थ न तोड़ै फोड़ै। सम्मुख की वायु और धूप का सेवन न करै। भोजन करने के तुरतही अग्नि के पास न बैठै [न तापै]। ओंकुरु न बैठै। छोटे काष्ठ के कि जिस पर शरीर न आसकै ऐसे पटडा आदि पर न बैठे।

(१६२५) ग्रीवा [गर्दन] को एक ओर ऊंची और एक ओर नीची वा तिरछी न करै किन्तु सीधी रक्खे। शरीर को विषम प्रकार [टेढा] करके न कोई क्रिया करै और न भोजन करै। निरन्तर देखै नहीं विशेष कर चमकीली वस्तु सूर्य- सूक्ष्म- चलती और भ्रान्तों को। शिर पै रखकर बोझ न ढोवै। सोना जागना. उठना बैठना डोलना - खड़ा रहना चङ्क्रमण यान - [रथादि] वाहन [अश्वारोहणादि] दौड़ना - लाङ्घना - कूदना - तैरना - हँसना – भाषण करना - मैथुन – और व्यायाम करना आदि उचितों का भी अत्यन्त सेवन न करै।

(१६२६) अति योगादि से अहित हुए उचित को भी शनैः २ क्रम से छोड़ै, और हीन योगादि से अनुचित हुए एकान्त हित [१७१] को भी क्रमशः चौथाई करकै सेवन करै, एक साथ त्याग और सेवन न करै। नीचे शिर करके न सोवै, अर्थात् पांयत से शिरोना ऊंचा होवै।

(१६२७) फूटे बर्तन में और अञ्जलि पुट [ओक] में पानी न पीवै। आहार गुणों को जानने वाले वैद्यों के देखे और सम्मति से हुए हित आहार का मित [प्रमाण से] स्निग्ध और प्रायः मधुर, भोजन समय पर करै। ग्राम [गमारू ८०१] वा पञ्चायती भोजन, गण- रथकार चारणादि] का वेश्या का पणिक [जहां तहां सर्वत्र फिर कर बेचने वाले - दूकानदार] का, शत्रु का–शठका, और पतित का भोजन न करै। अन्य भी जो अनिष्ट रूप- रस - गन्ध -स्पर्श- शब्द - और मानस [मन के बिगाड़ने वाला] भोजन हो, वा ऐसे ही गुण युक्त औरों को भी त्यागै। सम्भूय [मिलकर चन्दा] दिये भोजनों को भी, और मक्खी के वा बाल के पड़ने की शङ्का, हुए को त्यागै।

हाथ पैर के बिना धोये भोजन न करै। न मूत्र और विष्ठा के वेग से पीडित और न दोनों

संध्याओंमें और न आश्रय [सहारा] लिया हुआ खावै। जिसके खानेका समय व्यतीत हो गया हो उसको वा अल्प वा अधिक मात्रा को और घृत निचोड़े हुए भोजन को न खावै। (१६२८) जलमें अपने प्रतिविम्ब [छाया] को न देखै और नग्न होकर जलमें न घुसै। जूआ खेलना मद्यपान करना प्रतिभू [जामिन] होना, साक्षी बनना, तीतर मुर्ग आदि पक्षियों के संकेत का जूआ इनसे बचै और गोष्ठियों [मद्य पीने वालों] की गोष्ठियों में [३६६] बाजे न बजावै। माला छत्र जूता कमण्डलु जीर्ण वस्त्र इनको अन्य के धारण कियों को धारण न करै। ब्राह्मण को अग्नि को और गौ को उच्छिष्ठ मुख न छुवै ॥

(१६२९) सुखमात्रं समासेन सद्वृत्तस्यै तदीरितम्।
आरोग्यमायुरर्थोवा नासद्भिः प्राप्यते नृभिः ॥

अर्थ — यह संक्षेप से वर्णन किया हुआ सदाचार का सुखमात्र [समस्त सुख] आरोग्य-आयु-और अर्थ, अनाचारी मनुष्यों को नहीं मिलता है ॥ इससे मनुष्य मात्र को उक्त सदाचार का सेवन अवश्य करना चाहिये ॥

सुख सम्पत्ति होने के १८ कारण शुक्र नीति से

(१६३०) शास्त्रं प्रज्ञा धृति र्दाक्ष्यम्प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता।
उत्साहो वाग्मितौ दार्य मापत्काल सहिष्णुता ॥
प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता।
कुलं शीलं दमश्चेति गुणाः सम्पत्ति हेतवः ॥

अर्थ — (शास्त्रम्) हितानुशासक ग्रन्थ अर्थात् कृषि आदि आजीवन कर्म के लिये जैसे कृषि शास्त्र पढना, (प्रज्ञा) विज्ञान (धृतिः) धैर्य (दाक्ष्यम्) दक्षता अर्थात् तुरन्त जानने और करने की शक्ति, (प्रागल्भ्य) ढेट हिम्मत अर्थात् धाष्टर्य (धारयिष्णुता) धारणा शक्ति (उत्साहः) उमाहा अर्थात् इरादा, (वाग्मिता) वाग् शक्ति कुव्वत बया-नियां] (औदार्यम्) सरलता, वा सीधापन, वा गम्भीरता [इरादिल अजीज़ी] (आपत्काल सहिष्णुता) विपत्काल की सहन शक्ति, (प्रभावः) असर (शुचिता) पवित्रता, (मैत्री) मित्रता (त्यागः) दातृत्वशक्ति, (सत्यम्) सचाई (कृतज्ञता) अहसान न भूलना (कुलम्) कुलाभिमान, (दमः) अधर्म से मन को रोकना ॥ इतने गुण सम्पत्तियों के होने के हैं। वा होने के कारण हैं ॥

इस प्रकार स्वस्थवृत्ति के सब सूचित विषय इस वैदिक मार्गेषणा नामक ग्रन्थ में यथामति पूर्ण किये, अब उपसंहार में कुछ उपदेशों को प्राय रक्षोद्देश से कहकर ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं, ॥

(१६३१) सत्यं भूतेदया दानं बलयो देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥

हितं जनपदानाञ्च शिवाना मुपसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥

संकथा धर्म शास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्विकै र्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः ॥

इत्येतद्भेषजं प्रोक्त मायुषः परिपालनम् ।
येषा मनियतो मृत्यु स्तस्मिन्काले सुदारुणे ॥

अर्थ— सत्याचरण करना, सब जीवों पर दया करना, सुपात्रों को अन्नादि दान देना, भूत यज्ञ [१०११] करना, देवतों [निरुक्ते दैवत काण्डोक्त] का पूजन करना, सत्पुरुषों के आचरण का अनुकरण करना, शान्ति पाठ पढ़ना, अपनी रक्षा के कर्म करना, ॥ जनपदों [मनुष्यों के निवास देशों] का हित [भलाई] विचारना, करना, माङ्गलिक वैदिक कर्मों का सेवन [इस्तेमाल] करना, ब्रह्मचर्य का सेवन, तथा ब्रह्म-चारियों की सेवा करना, धर्म शास्त्रों की कथा, और जितेन्द्रिय महात्मा महर्षि जनों के इतिहास और जीवन चारित्र सुनना, वृद्धों के अनुयायि सतोगुणी धर्मात्मा पुरुषों के पास नित्य बैठा उठी करना । जिन पुरुषों का मृत्यु उस जनपदोद्ध्वंसन के कठोर समय में अनियत है अर्थात् १०१ वर्ष से न्यून है उनकी आयु के पालन करने वाला अर्थात् मनुष्य की नियत मृत्यु [१०१ वर्ष] तक पहुंचाने वाला यह उक्त सत्याचरणादि शिक्षाओं का करना रूप भेषज वर्णन किया गया ॥

अभयंमित्रा दभयममित्रा दभयंज्ञाता दभयंपरोक्षात् ।

अभय न्नक्त मभयं दिवा नः सर्वा आशा ममभित्रम्भवन्तु ॥

इति श्रीमदुपाध्याय पंडित होमनिधि शर्म्म वैद्याचार्य विरचिते
स्वस्थ वृत्याधिकारे वैदिक प्रारौषणायां सदाचारादि विषय
वर्णने पञ्चषष्ठितमो विवेकः ।

ग्रन्थकर्त्तु वँशादि विवरणम्

भारद्वाज मुने वँशे प्रसूतिभवनात्खलु ।
तन्मुनेर्नामतो गोत्र मुच्यते ऽद्यापि मामकम् ॥
त्रयो ऽस्मत्प्रवराः सान्ति येषु नोपयमः शुचिः ।
भारद्वाजा आङ्गिरसो बार्हस्पत्या स्तथैवच ॥
अध्यापन परत्वान्मे वंश्याना मुपनामानि ।
परंपरागतो पाधि रुपाध्याय इतीरितः ॥
एनदार्षे कुले ह्यासी द्रामकृष्णाभिधो बुधः ।
परिषल्लब्ध सत्कीर्तिः श्रौतस्मार्तानुयायिनाम् ॥
तत्सुतः खङ्गसेनाह्वः सर्वशास्त्र विशारदः ।
तत्पुत्रा श्च त्रयो जाता विख्याता स्तत्र मण्डले ॥
विद्योपजीविनः सर्वे निवसन्तः पृथक् पृथक् ।

ज्येष्ठोत्र धर्म्मदासाख्यो वेद वेदाङ्ग शास्त्रवित् ॥
कनिष्ठ स्तुलसीरामो वेदाङ्गेषु विचक्षणः ।
मध्यम श्चैनयोर्भूतः प्रसिद्धो लालजीमणिः ॥
आयुर्वेद चिकित्साज्ञो गणकोपि महामतिः ।
शान्तो धर्मपरो दान्तो ऽध्ययने ऽध्यापने रुचिः ॥
चत्वारः पण्डिताः पुत्रा जाता सभ्यादरा स्ततः ।
तेष्वेको भगवद्दत्तो भाषा संस्कृत पण्डितः ॥
गीत वाद्य भिषग्विद्या पूर्णो रामकथाप्रियः ।
सन्तोषी मितवाक् शान्तो निर्दम्भः सत्यआर्जवी ॥
आवां तत्तनयौ जातौ पितृभक्ति परायणौ ।
विहारीलाल नामासीत् कनिष्ठो मे सहोदरः ॥
ज्येष्ठो होमनिधि श्चाहं सुधानिधि सुपुत्रवान् ।
भ्रातृजो मे कनिष्ठस्य पुत्रः प्रेमनिधिः सुधीः ॥
दयानिधिश्च तत्पुत्र श्चिरंजीव्यात् सुखायुषैः ।
गङ्गायमुनयो र्मध्ये चांदौख ग्राम उच्यते ॥
तत्रैव वसती पूर्वा मदीया ऽऽसीत् सुखप्रदा ॥
सम्प्रत्युच्चपुरे रम्ये सरितादि सुवेष्टिते ।
जार्ज पञ्चम सम्राजो वर्त्तमाने सुराज्यके ।
मिस्ट हँफ्रीज् जिलाधीशे विद्यमाने सुशासने ।
नव तर्काङ्कभू वर्षे राधेषष्ठ्यां सितेभृगौ ॥
प्रारब्धग्रन्थसम्पूर्त्ति रपविघ्न म्मया कृता ।
ग्रन्थश्चायं स्वपुत्राय गङ्गाराधे समर्पितः ॥
यदत्र स्खलितं किञ्चित् प्रमादेन भ्रमेणवा ।

ग्रन्थोद्देशानुकूलं तं कुर्वन्त्वार्या दयापराः ॥
ईर्ष्यासूये परित्यज्य गुणलेशजिघृक्षया ।
परिगृह्णन्त्विमं विज्ञा ऋजवो दम्भ वर्जिताः ॥
एतस्य मुद्रणविधौ परिशोधनार्थे ।
यत्नेकृतेऽपि बहुले भ्रमतः प्रमादात् ॥
दृष्टे र्विकारवशतो यदशुद्ध मस्ति ।
संशोधयन्तु सुधियो नतियाचिता स्तत् ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

ओ३म्   शान्तिः ।   शान्तिः ।   शान्तिः ॥

☞ पहले निम्न लिखित अशुद्धि पत्र को देख कर पुस्तक पढ़िये ॥

शुद्धाशुद्धि पत्रम्

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
मद्धय	मद्धृय	१२	१३
रापणा	एषणा	,,	१६
प्रा	प्राक्	,,	२३
प्रमाय	प्राय	१३	१२
अन्धयांस्म	अध्न्यांस्म	१४	६
चद्यते	वद्यते	,,	अंत्य
मासं	मांसं	१५	१५
ऽकारि	ऽकारि	१६	६
भुतैः	भूतैः	,,	१३
स्रैष्ट्र	स्रैष्ट्र	,,	१६
,,	,,	,,	२४
आहारचारी	आहाराचारी	१८	२४
अथा	अथा	१९	१२
(जाहिर)	[ज़ाहिर]	२०	१२
[फलम्]	(फलम्)	२१	१४
[बुधाः] [व्यवस्पान्ति]	(बुधाः) (व्यवस्वन्ति)	,,	१४
कान्तावेक्षण	कान्तावेक्षण	२३	११
व	वा	२४	२४
विदज्ञाने	विद्ज्ञाने	२५	२०,२१
जङ्गम	जङ्गम	२६	५
उक्ति	उक्त	,,	२२
सुखा	सुखी	,,	२३
मधुरस	मधुररस	२८	४
बचनन्	बचनम्	३४	१७
उसे	०	३७	१५
दोनों	दोनों	४२	६

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
दृढमवि	दृढमाति	४५	६
वत्क्राद	वक्त्राद	४६	२
सुकमारा-	सुकुमारा-	,,	१६
विलि	बालि	४७	२१
विषद	विशद	४६	१६
सम्पंन	सम्पन्नं	५१	१२
गन्धर्व	गान्धर्व	५१	२०
पारम्पर्य्योपदेश्र	पारम्पर्य्योपदेश	,,	२२
पाछिद्रक	पच्छिद्रक	५२	१०
डरने	डराने	,,	२०
प्रकृच्छ	प्रकृच्छ	,	२२
तानि	तीन	५४	६
श्रसिद्	श्रीमद्	५५	४
सन्मन	सम्मान	५६	२०
,,	,,	५७	२
महर्ष	प्रहर्ष	,	४
(८२)	•	,,	१०
तदवरि	तदवीर	६०	७
,,	,,	,,	६
दर्घिम्	दीर्घम्	,,	१४
भूतात्म	भूतात्मा	६१	६
भतिर	भीतर	,,	१४
इसके	०	६१	२०
आसाधरगं	असाधारण	६२	१२
कमना	कामना	,,	२५
परस्वादु	परस्वाद्	६३	१२
उपसेव मानस्य	उपसेवमानस्य	,,	१६
पूजार्ह सम्पूजकस्य	पूजार्हसम्पूजकस्य	,,	,,
वृद्धो का	वृद्धों का	,,	१६

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
होनै का	होनेका	६४	१
होते है	होते हैं	६५	९
वाक्याशः	वाक्यशः	,,	१०
अवयवो के	अवयवों के	,,	११
निममन	निगमन		१८
सुस्वार्थाः	सुखार्थाः	६८	३
चेष्टायें	चेष्टा[illegible]	,,	७
बिना	[illegible]	,,	१,९,१९
भतिर	[illegible]	,,	२१
तत्बा व बोध	[illegible]वबोध	६९	१४
एसा	[illegible]	७३	१०
पहुचने	[illegible]ने	,,	१३
हें	हैं	,,	१४
बिषद	विशद	,,	१९
स्निग्ध	[illegible]	,,	२३
गिगड़ने	[illegible]	,,	२५
विषद्	विशद्	७४	१
विकल्य	विकल्प	,,	८
कल्यना	कल्पना	,,	१४
बर्त्ताव	[illegible]	७६	१९
इन्हीका	इन्हींका	..	१९
स्नियो	स्त्रियों		२३
परिस्रुत	परिस्रुत	,,	२४
बच्चाकी	बच्चेकी	७७	१८
नहीं	नहीं	७८	१३
ढूढना	ढूंढ़ना	,,	१४
तक	०	,,	२३
बच्चा	बच्चे	,,	२५
ग्रीष्मादि	ग्रीष्मादि	७९	११

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
इसमें	इसमें	,,	१२
स्थितिः	स्थिति	८०	८
वर्णोन्द्रय	वर्णोन्द्रिय	,,	६
धन्यादि	धान्यादि	८१	८
स्त्रीयें	स्त्रियां	८२	१३
इति श्री० प्रा०	०		
नि० नवमो विवेकः	०	८२	अंत्य
स्मार	स्मारे	८३	१७
प्राणा	प्राणो	८४	१५
सवार्थ	सर्वार्थ	,,	,,
हाती	होती	८५	१
मेरे (अणवः)	मेरे (खल्वा) चना (च) लाल, स्वेत आदि अनेक चनों के भेद (मे) मेरे (अणवः)	,,	२१
धान्य (मे)	धान्य (नीवाराः)पसाई के चावल (च)अन्य देशोद्भव चावल (मे) मेरे	,,	२४
इनहीं	इनहीं	८६	१६,२०
प्रथिवा	पृथिवी	,,	२१
स्थितं, हैं	स्थित हैं	८८	५
पदो	पैदा	८९	१३
वृध्यार्थ	वृध्यर्थ	८९	१४
सालि लत दुग्धौदन	सालि घृत दुग्धौदना	९०	८
न्यीग्न क्षारीवषादीनि	न्याग्नि क्षार विषादीनि	,,	१०
कहते है	कहते हैं	,,	१२
सुनिरयाक	परएकण	९३	१
आनार	अनार	,,	५
चपररा	चपररा	९४	६
भिरनों	झरन	९५	७

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
दशरात्र	जैसा दशरात्रि	६६	२०
विरुद्ध कहते, हैं	विरुद्ध कहते हैं।	६८	३
निषद्ध काष्ठ	निषिद्ध काष्ठ	,,	टिप्पणी
शिरी वकस्य चैवहि	शिरीषकस्य च तथा	,,	,,
कलिच सडात श्चैव	कले: सेहुण्डकस्यैवं	,,	,,
गार्हित	गर्हितं	,,	,,
कजर	कनेर	,,	,,
सहुड़	सेंहुड़	,,	,,
आंड	एरंड	,,	,,
बकाया	पकाया	,,	,,
सात्म	सात्म्य	१०६	१०
भवध	अबाध	,,	१६
प्राशवया	प्राशवया	१०८	१४
करना	समझना	१०९	अन्त्य
दधृत	द्धृत	१११	२
गूध्र	गृध्र	११६	१२
नाग	नाम	,,	१४
मनुष्य लिये	मनुष्य के लिये	११७	अन्तिम
एकान्ताहित	एकान्ताहित	११८	१०
स्त्रीमाकाः	स्त्रीकामाः	११९	२१
Brghts	Brights	१२४	५
(३३१)	(३१३)	,,	१०
सं०	०	१२४	अन्त्य
न्यून्याधिक	न्यूनाधिक	१२५	११
सं०	०	,,	६
आपके	अपने	,,	२५
तेजा	तेजो	१३३	६
सिद्धिलिये	सिद्धि के लिये	१३३	१७
बिषदा	विशदा	१३६	१५

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
विपद्	विशद	१३७	३
फल	फैल	१५०	३
अध्यापयामासु	अध्यापयामासुः	१५२	१७
कापाल	कपाल	,,	२०
दिद्दर्शन	दिग्दर्शन	१५३	२
जिता	जिताः	१५४	६
सर्व	सर्वे	१५५	११
शूमर	शूअर	,,	अन्त्य
युक्ति से	युक्तियों से	१६२	८
विजानी भार्या-	विजानी भार्या-	१६४	१६
छपा	छपी	१७०	६
रवदार	स्वदार	१७२	११
रुधिरे	रुधिरैः	१७३	८
भग्नदन्त स्तथैवच	भग्नदन्त न्तथैवच	१७५	१३
गडे	गैंडे	१७६	२०
विध्यर्थ	विध्यर्थं	१७६	५
मरा बुद्धि	मेरी बुद्धि	,,	२३
क्रतुषु	क्रतुषु	१८४	३
भूतभ्यो	भूतेभ्यो	१८५	१२
शोच	शौच	१८६	११
ए ।	एत	,,	१६
भ न	भी अन्य	१८७	अन्त्य
—ने	अपने	१८६	१४
भालि	भील	१६१	११
मल निनकला	मल निकलने	१६३	११
[गन्दे]	[गन्दा]	,,	१३
रूष्ठि	रूढि	२०२	७
क ना	करना	२११	२

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
क्षो	क्षो	२१५	६
लत वेष्टितं	लता वेष्टितं	२२०	टिप्पनी
मालिताक्षौ	मीलिताक्षौ	२२१	"
भ	भौर	२२२	११
बिनियीष	विजिगीष	२२४	१८
रक्तान	रक्तानि		
असास्थ्य	अस्वास्थ्य	२२७	११
षाडेश्यां	षोडश्यां	"	२४
क्तयु	युक्त	२३२	६
नेत्ररोधिकार	नेत्र रोगाधिकार	२३४	१६
वृ य	वृष्य	२३६	२०
शिशु र	शिशुमार	२३७	२१
निल	तिल	"	२१
स्रोतः	स्रोतः	२३८	१३,१७
षरावतः	पारावतः	२४०	८
सुदमो	सूदमो	२५६	अंत्य
षटसु	षट्सु	१५७	१
चल	चला	२५८	२
साश्रो वि	साधो ! किं	२५६	७
परि	च	"	"
ष्टान	ष्ठान	२६४	१३
वेतान्	०	"	"
षष्ठि	काष्ठि	२६६	२०
ग्रह	गृह	२७७	१६
स्तु	तु	२८०	२
वींणत	वर्णित	२८७	२
षेन्द्र	०	२८६	२६
(पृषस)	(राघस्रा)	२६०	२
राहोषि	ऐहषि !	२६१	१४

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
संमतम्	सभृतम्	२६२	१०
कतष्पात्	चतुष्पात्	,,	अंत्य
नैर	तैर	२६३	११
[illegible]	अर्थ	३०५	अंत्य
[illegible]	शप्पैर्न	३०६	२०
में	मैं	३०७	२२
गादी	गाड़ी	३०८	१
साम	सोम	३१०	शीर्षक
शुत्रेया	शुकेया	३१२	१२
प्रथमार्थेः	प्रथमार्थे	,,	१६
सूत्रार्थ	सूत्रार्थः	,,	२२
याक	यथा	३१३	३
मजपि	माजापि	३१३	३
किय	क्रिया	३१४	१२
मपज	भेषज	३१५	८
सिक्ष्यति	सिष्यति	,,	१०
तस्मिन	तास्मिन्	,,	अंत्य
खोदते है	खोदती हैं	३१७	१४
कि [illegible]	क्रिय	३१९	६
संसार	संस्कार	३२०	१
नुष्य	मनुष्य	३२२	२
मोपशु	गोपशुं	३२४	१५
[१००२]	•	३२८	१८
शुय	शून्य	३३०	१८
योला	गोला	३३१	१३
आपे	आये	३३३	२
नही	नहीं	३३७	२४
बैत	बैल	३४१	११
वृक्षों	वृक्षों	,,	अंत्य

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
यज्ञमान-	यजमान	३४२	१०
माहंसीः	मा हिंसीः	,,	१५
अर्थात	अर्थात्	,,	१७
बहुअर्तम्	बहुश्रुतम्	३४२	२४
करुणा।	करुणा से	३४६	२१
सउ	उस	,,	२३
आशा	आशा है	३४७	४
आश्वर्यों	प्रश्नयो	,,	१२
शूना	तृषा	३४८	२
दुःखो	दुःखों	,,	,,
(तस्करान्)	(तस्करम्)	,,	४
पुंश्चहलुं	पुंश्चलूं	,,	६
मिद्ने	मिलने	,,	११
मृत्तीकाभ्यः	मृत्तीकाभ्यः	,,	२४
अ । पाल	अश्वपाल	३४६	७
जातिने	जीतने	,,	२१
पच्यताम्	पच्यन्ताम्	३५०	३
तृतीत	तृतीय	३५१	१२
अग्नरेव	अग्नेरेव	,,	१५
तुम	मनु	४५५	१४
राजवनि	राजधानी	३५७	१४
(गेमम्)	(सोमम्)	३५६	३
ग्रन्थे स्थानिका	ग्रन्थोत्थानिका	,,	,,
करे	करो	३६०	६
लवकर	लखकर	३६२	६
(मनस)	(मनसा)	,,	१८
बाणि	वाणी	,,	अन्त्य
(पृथिवि)	हे (पृथिवि)	३६४	८
से वे	वे	,,	१०

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
स । ति	सर्पति	३६५	११
डाढो	डाढ़	,,	१५
पोरुषेय	पौरुषेयं	३६६	४
तावन्त-	तावत्त-	३८१	१६
धम-	धर्म-	३८३	२
मत्त्या	मर्त्त्याः	,,	८
रवतन्त्र	स्वतन्त्र	,,	१६
आजारी	आज़ारी	३६०	२०
आजार	आज़ार	,,	अंतव
चैंपटर नाइन्थ	चैप्टर नाइन्थ	३६१	४
वैंरी	वैसी	३६२	११
ह	है	,,	१५
स्कन्द	स्कन्ध	,,	१८
बेटोर	बटोर	३६५	१६
धूप	धूम	,,	२३
खड़ा	खड़ी	४०३	३
ऐस	ऐसा	४०४	१०
उर्द्ध्वांश	ऊर्द्ध्वांश	४०५	२४
बरा	बस	४१६	१
परिकीतिता	परिकीर्त्तिता	४१७	१
धनञ्चय	धनञ्जय	४१८	१८
विरीत	विपरीत	४२७	१४
अर्य	अर्थ	,,	२२
बा, बोप	का, कोप	४२४	१५
ईप्यादि	ईर्ष्यादि	४२५	२१
पुम्हारे	तुम्हारे	४२७	१६
(प्रश्न)इस उक्त आप-स्तम्बीय वाक्य में..........	(प्रश्न)इस उक्त आपस्तम्बीय वाक्य में "आर्याधिष्ठिताःशूद्राः" इस		
(उत्तर)उन आचार्यों में	वाक्यांश से यह तो स्पष्ट होगया		

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
	कि पाक कार्य आर्यों को अपने यहां के शूद्रों से ही कराना चाहिये परन्तु " समानी प्रपा ,, इत्यादि अथर्व की ऋचाओं में भी तो ईश्वराज्ञा है कि मनुष्य मात्र का भोजन पान एकत्र हो यह क्यों ! (उत्तर) उन ऋचाओं में भी कुटुम्बी जनों को आपस के खान पानादि में प्रेम वर्द्धक समान व्यवहार करने की ईश्वराज्ञा है न कि मनुष्य मात्र के एकत्र खान पान की। यह प्रेमोत्पादन और विद्वेष हरण प्रकार सहृदय मित्यादि से लेकर समानी प्रपति मंत्र तक है उन ऋचाओं का शुद्धार्थ निम्नलिखित प्रकार है	४३५	१६
रवसार	स्वसारं	४३६	१३
संयो ।,	संयोग	४४५	२४
।निर्ण	भीर्णं	४५१	१
का	को	४६१	२
सबन	सेवन	४६६	अंत्य
उषित	उषितं	४८१	६
बृहयं	बृंहणं	४८६	१६
मदन	मर्दन	४६०	३
दोष	दोषं	४६७	१५
बाश्व	बाश्व	४६८	२३
जलक	जल की	५००	२०
३३	६३	,,	अंत्य
हंगीज	संगीत	५०१	अंत्य

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
धमनीयोंक	धमनियोंके	५०६	१८
नासदि:	नासद्भिः	५१६	८
जाता	जाताः	५१८	६
सुधी	सुधीः	”	१२
हम्फीज	हम्फ्रीज़		

॥ ग्रन्थ समाप्तिः ॥